

श्री भगवत्-पुष्पदन्त-भूतबलि-प्रणीतः

षट्खंडागमः

श्रीवीरसेनाचार्य-विरचित-धवला-टीका-समन्वितः ।

तस्य

प्रथम-खंडे जीवस्थाने

हिन्दीभाषानुवाद-तुलनात्मकटिप्पण-प्रस्तावनानेकपरिशिष्टे सम्पादिता

सत्प्ररूपणा १



सम्पादक

अमगवनीस्थ किंग-एडवर्ड-कालेज सस्कृताध्यापक एम् ए, एल् एल् बी, इत्युपाधिधारी

हीरालालो जैनः

सहसम्पादको

प. फूलचन्द्रः सिद्धान्तशास्त्री

* प. हीरालालः सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थः

सशोधने सहायको

व्या ना, सा मृ, प. देवकीनन्दनः

डा. नेमिनाथ-तनय-आदिनाथः

सिद्धान्तशास्त्री

*

उपाध्याय एम् ए, डी लिट्

प्रकाशक

श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्र गितावराय

जैन-साहित्योद्धारक-फुट-कार्यालय

अमरावती (वाराणसी)

वि स १९९६]

वीर निर्माण सत्रत् २४६५

[ई स १९३९

मूल्य रूप्यक-दशकम्

प्रकाशन—

श्रीमन्त सठ लक्ष्मीचन्द्र शिवाभराय,

जेन साहित्योद्धारक रुड कायाय्य

अमरावती (गर)



मुद्रक—

टी एम् पाटील,

मैनेजर

सरम्बती प्रिंटिंग प्रेस, अमरावती

THE ṢAṬKHAṆḌĀGAMA

OF

PUSPADANTA AND BHŪTABALI

WITH

THE COMMENTARY DHARMĀ OF VIRASENA

VOL. I

SATPRARŪPAṆĀ

Edited

with introduction, translation, notes, and indexes

BY

HIRALAL JAIN, M A I I P

C P Educational Service, King Edward College, Amraoti

ASSISTED BY

Pandit Phoolchandra
Siddhānta Shāstri

✽

Pandit Hiralal Siddhānta Shāstri
Nyāyatīrtha

With the cooperation of

Pandit Devakinandna
Siddhānta Shāstri

✽

Dr A N Upadhye,
M A D Litt

Published by

Shrimant Seth Laxmichandra Shitambar,

San Sutra Uddhṛta and Kāvya

AMRAOTI (Berar)

1939

Price rupees ten only

Published by—

Shrimant Seth Laxmichandra Shitabrat,

Jain Sabha Uddharaka Fund Karyakarya

AMRAOTI (Berar)



Printed by—

T M Patil, Manager,

Saraswati Printing Press

AMRAOTI (Berar)

[illegible][illegible]

ॐ अराक्ष प्रति । नान्स चाथा पाक्षम पाठ क्षुण हआ है ।

[illegible]

कृ. का. नारी प्रति । पंचरीं पत्तिमें गठ छटा हुआ है ।



स्व० सठ हीराचंद नेमीचंद



स्व० सेठ माणिकचंद हीराचंद जे० पी०



बैरिस्टर जमनाप्रसादजी



શ્રીમત સઠ લક્ષ્મીચંદ્રજી



सेठ राजमलजी बड़जात्या



स्व० सेठ राजजी सत्याराम दोसी



सिंघद पनालालजी

[illegible]

2.

40

[illegible]

Figure 1

ॐ आराध्या प्रणि । नामम स्वाग्ना पावनम पात्र ददा हआ है ।

बल
५

प्रागे में

[illegible]

43

कृ. कारजाही प्रति । पाँचवीं पक्तिमें पाठ छुटा हुआ है ।



स्व० सेठ हीराचंद नेमीचंद



स्व० सेठ माणिकचंद हीराचन्द जे० पी०



बरिस्टर जमनाप्रसादजा



श्रीमन्त सठ लक्ष्माचंदजी



सेठ राजमलजी भुजाल्या



स्व० सेठ रामजी सतराम दोशी



शिंदे पन्नालजी

चित्र-परिचय

- १ स्व० सेठ हीराचन्द नेमीचन्द, सोलापूर, जिन्होंने मूडविट्रीमें सिद्धान्त ग्रंथोंकी प्रतिलिपि करानेकी सर्व प्रथम व्यवस्था की।
- २ स्व० दानवीर सेठ माणिकचन्द हीराचन्द जाहरी बम्बई, जिन्होंने सिद्धान्त ग्रंथोंके उद्धारका सब प्रथम प्रयत्न किया।
- ३ श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्र सितारामजी, भेलसा, संस्थापक जैन साहित्य उद्धारक फंड।
- ४ धीरुत वैरिस्टर जमनाप्रसादजी सत्रजज, जिन्होंने सेठ लक्ष्मीचन्द्रजीको प्रोत्साहित करके उद्धारक फंडकी स्थापना कराई।
- ५ धीरुक्त सेठ राजमलजी बडजात्या, भेलसा, जिन्होंने उद्धारक फंडद्वारा सिद्धान्त ग्रंथोंके प्रकाशनकी प्रेरणा की।
- ६ स्व० सेठ रावजी सदारामजी दोसी, सोलापूर, जो अभी अभी तक श्री महाधवल सिद्धान्तके उद्धारके लिये प्रयत्नशील थे।
- ७ श्रीमान् सिंघई पद्मालाल बन्नीलालजी, अमरावती, जिन्होंने धवल जय धवलकी प्रतिलिपियाँ कराकर मैंगार्ड जोर संशोधन सम्पादन निमित्त संस्थाके सुपुत्र कीं।

भाक् कथन

यादृशी भावना यस्य मिद्विर्भवति तादृशी ।

सन् १९२४ में मने कारजाके शास्त्रमठारोंका अउलेखन किया आर वहाके ग्रंथोंकी सूची बनाई। वहा अपभ्रंश भाषाका बहुतसा अधुनपूर्व साहित्य मेरे दृष्टिगोचर हुआ। उसको प्रकाशमें लानेकी उत्कठा मेरे तथा समारके अनेक भाषा कोविदोंके हृदयमें उठने लगी। ठीक उसी समय मेरी कारजाके समीप ही अमरावती, किंग एडवर्ट मालेजमें नियुक्ति हो गई आर मेरे सदैवके सहयोगी सिद्धान्तशास्त्री प. देवकीनन्दनजीके सुप्रयत्नसे व. श्रीमान् सेठ गोपाल साहूजी चण्दे व. पलात्कारगण मन्दिरके अधिकारियोंके सदुत्साहसे उन अपभ्रंश ग्रंथोंके सम्पादन प्रकाशनका कार्य चल पड़ा, जिसके फलस्वरूप पात्र छद्म अत्यन्त महत्वपूर्ण अपभ्रंश काव्योंका अब तक प्रकाशन हो चुका है।

मूढविद्विओंके धनलालि सिद्धान्त ग्रंथोंकी कीर्ति म. वचननसे ही सुनता आ रहा हूँ। सन् १९२० में मने जैनसाहित्यका विशेषरूपसे अध्ययन प्रारम्भ किया, और उसी समयके लगभग इन सिद्धान्त ग्रंथोंकी हस्तलिखित प्रतियोंके कुछ कुछ प्रचारकी चर्चा सुनाई पढ़ने लगी। किन्तु उनके दर्शनोंका मोभाग्य मुझे पहले पहले तभी प्राप्त हुआ जब हमारे नगरके अन्यन्त धर्मानुरागी, साहित्यप्रेमी श्रीमान् मिर्घड पन्नालालजीने धनल और जयधनलकी प्रति लिपिया कराकर वहाके जैनमन्दिरमें धिराजमान कर दा। अब हृदयमें चुपचाप आशा होने लगी कि कभी न कभी इन ग्रंथोंको प्रकाशमें लानेका अग्रगण्य सुअग्रसर मिलेगा।

सन् १९३३ के दिसम्बर मासमें अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद्का वार्षिक अधिवेशन इटारसीमें हुआ और उसके सभापति हुए मेरे परमप्रिय मित्र त्रैरिस्टर जमनाप्रसादजी मजुज्ज। पहले दिनके जलसेके पश्चात् रात्रिके समय हम लोग एक कमरेमें बैठे हुए जैन साहित्यके उद्धारके निषयमें चर्चा कर रहे थे। जजसाहब दिनभरकी धूमधाम व दोट धपसे एकदम सुस्तसे लेटे हुए थे। इसी बीच किसीने खबर दी कि भेलसानिवासी सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी भी अधिवेशनमें आये हुए हैं आर वे किसी धार्मिक कार्यमें, सम्भवत र.य. चलनेमें, कुछ द्रव्य लगाना चाहते हैं। इस खबरसे जजसाहबका चेहरा एकदम चमक उठा और उनमें न जाने कहाकी स्फूर्ति आ गई। वे हम लोगोंसे बिना कुछ रहे सुने वहासे चल दिये। रातके कोई एक बजे लोटकर उन्हाने मुझे जगाया और एक पुर्जा मेरे हाथमें दिया जिसमें सेठ लक्ष्मी चन्द्रजीने साहित्योद्धारके लिये दम हज़ारके दानकी प्रतिष्ठा की थी। इस दानके उपलक्ष्यमें दूसरे दिन प्रातः काल उपस्थित समाजने सेठजीको श्रीमन्त सेठकी पदवीसे विभूषित किया।

आगामी गमानी दृष्टियोंमें जज्ञसाहस्र मुझे केसर भेलम्बा पहुँचे और घटा सेठ राजमलजी पटजात्या व श्रीमान तगरतमलजी वकीलके सहयोगसे सेठजीके उक्त दानना दस्त रजिस्ट्री करा लिया गया और यह भी निश्चय हो गया कि उस द्रव्यसे श्री वरलादि मिजान्तोंके सशोधन प्रकाशनका कार्य किया जाय ।

गमार्ने पश्चात् अमरावती लोटने पर मुझे श्रीमत् सेठजीके दानपत्रकी सहायताको क्रियात्मक रूप देनेकी चिन्ता हुई । पहली चिन्ता धवल जयधवलकी प्रतिलिपि प्राप्त करने की हुई । उस समय इन प्रकाशकों प्रकाशित करनेके नामसे ही धार्मिक लोग चाकरो हो जाते थे और उस कार्यके लिये कोई प्रतिलिपि देनेके लिये तयार नहीं थे । ऐसे समयमें श्रीमान सिंगे पञ्चालालजीने व अमरावती पञ्चायतने स साहस वक्के अपने यद्वासी प्रतियोगा सदुपयोग करनेकी अनुमति दे दी ।

इन प्रतियोंके सधमावलोकनसे मुझे स्पष्ट हो गया कि यह कार्य अत्यन्त कष्टमाध्य है क्योंकि प्रकाशकों परिमाण बहुत विशाल, विषय अत्यन्त गहन और तुरन्त भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत, आर प्राप्य प्रति बहुत अशुद्ध व स्पष्टन प्रचुर शात हुई । हमारे सम्मुख जो धवल और जयधवलकी प्रतियाँ थीं उनसे जयधवलकी प्रति सीताराम जाग्रीकी लिखी हुई थी और दूसरीकी प्रेषा कम अशुद्ध जान पड़ी । अब मने इसके प्रारम्भका कुछ अंश संस्कृत रूपान्तर और हिन्दी भाषान्तर सहित छपाकर खुद एक विद्यानाके पास इस हेतु भेजा कि वे उसके आधारसे उक्त प्रकाशकों सम्पादन प्रकाशनादिसे सम्बन्धम उचित परामर्श दे सकें । इस प्रकार मुझे जो सम्मनित्या प्राप्त हो सकीं उनपक्षसे मने सम्पादन कार्यके विषयम निम्न निर्णय किये—

१ सम्पादन कार्य धन्यसे ही प्रारम्भ किया जाय, क्योंकि, रचना क्रमकी दृष्टिसे तथा प्रचलित परंपरामें इसीका नाम पहले जाता है ।

२ मूलपाठ पर ही प्रतिवे भरोसे न रखा जाय । समस्त प्रचलित प्रतियाँ एक ही आनुनिष्ठ प्रतिकी प्रायः एक ही दायकी तर्ज होते हुए भी उनसे जितनी मिल सक उनका उपयोग किया जाय तथा मूडविट्टीकी तादृशपत्रकी पतिले मिलान करके प्रयत्न किया जाय, और उसके अभावम सहारनपुरकी प्रतिसे मिलानका उद्योग किया जाय ।

३ मूलके अतिरिक्त हिन्दी अनुवाद दिया जाय, क्योंकि, उसके बिना सर्व स्वाभाविक प्रेमियोंको प्रथराजसे लाभ उठाना कठिन है । संस्कृत छाया न दी जाय क्योंकि एक तो उनसे प्रथका क्लेश बहुत बढ़ता है; दूसरे उससे प्राकृतके पढ़ा पाठनका प्रचार नहीं होने पाता, क्योंकि, लोग उस छायाका ही आश्रय लेकर बैठ रहते हैं और प्राकृतकी ओर ध्यान नहीं देते और तीसरे जिन्हें संस्कृतका अच्छा ज्ञान है उन्हें मूलानुगामी अनुवादकी सहायतासे प्राकृतके समझनेमें भी कोई बाधा नहीं होगी ।

४ संस्कृत छाया न देवेसे जो स्थानकी वचत होगी उसमें अन्य प्राचीन जन ग्रथामसे तुलनात्मक टिप्पण दिये जाय ।

५ ऐसे प्रयास सम्पादन प्रकाशन धारदार नहीं होता, अतएव इस कार्यम कोई ऐसी उताली न की जाय जिसमें प्रयत्नी प्रामाणिकता व शुद्धताम त्रुटि पड़े।

६ उक्त कार्यमें जितना हो सके उतना अन्य विद्वानोंका सहयोग प्राप्त किया जाय।

इन निर्णयोंको सम्मुख रखकर मने सम्पादन कार्यकी व्यवस्थाका प्रयत्न किया। मेरे पास तो अपने कालेजके दैनिक कर्तव्यसे तथा गृहस्थीकी अनेक चिन्ताओं और विघ्न बाधाओंसे बचा हुआ ही समय था, जिसके कारण कार्य बहुत ही मन्दगतिसे चल सकता था। अतएव एक सहायक स्थायी रूपसे रख लेनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। सन १९३५ म योनिनिवासी प वशीधरजी व्याकरणाचार्यको मने बुला लिया, किन्तु लगभग एक माह कार्य करनेके पश्चात् ही कुछ गार्हस्थ्यका आवश्यकताके कारण उन्हें कार्य छोड़कर चले जाना पड़ा। तत्पश्चात् सादृमल (शास्त्री) के निवासी प हीरालालजी शास्त्री न्यायतीर्थको बुलानेकी बात हुई। वे प्रथम तीन वर्ष उज्जैनमें रायबहादुर सेठ लालचन्द्रजीके यहाँ रहते हुए ही कार्य करते रहे। किन्तु गत जनवरीसे वे यहाँ बुला लिये गये और तबसे वे इस कार्यमें मेरी सहायता कर रहे हैं। उसी समयसे योनि निवासी प फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकी भी नियुक्ति करली गई है और वे भी अब इसी कार्यम मेरे साथ तत्परतासे सहलग्न हैं। सशोधन कार्यम यथावसर अन्य विद्वानोंका भी परामर्श लिया गया है।

प्राकृतपाठ सशोधनसम्बन्धी नियम हमने प्रेस कार्याके दो सौ पृष्ठ राजाराम कालेज कोल्हापुरके अर्थमागधीके प्रोफेसर, हमारे सहयोगी व अनेक प्राकृत ग्रन्थोंका अत्यन्त उशलतासे सम्पादन करनेवाले डाक्टर ए एन उपाध्येके साथ पटकर निश्चित किये। तथा अनुवादके सशोधनमें जनधर्मके प्रकाष्ट विद्वान् सि शा प देवकीनन्दजीका भी समय समय पर साहाय्य लिया गया। इन दोनों सहयोगियोंकी इस निर्व्याज सहायताका मुझ पर बड़ा अनुग्रह है। शेष समस्त सम्पादन, ग्रीक शोधनादि कार्य मेरे स्थायी सहयोगी प, हीरालालजी शास्त्री व प फूलचन्द्रजी शास्त्रीके निरन्तर साहाय्यसे हुआ है, जिसके लिये मैं उन सभका बहुत कृतज्ञ हूँ। यदि इस कृतिमें कुछ अत्रार्थ व सौन्दर्य हो तो वह सब इसी सहयोगका ही सुफल है।

अब जिनके पूर्ण परिश्रम, सहायता और सहयोगसे यह कार्य सम्पन्न हो रहा है उनका हम उपकार मानते हैं। कालके द्रोपसे उहो या समाजके प्रमादसे, इन सिद्धान्त ग्रन्थोंका पठन पाठन चिरकालसे विच्छिन्न हो गया था। ऐसी अवस्थाम भी एकमात्र अवशिष्ट प्रतिनी शताब्दियतक मारधानीमें रक्षा करनेवाले मूत्रविद्वीके सम्मान्य भट्टारकजी हमारे महान् उपकारी हुए हैं। गत पचास वर्षोंमें इन ग्रन्थोंको प्रकाशम लानेका महान् प्रयत्न करनेवाले स्व सेठ माणिकचन्द्रजी जेठरी, बम्बई, मूलचन्द्रजी सोनी, अजमेर, व स्व. मेठ हीराचन्द्र नेमीचन्द्रजी सोलापुरके हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं। यह स्व मेठ हीराचन्द्रजीके ही

१ मेरी गृहिणा मम १०२० स हृत्तेगम ग्रामिण हो गई थी। जनन आपधि उपचार कति पर भी उमरा यह रोग ह्दयाश नहा जा मरा, किन्तु मार धार बन्ता न गया। बहुतमर मरणनाय परस्वाम बने मरम इलाजोह निमिषम पाणरक्षा की गई। इसप्रकार ग्यारह वर्ष तब उमरी जावनगाया उलाह। अतत मन् १०३८ व दिगम्बर मामने उमरा चिरयिगेम शेषया।

आत्मा की गमायी बुद्धिमान जज्ञसाहय मुने लेखन भेजता पहुच ओर वहा सेठ राजमलजी पट्टजात्या व श्रीमान सरतमलजी चमालके सहयोगमे सेठजाके उस दानका दस्त रिजिस्ट्री करा लिया गया ओर यह भी निश्चय हो गया कि उस द्रव्यमे श्री बनलादि सिद्धान्तके सशोधन प्रकाशनाका कार्य किया जाय ।

गर्माके पश्चात् अमरावती लाटने पर मुने श्रीमन्त मेठजीके दानपत्रकी सद्भावनाको त्रियात्मक रूप देनेकी चिन्ता हुई । पहली चिन्ता धन जयधनलकी प्रतिलिपि प्राप्त करने की हुई । उस समय इन प्रथाको प्रकाशित करनेके नामसे ही आत्मिक लोग चान्को हो जाते थे और उस कार्यके लिये कोई प्रतिलिपि देनेके लिये तयार नहा थे । ऐसे समयमें श्रीमान सिपई पालाज्जीने व अमरावती परायतने मत्साहस करके अपने यहाकी प्रतियाका सदुपयोग करनेकी अनुमति दे दी ।

इन प्रतियाके सम्भारलोकनमे मुने स्पष्ट हो गया कि यह कार्य अत्यन्त कष्टसाध्य है क्योंकि प्रयोगों परीमाण बहुत विशाल, विषय अत्यन्त गहन और दुर्बुद्ध, भाषा सम्पन्न मिश्रित प्राकृत, और प्राप्य प्रति बहुत जगुद्ध व स्वरूप प्रचुर प्राप्त हुई । हमारे सम्मुख जो अवल और जयधनलकी प्रतिया थी उनमेंसे जयधनलकी प्रति सीताराम शास्त्रीकी लिखी हुई थी और दूसरीकी अपेक्षा कम जगुद्ध जान पड़ी । जन मने इसके प्रारम्भका कुछ अंश सस्त्रन रूपान्तर और हिन्दी भाषान्तर सहित उपाकर खुले हुए विद्वानाके पास इस हतु भेजा कि वे उसके आधारमे उक्त प्रथाके सम्पादन प्रकाशनादिके सम्मय उचित परामर्श दे सकें । इस प्रकार मुने जो सम्मति प्राप्त हो गयी उसपरमे मने सम्पादन कार्यके विषयमें निश्चय किया—

१ सम्पादन कार्य धनवास ही प्रारम्भ किया जाय, क्योंकि, रचना कमकी लक्ष्मिमे तत्र प्रचलित परंपरामें इसीका नाम पड़े जाता है ।

२ मूलपाठ पर ही प्रतिने भरोसे न रखा जाय । समस्त प्रचलित प्रतिया एक ही आधुनिक प्रतिका प्राय एक ही दायरा नज़रें होते हुए भी उनमेंसे जितनी मिल सक उनका उपयोग किया जाय तत्र मूबिडिरीकी तात्पर्यकी पतिसे मिलान करके प्रयत्न किया जाय, और उसके अभावमें सहारनपुरकी प्रतिने मिलानका उपयोग किया जाय ।

३ मूलके अनिश्चित हिन्दी अनुवाद दिया जाय, क्योंकि, उसके बिना सर्व स्वाभाविक प्रेमियाकी प्रयत्नसे लाभ उठाना कठिन है । सस्त्रन छाया न दी जाय क्योंकि एक तो उससे प्रकाश केवल बहुत बढ़ता है दूसरे उससे प्राप्तके पठन पाठनका प्रकार नहीं होने पाता, क्योंकि, लोग उस छायाका ही आश्रय लेकर बैठ रहते हैं और प्राप्तकी ओर ध्यान नष्ट देते, और तीसरे निश्चय सस्त्रनका अच्छा ज्ञान है उन्हें मूलानुगामी अनुवादकी सहायतासे प्राप्तके सम्पत्तिमें भी कोई कठिनाई नहीं होगी ।

४ सस्त्रन दिया न देनेमे जो स्थानकी रचना होगी उसमें अन्य प्राचीन जन प्रथामेंसे सुगन्तात्मक निष्पन्न दिये जाय ।

७ ऐसे प्रयोक्ता सम्पादन प्रकाशन बारबार नहीं होता, अतएव इस कार्यम कोई ऐसी उन्हाली न की जाय जिसमें प्रयकी प्रामाणिकता व शुद्धतामें त्रुटि पड़े।

६ उक्त कार्यमें जितना हो सके उतना अन्य विद्वानोंका सहयोग प्राप्त किया जाय।

इन निर्णयोंको सन्तुष्ट रखकर मैंने सम्पादन कार्यकी व्यवस्थाका प्रयत्न किया। मेरे पास तो अपने कालेजके दैनिक कर्तव्यसे तथा गृहस्वीकी अनेक चिन्ताओं और विघ्न बाधाओंसे बचा हुआ ही समय था, जिसके कारण कार्य बहुत ही मन्दगतिसे चल सकता था। अतएव एक सहायक स्थायी रूपसे रख लेनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। सन १९३० म चीनानिवासी प वशीधरजी व्याकरणाचार्यको मैंने चुना लिया, किन्तु लगभग एक माह कार्य करनेके पश्चात् ही कुछ गार्हस्थ्यक आवश्यकताके कारण उन्हें कार्य छोड़कर चले जाना पड़ा। तत्पश्चात् साहूबल (शास्त्री) के निवासी प हीरालालजी शास्त्री न्यायतीर्थको चुलानेकी बात हुई। वे प्रथम तीन वर्ष उज्जैनमें रायवहादुर सेठ लालचन्द्रजीके यहाँ रहते हुए ही कार्य करते रहे। किन्तु गत जनवरीसे वे यहाँ बुला लिये गये और तबसे वे इस कार्यम मेरी सहायता कर रहे हैं। उसी समयसे चीनानिवासी प फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकी भी नियुक्ति करली गई है और वे भी अब इसी कार्यम मेरे साथ तत्परतासे सलग्न हैं। सशोधन कार्यम यथासम्भव अन्य विद्वानोंका भी परामर्श लिया गया है।

प्राकृतपाठ सशोधनसम्बन्धी नियम हमने प्रेस कार्याके दो सा पृष्ठ राजाराम कालेज कोल्हापुरके अर्थमागधीके प्रोफेसर, हमारे सहयोगी व अनेक प्राकृत प्रयोक्ता अत्यन्त कुशलतासे सम्पादन करनेवाले डाक्टर ए एन उपाध्येके साथ पढ़कर निश्चित किये। तथा अनुवादके सशोधनमें जैनधर्मके प्रकाण्ड विद्वान् नि शा प देवकीनन्दनजीका भी समय समय पर साहाय्य लिया गया। इन दोनों सहयोगियोंकी इस निर्व्याज सहायताका मुझ पर बड़ा अनुग्रह है। शेष समस्त सम्पादन, प्रूफ शोधनादि कार्य मेरे स्थायी सहयोगी प, हीरालालजी शास्त्री व प फूलचन्द्रजी शास्त्रीके निरन्तर साहाय्यसे हुआ है, जिसके लिये मैं उन सबका बहुत कृतज्ञ हूँ। यदि इस कृतिम कुछ अड़ई व सोन्दर्य हो तो वह सब इसी सहयोगी ही मुफल है।

अब जिनके पूर्व परिश्रम, सहायता और सहयोगसे यह कार्य सम्पन्न हो रहा है उनका हम उपकार मानते हैं। कालके दोषसे कहीं या समाजके प्रमादसे, इन सिद्धान्त प्रयोक्ता पठन पाठन चिरकालसे विनिर्मुक्त हो गया था। ऐसी अवस्थाम भी एकमात्र अवशिष्ट प्रतिकी शताद्वितीयक सागरानीसे रक्षा करनेवाले मूढनिर्दोषी मम्माम्भट्टारकजी हमारे महान् उपकारी हुए हैं। गत पचास वर्षोंमें इन प्रयोक्ता प्रकाशमें लानेका महान् प्रयत्न करनेवाले स्व सेठ माणिकचन्द्रजी जनेरी, बम्बई, मूलचन्द्रजी सोनी, जजमेर, व स्व, सेठ हीराचन्द्र नेमीचन्द्रजी सोलापुरके हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं। यह स्व सेठ हीराचन्द्रजीकी ही

१ मेरी कृति का सन १९२७ स इंग्रिसमें प्रमित हो गई था। जनर जोयन्ने उपचार कले पर भी उमरा यह सग दृष्टा नग जा सता, किन्तु शा वार मन्ता हो गया। बहुतवार मगमारा जवस्वाम वन् मग इलाकों निमित्तने प्रारम्भ का गई। हमारेसार प्रारम्भ वर उमरी जीवनसाया चर्चा। अन्त मर १९३८ क दिग्गमर माममें उमरा विगियोग गेगा।

प्रयत्नका सुफल है कि आज हमें इन महान् सिद्धान्तोंके एक अंशको सर्वसुलभ बनानेका सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। स्व लाला जम्नूप्रसादजी रईसकी भी लक्ष्मी सफल है जो उन्होंने इन प्रयागकी एक प्रतिलिपिकी अपने यहाँ सुरक्षित रखनेकी उदारता दिखाई और इस प्रकार उनके प्रकट होनेमें निमित्त कारण हुए। हमारे विशेष धन्यवादके पात्र स्व प गजपतिजी उपाध्याय और उनकी स्व भार्या निदुषी लक्ष्मीबाई तथा प. सीतारामजी शास्त्री हैं जिन्होंने इन प्रयागकी प्रतिलिपियाँ प्रचारका कठिन कार्य किया और उस कारण उन भार्योंके प्रीति और निवेदनको सहन किया जो इन प्रयोगोंके प्रकट होनेमें अपने धर्मकी हानि समझते हैं। श्रीमान् मिश्र पन्नालालजीने जिस धार्मिकभाव और उत्साहसे बहुत धन व्यय करके इन प्रयोगोंकी प्रतियाँ अमरावतीमें भगाई और उन्हीं संशोधन व प्रकाशनके लिये हम प्रदान का उसका ऊपर उल्लेख कर ही आये हैं। इस कार्यके लिये उनका जितना उपकार माना जाये सत्र शोभा है। प्रिय सुहृद् धरि जमनप्रसादजी सत्यजित्ता भारी उपकार हैं जो उन्होंने सेठ लक्ष्मीचन्द्रजीको इस साहित्योद्धार कार्यके लिये प्रेरित किया। वे ऐसे धार्मिक व सामाजिक कार्यमें सदा कप्तानका कार्य किया करते हैं। श्रीमान् सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी तो इस समस्त यत्नशक्ति आधार समर्थ हैं। आर्थिक सङ्कटमय वर्तमान कालमें उनके हाथस्कूल, छात्रवृत्ति, व साहित्योद्धार निमित्त दिये हुए अनेक बड़े बड़े दानोंद्वारा धर्म और समाजका जो उपकार हो रहा है उसका पूरा मूल्य अभी जाना नहीं जा सकता। यह कार्य कदाचित् हमारी भार्या पीढ़ीद्वारा ही सुचारुरूपसे किया जा सकेगा। सेठजीको उनके इन उदार कार्योंमें प्रवृत्त कराने और उनका निर्वाह करानेवाले भैरवमानिजासी सेठ राजमलजी बड़जात्या और श्रीमान् तरुतमलजी पन्नालाल हैं जिन्होंने इस योजनामें भी बड़ी रुचि दिखाई और हम हर प्रकारसे सहायता पहुँचाकर उपकृत किया। साहित्योद्धारकी दृष्टि कमेटीमें सिं पन्नालालजी व देवकीनन्दनजी व सेठ राजमलजीके अतिरिक्त भैरवसाके श्रीयुत मिश्रीलालजी व सरस्वाता निवासी प जुगलकिशोरजी मुन्तार भी हैं। इन्होंने प्रस्तुत कार्यको सफल बनानेमें सदा अपना पूरा योग दिया है। प जुगलकिशोरजी मुन्तारसे हमें सम्पादन कार्यमें विशेष साहाय्य मिलनेकी आशा थी, किन्तु हमारे दुर्भाग्यसे इसी बीच उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और हम उनके साहाय्यसे बिल्कुल वंचित रहे। किन्तु आगे संशोधन कार्यमें उनसे सहायता मिलनेकी हम पूरी आशा हैं। जरूर इन प्रयागके प्रकाशनका निश्चय हुआ है तबसे शायद ही कोई माह ऐसा गया हो जब हमारी समाजके अग्रणीय कार्यकर्ता औद्युक्त ब्रह्मचारी शीतल-प्रसादजीने हम इस कार्यको आगे बढ़ाने और पूरा करनेकी प्रेरणा न की हो। धर्मप्रभावनाके ऐसे कारणोंको सफल देनेके लिये ब्रह्मचारीजीका हृदय ऐसा तडपता है जैसे कोई शिशु अपने माताके दूधके लिये तड़पे। उनकी इस निरन्तर प्रेरणाके लिये हम उनके बहुत उपकृत हैं। हम जानते हैं ये इतने कार्यको सफल देख बहुत ही प्रसन्न होंगे। सम्पादन व प्रकाशन सम्बन्धी अनेक व्यावहारिक कठिनाइयोंको सुलझानेमें निरन्तर साहाय्य हमें अपने समाजके महारथी साहित्यिक विद्वान् अद्वैत प नाथूरामजी प्रेमीने मिला है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्रेमीजी जैन समाजमें अपनी युगके साहित्यिकोंके प्रमुख

स्फूर्तिदाता है। जिन जिन कार्यों में जिस जिस प्रकार हमने प्रेमीजीकी सहायता ली है और उन्हें उनकी वृद्धावस्थामें कंप्र पहुँचाया है उसका यह प्रियण न देकर इतना ही कहना बश है कि हमारी इस कृतिके कलेपरमें जो कुछ उत्तम और सुन्दर है उसमें हमारे प्रेमीजीका अनुभवी और कुशल हाथ प्रत्यक्ष व परोक्ष रूपसे विद्यमान है। बिना उनके तात्कालिक सत्परामर्श, सन्तुष्टि और सत्साहाय्यके न जाने हमारे इस कार्यकी क्या गति होती। जैसा भूमिकामें ज्ञात होगा, प्रस्तुत ग्रन्थके सशोधनमें हमें सिद्धान्तमग्न, आरा, व महावीर प्रह्लादचर्याश्रम, कारजा, की प्रतियासे यही सहायता मिली है, इस हेतु हम इन दोनों सस्थाओंके अधिकारियोंके व प्रतिकी प्राप्तिमें सहायक प के भुजपत्नी शास्त्री व प देवकी-नन्दनजी शास्त्री के बहुत कृतज्ञ हैं। जिन्होंने हमारी प्रश्नावलीका उत्तर देकर हमें मूढविद्रीसे व तत्पश्चात् सहायनपुरसे प्रतिलिपि माहुर आनेका इतिहास लिखनेमें सहायता दी उनका हम बहुत उपकार मानते हैं। उनकी नामावली अन्यत्र प्रकाशित है। इनमें श्रीमान् सेठ राजजी सरारामजी दोशी, सोलापुर, प. लोकनाथजी शास्त्री, मूढविद्री, व श्रीयुक्त नेमिचन्द्रजी वकील, उसमानाप्रदका नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। अमरावतीके सुप्रसिद्ध, प्रवीण ज्योतिर्विद् श्रीयुक्त प्रेमशङ्करजी देनेकी सहायतासे ही हम धनदायी प्रशस्तिके ज्योतिष सम्बन्धी उल्लेखोंकी छानवीन और सशोधन करनेमें समर्थ हुए हैं। इस हेतु हम उनके बहुत कृतज्ञ हैं। इस ग्रन्थका मुद्रण स्थानीय 'सम्पत्ती प्रेसमें' हुआ है। यह क्वचित् ही होता है कि सम्पादकको प्रेसके कार्य और विशेषतः उसकी मुद्रणकी गति और वेगसे सन्तोष हो। किन्तु इस प्रेसके मनेजर मि. टी. एम्. पाटीलको हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने हमारे कार्यमें कभी असन्तोषका कारण उत्पन्न नहीं होने दिया और अल्प समयमें ही इस ग्रन्थका मुद्रण पूरा करनेमें उन्होंने व उनके कर्मचारियोंने वेद परिश्रम किया है।

इस ग्रन्थको पूरा करते समय हृदयके पावित्र्य और हृदयके लिये हमारा ध्यान पुन हमारे तीर्थंकर भगवान् महावीर व उनकी धरमेन, पुण्यदन्त और भूतचलितकी आचार्य परम्पराकी ओर जाता है जिनके प्रसाद-रससे हमें यह साहित्य प्राप्त हुआ है। तीर्थंकरों और केवलज्ञानियोंका जो शिष्ययापी ज्ञान ब्रह्मशास्त्र साहित्यमें प्रयुक्त हुआ था, उसमें सीधा सम्बन्ध रखनेवाला केवल इतना ही साहित्यशास्त्र था जो धनल, जयधनल व महाधनल कहलानेवाले ग्रन्थोंमें नियोज्य है, दिगम्बर मान्यतानुसार शेष सब कालके कालमें समा गया। किन्तु जितना भी शेष बचा है वह भी विषय और रचनाकी दृष्टिसे हिमाचल जैसा विशाल और महोदधि जैसा गभीर है। उसके शिष्यत्वकी सूक्ष्मता और प्रतिपादनके विस्तारको

* इसके छपते छपते हम समाचार मिला कि समाजका २० अङ्कका सम्पादन हो गया, इसका हमें अत्यन्त खेद है। हमारा समाज एक मास कष्ट पुत्रा वृत्त गया।

देगनेम हम जैसे गल्प मानियारा गुन नकरा जाता है आर अन्ते अन्ते विद्वानाका भी गर्व सज होने लगता है। हम एसी उच्च आर गिण्ट साहित्यिक सम्पत्ति उसगाभिजारी है इसका हमें भारी गौरव है।

इस गारुकी वस्तुके पर अशरी प्रस्तुत रूपम पारर पाटन प्रमग होंग। किन्तु इसके तयार करनेम हमें जो अनुभव मिग है उसमे हमारा दृश्य भीतर हो भौतिक नष्ट ओर विपादके आगमे रो रहा है। इन सिद्धान्त प्रथम जो आगा मानिये भी हुई है उसका मत कई साहित्यिक हमारे साहित्यको कोई लाभ नहीं मिग सता, क्योंकि, इकी एकमात्र प्रति निम्नाप्रकार तालके भीतर बन्द होगई आर आपयानी वस्तु न रहकर पुनर्की वस्तु बन गई। यदि ये प्रथम साहित्य क्षेत्रम प्रस्तुत रहते ता उनका आगमे अवतक न जाने किनता किस कोटिमा साहित्य निर्माण हो गया होता आर हमारे साहित्यको कानसी दिशा व गति मिल गई होती। किन्ती ही सद्गन्तिग गुणिया जिनम विद्वत्समाजके समय आर शक्तिग न जाने किनता हाल होता रहता है, यहा सुनयी हुई पड़ी है। ऐसी विशाल सम्पत्ति पारर भी हम दूरिद्री हो घने रहे और हम दूरिद्विताका सयमे अधिक सताप और दुःख हम इनके सशोधन करने समय हुआ। जित प्रतियोगी लंग हम सशोधन करो बैठे थे मुद्रियों ओर स्पलनाम परिपूर्ण है। हमें उनके पर एक शब्दके सशोधनार्थ न जाने किनती मानासिक् कसगें करनी पड़ी है आर किनने दिनानक रातके दा दो घंटे तप बैठकर अपने गूनको सुझाना पडा है। फिर भी हमने जो सशोधन किया उसका खोलदा आने यह भी विश्वास नहा कि ये हा आचार्य रचित शब्द है। आर यह सय करना पडा, जब कि मूद्रियित्रीकी आदर्श प्रतियोंमे दृष्टिपान मावस समस्त उन कठिन श्रुतवा नियोजन रूपसे निर्णय हो सकता था। हमें उस मनुष्यके जीवन कैसा अनुभव हुआ जिसके विनाकी अपार कमाईपर कोई ताला लगाकर बंद जाय आर यह स्वय एक एक शुकदेवे लिये दर दर भीष मागता फिरे ओर इससे जो हानि हुई घट किसकी ? जिना समय और परिश्रम इनके सशोधनमें खर्च हो रहा है उसमे मूत्र प्रतियोंकी उपरधिमें न जाने किनती साहित्यसेवा हो सकनी थी और समाजका उपकार किया जा सकता था। येमे ही समय ओर शक्तिके अवश्यसे समाजक गति रुकनी है। इस मद्गतिसे न जाने किनता समय इन प्रयाके उद्धारमें खर्च होगा। य समय साहित्य, कला व सस्त्रतिके लिये बड़े सकटका है। राजनैतिक विप्लवसे हजारों वर्षों सास्त्रतिक सम्पत्ति कदाचित् भिनटोंमें भस्मसाल हो सकनी है। दूध रक्षा करो, किन्तु यदि ये ही सकट यहा आ गया तो ये द्वादशागवाणके अवशिष्ट रूप फिर कहा रहेंगे ? दृश्य, र्व आदि देशोंके उदाहरण हमारे सामुख है। प्राचीन प्रतिमाएं खण्डित हो जानेपर नहीं कभी प्रतिष्ठित हो सकनी हैं पुराने मन्दिर जीर्ण होकर मिर जानेपर नये कभी भी निर्माण करा खड़े किये जा सक्ने है, धर्मके अनुयायियोंकी सखा कम होनेपर कदाचित् प्रचारद्वारा य जा सकती है, किन्तु प्राचीन आचार्योंके जो शब्द प्रयोग प्रथित हैं उनके एकवार नष्ट

जोनेपर उनका पुनरुद्धार सर्वथा असम्भव है। क्या लाखों करोड़ों रुपया खर्च करके भी पूरे द्वादशांग श्रुतका उद्धार किया जा सकता है ? कभी नहीं। इसी कारण सजीव देश, राष्ट्र और समाज अपने पूर्व साहित्यके एक एक टुकड़ेपर अपनी सारी शक्ति लगाकर उसकी रक्षा करते हैं। यह ख्याल रहे कि जिन उपायोंसे अभीतर ग्रंथ रक्षा होती रही, वे उपाय अब कार्यकारी नहीं। सद्धारक शक्तिने आजकल भीषण रूप धारण कर लिया है। आजकल साहित्य रक्षाका इससे बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं कि ग्रंथोंकी हजारों प्रतियाँ छपाकर सर्वत्र फैला दी जाय ताकि किसी भी अवस्थाम कहीं न कहीं उनका अस्तित्व बना ही रहेगा। यह हमारी श्रुत भक्तिका अत्यन्त बुद्धिहीन स्वरूप है जो हम ज्ञानके इन उत्तम संप्रदायोंकी ओर इतने उदासीन हैं और उनके सर्वथा विनाशकी जोखिम लिये चुपचाप बैठे हैं। यह प्रश्न समस्त जैन समाजके लिये विचारणीय है। इसमें उदासीनता घातक है। हृदयके इन उद्गारोंके साथ अब मैं अपने प्रार्थनको समाप्त करता हूँ और इस ग्रंथको पाठकोंके हाथोंमें सौंपता हूँ।

किंग एडवर्ड कालेज

जमरावती

१—११—३०

हीरालाल जैन,

विषय सूची

१	आदर्श प्रतियोंके चित्र (मन्त्र पृष्ठा पन्ना) ।	११	सत्प्रत्ययनाका विषय	१
२	प्रयोद्धारम सहायक मन्त्राभाषाके चित्र व चित्र परिचय ।	१२	प्रयोगी भाषा	७७
३	प्रारंभ कथन	१३	उपसंहार	११
	प्रस्तावना		टिप्पणियोंमें उद्धृष्टा	
	पदसंग्रहपरिचय (अप्रतीक) । १५		प्रयोगी सहायक मन्त्र	७७
१	श्री धरलादि सिद्धान्तके प्रकाशम आनेका इतिहास		सत्प्रत्ययनाका विषय मन्त्र	७
२	हमारी आदर्श प्रतिया	६	गुच्छिपत्र	७७
३	पाठसंशोधनके नियम	१०	मन्त्राभरण	७६
४	पदसंग्रहपरिचय रचयिता	१३	सत्प्रत्ययनाका (मन्त्राभरण और टिप्पण)	१-१०
५	आचार्य परम्परा	२१	परिशिष्ट	
६	वीर निर्माणकाल	३०	१ सत्प्रत्ययना गुच्छाणि	१
७	पदसंग्रहपरिचय की टीका प्रयोग रचयिता	३	२ अन्तरण गा मन्त्रा	११
८	धरलासे पूर्वके टीकाकार	४१	३ ऐतिहासिक नाम मन्त्रा	१५
९	धरलाकारके समुच्च उपस्थित साहित्य	५३	४ भागात्मिक नाम मन्त्रा	१७
१०	पदसंग्रहपरिचय	१३	५ प्रत्ययनामोद्देश्य	१८
			६ उदा नामोद्देश्य	१
			७ प्रतियाके पाठ भेद	१९
			८ प्रतियोंमें छुटे हुए पाठ	२५
			९ विशेष टिप्पण	२७

प्रस्तावना

of the *Bṛhat tippana* and the *Prakṛit Pattavaṇi* would make the composition of *Saṭṭhaṇḍagama* fall between 614 and 643 years after *Vira Nirvāṇa* i.e. between the 1st and 2nd centuries of the Christian Era.

This inference about the period of the composition of *Saṭṭhaṇḍagama* is corroborated by the account of its commentaries as given by *Indranandi* in his *Srutavātāra* which work I have now come to regard as authentically preserving old traditions. According to *Indranandi* six commentaries were written on *Saṭṭhaṇḍagama* in succession the last being the *Dhavalā*. The first of these commentaries was *Parikarma* written by *Kundakunda*. References to *Parikarma* are many and various in the *Dhavalā* itself, and a careful examination of them has led me to believe that it was really a commentary by *Kundakunda* on this work. The time of *Kundakunda* is approximately the 2nd century A. D. and so the *Shatṭhaṇḍagama* has to be assigned to a period before that. Other commentators mentioned by *Indranandi* are *Shamakunda*, *Tumbulura*, *Samantabhadra* and *Bappadeva* before we come to *Virasena* the author of *Dhavalā* and we would not be far wrong in separating them each in succession by about a century and assign them to 3rd 4th 5th and 6th century respectively. None of these commentaries have so far been discovered but traces of most of them may be found in the existing literature.

As regards the time of the commentary *Dhavalā* there is no uncertainty. Its author *Virasena* has recorded many astronomical details of the time of his composition in the ending verses. But unfortunately the available text of those verses is very corrupt. After a careful scrutiny of the text and its contents however, I have been able to interpret it correctly and it yields the result that the *Dhavalā* was completed by *Virasena* on the 13th day of the bright fortnight of *Kartika* in the year 738 of the *Saka era* when *Jagattunga* (i.e. *Govinda III* of the *Rashtrakūṭa* dynasty) had abandoned the throne and *Poddana Raya* (probably *Amoghavarsha I*) was ruling. I have worked out the astronomical details and found them correct and the date corresponds according to *Swami Kannu Pillai's* *Indian Ephemeris* to the 8th October 816 A. D., Wednesday morning.

In the ending verses of the *Jayadhavalā* we are told that *Virasena's* pupil *Jinasena* completed that commentary in *Saka* 759. The Volume of 60 thousand *ślokas*, thus took 21 years to compose which comes roughly to 3000 verses per year. If we take this as the average speed at which *Virasena* wrote it gives us the period between 702 and 823 A. D. for the vigorous literary activity of *Virasena* alone which produced the complete *Dhavalā* equal to 72 thousand *ślokas* and the first one-third of the *Jayadhavalā* i.e. equal to 20 thousand *ślokas*. This single man thus accomplished the stupendous and extraordinary task of writing philosophical prose equal to 92 thousand *ślokas* in the course of 31 years, and he was succeeded by an equally

gigantic writer Jināsena his pupil who wrote the 40 thousand slokas of the *Jaydhavalī*, the beautiful little poem *Puṣṣabhayudaya* and the magnificent Sanskrit *Ādipurāṇa*, before he died. What a bewildering amount of literary effusion?

The various mentions found in the *Dhavalī* reveal to us that there was a good deal of manuscript material before Virāsena and he utilised it very judiciously and cautiously. He had to deal with various recensions of the Sūtras which did not always agree in their statements. Virāsena satisfied himself by giving their alternative views, leaving the question of right and wrong between them to those who might know better than himself. He also had to deal with opposite opinions of earlier commentators and teachers, and here he boldly criticizes their views in offering his own explanation. On certain points he mentions two different schools of thought which he calls the Northern and the Southern. At present I am examining these views a bit more closely. They may ultimately turn out to be the Śvetāmbara and Digāmbara schools. Works mentioned and quoted from are (1) *Santa-kamma Pahuda*, (2) *Kasaya Pahudī*, (3) *Sammasutta*, (4) *Tiloya-pannatti Sutta*, (5) *Pancatti Pahuda*, (6) *Tattvārtha Sūtra* of Griddhapinchī, (7) *Ācāraṅga*, (8) *Sarasamgraha* of Puṣṣapada, (9) *Tattvārtha Bhāṣya* of Akalaṅka, (10) *Jīvasamāsa*, (11) *Chhedasūtra*, (12) *Kammavavada* and (13) *Dāḥakaraṇa samgraha* while authors mentioned without the name of their works are *Arya mānksu*, *Nāgabhāṣī*, *Prabhācandra* and others.

Besides these there are numerous quotations both prose and verse without the mention of their source. In the *Satprarūpanā* alone there are 216 such verses of which I have been able to trace many in the *Ācāraṅga*, *Bṛhatkalpa Sūtra*, *Dasavakalika Sūtra*, *Sthānanga tikā*, *Anuyogadvāra*, and *Āśvayaka Niryukti* of the Śvetāmbara canon besides quite a large number of them in the Digāmbara literature. These mentions give us an insight into the comparative and critical faculty as well as the coordinating power of Virāsena.

The *Satkhundagama*, was reduced to writing as told before, just at the time when the whole Jain Canon was on the point of being forgotten. In this connection it is important to note that according to the Digāmbara tradition all the twelve Angas have been lost except six Khandas these portions of the last of them i.e. *Ditthivāya* and a bit of the fifth Anga. According to the Śvetāmbaras on the other hand the first eleven are preserved though in a mutilated form while the *Ditthivāya* is totally lost. Thus to a certain extent the two traditions mutually complement each other.

A look at the tables showing the connection of the present work with the original canon will convey some idea of the extraordinary extent of the Purvas in particular and of the whole canon in general. The section dealing with the twenty four subjects *Kṛti*, *Vedanā* and others was called in the canon *Mahakamma-Payadi Pahuda*. The same twenty four subjects have been dealt with in the present work which was called *Santa Kamma-Pahuda* but which, owing to its six subdivisions

१. श्री ध्वलादि सिद्धान्तोक्त प्रकाशमें आनेका इतिहास

सुना जाता है कि श्री ध्वलादि सिद्धान्त ग्रन्थोंको प्रकाशमें लाने और उनका उत्तर-भारतमें पठनपाठनद्वारा प्रचार करनेका विचार पंडित टोडरमलजीके समयमें जयपुर और अजमेरकी ओरसे प्रारंभ हुआ था। किंतु कोई भी महान् कार्य सुसपादित होनेके लिये किसी महान् आत्माकी बाट जोड़ता रहता है। चम्बईके दानवीर, परमोपकारी स्व सेठ माणिकचंदजी वे पी का नाम किसने न सुना होगा? आजसे छप्पन वर्ष पहले वि स १९४० (सन् १८८३ ई) की बात है। सेठजी सत्र लेकर मूडवित्रीकी यात्राको गये थे। वहां उन्होंने गनमयी प्रतिमाओं और वनलादि सिद्धान्त ग्रन्थोंकी प्रतियोंके दर्शन किये। सेठजीका ध्यान जितना उन बहुमूल्य प्रतिमाओंका ओर गया, उससे कहा अधिक उन प्रतियोंकी ओर आकर्षित हुआ। उनकी सूक्ष्म धर्मरक्षक दृष्टिसे यह बात छुपा नहीं रही कि उन प्रतियोंके ताड़पत्र जीर्ण हो रहे हैं। उन्होंने उस समयके भट्टारकजी तथा वहांके पंचोंका ध्यान भी उस ओर दिलाया और इस बातकी पूछताछ की कि क्या कोई उन ग्रंथोंको पढ़ समय भी सकता है या नहीं? पंचोंने उत्तर दिया 'हम लोग तो इनका दर्शन पूजन करके ही अपने जन्मको सफल मानते हैं। हा, जैनवित्री (श्रवणवेलगुल) में ब्रह्मसूत्र शास्त्री हैं, वे इनको पढ़ना जानते हैं'। यह सुनकर सेठजी गंभीर विचारमें पड़ गये। उस समय इससे अधिक कुछ न कर सके, किंतु उनके मनमें सिद्धान्त ग्रंथोंके उद्धारका चिन्ता स्थान कर गई।

यात्रासे लौटकर सटजीने अपने परम सहयोगी मित्र, सोलापुरनिवासी, श्री सेठ हीराचन्द नेमचन्दजी को पत्र लिखा और उसमें श्री ध्वलादि ग्रंथोंके उद्धारकी चिन्ता प्रगट की, तथा स्वयं भी जाकर उक्त ग्रन्थोंके दर्शन करने और फिर उद्धारके उपाय सोचनेकी प्रेरणा की। सेठ माणिकचंदजीकी इस इच्छाको मान देकर सेठ हीराचंदजाने दस हों वर्ष, अर्थात् वि स १९४१ (सन् १८८४) में स्वयं मूडवित्रीका यात्रा की। वे अपने साथ श्रवणवेलगुलके पण्डित ब्रह्मसूत्र शास्त्रीको भी ले गये। ब्रह्मसूत्रजीने उन्हें तथा उपस्थित सज्जनोंको श्री वनल सिद्धान्तका मंगलाचरण पढ़कर सुनाया, जिसे सुनकर वे सत्र अनिप्रसन्न हुए। सेठ हीराचंदजीके मनमें सिद्धान्त ग्रंथोंकी प्रतिलिपि करानेकी भावना दृढ़ हो गई और उन्होंने ब्रह्मसूत्र शास्त्रीसे प्रतिलिपिका कार्य अपने हाथमें लेनेका आग्रह किया। वहांसे लौटकर सेठ हीराचंदजी चम्बई आये और सेठ माणिकचंदजीसे मिलकर उन्होंने ग्रंथोंका प्रतिलिपि करानेका विचार पक्का किया। किन्तु उनके

वहासे लोटेनेपर न तथा सः माणिकचदजा अपने अपने व्यावसायिक कार्याम गुण गये और कोई दण वर्षतक प्रतिनिधि करानेका बात उनके मनमे ही रह गई ।

इसा बीचमे अमरावतिग्रामा प्रायुक्त सेठ मन्चदजा सेना, प्रायुक्त प गापालदासजा बरयाक सार, मूढविद्वान्ना यात्राको गये । उस समय उ हौन सिद्धा त प्रयोगे दर्शनकर बहाके पचौ और व्रजमूर्ति शास्त्राक साथ यह बात निश्चित की कि उन प्रार्थी प्रतिछिपिया का जाय । तद्नुसार लेखनकार्य भी प्रारम्भ हो गया । यात्रास लखते समय सेठ मूलचदजा सोनी सोलापुर और मम्बई भी गये और उहौन सेठ हाराचदजा व माणिकचदजीको भा अपन उक्त कार्यका सूचना दी, जिसका उहाने अनुमोदन किया । श्रीमान् मित्र पन्नालाउठा अमरावतीगालेस बात हुआ ह कि जत्र उनके पिता स्व सिर्वा वशालाउजी स, १९४७ (मन् १८००) क लगभग मूढविद्वीर्य यात्राको गये थे तत्र व्रजमूर्ति शास्त्रा द्वारा लेखनकार्य प्रारम्भ हो गया था । किन्तु लगभग तीनसौ श्लोक प्रमाण प्रतिनिधि हानक पन्चात् हा वह कार्य बन्द पड़ गया, क्योंकि, सेठजी वह प्रतिलिपि अजमेके छिये चाहते थे और यह बात मूढविद्वान्ना भगवन्नी व पचौको इष्ट नह्य थी ।

इसी विषयका लेख स १९५२ (सन् १८९५) में सेठ माणिकचदजी और सेठ हाराचदजी के बीच पुन परचयहार हुआ, जिसका फलस्वरूप सेठ हाराचदजीने प्रतिलिपि करानेके लक्ष्यके लिये चर्चा एकर करनका थोडा उठाया । उहौने अपने पत्र तेनत्रोधर्ममें सौ सौ रुपयोंके सहायक करनेके छिये अर्थात् निकालना प्रारम्भ कर दिया । फलत एक वर्षके भीतर चौह हजारसे ऊपरके चर्चेकी रक्षाकरता आगद । तत्र सेठ हाराचदजीने सेठ माणिकचदजाको सोलापुर बुलाया और उनके समक्ष व्रजमूर्ति शास्त्रास एकसा पचास (१०५) रुपया मासिक वृत्तिपर प्रतिनिधि करनेकी बात पक्का होगय । उनकी सहायताके छिये मिरजनिवासी गजपति शास्त्रा भी नियुक्त कर दिय गये । यत्ना शास्त्री मन्त्रिषा पहुच आए उमा वर्षका पान्थुन शुभ ७ बुध वारका प्रथमी प्रतिनिधि करनका कार्य प्रारम्भ हो गया । उसका एक माह और तीन दिन पश्चात् चैत्र गुण १० का व्रजमूर्ति शास्त्रीन सेठ हाराचदजीका पत्रद्वारा सूचित किया कि जयधवलक पन्ध्र पत्र जयान लगभग १५०० श्लोकोंका कापा हो चुका । इसके बुत्त ही पश्चात् व्रजमूर्ति शास्त्रा स्वस्थ हो गये और अन्तत स्वर्गप्राप्ति हुए ।

व्रजमूर्ति शास्त्रीक पश्चात् गजपति शास्त्रीन प्रतिलिखनका कार्य चारू रक्ता और लगभग साठह वर्षमे गल जौ नयनरुकी प्रतिलिपि नागर लिपिमे पूरी की । इसी अवसरमें मूढविद्वान्ना पण्डित देवगन सेठी, शातप्पा उपाध्याय तथा ब्रजम्य इन्द्रदाग उक्त प्रयोगी कनाडी लिपिमे भी प्रतिनिधि कर आ गये । उस समय सेठ हाराचदजी पुन मूढविद्वी पहुचे और उहौने यह इच्छा

प्रगट की कि तीसरे प्रयराज महाधवलका भी प्रतिलिपि हो जाय और इन प्रयाकी सुरक्षा तथा पठनपाठनरूप सदुपयोगके लिये अनेक प्रतिधा कराकर भिन्न भिन्न स्थानोंमें रखी जावे । किंतु इस बातपर भट्टारकजी व पचलोग राजी नहीं हुए । तथापि महाप्रयकी कनाटी प्रतिलिपि पंडित नेमिराजजी द्वारा किये जानेकी व्यवस्था कर दी गई । यह कार्य सन् १९१८ से पूर्व पूर्ण हो गया । इसके पश्चात् सेठ हीराचंदजीके प्रयवमें महाप्रयकी नागरी प्रतिलिपि प लोकरनाथजी शास्त्रीद्वारा लगभग चार वर्षोंमें पूरा हुई । इसप्रकार इन प्रयाका प्रतिलिपि—कार्य सन् १८९६ से १९२२ तक अर्थात् २६ वर्ष चला, और इतने समयमें इनकी कनाटी लिपि प देवराज सेठ, प शातप्पा इन्द्र, प ब्रह्मचर्य इन्द्र तथा प नेमिराज सेठ द्वारा, तथा नागरा लिपि प ब्रह्मचरि शास्त्री, प गजपति उपाध्याय और प लोकरनाथजी शास्त्री द्वारा की गई । इस कार्यमें लगभग बीस हजार रुपये खर्च हुआ ।

धवल और जयधवलकी प्रतिके बाहर निकलनेका इतिहास

धवल और जयधवलका नागरी प्रतिलिपि करने समय श्री गजपति उपाध्यायने गुप्तरीतिसे उनका एक कनाटी प्रतिलिपि भा कर ला और उन अने हा पाम रख लिया । इस कार्य में विशेष हाथ उनकी भित्ति पत्नी लक्ष्मीका पा, जिनकी यह प्रय इच्छा था कि इन प्रयाके पठनपाठनका प्रचार हो । सन् १९१५ में उन प्रतिलिपियोंको लेकर गजपति उपाध्याय सेठ हीराचंदजीके पास मोटापुर पहुंचे जा योत्राग देकर उन्हें अपने पाम रखनेके लिये कहा । किंतु सेठजीने उन्हें अपने पास रखना स्वीकार नहीं किया, तथा अपने घनिष्ठ मित्र सेठ माणिकचंदजी को भी विन दिया कि वे भी उन प्रतियाको अपने पाम न रखें । उनके ऐसा करनेका कारण यही जाना जाता है कि वे मूडभिद्भिसे बाहर प्रतियाको न ले जानेके लिये मूडभिद्भिके पक्षों और भट्टारकजी से उचनमद हो चुके थे । अतएव प्रतियोंके प्रचारकी भावना रखते हुए भी उन्होंने प्रतियाको अपने पास रखना नतिक अधिक उचित नहीं समझा । तब गजपति उपाध्याय उन प्रतियोंको लेकर सहारनपुर पहुंचे, और वहां श्री लाला जन्मप्रसादजी रईसने उन्हें यथोचित पुरस्कार देकर उन प्रतियोंको अपने मंदिरजीमें विराचमान कर दिया ।

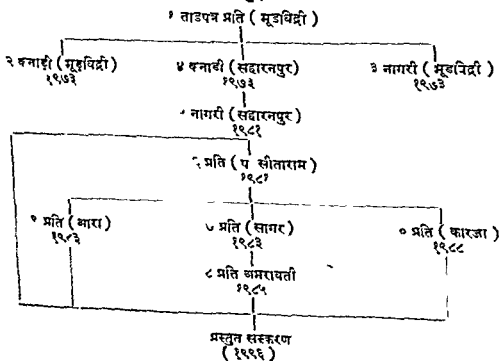
गजपति उपाध्यायने लालाजी को यह आश्वासन दिया था कि वे स्वयं उन कनाटी प्रतियोंका नागरी लिपि कर देंगे । किंतु पुत्रकी बीमारीके कारण उन्हें शीघ्र घर लौटना पड़ा । पश्चात् उनकी पत्नी भी बीमार हुई और उनका देहान्त हो गया । इन संकटोंके कारण उपाध्यायजी फिर सहारनपुर न जा सके और सन् १९२३ में उनका भा शरीरगत हो गया । लाटवाने उन प्रयाकी नागरी प्रतिलिपि पण्डित विनयचन्द्रया और प माताराज शास्त्रीके द्वारा

इनके अतिरिक्त, नहानक हमें ज्ञात है, सिद्धांत प्रयोगों की प्रतियां सोलापुर, शाहदा पाटन, पार, बम्बई, इंदौर, अजमेर, दिल्ली और सिन्धीमें भी हैं। इनमेंसे केवल बम्बई दि. जैन सरस्वती भवन की प्रति का परिचय हमारी प्रश्नावलीके उत्तरमें वहां के मैनेजर श्रीयुक्त प. रामप्रसादजी शास्त्राणे भेजने की कृपा की, जिससे ज्ञात हुआ कि वह प्रति आराकी उपर्युक्त नं. ९ की प्रति पर से प. रोशनलालद्वारा स. १९८९ में लिखी गई है, और उसी परमे शाहदा-पाटन ऐलक पन्नागल दि. जैन सरस्वती भवन के लिए प्रति कराई गई है। सागरजी सत्तर्कसुधा-तरंगिणी पाठशालाका प्रतिका जो परिचय उहां के प्रगनायापक प. दयाचन्द्रजी शास्त्राणे भेजने की कृपा की है, उससे ज्ञात हुआ है कि सिन्धी की प्रति सागरका प्रतिपरसे ही की गई है। शेष प्रतियोंका हमें हमरी प्रश्नावलीके उत्तरमें कोई परिचय भी नहीं मिल सका।

इससे स्पष्ट है कि स्वयं साताराम शास्त्राके हाथकी लिखी हुई जो तीन प्रतियां कारजा, आरा और सागरकी हैं, उनमेंसे पूर्ण दोका तो हमने सीधा उपयोग किया है और सागरकी प्रतिका उसकी अमरावतीवाली प्रतिलिपि परसे लाभ लिया है।

धनल सिद्धान्तकी प्रतियोंकी प्रस्तावत परम्पराका निदर्शक

वंशचक्र



इस विवरण और वशवृक्ष से स्पष्ट है कि यथार्थमें प्राचीन प्रतिष्ठा ही है किंतु खेद है कि अत्यंत प्रयत्न करनेपर भी हमें मूर्तिपूजा की प्रतिके मिलानका लाभ नहीं मिल सका। यही नहीं, जिस प्रति परसे हमारी प्रथम प्रेस कापी तैयार हुई वह उस प्रतिकी छठवीं पीढ़ीकी है। उसके सशोधनके लिये हम पूर्णतः दो पाचवीं पीढ़ीकी प्रतियोंका लाभ पा सके। तीसरी पीढ़ीकी सहारनपुरवाली प्रति अन्तिम सशोधनके समय हमारे सामने नहीं थी। उसके जो पाठभेद अमरावतीकी प्रतिपर अंकित कर लिये गये थे उन्हींसे लाभ उठाया गया है। इस परपरामें भी दो पीढ़ियोंकी प्रतियां गुप्त रीतिसे की गई थीं। ऐसी अवस्थामें पाठ-सशोधनका कार्य कितना कठिन हुआ है यह वे पाठक विशेषरूपसे समझ सकेंगे जिन्हें प्राचीन ग्रंथोंके सशोधनका-कार्य पड़ा है। भाषाके प्राकृत होने और विषयकी अत्यंत गहनता और दुरुद्धताने सशोधन-कार्य और भी जटिल बना दिया था।

यह सब होते हुए भी हम प्रस्तुत ग्रंथ पाठकोंके हाथमें कुछ दृढ़ता और निश्चासके साथ दे रहे हैं। उपर्युक्त अवस्थामें जो कुछ सामग्री हमें उपलब्ध हो सकी उसका पूरा लाभ लेनेमें कसर नहीं रखी गई। सभी प्रतियोंमें कहीं कहीं लिपिकारके प्रमादसे एक शब्दसे लेकर कोई सौ शब्दतक छूट गये हैं। इनकी पूर्ति एक दूसरी प्रतिसे कर ली गई है। प्रतियोंमें वाक्य समाप्ति-सूचक विराम-चिह्न नहीं हैं। कारजाकी प्रतिमें छाल स्याहीके दण्डक लगे हुए हैं, जो वाक्यसमाप्तिके समझनेमें सहायक होनेकी अपेक्षा भ्रामक ही अविकल हैं। ये दण्डक किसप्रकार लगाये गये थे इसका इतिहास श्रीमान् प. देवकीन दनजी शास्त्री सुनाते थे। जब प. सीतारामजी शास्त्री ग्रंथोंको लेकर कारजा पहुँचे तब पण्डितजीने ग्रंथोंको देखकर कहा कि उनमें विराम-चिह्नोंकी कमी है। प. सीतारामजी शास्त्रीने इस कमीकी नहीं पूर्ति कर देनेका वचन दिया और छाल स्याही लेकर कलमसे खटाखट दण्डक लगाना प्रारम्भ कर दिया। जब पण्डितजीने उन दण्डकोंको जाकर देखा और उन्हें अनुचित स्थानोंपर भी लगा पाया तब उन्होंने कहा यह क्या किया? प. सीतारामजीने कहा जहाँ प्रतिमें स्थान मिला, आखिर वहीं तो दण्डक लगाये जा सकते हैं? पण्डितजी इस अनर्थको देखकर अपनी हृतिपर पठताये। अतएव वाक्यका निर्णय करनेमें ऐसे विराम-चिह्नोंका ग्याल मिलजुल ही छोड़कर विषयके तारतम्यद्वारा ही हमें वाक्य समाप्तिका निर्णय करना पड़ा है। इसप्रकार तथा अन्यत्र दिये हुए सशोधनके नियमोंद्वारा अब जो पाठ प्रस्तुत किया जा रहा है वह समुचित माधनोंकी अप्राप्तिको देखते हुए असतोपजनक नहीं कहा जा सकता। हमें तो बहुत थोड़े स्थानोंपर शुद्ध पाठमें संदेह रहा है। हमें आश्चर्य इस बातका नहीं है कि ये थोड़े स्थल

शक्तसद रह गये, किंतु आश्चर्य इस बातका है कि प्रतियोगी प्रकाश अन्तरा होते हुए भी उन परसे इतना शुद्ध पाठ प्रस्तुत किया जा सका। इस सम्बन्धमें हमसे पुन यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि गजपतिजी उपाध्याय आर प सातारामजी शास्त्रीने मन् ही किता प्रयोजनरश नकलें की हैं, किंतु उन्होंने कार्य किया उनकी शक्तिनर ईमानदारीसे आर इसके लिये उनके प्रति, आर विशेषतः प गजपतिजी उपाध्यायजी धर्मपत्नी लक्ष्मीदेवीके प्रति हमारी कृतज्ञता कम नहीं है।

३ पाठ सशोधनके नियम

१ प्रस्तुत प्रथम पाठ-सशोधनमें ऊपर बतलाइ हुए जमरावती, सहारनपुर, काशी आर आगरा चार हस्तलिखित प्रतियांका उपयोग किया गया है। यद्यपि ये सब प्रतियां एक ही प्रतिका प्रायः एक ही व्यक्तिगत गत पत्र-रपोंक भानर या हुई नकल हैं, तथापि उनसे पूर्वकी प्रति अलभ्य होनेका अवस्थामें पाठ सशोधनमें इन चार प्रतियांमें बहुत सहायता मिली है। क्रमसे कम उनका मिलनद्वारा भिन्न भिन्न प्रतियोंमें उठ हुए भिन्न भिन्न पाठ, जो एक मात्रसे दृष्टा कर दृष्टाभग सो शब्दानक पाय जात है, उपलब्ध हो गये आर इसप्रकार कमसे कम उन सबकी उस एक आदर्श प्रतिका पाठ हमारे सामने आ गया। पाठका विचार करते समय सहारनपुरकी प्रति हमारे सामने नहीं थी, इस कारण उसका चितना उपयोग चाहिये उतना हम नहीं कर सकें। कबल उसका जो पाठ भेद अग्रजर्नीकी हस्त प्रति पर अंकित कर डिय गये थे, उन्हासे लाभ उठाया गया है। वहा पर अन्य सब प्रतियांमें हमका पाठ भिन्न पाया गया वहा इसीको प्रामाण्य दिया गया है। हम स्वयं परिगृहमें ७७ प्रति भिन्नानकी ताडिकाक दृष्टनेसे ज्ञात हो जायेंगे। प्रति प्रामाण्यक बिना पाठ परिकलन केरु हम ही स्थानापर किया गया है जहा वह विषय और व्याख्यानका दृष्टत हुये नितात आवश्यक जबा। फिर भी वहा पर कमसे कम परिवर्तनद्वारा काम चलाया गया है।

२ वहा पर प्रतियार पाठ-भिन्नानमात्रमें शुद्ध पाठ नहा मिल सका वहा पहले यह विचार किया गया है कि क्या कना हम नागरा डिपि करनेमें कोई दृष्टि दोषजन्य भ्रम वहा समन है। हम विचारद्वारा हम निम्न प्रकारक संगोहन कर सके—

(अ) प्राचीन वनारसीमें प्राप्त डिपि समय अनुस्वार आर वण-द्वित-शोधक समत एक निम्न ही होता है, भेद स्वयं इतना है कि अनुस्वारका निम्न कुछ छोटा (०) और द्वितका

कुल पडा (○) होता ह। फिर अनुस्वार का त्रिटु वर्णमे पश्चात् और द्वित्वका वर्णसे पूर्व रपा जाता है। अनप्य त्रिपिका द्वित्वको अनुस्वार और अनुस्वारको द्वित्व भी पड सकता है। उदाहरणार्थ, प्रो० पाठकने अपने एक लेखमें* त्रिलोकसागरी कनाटी ताडपत्र प्रति परमे कुल नागरीमें गाथाए उद्धृत की हैं जिनमेसे एक यहां देते हैं—

सो उ०म०गाहिमुहो चउ०मुहो सदरि वास परमाऊ ।

चाहीस र०जओ जिदभूमि पु०उइ म मति गण ॥

इसका शुद्धरूप है—

सो उ०म०गाहिमुहो चउ०मुहो सदरि-वास-परमाऊ ।

चाहीस-रजओ जिदभूमि पु०उ स-मति-गण ॥

ऐसे भ्रमकी संभवता व्यानमें रखकर निम्न प्रकारके पाठ सुगार लिये गये हैं—

(१) अनुस्वारके स्थान पर अगळे वर्णका द्वित्व—

अग गिज्ञा-अगगिज्ञा (पृ ६), लखण खइणो-लखणकखइणो (पृ १५)
सबध-सबद्ध (पृ २५, २९२,) उस-उस्म (पृ ११०) आदि ।

(२) द्वित्वके स्थानपर अनुस्वार—

भग-भग (पृ ४९) अकुलेसर-अकुलेसर (पृ ७१) ककखा-कखा (पृ ७३) समिइउस्मया दत-समिइउ सया दत (पृ ७) सवेयणी-सवेयणी (पृ १०४) ओराणिय सि ओराणिय नि (पृ २९१) पाउगालिय-पाउ गालिय (पृ ४८) पडिमत्रा-पडिम वा (पृ ५८) इत्यादि ।

(आ) कनाटीमें द आर ध प्राय एकसे ही लिखे जाते हैं जिससे एक दूसरेमें भ्रम हो सकता है ।

द-ध, दरि-रिद (पृ २९) र-द, इविध-इविद (पृ २०) हरधणु-हरदणु (पृ २७३) इत्यादि ।

(इ) कनाटीमें व ओर ध में अंतर केवल वर्णके मध्यमें एक त्रिटुके रहने न रहनेका

है, अतएव इनके लिखने पठनेमें भ्रांति हो सकती है। अतः कथ के स्थानपर कथ और इसको तथा पूर्वोक्त अनुसार द्वित्व त्रिभ्रमको यानम रखकर मधुगोत्रा के स्थान पर स प्रयोग कर दिये गये हैं।

यद्यपि शीरसेनाके नियमानुसार कथ आदिमें घ के स्थान पर घ ही रक्खा है, किंतु जहां घ करनेसे किमी अथ शब्दसे भ्रम होनेकी सम्भावना हुई वहां घ ही रहने दिया। उदाहरणार्थ— किसी किसी प्रतिमें 'गघो' के स्थान पर 'गो' भी है किंतु हमने 'गघो' ही रक्खा है।

(ई) ह्रस्व और दीर्घ स्वरोंमें बहुत व्यवहार पाया जाता है, विशेषतः प्राकृत ग्रंथोंमें। इसका कारण यही जान पड़ता है कि प्राचीन कनाड़ी लिपिमें ह्रस्व और दीर्घता कोई भेद ही नहीं किया जाता। अतः सशोधनमें ह्रस्व और दीर्घ व्याकरणके नियमानुसार रक्खा गया है।

(उ) प्राचीन कनाड़ी ग्रंथोंमें बहुधा आदि छ के स्थान पर अ लिखा मिलता है जैसा कि प्रो. उपाध्येने परमा मप्रकाशकी भूमिकामें (पृ. ८३ पर) कहा है। हमें भी पृ. ३२६ की अन्तरण गाथा न. १६९ में 'अहइ' के स्थान पर 'छहइ' करना पड़ा।

३. प्रतियोंमें न और ण के द्वित्वको छोटकर रोप पञ्चमाक्षरोंमें ह्रस्व रूप नहीं पाये जाते। किंतु यहां सशोधित संहृतमें पञ्चमाक्षर यथास्थान रखे गये हैं।

४. प और य में प्राचीन कनाड़ी तथा वर्तमान नागरी लिपिमें बहुधा भ्रम पाया जाता है। यही बात हमारी प्रतियोंमें भी पाई गई। अतः सशोधनमें ये दोनों यथास्थान रखे गये हैं।

५. प्रतियोंमें व और व का भेद नहीं दिखाई देता, सर्वत्र व ही दिखाई देता है। अतः सशोधनमें दोनों अक्षर यथास्थान रखे गये हैं। प्राकृतमें व या व संहृतके वणानुसार रक्खा गया है।

६. 'अरिहत' संहृतमें अकारांतके रूपसे प्रतियोंमें पाया जाता है। हमने उसके स्थानपर संहृत नियमानुसार अरिहता ही रक्खा है। (देखो, भाषा व व्याकरणका प्रकरण)

७. प्रथमें संहृत आर प्राकृत दोनों भाषाओंका मूल उपयोग हुआ है, तथा प्रतियोंकी नक़्त करनेवाले संहृतके ही जानकर रहे हैं। अतएव बहुत स्थानोंपर प्राकृतके वाच संहृतके और संहृतके बीच प्राकृतके रूप आ गये हैं। ऐसे स्थानोंपर शुद्ध करके उनके प्राकृत और संहृत रूप ही दिये गये हैं। जैसे, इदि-गति, वण-गति, गदि-गति, आदि।

८. प्रतियोंमें अनरण गाथाएँ प्रायः अनियमितरूपसे उक्त च या उक्त च कहकर उद्धृत की गई हैं। नियमके लिये हमने सर्वत्र सरभूत पाठके पश्चात् उक्त च और प्राकृत पाठके पश्चात् उक्त च रखा है।

९. प्रतियोंमें संधिके सन्धमें भी बहुत अनियम पाया जाता है। हमने व्याकरणके सप्तसत्रगी नियमोंको ध्यानमें रखकर यथाशक्ति मूलके अनुसार ही पाठ रखनेका प्रयत्न किया है, किंतु जहाँ विराम चिह्न आगया है वहाँ सप्ति अन्त्य ही तोड़ दी गई है।

१०. प्रतियोंमें प्राकृत शब्दोंमें लुप्त व्यन्तनोंके स्थानोंमें कहीं य श्रुति पाई जाती है और कहीं नहीं। हमने यह नियम पालनेका प्रयत्न किया है कि जहाँ आदर्श प्रतियोंमें अश्लिष्ट स्वर ही हो रहा यदि सयोगी स्वर अ या आ हो तो य श्रुतिका उपयोग करना, नहीं तो य श्रुतिना उपयोग नहीं करना। प्रतियोंमें अधिकांश स्थानोंपर इसी नियमका प्रभाव पाया जाता है। पर ओ के साथ भी बहुत स्थानों पर य श्रुति मिलती है और ऊ अथवा ण के साथ कचित् ही, अथ स्वरोंके साथ नहीं।

(१) ओ के साथ य श्रुतिके उदाहरण—

भणियो, जाणयो, विसारयो, पारयो, आदि।

(२) ऊके साथ—गजियूण

(३) ए के साथ—परिणयेण (परिणयेन) एकारमीये, आदीये, इत्यादि।

४. पट्टखंडागमके रचयिता

प्रस्तुत ग्रन्थके अनुसार (पृ ६७) पट्टखंडागमके विषयके ज्ञाता धरसेनाचार्य थे, जो सोरठ देशके गिरिनगरकी चन्द्रमुफामें प्यान करते थे। नदिसंधकी प्राकृत पद्यावलीके आचार्य धरमेन अनुमारये आचारांग के पूर्णज्ञाता थे किंतु 'धमला' के शब्दोंमें वे अगों और पूर्णोंके एकदेश ज्ञाता थे। कुछ भी हो ये थे भारा विद्वान् और श्रुत-यसल। उन्हें इस बातकी चिंता हुई कि उनके पश्चात् श्रुतज्ञानका लोप हो जायगा, अतः उन्होंने गहिरा नगरीके मुनिसम्मेलनको पत्र लिखा जिसके फलस्वरूप वहाँसे दो मुनि उनके पास पहुँचे। आचार्यने उनकी बुद्धिकी परीक्षा करके उन्हें सिद्धांत पढ़ाया। ये दोनों मुनि पुण्यदत्त और भूतनलि थे। धरसेनाचार्यने इन्हें सिखाया तो उसम-

तासे किंतु ज्यों हा आपाठ शुभा एकादशीको अवयवन पूरा हुआ स्यों ही वर्षाकालके बहुत समीप होते हुए भा उन्हें उसी दिन अपने पासमें प्रिदा कर दिया । दोनों शिष्योंने गुरुकी आज्ञा अनुष्ठानीय मानकर उसका पालन किया और गहासे चलकर अनुष्ठेपरमें चातुर्मास किया । धरसेनाचार्यने उन्हें बहासे तत्क्षण क्या रमाया कर दिया यह प्रस्तुत ग्रथमें नहीं उल्लेख किया गया है । किंतु इन्द्रनिदित्त श्रुतागार तथा विमुक्त श्रावणत श्रुतागारमें लिखा है कि धरसेनाचार्यको बात हुआ कि उनकी मृत्यु निकट है, अतएव उन्हें उस कारण क्लेश न हो इससे उन्होंने उन मुनियोंको तत्क्षण अपने पासमें प्रिदा कर दिया । समझ है उनके बड़ा रहनेसे आचार्यको पान और तपमें विघ्न होता, विशेषतः जब कि वे श्रुतज्ञानका रक्षासंरक्षणी अपना कर्तव्य पूरा कर चुके थे । वे समझत यह भा चाहते होंगे कि उनके वे शिष्य गहामें वे शिष्य निकट कर उस श्रुतज्ञानका प्रचार करें । जो भी हो, धरसेनाचार्यका हमें फिर कोई उदात्त शिष्यको नहीं मिलता, वे सदाके लिये हमारी आँखोंमें ओझल हो गये ।

मरणाकालमें धरसेनाचार्यका गुरुका नाम नही दिया । इन्द्रनिदित्तके श्रुतागारमें उदात्त श्रुतकी गुरुपरम्पराके पश्चात् विनयवत्त, ग्राह्यवत्त, गिरिवत्त और अर्हवत्त इन चार आचार्योंका उल्लेख किया गया है । वे सब अगा और पूर्वाका एकादेश ज्ञाता थे । इनके पश्चात् अहर्द्विज्जिका उल्लेख आया है । अहर्द्विज्जि ग्रेटे भारी मान्यताके थे । वे पूर्वागम पुटवचनपुराके कहे गये हैं । उन्होंने पञ्चपर्याय युग-प्रतिक्रमणके समय पड़ा भाग यति सम्पादन किया निम्न भा योनिक यति एकादश । उनका भावनाभा परमे उन्होंने जान लिया कि अब पञ्चापातका जमाना आगया है । अतः उन्होंने नडि, वीर, अपगन्धित, देव, पञ्चस्तप, मेन, भद्र, गुणगर, गुप्त, मित्र, चन्द्र आदि नामांश मित्र मित्र सब स्थापित किये निम्न एकत्र और अपनपनी भावनामा शब्द रमि रासन्ध और धम प्रभावता ग्रेटे ।

श्रुतागारके अनुसार अहर्द्विज्जिके अनन्तर मायनदि हुण जा मुनियामे श्रेष्ठ थे । उन्होंने अगा और पूर्वाका एकादेश प्रकाश किया और पश्चात् समाधिगण किया । उनके पश्चात् ही

१ इन्द्रनिदित्तके अनुसार अवगताचार्यने उन्हें दूसरे दिन प्रिदा किया ।

२ इन्द्रनिदित्तने इस पञ्चतरा नाम कुराधार दिया है । वर्ष व वा दिनकी गाना करके पढ़ाये ।

३ स्वामिपुत्रि स्नात्वा मा भूतकलेसमयवारहिम् । इति गुरुणा सवित्र द्वितीयदेवत ततस्तेन । इन्द्रनिदित्त, श्रुतागार आसनो निष्क्रमण स्नात्वा धरसेनस्तयोमा कक्षा मन्त्र इति मन्त्रा त मुनिविमजन करिष्यन्ति ।

विशुद्धभाषण, श्रुतागार मा दि जे म २२, पृ ३१७

सोराष्ट्र देवके गिनिगर्गके समीप ऊर्जयन्त पर्यतकी चन्द्रगुफाके निवासा धरसेनाचार्यका वर्णन आया है ।

एन चाग आराताय यतियो आग अर्हद्वलि, माघनन्दि न जरेमन आचार्योके बीच इन्द्र-नन्दिने कोई गुरु-शिष्य-परम्पराका उल्लेख नहीं किया । केवल अर्हद्वलि आदि तीन आचार्योंमें एकके पश्चात् दूसरेके होनेका स्पष्ट संकेत किया है । पर इन तीनोंके गुरु-शिष्य तागन्म्यके सन्न्धमें भी उन्होंने कुछ नहीं कहा । यही नहीं प्रत्युत उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि—

गुणधरधरसेनान्वयगुणों धूनापरक्रमोऽस्माभि ।

न वायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥१५१॥

अर्थात् गुणधर और धरसेनकी पूर्वापर गुरुपरम्परा हमें ज्ञात नहीं है, क्योंकि, उसका वृत्तान्त न तो हमें किसी आगममें मिला और न किसी मुनिने ही प्रतलाया ।

किंतु नन्दिसप्तकी प्राप्त पञ्चावलामें अर्हद्वलि, माघनन्दि और धरसेन तथा उनके पश्चात् पुष्पदन्त और भूतबलिको एक दूसरेके उत्तराधिकार प्रतलाया है जिससे ज्ञात होता है कि धरसेनके दादागुरु अर्हद्वलि और गुरु माघनन्दि थे ।

नन्दिसप्तकी संस्कृत गुर्गात्रलामें भी माघनन्दिका नाम आया है । इस पञ्चावलीके प्रारम्भमें भद्रबाहु और उनके शिष्य गुमिगुप्तकी उदना का गर्द है, किन्तु उनके नामके साथ सध आदिका उल्लेख नहीं किया गया है । उनकी उदनाके पश्चात् मूलसन्धमें नन्दिसध उल्लाकारगणके उत्पन्न होनेका साथ ही माघनन्दिका उल्लेख किया गया है । समग्र है कि सधमेदके पिथाता अर्हद्वलि आचार्यने उन्हें ही नन्दिसधका अग्रणी प्रनाया हो । उनके नामके साथ 'नन्दि' पद होनेमें भी उनके इस गणके साथ सन्ध प्रकट होता है । यथा—

श्रामानग्रेपरनायकानन्दिताप्रि श्रीगुप्तिगुप्त इति त्रिभुतनामधेय ।

यो भद्रबाहुमुनिपुगपष्टपन्न मर्य स वो दिगुत निर्मलसप्तवृद्धिम् ॥ १ ॥

श्रीमूलसधेऽजनि नन्दिसध तस्मिन्वलात्कारगणोऽतिरम्य ।

तत्राभवत्पूर्वपदाशयेदी श्रीमाघनन्दी नरेदेवन्ध ॥ २ ॥

ज नि भा १, ८, पृ ११

पञ्चावलीमें इनका पञ्चारा जिनचक्र और उनके पश्चात् पद्मनन्दि कुन्दकुन्दका उल्लेख किया गया है, पर धरसेनका नहीं । अतः सग्य हो सकता है कि ये वे ही धरसेनके गुरु हैं या

मही । किंतु उनका ' प्रवपनाशयती ' अर्थात् पूर्वोक्ते एकदशको जाननेवाला, ऐसे विशेषणसे पता चलता है कि ये चे ही हैं । पद्मचर्याम तत्राणि शिष्य धरसाका उल्लेख न आनेका कारण यह हो सकता है कि धरसन विद्याभ्यासगी व और य रागों अलग रहकर शास्त्राभ्यास किया करते थे । अतः उनकी अनुपस्थितिमें स्वयं तायकस्य मायनदिका अन्य शिष्य जिनचन्द्रपर पण्य हैं । उधर धर सनाचायन अपनी विद्याद्वारा शिष्यपण्यस्य पुण्य न और गृहनिर्वाहकार चलाई ।

मायनदिका उल्लेख ' जयुतीपण्यसि ' का कर्ता पद्मनिदिने भी किया है और उन्हें, राग, द्वेष और मोह से रहित, श्रुतगायक पारगामी, गति-प्रगल्भ, तप और सयमसे सम्पन्न तथा शिष्यात् कहा है । इनके शिष्य रागश्रुत गुरु य जि होंने सिद्धा तमहोदधिमें अपने पापरूपी मैत्र धो डाले थे । उनके शिष्य श्रीनरि गुरु हूँ मि । के निमित्त जयुतीपण्यसि लिखी गई । यथा—

गय-राय-राग मोक्षे पुण्य-गाय पारजा गुरु पण्य मो ।

गय मन्त्रमपण्य विद्या आ माघनदि गुरु ॥ १५४ ॥

गम्यत य यस्मिन्ना मित्तम गद्योदधिनि भुय-काङ्क्षो ।

गय गियम भाग्य-काङ्क्ष गुरु उता गयलचन्द-गुरु ॥ १५५ ॥

तस्मै य यस्मिन्ना गिम्मत-यराणा धरण सजुता ।

गम्यदण्य-गुप्तो निरिणदि गुरु ति रितामा ॥ १५६ ॥

गम्य गिम्मत निदिन जयुतीपण्य तह य पण्यसी ।

ता यद गुरु पण्य मा गच्छ उक्तम टाण ॥ १५७ ॥

(श्रुत गाक्षिण्य ग ॥ १५४, १५५, १५६, १५७ जयुतीपण्यसि छलक प नायूरामजी प्रमी)

जयुतीपण्यसि का रचनाकार निश्चित नहीं है । किंतु यहाँ माघनदिको श्रुतसागर पारगामी कहा है । गाय तम गम्यो के कि, रामयत यही हमारे माघनदिसे दी तात्पर्य है ।

माघनदि गिदा गीतों के शिष्यपण्य एक कथानक भी प्रचलित है । कहा जाता है कि माघनदि मुनि एकवार श्रुतगाय, श्रुत गम्य गय थे । यहाँ एक कुम्हारकी कथाने इनसे प्रेम प्रगट किया और वे उसकी माय गुरु गय । का गम्यगमें एकवार रागों किसी सिद्धांतिक विषयपर मत भेद उपस्थित हुआ और तब विद्याम गम्य गम्यगमा तहो हो सका तत्र सनायकने आज्ञा दी कि इसका समाधान माघनदिय गाय गम्यग किया जाय । अतः सानु माघनदि और उनसे ज्ञानकी व्यवस्था होगी । माघनदि गय गम्य गय सप मुने अव भू है । मुनि गेने उत्तर दिया गम्य गम्यगमा सदेय जात्र होमा । यह

प्राप्त हो गया और वे अपने सुरक्षित रहे हुए पीछी कमडलु लेकर पुनः सत्रमें आ मिले । जैन सिद्धांतभास्कर, सन् १९१३, अंक ४, पृष्ठ १५१ पर ' एक ऐतिहासिक स्तुति ' शीर्षकसे इसी कथानकका एक भाग उठा है और उसके साथ सोलह श्लोकोंका एक स्तुति छपी है जिसे कहा है कि माघनदिने अपने कुम्हार-जीवनके समय कच्चे घड़ोंपर थाप देते समय गाते गाते बनाया था ।

यदि इस कथानकमें कुछ तथ्याश हो भी तो सम्भवतः यह उन माघनदि नामके आचार्यामेंसे किसी एकके सम्बन्धका हो सकता है जिनका उल्लेख श्रवणबेलगोळके अनेक शिलालेखों में आया है । (देखो जैनशिलालेखसंग्रह) इनमेंसे न ४७१ के शिलालेखमें शुभचन्द्र त्रैविद्यदेवके गुरु माघनदि सिद्धांतदेव कहे गये हैं । शिलालेख न १२९ में बिना किसी गुरु-शिष्य सन्त्यके माघनदिको जगत्प्रसिद्ध सिद्धान्तदेवी कहा है । यथा—

नमो नम्रजनानन्दस्यदिने माघनन्दिने ।

जगत्प्रसिद्धसिद्धातदेदिने चिन्मोदिने ॥ ४ ॥

ये दोनों आचार्य हमारे पट्खण्डागमके सच्चे रचयिता हैं । प्रस्तुत ग्रंथमें इनके आचार्य पुष्पदन्त और भूतनलि प्राग्भिक नाम, धाम व गुरु परम्पराका कोई परिचय नहीं पाया जाता । घण्टाकारने उनके सत्रधर्म केवल इतना ही कहा है कि जन महिमा नगरमें सम्मिलित यतिसंघको वरसेनाचार्यका पत्र मिला तब उन्होंने धृत-रक्षासन्नी उनके अभिप्रायको समझकर अपने सत्रमेंसे दो सात चुने जो विद्याग्रहण करने और स्मरण रखनेमें समर्थ थे, जो अन्यत्र प्रितयशील थे, शीलवान् थे, चिन्ता देश, कुल और जाति शुद्ध था और जो समस्त कलाओंमें पारंगत थे । उन दोनोंको वरसेनाचार्यके पास गिरिनगर (गिरनार) भेज दिया । वरसेनाचार्यने उनकी परीक्षा की । एकको अप्रिकाक्षरी और दूसरेको हीनाक्षरी दिया बताकर उनसे उन्हें पद्योपनाससे सिद्ध करनेको कहा । जन विद्याएं सिद्ध हुईं तो एक उठे बड़े दातोंवाली और दूसरी कानी देनाके रूपमें प्रगट हुई । इन्हें देख कर चतुर साधकोंने जान लिया कि उनके मंत्रोंमें कुछ त्रुटि है । उन्होंने विचारपूर्वक उनके अधिक और हीन अक्षरोंकी कमी चेरी करके पुनः साधना की, जिससे देखा अपने स्वाभाविक सौम्यरूपमें प्रकट हुईं । उनकी इस कुशलतासे गुरुने जान लिया कि ये सिद्धांत सिखानेके योग्य पात्र हैं । फिर उन्हें क्रमसे सत्र सिद्धांत पटा दिया । यह श्रुताम्याम आपाड शुक्ला एकादशीको समाप्त हुआ और उमी समय भूतने पुष्पापहारोंद्वारा शख, तूर्य और नादियोंकी धनिके माथ एककी बड़ी पूजा की । इसीसे आचार्यश्रीने उनकी नाम भूतनलि रक्खा । दूसरेकी दत्तपत्ति अस्त-व्यस्त थी, उसे भूतने ठीक कर दी, इससे उनकी नाम पुष्पदन्त रक्खा गया । ये ही दो आचार्य पुष्पदन्त और भूतनलि पट्खण्डागमके रचयिता हुए ।

उन दोनोंने धरसेनाचार्यसे सिद्धांत सीखकर ग्रंथ रचना की, अतः धरसेनाचार्य उनके शिक्षागुरु थे। पर उनके दाक्षागुरु कौन थे? सदा कोई उल्लेख प्रस्तुत ग्रंथमें नहीं मिलता। ब्रह्म नेमिदत्तने अपने आराधना कथाकोषमें भा धरसेनाचार्यका कथा दी है। उसमें कहा है कि धरसेनाचार्यने जिस मुनिसंघको पत्र भेजा था उसके सत्राधिपति महामनाचार्य थे और उन्होंने अपने सत्रमें पुष्पदत्त और भूतबलिको उनके पास भेजा। यह कहना कठिन है कि ब्रह्म नेमिदत्तने सत्राधिपतिका नाम कथानकके लिये कल्पित कर दिया है या वे किसी आगर परसे उसे लिख रहे हैं।

विष्णु श्रीरसे अपने श्रुतावतारमें भाग्यवशात् के रूपमें एक भिन्न ही कथानक दिया है जो इस प्रकार है—

रमा भरतक्षेत्रके रामिदेश (अथर्देश १) में वसुधारा नामकी नगरी होगी। वहाके राजा नरनाहन और राजा सुम्पाको पुत्र न होनेसे राजा खेदविन्न होगा। तब सुमुद्धि नामके मेठ उन्हें पद्मावतीकी पूजा करनेका उपदेश देंगे। राजाके तदनुसार देशीकी पूजा करनेपर पुत्रप्राप्ति होगा और वे उस पुत्रका नाम पद्म रखेंगे। फिर राजा सहस्रकूट चलाएय वनगंगे और प्रतिवर्ष यात्रा करेंगे। सेतुजी भी राजाभादसे पद पदपर पृथ्वीको चिनमिदोसे महित करेंगे। इसा समय वसंत ऋतुमें समस्त सप्त ब्रह्म एकत्र होगा और राजा सेठजीके साथ जिनपूजा करके रथ चढ़ेंगे। उसी समय राजा अपने मित्र मगधनामीको मुनीन्द्र हुआ देव सुमुद्धि मेठके साथ वगव्यमे जनी दीक्षा घारण करेंगे। रमा समय एक लेखग्राहक रहा आयेगा। वह चिन देवोंको नमस्कार करके व मुनियोगी तथा (परोक्षमें) धरसेन गुरुकी वंदना करके लेख समर्पित करेगा। वे मुनि उसे बाँचेंगे कि गिरिनगरके समीप गुप्तासी धरसेन मुनीश्वर आप्रायणीय पूर्वकी पंचम वस्तुके चीथे प्राभृतशास्त्रका व्याख्यान प्रारम्भ करनेआले हैं। धरसेन भयानक कुछ दिनोंमें नरनाहन और सुमुद्धि नामके मुनियों को पत्न, श्रमग और चितनक्रिया कराकर आपाट शृङ्गा एकादशाको ग्राह्य समाप्त करेंगे। तामेंसे एककी भूत रात्रिके वाटिपिधि करेंगे और दूसरेके चार दातोंको सुंदर बना देंगे। अतएव भूत-व्रतिके प्रभावसे नरनाहन मुनिका नाम भूतबलि और चार दात समान हो जानेसे सुमुद्धि मुनिका नाम पुष्पदत्त होगा। इसके ऐश्वर्यका समय आदि अज्ञात है और यह कथानक कल्पित जान पड़ता है। अतएव उसमें कहा गए बातोंपर को-जोर नहीं दिया जासकता।

भ्रमणवेलगोलके एक शिखलेख (न १०५) में पुष्पदत्त और भूतबलिको स्पष्टरूपमें सवभेद कता अहद्वलिके शिष्य कहा है। यथा—

य पुष्पदन्तेन च भूतत्रयान्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे ।

फलप्रदानाय जगज्जनानां प्राप्तिस्तुष्टाभ्यामिव कल्पभूज ॥ २५ ॥

अर्हद्वलिस्सवचतुर्विध स श्रीकोण्डकुन्दान्यमूलसधम् ।

कालम्भमात्रादिह जायमान-द्वेपेतरालीकरणाय चक्रे ॥ २६ ॥

यद्यपि यह लेख बहुत पीछे अर्थात् शक स १३२० का है, तथापि सम्भवतः लेखकने किसी आधार पर से ही इन्हें अर्हद्वलिके शिष्य कहा होगा । यदि ऐसा हो तो यह भी सम्भव है कि ये इन दोनोंके दीक्षा गुरु हों और धरसेनाचार्यने जिस मुनि सम्मेलनको पत्र भेजा था वह अर्हद्वलिका युग प्रतिक्रमणके समय एकर किया हुआ समाज ही हो, और वहीसे उन्होंने अपने अत्यन्त कुशामुद्धि शिष्य पुष्पदन्त और भूतत्रलिको धरसेनाचार्यके पास भेजा हो । पञ्चवर्षके अनुमार अर्हद्वलिके अन्तिम समय और पुष्पदन्तके प्रारम्भ समयमें २१ + १९ = ४० वर्षका अंतर पड़ता है जिससे उनका समसामयिक होना असम्भव नहीं है । केवल इतना ही है कि इस अवस्थामें, लेख लिखते समय धरसेनाचार्यकी आयु अपेक्षाकृत कम ही मानना पड़ेगी ।

प्रस्तुत ग्रन्थमें पुष्पदन्तका सम्पर्क एक ओर 'यकिमे' प्रतलाया गया है । अनुलेखरमें पुष्पदन्त
और चातुर्मास समाप्त करके जत्र वे निकले तत्र उन्हें जिनपालित मिल गये और उनके साथ वनवास देशको चले गये' । ('जिनपालिय दृष्टुण पुष्पदन्तारियो

जिनपालित वनवासग्रिम्य गदं' पृष्ठ ७१ ।) दृष्टुण का साधारणतः दृष्ट्वा अर्थात् देखकर अर्थ होता है । पर यहां पर यदि दृष्टुण का देखकर यही अर्थ ले लिया जाता है तो यह नहीं मान्य होता कि वहां जिनपालित कहामें आ गये' दृष्टुणका अर्थ दृष्टु अर्थात् देखनेके लिये भी हो सकता है, जिसका तात्पर्य यह होगा कि पुष्पदन्त अनुलेखरसे निकलकर जिनपालितको देखनेके लिये वनवास चले गये । सगतिनी दृष्टिमें यह अर्थ ठीक बैठता है । इन्द्रनन्दिने जिनपालितको पुष्पदन्तका भागिनेय अर्थात् भनेज कहा है । पर इस स्थितिके कारण वे उन्हें देखनेके लिये गये यह कदाचित् साधुके आचारका दृष्टिसे ठीक न समझा जाय इसलिये बेसा अर्थ नहीं किया । वनवास देशसे ही वे गिरिनगर गये थे और वहांसे फिर वनवास देशको ही लौट गये । इससे यही प्रान्त पुष्पदन्ताचार्यकी जन्मभूमि जान होता है । वहां पहुँचकर उन्होंने जिनपालितको दीक्षा दी और

१ विबुध श्रीधरचन्द्र भुतावतारके अनुमार पुष्पदन्त और भूतत्रलिके अङ्गलश्वरम् हा पद्म आगमका रचना की । (तत्त्वनिर्णय अङ्गलेश्वरपुरे गन्वा मन्त्रा पद्मरचनी कृत्वा शालेयु लिखा य)

२ जैसे, रामा तिममुद मेहल पुद्गल पालेऊन समथो । पउम च ३१, ४० ममार गमण मीजी इच्छइ धेतण पञ्चञ्च । पउम च ३१, ४८

‘वीसदि सूत्रों’ की रचना करके उन्हें पढ़ाया, और फिर उन्हें भूतत्रलिके पास भेज दिया । भूतत्रलिने उन्हें अपना ज्ञान, महाकर्मप्रवृत्ति पाण्डुटक विच्छेद भयमे द्रव्यप्रमाणसे लगाकर आगेका द्रव्य-रचना दी । इसप्रकार पुण्यजन और भूतत्रलि दोनों हम सिद्धांत मयके रचयिता हैं और निरपेक्ष उन रचनाके निमित्त कारण हुए ।

पुण्यदत्त और भूतत्रलिके बीच आयुष्य पुण्यदत्त ही जेठ प्रतीत होते हैं । वज्रलाकारने अपनी नीकाके महाव्यकरणमें उन्हें ही पहला नमस्कार किया है और उन्हें ‘इमि सन्निद-व’ (ऋषिसन्निधि पति) अर्थात् ऋषिया व मुनियोंका समाके नायक कहा है । उनकी मय-रचना भी आदिमें हुए और भूतत्रलिने अपना रचना अन्तमें उहीके पास भरी निमन्त्रण व प्रमत्त हुए । इन बातोंमें उनका ज्येष्ठत्व पाया जाता है । निम्नपक्षी प्राकृत पञ्चरत्न व स्पष्ट भूतत्रलिसे पूर्ण पञ्चिकाका हुए वनलाये गये हैं ।

वर्तमान ग्रन्थमें पुण्यदत्तका रचना कितनी है और भूतत्रलिका कितनी, इसका स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है । पुण्यदत्तने आदिमें प्रथम ‘वीसदि सूत्र रच । पर इन वाम सबामें वज्रलाकारका समस्त संप्रवृत्तिकाके वीस आँखोंसे तात्पर्य है, न कि आँखों २० नम्यर तमके सूत्रोंमें, क्योंकि, उन्होंने स्पष्ट कहा है कि भूतत्रलिने द्रव्यप्रमाणानुगमसे उत्तर रचना की (पृ ७१) । जहास द्रव्य प्रमाणानुगम जयात् महाप्रवृत्ति प्रारम्भ होता है वहापर भी कहा गया है कि—

सपदि चादसष्ट जीवसमामाणमधिकमवगणन सिम्हाण तसि चर परिमाण पटिरोहणष्ट भूतत्रलियादित्यो मुत्तमाह ।

अर्थात्—‘अब चादसष्ट जीवसमामा के अमित्य का ज्ञान इनका विषयों का उन्हें जीवसमामाके परिमाण वतलानक लिये भूतत्रलि आचार्य सूत्र कहते हैं ।’

इसप्रकार संप्रवृत्ति अत्रिकाके रचना पुण्यदत्त और शेष समस्त ग्रन्थों के भूतत्रलि कहते हैं ।

अन्तमें इस ग्रन्थ की रचनाका रचना ही इतिहास पाया जाता है । इससे आगेका श्रुतपञ्चमीना वृत्तान्त इदनदिहृत श्रुतपञ्चमीने मिलता है । उसके अनुसार भूतत्रलि आचार्यने पट्टवृत्तान्तमयी रचना पुस्तकामुद्रा करके ज्येष्ठ शुक्ल ५ को चतुर्विंश सबके साथ उन पुस्तकोंमें उपकरण मान श्रुतपञ्चमी पूरा की जिसमें श्रुतपञ्चमी विधिवत्

प्रत्याति जनियोंमें आनतरु चली आती है और उस तिथिको वे श्रुतकी पूजा करते हैं * । फिर भूतत्रलिने उन पट्खण्डागम पुस्तकोंको जिनपालितके हाथ पुष्पदन्त गुरुके पास भेजा । पुष्पदन्त उन्हें देखकर आर अपने चिंतित कार्यको सफल जान अत्यन्त प्रसन्न हुए आर उन्होंने भी चातुर्गुण सवसहित सिद्धांतकी पूजा की ।

५. आचार्य-परम्परा

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि धरसेनाचार्य आर उनमें सिद्धांत मीखकर ग्रन्थ-
 धरसेनाचार्य से रचना करनेवाले पुष्पदन्त आर भूतत्रलि आचार्य कब हुए ? प्रस्तुत ग्रन्थ में इस
 पूर्वकी सम्बन्ध की कुछ सूचना महाश्रीर स्वामीसे लगाकर लोहाचार्य तत्काली परम्परासे
 गुरु-परम्परा मिलती है । यह परम्परा इस प्रकार है, महाश्रीर भगवान् के पश्चात् क्रमशः
 गौतम, लोहाचार्य आर जम्बूस्वामी समस्त श्रुत के शायक आर अन्तमें केवलज्ञानी
 हुए । उनके पश्चात् क्रमशः पिण्डु, नदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन आर भद्रनाहु, ये पाँच श्रुतकेवली
 हुए । उनके पश्चात् त्रिशाखाचार्य, प्रोटिल, क्षत्रिय, जय, नाग, मिहार्थ, वृत्तिमेन, विनय, बुद्धिल,
 गगदेव, आर धर्ममेन, ये ग्यारह एकादश अंग आर दशपूर्वके पारगामी हुए । तत्पश्चात् नक्षत्र,
 जयपाल, पाटु, सुमेन आर कम, ये पाँच एकादश अंगोंके धारक हुए, आर इनके पश्चात् सुभद्र,
 यशोभद्र, यशोनाहु आर लोहाचार्य, ये चार आचार्य एक आचार्य के धारक आर शेष श्रुतके एकदेश
 ज्ञाता हुए । इसके पश्चात् समस्त अंगों और प्रोक्ता एकदेश ज्ञान आचार्य परम्परासे आकर
 धरसेनाचार्यको प्राप्त हुआ (६५-६६) । यह परम्परा इस प्रकार है—

* ज्येष्ठमितपत्रपक्षस्या चातुर्गुण्यसप्तमयेत ।

तत्पुस्तकोपकरणं यथान् विद्यापूर्वकं पूजाम् ॥ १४३ ॥

भुतपञ्चमाति तन प्रत्यानि तिथिरिय परामाप् ।

अद्यापि येन तस्यां भुतपूजां कृते जना ॥ १४४ ॥

महावीर की शिष्य-परम्परा

१ गोतम	३ केवली	१५ घृतिसेन	५ एकादशागधारी
२ लोहार्य		१६ मित्रय	
३ जम्बू		१७ बुद्धिल	
४ विष्णु	५ धृतकेवली	१८ गगदेव	
५ नदिमित्र		१९ धर्मसेन	
६ अपराजित		२० नक्षत्र	४ आचारागधारी
७ गोवर्धन		२१ जयपाल	
८ मद्राहु		२२ पाण्डु	
९ विद्याधाराय	११ दशपूर्वा	२३ धुसैन	
१० प्रोष्ठिल		२४ कस	४ आचारागधारी
११ क्षत्रिय		२५ सुमद्र	
१२ जय		२६ यशोमद्र	
१३ नाग		२७ यशोराहु	
१४ सिद्धार्थ		२८ लोहार्य	

ठाक यहा परम्परा धनजमें आगे पुन वेदाखण्डके आदिमें मिलता है। इन दोनों आचार्य परम्परा में नाम भेद स्थानोंपर तथा बल्गोलेके शिलालेख न १ में न २ के आचार्य का नाम लोहार्य ही पाया जाता है, किंतु हरिश्चपुराण, शुक्रावतार व ब्रह्म हेमवृत्त शुनस्कर व शिलालेख न १०१ (२५२) में उस स्थान पर सुवर्मका नाम मिलता है। यहा नहीं, स्वयं प्रत्यक्षकारद्वारा हा रची हुई 'जयपाल' में भी उस स्थानपर लोहार्य नहीं सुवर्मका नाम है। इस उत्खननको सुलभानेवाला उद्देश 'चन्द्रोदयपण्णत्ति' में पाया जाना है। वहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि लोहार्यका ही दूसरा नाम सुवर्म था। यथा--

'तेण पि लोहज्जस य लोहज्जेण य सुवम्मणामेण ।

गणार-सुधम्मणा खल जनुणामस्स णिदिट्ठ ॥ १० ॥

(ज सा स १ पृ १४९)

न ४ पर विष्णुके स्थानमें भा नामभेद पाया जाता है। जंबूदीपपण्णत्ति, आदिपुराण व पुनरुत्थमें उस स्थानपर 'नन्दा' या नन्दीमुनि नाम मिलता है। यह भी लोहार्य और सुवर्मके समान एक ही आचार्यके दो नाम प्रतीत होते हैं। इस भेदका कारण यह प्रतीत होता है कि इन आचार्यका पूरा नाम विष्णुनिदि होगा और वे ही एक स्थानपर संक्षेपसे विष्णु और

दूसरे स्थानपर नन्दि नामसे निर्दिष्ट किये गये हैं। यही बात आगे न १८ के गगदेवके विषयमें पाई जाती है।

न ५ और ६ के आचार्याका शिलालेख न १०५ में विपरीत क्रमसे उल्लेख किया गया है, अर्थात् वहा अपराजितका नाम पहिले और नन्दिमित्र का पश्चात् किया गया है। समस्त यह छन्द-निर्वाहमात्रके लिये है, कोई भिन्न मायताका चोन्क नहीं।

आगेके अनेक आचार्योंके नाम भी शिलालेख न १०५ में भिन्न क्रमसे दिये गये हैं जिसका कारण भी उदरचना प्रतात होता है आर इसी कारण समस्त धर्मसेनका नाम यहा भिन्न क्रमसे सुधर्म दिया गया है।

उसीप्रकार न ११ आर १२ का उल्लेख श्रुतस्कारमे विपरान है, अर्थात् जयका नाम पहले ओर क्षत्रियका नाम पश्चात् दिया गया है। क्षत्रियके स्थानमे शिलालेख न १ मे क्षत्रिकार्य नाम है जो अनुमानत प्राकृत पाठ 'क्षत्रियारिय' का भ्रान्त संस्कृत रूप प्रतीत होता है। नन्दिसेनकी प्राकृत पञ्चरत्नमे न १७ के बुद्धिलेके स्थानपर बुद्धिलिंग व न १८ के गगदेवके स्थानपर केवल 'देव' नाम है।

न २१ के जयपालके स्थान पर जयमल्लमें 'जसफल' तथा हर्षिश्शपुराणमे यश पाल नाम दिये हैं।

न २३ के ध्रुवसेनके स्थान पर श्रुतावतार न शिलालेख न १०५ मे हुमसेन तथा श्रुतस्कारमे 'धुतसेन' नाम है।

न २६ के यशोभद्रके स्थान पर श्रुतावतारमे अभयभद्र नाम है।

न २७ के यशोनाहुके स्थानपर जयधनलामे जहनाहु, श्रुतावतारमे जयनाहु, नन्दि सप्त प्राकृत पञ्चरत्नमें व आदिपुराणमे भद्रनाहु नाम है। समस्त ये ही नन्दिसेनकी संस्कृत पञ्चरत्नके भद्रनाहु द्वितीय हैं।

इन सप्त नाम-भेदोंका मूलकारण प्राकृत नामों परसे भ्रमग्र संस्कृत रूप बनाना प्रतीत होता है। कहीं कहीं लिपिमें भ्रम होनेसे भी पाठ-भेद पट जाना सम्भव है।

उक्त आचार्य-परंपराका प्रस्तुत खण्डमें समय नहीं दिया गया है। किंतु धनलाके धरसेनाचार्य के वेदनाखण्डके आदिमें, जयधनलामें व इन्द्रनन्दिद्वृत श्रुतावतारमें गौतम स्वामीसे लगाकर लोहार्य तरुका समय मिलना है, जिससे ज्ञात होता है कि महावीर निर्वाणके पश्चात् कमश ६२ वर्षमें तीन केवली, १००

वर्षमें पाच श्रुतकेरला, १८३ वर्षमें ग्यारह दशपूर्वी, २२० वर्षमें पाच एकादशावधारी और ११८ वर्षमें चार एकावधारी आचार्य हुए। इसप्रकार महाभार निर्माणसे लोहाचार्य (द्वि) तक $६२ + १०० + १८३ + २२० + ११८ = ६८३$ वर्ष व्यतीत हुए और इसके पश्चात् किसी समय धरसेनाचार्य हुए।

अब प्रश्न यह है कि लोहाचार्यसे कितने समय पश्चात् धरमेनाचार्य हुए। प्रस्तुत ग्रन्थमें तो इसके मध्यमें इतना ही कहा गया है कि इसके पश्चात् की आचार्य परम्परामें धरसेनाचार्य हुए (पृष्ठ ६७)। अतः जहां यह आचार्य परम्परा पाई जाती है वहां सत्र बार परम्परा लोहाचार्य पर ही समाप्त हो जाती है। इन्द्रदिने अपने श्रुतावतारमें प्राप्तुन प्रभोके निर्माणका वृत्तांत विस्तारसे दिया है। किंतु लोहाचार्यके पश्चात् आचार्योंका क्रम स्पष्ट सूचित नहीं किया। प्रत्युत, जसा ऊपर बताया जाय है, उन्होंने कहा है कि इन आचार्यानी गुरु परंपरा कोई निश्चय नहीं, क्योंकि, उसका कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं। उन्होंने लोहाचार्यके पश्चात् चार आचार्योंके नाम गिनाये हैं, विनयधर, श्रीदत्त, शिखर, और अहदत्त। और उहें आरानीय तथा अगों और पूसाके एकदेश ज्ञाता कहा है।

लोहाचार्यके पश्चात् चार आरानीय यतियोंका विसप्रसार इन्द्रदिने एकसाथ उल्लेख किया है उससे जान पड़ता है कि समयतः ये सत्र एक ही कालमें हुए। इससे श्रियुक्त पद्मशक्तिशेखरी मुनारने उन चारोंका एकत्र समय २० वर्ष अनुमान किया है। उनके पश्चात् के अर्हद्वलि आदि आचार्योंका समय मुनारनी क्रमशः १० वर्ष अनुमान करते हैं (समस्तभद्र पृष्ठ १६१)। इसका अनुसार धरसेनाचार्यका समय वारनिर्माणमें $६८३ + २० + १० + १० = ७२३$ वर्ष पश्चात् आता है।

किंतु नन्दिमर्यादा ग्रन्थ पढ़ाकर इसका समर्थन नहीं करती। यथायत यह पढ़ाकर अन्य सत्र परम्पराओं और पद्मलियास वृत्ती विवेक्षण है और उन विवेक्षणताओंका प्रस्तुत आचार्योंका काल निर्णय इतना प्रसिद्ध सत्य है कि उसका पूरा परिचय यहां देना आवश्यक प्रतीत होता है। और चूंकि यह पताचला, जहां तक हम ज्ञान है, केवल जनसिद्धि तथा मत्स्य, भाग १, किण्व ४, मन् १०१३ में लपी थी जो अब अप्राप्य है, अतः उसे हम यहां पूरी विना संशोधनका प्रयत्न किए उद्धृत करते हैं—

नन्दि-आम्रायकी पद्मावली

आम्रायक्यापि नत्वा स्थूतं सत्गुरुभारतीम्।

इत्यं पद्मपदी रम्या मूलसंगणाधिपाम् ॥ १ ॥

श्रीमूलसवप्रपरे नन्धान्नाये मनोहरे ।

प्रलाङ्कारगणोत्तमे गच्छे सारस्वतीयके ॥ २ ॥

कुन्दकुन्दान्वये श्रेष्ठमुत्पन्न श्रीगणाधिपम् ।

तमेवाह प्रनम्यामि श्रूयता सज्जना जना ॥ ३ ॥

पट्टावली

अतिम-जिण-णिग्वाणे केवलणाणी य गोयम-मुणिदो ।

वारह-वासे य गये सुधम्म-सामी य सजादो ॥ १ ॥

तह वारह-वासे पुण सजादो जम्मु-सामि मुणिणाहो ।

अठतीस-वास रहियो केवलणाणी य उक्किट्ठो ॥ २ ॥

वासट्ठि-केवल-वासे तिण्हि मुणी गोयम सुधम्म जबू य ।

वारह वारह दो जण तिय दुगहीण च चाळीस ॥ ३ ॥

सुयकेवलि पच जणा वासट्ठि-वासे गये सुसजादा

पदम चउदह वास विण्हुकुमार मुणेष्व ॥ ४ ॥

नदिमित्त वास सोलह तिय अपराजिय वास वासीस ॥

एग हीण बीस वास गोवद्धण भद्वाहु गुणतीस ॥ ५ ॥

सद सुयकेवलणाणी पच जणा विण्हु नदिमित्तो य ॥

अपराजिय गोवद्धण तह भद्वाहु य सजादा ॥ ६ ॥

सद-वासट्ठि मुगासे गए सु-उप्पण्ण दह सुपुब्बहरा ॥

सद-तिरासि वासाणि य एगादह मुणिवरा जादा ॥ ७ ॥

आयरिय निसास पोट्ठल रात्तिय जयसेण नागसेण मुणी ॥

सिद्धत्थ धित्ति विजय तुहिल्लिग देय धमसेण ॥ ८ ॥

दह उगणीस य सत्तर इरुवीस अट्टारह सत्तर ॥

अट्टारह तेरह बीम चउदह चोदय (सोडस) कमेणय ॥ ९ ॥

अतिम जिण-णिग्वाणे तियसय-पण-चालनास जादेसु ।

एगादहगधारिय पच जणा मुणिगरा जादा ॥ १० ॥

नक्खत्तो जयपालग पंटय धुवसेन कस आयरिया ।

अठारह बीस-वास गुणचाल चोद बत्तीस ॥ ११ ॥

सद तेरीस वासे एगादह अगधरा जादा ।

वास सत्ताण्यन्यत्सग नन अग अठधरा ॥ १२ ॥

सुभद् च जसोभद् मद्वाहु कमेण च ।

लोहाचय्य मुणीस च कहिय च विगागमे ॥ १३ ॥

छह अठारह वामे तेरीस याण (पणास) वाम मुणिणाह ।

दम णन अठगारा वास दमदरीस सरेसु ॥ १४ ॥

पचसये पणसटे अतिम विण-समय ज्ञापेसु ।

उप्पणा पच जणा इयगघारा मुण्येव्वा ॥ १५ ॥

अहिमल्लि माघनदि प वरसेण पुप्फपत भूदनली ।

अडवास गरीस उगणीस तीस गीम वाम पुणे ॥ १६ ॥

इममय अठार वास इयगगरी य मुणिरा जादा ।

उसम तिरासिय-वासं विवाणा अगदिनि कहिय जिणे ॥ १७ ॥

सत्तरे चउ-सद युतो तिणकाला विरूमो हउइ जग्गा ।

थठ वरम वाल्ढीछा सोइस वामेहि भम्मिए देमे ॥ १८ ॥

पणरस वासे रज कुणति मिच्छोवदेमसयुत्तो ।

चाउम-वरम विणर-धम्म पाळीय सुरपय लहिय ॥ १९ ॥

प्राकृत पञ्चलीके अनुसार वार निर्वाणके पश्चात् की काळ-गणना इसप्रकार आती है—

रीर निर्वाणके पश्चात्

१ गौतम	केवली	१२	९ विशाखाचार्य	दशपूर्वधारी	१०
२ सुचर्म	"	१२	१० प्रेष्ठित	"	१०
३ जम्बूस्वामी	"	३८	११ क्षत्रिय	"	१७
		<hr/>	१२ क्षयसेन	"	२१
		<hr/>	१३ नागसेन	"	१८
			१४ सिद्धार्थ	"	१७
४ विष्णु	श्रुतकेवली	१४	१५ भृतिपेण	"	१८
५ नन्दिमित्र	"	१६	१६ विजय	"	१३
६ अपरात्रित	"	२२	१७ बुद्धिलिंग	"	२०
७ गोवर्धन	"	१९	१८ दध	"	१४
८ मद्रवाहु	"	७९	१९ धर्मसेन	"	१४ (१६)
		<hr/>			<hr/>
		१००			१८१ (१८३)

२० नक्षत्र	ग्यारह	१८	२८ छोहाचार्य	"	५२ (५०)
	अगधारी				९९ (९७)
२१ जयपाल	"	२०			
२२ पादव	"	३९	२९ अर्द्धद्वलि	एक अगधारी	२८
२३ धुरसेन	"	१४	३० माघनन्दि	"	२१
२४ कस्त	"	३२	३१ धरसेन	"	१९
		१२३	३२ पुष्पदन्त	"	३०
			३३ भूतबलि	"	२०
२५ सुभद्र	दश नव	६			११८
	व आठ				
२६ यशोभद्र	अगधारी	१८			
२७ भद्रबाहु	"	२३		कुलजोड	६८३

इस पट्टावलीमें प्रत्येक आचार्यका समय अलग अलग निर्दिष्ट किया गया है, जो अन्यत्र नहीं पाया जाता, और समष्टिरूपमें भी वर्ष सख्यायें दी गई हैं। प्रथम तीन कैलियों, पाच श्रुतकैलियों और ग्यारह दशपूर्वियोंका समय क्रमशः वही ६२, १००, और १८३ वर्ष बतलाया गया है और इसका योग ३४५ वर्ष कहा है। किंतु दशपूर्वधारी एक एक आचार्यका जो काल दिया है उसका योग १८१ वर्ष आता है। अतएव स्पष्टतः कहीं दो वर्ष की भूल ज्ञात होती है, क्योंकि, नहीं तो यहां तत्काल योग ३४५ वर्ष नहीं आसक्तता। इसके आगे जिन पाच एकादशागधारियोंका समय अथवा २२० वर्ष बतलाया गया है उनका समय यहां १२३ वर्ष दिया है। इनके पश्चात् आगेके जिन चार आचार्योंको अथवा एकागधारी कह कर श्रुतनामकी परंपरा पूरी कर दी गई है उन्हें यहां क्रमशः दश, नव और आठ अगके धारक कहा है, पर यह स्पष्ट नहीं किया गया कि तीन कितने अगोंका ज्ञात था। इससे दश अगोंका अचानक छेप नहीं पाया जाता, जैसा कि अन्यत्र। इनका समय ८१८ वर्ष के स्थानपर ९७ वर्ष बतलाया गया है। पर आचार्योंका समय जोड़नेसे ९९ आता है अतः दो वर्ष की यहां भी भूल है। तथा उनसे आगे पांच और आचार्योंके नाम गिनाये गये हैं जो एकागधारी कहे गये हैं। उनके नाम अहिबलि (अर्द्धद्वलि) माघनन्दि, धरमेन, पुष्पदन्त और भूतबलि हैं। इनका समय क्रमशः २८, २१, १९, ३० और २० वर्ष दिया गया है जिसका योग ११८ वर्ष होता है। इसमें पूर्व श्रुतानुसारमें मिनयधर आदि जिन चार आचार्योंके नाम दिये गये हैं वे यहां नहीं पाये जाते। इसप्रकार इस पट्टावलीके अनुसार भी अग-परंपराका कुल काल ६२ + १०० + १८३ + १०३ + ९७ + ११८ = ६८३ वर्ष ही आता है जितना कि अन्यत्र बतलाया गया है। परंतु भेद यह है कि अथवा यह काल छोहाचार्य तक ही पूरा कर दिया गया है और यहांपर उसके अन्तर्गत वे पांच

आचार्य भी हो जाते हैं जिनके भातर हमारे प्रयकर्ता धरसेन, पुण्यदत्त और भूतबलि भी सम्मिलित हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जो एकादशागवारिया और उनके पश्चात्तके आचार्योंके समयमें अन्तर पड़ता है वह क्यों आर किमप्रकार ?

काठमनघी ज्योतिष विचार करनेसे ही स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ पर अन्यत्र पाच एकादशागवारिया आर चार एकागवारियोंका समय अलग अलग २०० और ११८ वर्ष बतलाया गया है वहाँ इस पञ्चमालाम उनका समय क्रमशः १२३ और ९७ वर्ष बतलाया है अर्थात् २२० वर्षोंके भीतर नौ ही आचार्य आ जाते हैं और आगे ११८ वर्षोंमें पाँच आचार्य गिनाये गये हैं जिनके अन्तर्गत धरसेन, पुण्यदत्त आर भूतबलि भी हैं।

जहाँ अनेक क्रमागत व्यक्तियोंका समय समष्टिगणन दिया जाता है वहाँ बहुधा ऐसा भूल हो जाया करती है। किन्तु जहाँ एक एक व्यक्तिका काठ निर्दिष्ट किया जाता है वहाँ ऐसी भूलकी सम्भावना बहुत कम हो जाती है। हिन्दु पुराणोंमें अनेक स्थानोंपर दो राजवंशोंका फल एक ही वंशके साथ दे दिया गया है। स्वयं महाभारत तीर्थङ्करके निराणसे पश्चात्तके राजवंशोंका जो समय जैन ग्रंथोंमें पाया जाता है उसमें भी इसप्रकारका एक भूल हुई है, निम्नके कारण वीरनिर्माणके समयके सत्रधम दो मायताय हो गई हैं जिनमें परस्पर ६० वर्षका अन्तर पड़ गया है। (देखो आगे वीरनिर्माण मन्त्र)। प्रस्तुत परंपरामें २० वर्षोंके काठम भी ऐसा ही भ्रम हुआ प्रतीत होता है।

यह भी प्रश्न उत्पन्न है कि यदि अर्द्धद्वल्लि आदि आचार्य अगज्ञताओंकी परंपरामें थे तो उनके नाम सर्वत्र परंपरागत क्यों नहीं रहे, इसका कारण अर्द्धद्वल्लिके द्वाग स्थापित किया गया सत्रमेद प्रतीत होता है। उनके पश्चात् प्रत्येक मंत्र अपनी अपनी परंपरा अलग रखने लगा, जिसमें स्वभावतः सत्रमेद पश्चात्तके फल उदा। आचार्योंके नाम रखे जा सकते थे जो उर्मा मंत्रक हों या जो सत्रमेदसे पूर्वक हों। जत केयड छोड़कर तत्पश्चात् ही परंपरा सर्वमाय रही। समझें कि इसी कारण काठगणनामें भी वह गड़बड़ी आई है, क्योंकि अगज्ञताओंकी परंपराको सत्र-संरक्षणसे अज्ञानके लिये लपकोंका यह प्रयत्न हो सकता है कि अग परंपराका काठ ६८३ वर्ष ही बना रहे और उसमें अर्द्धद्वल्लि आदि सत्रमेदमें सत्र-गणनेवाला आचार्य भी न दिखाये जायें।

प्रश्न यह है कि क्या हम इस पञ्चमालाको प्रमाण मान सकते हैं, विशेषतः जत कि उसका बाता प्रस्तुत प्रयोग व श्रुतावतारादि अन्य प्रमाणोंके विरुद्ध जाता है ? इस पञ्चमालाकी जायचरनेके लिये हमने सिद्धान्तमय आराम उमकी मूल हस्तलिखित प्रति भक्तनेके लिये लिखा,

किंतु वहासे प भुजबलिजा शास्त्री सूचित करते हैं कि बहुत खोज करने पर भी उस पद्यालंकी मूल प्रति मिल नहीं रही है। ऐसी अवस्थामें हमें उसकी जाच मुद्रित पाठ परसे ही करनी पड़ती है। यह पद्याली प्राकृतमें है और सभ्यत एक प्रतिपक्षे निना कुछ सशोभनके छपाई गई होनेसे उसमें अनेक भाषादि-दोष हैं। इसलिये उस परसे उसकी रचनाके समयके सन्धमें कुछ कहना अशक्य है। पद्यालीके ऊपर जो तीन सरस्वत श्लोक हैं उनकी रचना बहुत शिथिल है। तीसरा श्लोक सद्दोष है। पर उन पर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि उनका रचयिता स्वयं पद्यालीकी रचना नहीं कर रहा, किंतु वह अपनी उस प्रस्तावनाके साथ एक प्राचीन पद्यालंकी प्रस्तुत कर रहा है। पद्यालीको नन्दि आमाय, बलान्कार गण, सरस्वती गच्छ व कुन्दकुन्दान्वयकी कहनेका यह तो तात्पर्य हो ही नहीं सकता कि उसमें उल्लिखित आचार्य उस अन्वयमें कुन्दकुन्दके पश्चात् हुए हैं, किंतु उसका अभिप्राय यही है कि लम्बक उक्त अन्वयका था और ये सब आचार्य उक्त अन्वयमें माने जाते थे। इस पद्यालंकी जो अगनिच्छेदका क्रम और उसकी कालगणना पाई जाती है वह अन्यत्रकी मान्यताके विरुद्ध जाती है। किंतु उससे अक्रस्मात् अगलोपसम्पन्नी कठिनाई कुछ कम हो जाती है और जो पांच आचार्योंका २२० वर्षका काल असम्भर नहीं तो दुःशस्य वचन है उसका समाधान हो जाता है। पर यदि यह ठीक हो तो कहना पड़ेगा कि श्रुत-परम्पराके सत्यम हविशपुराणके कर्तासे ग्यास्त्र श्रुतायताके कर्ता इन्द्रनन्दितकके मत्र आचार्योंने धोया गया है और उन्हें वे प्रमाण उपलब्ध नहा थे जो इस पद्यालीके कर्ताको थे। समयाभासके कारण हम समय हम इसकी आच अत्रि जाच पटताल नहीं कर सकते। किंतु सायक बारक प्रमाणाका मग्रह करके हमका निर्णय किये जानेकी आवश्यकता है।

यदि यह पद्याली ठीक प्रमाणित हो जाय तो हमारे आचार्योंका समय बीर निर्वाणके पश्चात् ६२ + १०० + १८३ + १२३ + ९७ + २८ + २१ = ६१४ आर ६८३ वर्षके भीतर पड़ता है।

धरसेन, पुण्यदत्त और भूतत्रिणिके समय पर प्रकाश डालनेवाला एक और प्रमाण है।

धरसेनकृत प्रस्तुत ग्रंथकी उद्यानिकामें कहा गया है कि जब धरसेनाचार्य के पत्रके उत्तरमें **जोगिपाट्ट** आभ्रदेशसे दो साधु, जो पीछे पुण्यदत्त और भूतत्रिण कहलाये, उनके पास पहुँचे तब धरसेनाचार्यने उनकी परीक्षाके लिये उन्हें कुछ मन्त्रविद्या सिद्ध करनेके लिये दी। इससे धरसेनाचार्यकी मन्त्रविद्यामें कुशलता मिद्ध होती है। अनेकान्त भाग २ के गत १ जुलाई के अंक ९ में श्रीयुक्त पुगलकिशोरजी मुख्तारका लिखा हुआ योगिप्राभृत ग्रंथका परिचय प्रकाशित हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि वह ग्रन्थ ८०० भूक प्रमाण प्राप्त गाथाओंमें है, उसका विषय मन्त्र तन्त्रवाद है, तथा वह १५५६ वि मन्त्रमें लिखी गई बृहद्विष्णुगिता नामकी ग्रंथ-सूचीके

आगरपर से धरसेनद्वारा वीर निर्माणसे ६०० वर्ष पश्चात् बना हुआ माना गया है। इस ग्रंथकी एक प्रति भांडारकर स्टीलप्लेट प्रामाण्य है, जिसे देवकर प वेचरदासजीने जो नोट्स लिखे थे उन्हीं परमे मुत्तारजीने उक्त परिचय लिखा है। इस प्रतिमें ग्रंथका नाम तो योनिप्राभूत है किंतु उसके कर्ताका नाम पण्डितगण मुनि पाया जाता है। यह महामुनिने उसे कृष्णाण्डिनी महादेवासे प्राप्त किया था और अपने शिष्य पुण्डित आर भूतनालिके लिखे लिखा था। इन दो नामोंके कथनसे इस ग्रंथका धरसेनवृत्त होना बहुत समझ जचना है। प्रज्ञाश्रमण एक ऋद्धिका नाम है और उसके धारण करनेवाले मुनि प्रज्ञाश्रमण कहलाते थे। जोगिपाहुडको इस प्रतिका लेखन काल समस्त १५८२ ई, अर्थात् यह चारवीं वर्षसे भी अधिक प्राचीन है। 'जोगिपाहुड' नामका ग्रंथका उल्लेख धरलामें भी आया है। जो इस प्रकार है—

‘जोगिपाहुडे मणिद मन तत सत्तीओ पोगलाणुभागो ति धत्तओ’

(धरला ज प्रति पृ ११०८)

इससे स्पष्ट है कि योनिप्राभूत नामका ग्रन्थाखसत्रधी को अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ अग्र्य है। उपर्युक्त अस्थानमें आचार्य धरसेननिर्मित योनिप्राभूत ग्रंथके होनेमें अविश्वस्यता कोई कारण नहीं है। तथा बृहट्पिणिकामें जो उसका रचनाकाल वीर निर्माण ६०० वर्ष पश्चात् सूचित किया है वह भा गडत सिद्ध नहीं होता। अमा अभी अनेका त (पृ २, किरण १२, पृ ६६६) में श्रीमान् प नाथुरामजी प्रेमीका 'योनिप्राभूत आर प्रयोगमाला' दीपक देख ठपा है, जिसमें उन्होंने प्रमाण देकर बताया है कि भारकर इन्टीट्यूटवाला 'योनिप्राभूत' आर उसके साथ गुया हुआ 'जगत्सूत्री योगमाला' समस्त हरिपेण्डित है, किन्तु हरिपेण्डिके समयमें एक और प्राचीन योनिप्राभूत विद्यमान था। बृहट्पिणिकाकी प्रामाणिकताके विषयमें प्रेमीजाने कहा है कि

१ योनिप्राभूत वारान् ६० धारमनम्। (बृहट्पिणिका त सा म १, २ (परिधिष्ठ)

२ धरलाम पण्डितगणका नयस्कर किया है आर जय ऋद्धिका साथ प्रज्ञाश्रमणव ऋद्धिका विवरण दिया है। यथा—

यमा पण्डितगण ॥ १८ ॥ ओपतिरि वेतयिका कर्मज्ञा पारिणातिरि वेनि त्तुववा प्रज्ञा। एदेष्ट पण्डितगणु केमि गदण। चण्ड वि गदण। प्रज्ञा एव धरण यवा त प्रमाधवण

धरला ज प्रति ६८४

जयधरलाम प्रशस्तिम कहा गया है कि वारमनके ज्ञानर प्रकाशको दगसर विद्वान् उन्हें अतारकी और प्रज्ञाश्रमण करते थे। यथा—

यमाहु यरुद्धोपदीधितिप्रसादयम्।

भूतकवालन प्रज्ञा प्रज्ञाश्रमणसत्तमम् ॥ २२ ॥

विलीयपण्णाति गाथा ७० म कहा गया है कि प्रज्ञाश्रमणोंमें अन्तिम मुनि 'धरयण' नामके हुए। यथा—
पण्डितगणु चरिमा धरलसा नाम। (अनकान्त, २, १२ पृ ६६८)

‘ यह सूची एक श्वेतावर विद्वान्ने प्रत्येक ग्रंथ देखकर तैयार की थी और अभी तक वह बहुत ही प्रामाणिक समझी जाती है ’ । नदिसघर्ष की प्राकृत पद्यावली के अनुसार धरसेना का ल वीर निर्वाणसे ६२+१००+१८३+१२३+९७+२८+२१=६१४ वर्ष पश्चात् पड़ता है, अतः अपने पट्ट-कालसे १४ वर्ष पूर्व उ-होंने यह ग्रंथ रचा होगा । इस समीकरणसे प्राकृत पद्यावली और बृहद्विष्णु-शिका के संकेत, इन दोनों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है, क्योंकि, ये दोनों एक दूसरे से स्वतंत्र आधारपर लिखे हुए प्रतीत होते हैं ।

पट्टखण्डागम के रचनाकाल पर कुछ प्रकाश कुन्दकुन्दाचार्य के सङ्ग्रहसे भी पड़ता है । कुन्दकुन्दकृत इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें कहा है कि जब कर्मभूमत् ओर कपायभूमत् दोनों परिकर्म पुस्तकाभूत् हो चुके तत्र कोण्डकुन्दपुरमें पद्मनादि मुनिने, जिन्हें मिद्वान्तका ज्ञान गुरु परिपाटीसे मिला था, उन छह खण्डोंमेंसे प्रथम तीन खण्डोंपर परिकर्म नामक बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका ग्रन्थ रचा । पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्यका भी नाम था और श्रुतावतारमें कोण्डकुन्दपुरका उल्लेख आनेसे इसमें संदेह नहीं रहता कि यहाँ उन्होंने अभिप्राय है । यद्यपि प्रो. उपाध्ये कुन्दकुन्दके ऐसे किसी ग्रन्थकी रचनाकी बातको प्रामाणिक नहीं स्वीकार करते, क्योंकि उन्हें ध्वला व जयध्वलामें इनका कोई संकेत नहीं मिला । किंतु कुन्दकुन्दके सिद्धान्त ग्रंथोंपर टीका बनानेकी बात सर्पया निर्मूल नहीं कही जा सकती, क्योंकि, जैसा कि हम अग्रज उता रहे हैं, परिकर्म नामक ग्रन्थके उल्लेख ध्वला व जयध्वलामें अनेक जगह पाये जाते हैं ।

प्रो. उपाध्येने कुन्दकुन्दके लिये ईस्वीका प्रारम्भ काल, लगभग प्रथम दो शताब्दियोंके भीतरका समय, अनुमान किया है उससे भी पट्टखण्डागमकी रचनाका समय उपरोक्त ठीक जवता है ।

धरसेनाचार्य गिरिनगरकी चन्द्रगुफामें रहते थे । यह स्थान काठियावाड़के अन्तर्गत है । **मौगोलिक** यह वाइसमें तीर्थंकर नेमिनाथकी निर्माणभूमि होनेसे जैनियोंके लिये बहुत प्राचीन उल्लेख कालमें अवतरत महत्वपूर्ण है । मौर्य राजाओंके समयसे लगाकर गुप्त काल अर्थात् ४ वीं, ५ वीं शताब्दितक इसका भारी महत्व रहा जैसा कि यहाँपर एक ही चट्टान पर पाये गये अशोक मौर्य, रुद्रदामन और गुप्तशशी स्कधगुप्तके समयके लेखोंसे पाया जाता है ।

धरसेनाचार्यने ‘ महिमा ’ में सम्मिलित सघसो पत्र भेजा था जिससे महिमा किसी नगर या स्थान का नाम ज्ञात होता है, जो कि आन्ध्र देशके अतर्गत वेण्णाक नदीके तीरपर था । वेण्णा नामकी एक नदी वन्गई प्रांतके सतारा जिलेमें है और उसी जिलेमें महिमानगड नामका एक गांव भी है, जो हमारी महिमा नगरी हो सकता है । इससे अनुमानत यही सतारा जिलेमें वह

जैन मुनियों का सम्मेलन हुआ था। यदि यह अनुमान ठीक है तो मानना पड़ेगा कि सत्तारा जिले का भाग उस समय आंध्र देश के अंतर्गत था। आंध्रों का राज्य पुराणों व शिलादि लेखों परसे इसी पूर्व २३२ से ई० सन् २२५ तक पाया जाता है। इसके पश्चात् कमसे कम इस भाग पर आंध्रों का अधिकार नहीं रहा। अतएव इस देश को आंध्र विपदा तर्जिन देना इसी समय के भीतर माना जा सकता है। गिरिनगर से लौटते हुए पुष्पत और भूतगढ़िने जिस अकुलेश्वर स्थान में वर्षाकाल व्यतीत किया था वह निम्न देश गुजरात में भड़ोच जिले का प्रसिद्ध नगर अकूटेश्वर ही होना चाहिये। यहांसे पुष्पत जिस वनवास देश को गये वह उत्तर कर्नाटक का ही प्राचीन नाम है जो गुगमद्रा और सरदा नदियों के बीच समा हुआ है। प्राचीन काल में यहां कश्यप वंश का राज्य था। जहां उसका राजधानी 'वनवामि' था वहां अब भी उस नाम का एक ग्राम विद्यमान है। तथा मतवलि जिस द्रमिड देश को गये वह दक्षिण भारत का वह भाग है जो मद्रास में सेरिंगपम और कामोरिन तक फैला हुआ है और जिसकी प्राचीन राजधानी काचापुरा थी। प्रस्तुत प्रयत्नों रचना मन्त्रा न भौगोलिक सीमाओं से स्पष्ट जाना जाता है कि उन प्राचीन काल में काठियावाड़ से लगाकर देश के दक्षिणतम भाग तक जैन मुनियों का प्रचुरता में विहार होता था और उनके बीच पारस्परिक धार्मिक व साहित्यिक आदान-प्रदान सुचारु रूप से चलता था। यह परिस्थिति विक्रम की दूसरी शताब्दी के समय का भूके करती है।

६ वीर निर्वाण काल

पूरुषोत्तम प्रकार से पश्यन्तागम की रचना का समय वीरनिर्वाण के पश्चात् सातवीं शताब्दी के अन्तिम या आठवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में पड़ता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि महावीर भगवान् का निर्वाण काल क्या है ?

जिनयोग पत्र वीरनिर्वाण सन्त प्रचलित है जिसका इस समय २४६५ वा वर्ष चांद्र है। इसे लिखने समय में समुद्र 'जैनमित्र' का ता १४ सितम्बर १९३९ का अंक प्रस्तुत है जिसपर बार स २४६५ भाद्रा सुदी १, दिया हुआ है। यह सन् वीरनिर्वाण दिवस अर्थात् पूर्णिमान्त मास-भाणना के अनुसार कार्तिक कृष्ण पक्ष १४ के पश्चात् वदन्ता है। अत आगामी नवम्बर ११ सन् १९३९ से निर्वाण सन् २४६६ प्रारम्भ हो जायगा। इस समय विक्रम सन् १९९६ प्रचलित है और यह चन्द्र शुक्ल पक्ष से प्रारम्भ होता है। इसके अनुसार निर्वाण सन् और विक्रम सन् में २४६६-१९९६=४७० वर्ष का अंतर है। दोनों सवता के प्रारम्भ मास में भेद होने से कुछ मामलों यह अंतर ४६९ वर्ष आता है जैसा कि वर्तमान में। अत इस मान्यता के अनुसार महावीर का निर्वाण विक्रम सन्त में कुछ मास कम ४७० वर्ष पूर्व हुआ।

किन्तु विक्रम सवत्के प्रारम्भके सम्बन्धमें प्राचीन कालसे बहुत मतभेद चला आ रहा है जिसके कारण वीरनिर्वाण कालके सम्बन्धमें भी कुछ गटबटी और मतभेद उत्पन्न हो गया है । उदाहरणार्थ, जो नन्दिसध या प्राकृत पद्यावली ऊपर उद्धृत की गई है उसमें वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमका जन्म हुआ, ऐसा कहा गया है, और चूँकि ४७० वर्षका ही अन्तर प्रचलित निर्वाण सन्त् आर विक्रम सन्त्में पाया जाता है, इससे प्रतीत होता है कि विक्रम सन्त् विक्रमके जन्मसे ही प्रारम्भ हो गया था । किन्तु मेस्तुगकृत स्थविरावली^१ तथागच्छ पद्यावली,^२ जिनप्रभमूरिकृत पात्रापुरीकल्प,^३ प्रभाचन्द्रसूरिकृत प्रभाजकचरित^४ आदि ग्रंथोंमें उल्लेख है कि विक्रम सन्त् का प्रारम्भ विक्रम राजाके राज्यकालसे या उसमें भी कुछ पश्चात् प्रारम्भ हुआ ।

श्रीयुत्तरिस्टर काशीप्रसादजी जायसवालने इसी मनको मान देकर निश्चित किया कि चूँकि जैन ग्रंथोंमें ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमका जन्म हुआ कहा गया है और चूँकि विक्रमका प्रारम्भ उनकी १८ वर्षकी आयुमें होना पाया जाता है, अतः वीर निर्वाणका ठीक समय जाननेके लिये ४७० वर्षमें १८ वर्ष और जोड़ना चाहिये अर्थात् प्रचलित विक्रम सन्त्से ४८८ वर्ष पूर्व महावीरका निर्वाण हुआ^५ ।

एक और तीसरा मत हेमचन्द्राचार्य के उल्लेखपरसे प्रारम्भ हो गया है । हेमचन्द्रन अपने परिशिष्ट पत्रमें कहा है कि महावीरकी मुक्ति से १५५ वर्ष जाने पर चन्द्रगुप्त राजा हुआ^६ । यहाँ उनका तात्पर्य स्पष्टतः चन्द्रगुप्त मौर्यसे है । और चूँकि चन्द्रगुप्तसे लगाकर विक्रमतक का काल सर्वत्र २५५ वर्ष पाया जाता है, अतः वीर निर्वाणका समय विक्रमसे २५५ + १५५ = ४१० वर्ष पूर्व ठहरा । इस मतके अनुसार ४७० मेंसे ६० वर्ष घटा देनेसे ठीक विक्रम पूर्व वीर निर्वाण काल ठहरता है । पाश्चिमिक विद्वानों, जैसे डॉ. याकोबी^७ डॉ. चार्लेटियर^८ आदिने इसी मत का प्रतिपादन किया है और इधर मुनि कल्याणत्रिजयजीने भी इसी मतकी पुष्टि की है ।

१ विक्रम राजारामा पुराण विरिचर निवृद्धे भणिया । सुष्ठु मुनिवेद्यं ह्युचो विक्रम कालात् जिनकालो ॥

(मरुतुग स्थविरावली)

२ तदत्राय तु श्रावणान्तर्गतं त्रयं शतं चतुष्टये ४७० संज्ञातम् । (तथागच्छ पद्यावली)

३ मम मुखे गमणाओ पालय नद-चन्द्रगुप्ताहं राक्षसु वीलीनेसु चउसयसत्तरिहिं वासिहिं विक्रमाहं च राया शाहं । (जिनप्रभमूरि पात्रापुरीकल्प)

४ इत श्रीविनमादिय शास्त्रयवर्ती नराधिप । अन्तां पृथिव्या कुर्वन् प्रवर्तयति वत्सरम् ॥

(प्रभाचन्द्रसूरि प्रभाजकचरित)

५ Bihar and Orissa Research Society Journal, 1915

६ एवं च आमहावारापुत्तेवपयते गेने । पचपचासदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नुप ॥

(परिशिष्ट-पत्र)

७ Sacred books of the East XXII

८ Indian Antiquary XLIII

• ' वीर निर्वाण सवत् और जनकालगणना, ' सवत् १९८७

किंतु दिगम्बर सम्प्रदायमें जो उल्लेख मिलते हैं वे इस उल्लेखनको बहुत कुछ सुलझा देते हैं। इन उल्लेखोंके अनुसार शक सप्तकी उत्पत्ति वीरनिर्माणसे कुछ मास अधिक ६०५ वर्ष पश्चात् हुई तथा जो विक्रम सप्त प्रचलित है और निम्नका अंतर वीरनिर्माण कालसे ४७० वर्ष पड़ता है उसका प्रारम्भ विक्रमके जन्म या रायकालसे नहीं किंतु विक्रमकी मृत्युसे हुआ था। ये उल्लेख उपर्युक्त उल्लेखोंका अपेक्षा अधिक प्राचीन भा हैं। उससे पूर्ण प्रचलित धार और बुद्धके निर्माण सप्त मयुःकालसेही सम्बन्ध पाये जाते हैं।

इन उल्लेखोंसे पूर्वोक्त उद्देशन इसप्रकार सुलझता है। प्रथम शक सप्त की लाजिये। यह वार निर्माणसे ६०५ वर्ष पश्चात् चला। प्रचलित विक्रम सप्त और शक सप्त में १३५ वर्ष का अंतर पाया जाता है। अतः इस मतके अनुसार विक्रम सप्त का प्रारम्भ वीरनिर्माणसे ६०५-१३५=४७० वर्ष पश्चात् हुआ। अब विक्रम सप्त पर विचार कीजिये जो विक्रमकी मृत्युसे प्रारम्भ हुआ। मेस्तुगाचार्यने विक्रमका रायकाल ६० वर्ष कहा है, अतएव ४७० वर्षमें से ६० वर्ष निम्नाल देनेसे विक्रम के रायका प्रारम्भ वीरनिर्माणसे ४१० वर्ष पश्चात् सिद्ध होता है। इसप्रकार हेमचन्द्रके उल्लेखानुसार जो वीरनिर्माणसे ४१० वर्ष पश्चात् विक्रमका

१ निष्वाण वारजिग छत्राम सदसु पचवत्तिस्स । पणमाससु गदसु सजादा सगणिआ अह्वा ॥

(तिळोयपण्णत्ति)

वषाणा पट्ठदत्ता यत्तवा पषाणा मासपचङ्गम । धुत्ति गत्त महवारे शकराजस्तताभवत् ॥

(जिनसन हरिवंशपुराण)

पणङ्गमयवरम पणमासवद गमिय वारणिचूहदो । सगराजो

॥ ८१० ॥

(नेमिचन्द्र तिळोवसार)

धमा वीजिजिद-निष्वाण-गद-दिवसादो जाव सगवान्स्य अदा होदि । तावदिय-वाला कुदा ६०५-५, ७५मि काले सग गदिद कालमि पविस्सत्ते बद्धमावजिणि निबुदि कालागमणादो । वृत्ता च—

पच य मासा पच य वामा छप्पेव होति वामयया । सगकलेण य सहिया भावेय्यो तदो राखी ॥

२ छर्जाम वरिम-सण विपक्कमरायस्स मरणपत्तस्स । सोरु वलहीपु उप्पण्णे सेवदो सवो ॥ ११ ॥

पच-सण छर्जोसे विपक्कमरायस्स मरणपत्तस्स । दक्खिण महुत्ता जादो दावि-सधो महासोहो ॥ २८ ॥

सत्तमण तेवण्णे विपक्कमरायस्स मरणपत्तस्स । गदिये वरगाम कट्ठो सवो छणियवो ॥ ३८ ॥

(दवसन-दधनसार)

सक्कंठि सत्तप्पानां मृते विक्कमराजनि । मासाट्ठ वज्जमापुयामभूत्तकम्पने सया ॥

(वामदेव मावत्तप्रह)

समारहे पृत विदशवसति विक्कमनूपे । सहसे वषाणां प्रभवति हि पचासदधिक ।

समात् पचम्यामवति धरिणी पुज्जनपुत्ता । सिंहे पन्ने पाप बुधाहितपिद सास्समनवम् ॥

(अमरगति सुभाषितस्नसदोह)

मृते विक्कम नृपाले गतावस्थितिसयने । दशपचवत्तप्पानामावत्त यथुत्तापरम् ॥ १५७ ॥

(स्तनपिद-महाब्राह्मचरित)

३ विक्कमय राय्य ६ वषाणि । (मरुतुग विचारधणा, पृष्ठ ३ ऊँ सा सद्योष २)

राज्य प्रारम्भ माना गया है वह ठीक बैठ जाता है, किंतु उसे विक्रम सत्रका प्रारम्भ नहीं समझना चाहिये। जिन मतोंमें विक्रमके राज्यसे पूर्व या जन्मसे पूर्व ४७० वर्ष बतलाये गये हैं उनमें विक्रमके जन्म, राज्यकाल व मृत्युके समयसे सत्रप्रारम्भके सम्बन्धमें लेखकोंकी भ्रान्ति ज्ञात होती है। भ्रान्तिका एक दूसरा भी कारण हुआ है। हेमचन्द्रने वीरनिर्वाणसे नन्द राजा तक ६० वर्षका अन्तर बतलाया है और चन्द्रगुप्त मौर्य तक १५५ वर्षका। इसप्रकार नदोंका राज्यकाल ९५ वर्ष पड़ता है। किंतु अन्य लेखकोंने चन्द्रगुप्तके राज्यकाल तकके १५५ वर्षोंको नन्दवशका ही काल मान लिया है और उससे पूर्व ६० वर्षोंको नन्दकाल तक भी कायम रखा है। इसप्रकार जो ६० वर्ष बढ़ गये उसे उन्होंने अन्तमें विक्रमकालमें घटाकर जन्म या राज्यकाल से ही सत्रका प्रारम्भ मान लिया और इसप्रकार ४७० वर्षकी सरया कायम रखी। इस मत का प्रतिपादन प जुगलकिशोरजी मुन्तारने किया है।

इस मतका बुद्धिनिर्वाण व आचार्य-परम्पराकी गणना आदिसे कैसा सम्बन्ध बैठता है, यह पुन विमर्शस्पद विषय है जिसका स्वतंत्रतासे विचार करना आवश्यक है। यहां पर तो प्रस्तुत प्रमाणों पर से यह मान लेनेमें आपत्ति नहीं कि वीर-निर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमकी मृत्युके साथ प्रचलित विक्रम सत्र प्रारम्भ हुआ। अतः प्रस्तुत पट्खंडागमका रचना काल विक्रम सत्र ६१४ - ४७० = १४४, शक सत्र ६१४ - ६०५ = ९ तथा ईस्वी सन् ६१४ - ५२७ = ८७ के पश्चात् पड़ता है।

७. पट्खण्डागमकी टीका धवलके रचयिता

प्रस्तुत ग्रंथ धवलके अंतमें निम्न नौ गाथाएँ पाई जाती हैं जो इसके रचयिताकी प्रशस्ति है—

धवलकी अन्तिम प्रशस्ति

जस्स सेसाएण (पसाएण) मए सिद्धतमिद हि अहिलहूदी (अहिलहुद) ।

महु सो एलाइरियो पसियउ वरवीरमेणस्स ॥ १ ॥

वदामि उसहसेण तिहुवण जिय-वपन सित्त सत् ।

णाण किरणावहासिय-सयल-इयर तम-पणासिय दिट्ठ ॥ २ ॥

अरहतपदो (अरहतो) भगवतो सिद्धा सिद्धा पसिद्ध आइरिया ।

साहू साहू य मह पसियतु भडारया सव्वे ॥ ३ ॥

अजज्जणदिसिस्सेणु-जुव-कम्मस्स च्चदसेणस्स ।
 तह णत्तुणे पच्चरुहण्यमाणुणा मुणिणा ॥ ४ ॥
 सिद्धत-छद-जोइस वायरण पमाण साय-णिउणेण ।
 भद्धारण टीका लिहिण्सा वीरसेणेण ॥ ५ ॥
 अट्ठतीसग्धि सासिय निक्कमयग्धि एसु सगरमो । (१)
 पासे सुत्तेरसीए मान-रिग्गे धयल पक्खे ॥ ६ ॥
 जगत्तुगदेवरज्जे रिग्धि कुमग्धि राट्ठणा कोणे ।
 सरे तुळए सते गुरुग्धि कुट्ठवि-ट्ठए होत्ते ॥ ७ ॥
 चायग्धि वरणिउत्ते सिधे सुक्कम्मि णेमिचदग्धि ।
 कत्तियमासे एसा टाका हु समाणिना धयत्ता ॥ ८ ॥
 वोइणराय-णीरिदे णरिद-चूडामणिग्धि धुत्तते ।
 सिद्धतगयमत्थिय गुरुण्साण्ण रिगत्ता सा ॥ ९ ॥

दुर्भाग्यवत इस प्रशस्ति का पाठ अनक जगह अशुद्ध है जिसे उपर्युक्त अनेक प्रतियोंके
 मिलानसे भी अभीतक हम पूरी तरह शुद्ध नहीं कर सके । तो भा इस प्रशस्तिसे
 टीकाकार टीकाकारके नियमों हमें बहुतसी ज्ञातव्य बातें प्रदिन हो जाती हैं । पढ़ी गायसे स्पष्ट
 वीरसेनाचार्य है कि इस टीकाके रचयिताका नाम वीरसेन है और उनके गुरुका नाम एलाचार्य ।
 फिर चौथी गायामें वीरसेनके गुरुका नाम आर्यनन्दि और दादा गुरुका नाम चन्द्रसेन कहा गया
 है । समस्त एलाचार्य उनके त्रिपागुरु और आर्यनादि दीशगुरु थे । इसी गायामें उनकी शाखाका
 नाम भी पचस्सूपान्वय दिया है । पाचवी गायामें कहा गया है कि इस टीकाके रता वीरसेन सिद्धात,
 छद, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाण अथात् वाय, इन शास्त्रोंमें निपुण थे और भद्धारक पदमें
 विभूति थे । आगेकी तीन अर्थात् ६ से ८ वीं तककी गायामें इस टीकाका नाम
 ' धयला ' दिया गया है और उसका समाप्त होनेका समय वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, नक्षत्र व अन्य
 ज्योतिषसम्बन्धी योगोंके सहित दिया है और जगत्तुगदेव के रायका भी उल्लेख किया है ।
 अन्तिम अर्थात् ९ वीं गायामें पुन राजाका नाम दिया है जो प्रतियोंमें ' वोइणराय ' पटा जाता
 है । वे नेन्दचूडामणि थे । उन्हींके रायमें सिद्धात प्रथमके उपर गुरुके प्रमादमें लेखकने इस
 टीकाकी रचना की ।

द्वितीय सिद्धात प्रथम कथाप्रामाण्यकी टीका ' चयधयला ' का भा एक भाग इन्हीं
 वीरसेनाचार्यका लिखा हुआ है । शेष भाग उनके शिष्य जिनमेमने पूरा किया था । उसका प्रश-

स्तिमें भी बीरसेनके सब में प्रायः ये ही बातें कही गई हैं। चूँकि वह प्रशस्ति 'उनके शिष्यद्वारा लिखी गई है अतएव उसमें उनकी कीर्ति विशेष रूपसे वर्णित पाई जाती है। वहाँ उन्हें साक्षात् केरलीके समान समस्त विश्वके पारदर्शी कहा है। उनकी वाणी पट्खण्ड आगममें अस्खलित रूपसे प्रवृत्त होती थी। उनकी सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञाको देवकर सर्वज्ञकी सत्तामें किसी मनीषीको शक्ता नहीं रहीं थी। विद्वान् लोग उनकी ज्ञानरूपी किरणोंके प्रसारको देवकर उन्हें प्रज्ञाश्रमणोंमें श्रेष्ठ आचार्य और श्रुतकेरली कहते थे। सिद्धातरूपी समुद्रके जलसे उनकी बुद्धि शुद्ध हुई थी जिससे वे तीव्रबुद्धि प्रत्येकजुद्धोंसे भी स्वर्धा करते थे। उनके विषयमें एक मार्मिक बात यह कही गई है कि उन्होंने चिरतन कालकी पुस्तकों (अर्थात् पुस्तकाखण्ड सिद्धांतों) की खूब पुष्टि की और इस कार्यमें वे अपनेसे पूर्वके समस्त पुस्तक-पाठियोंसे बढ गये। इसमें सन्देह नहीं कि बीरसेनकी इस टीकासे इन आगम-सूत्रोंको चमत्ता दिया और अपनेसे पूर्वकी अनेक टीकाओंको अस्तमित कर दिया।

जिनसेनने अपने आदिपुराणमें भी गुरु बीरसेनकी स्तुति की है और उनकी भट्टारक पदवीका उल्लेख किया है। उन्हें वादि वृन्दारक मुनि कहा है, उनकी लोकविज्ञता, कविशक्ति और वाचस्पतिके समान वाग्मिताकी प्रशंसा की है, उन्हें सिद्धांतोपनिबन्धकर्ता कहा है तथा उनकी 'धवला' भारतीको भुवनव्यापिनी कहा है।

१. भृयादावीरसेनस्य बीरसेनस्य शासनम् । शासन बीरसेनस्य बीरसेन रुचेशयम् ॥ १७ ॥
 आसीदामाददामसमन्यसखकुमुदनाम् । सुदती कर्तुमीशो य शशाङ्क इव पुष्कल ॥ १८ ॥
 व्यापारसेन इत्यात्तमट्टारकपृथग्रथ । पारस्ववाधिविश्वानां साक्षादिव स खली ॥ १९ ॥
 प्राणितप्राणितपचिराम्नाशेषगोचरा । भारती भारतीवाक्ता पटखण्डे यस्य नास्खलत् ॥ २० ॥
 यस्य नैसर्गिकं प्रज्ञो दृष्टा सर्वार्थगामिनाम् । जाता सर्वज्ञमद्भावे निरासेका मनीषिण ॥ २१ ॥
 य प्राहुः प्रशुभ्रहोषदीधितिप्रसरोदयम् । श्रुतकेरलिन प्राप्ता प्रज्ञाथमणससमम् ॥ २२ ॥
 प्रसिद्ध मिद्धमिद्धातवाधिवार्धातुद्धधी । साद्ध प्रत्येकजुद्धेय स्वधते धीद्धबुद्धिमी ॥ २३ ॥
 पुम्नरानां विरवानां गुरुत्वमिह कुर्वता । येनातिशयिता पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यका ॥ २४ ॥
 यस्तत्तोदीमविरगम-यामीजानि बाधयन् । यद्योतिष्ठ मुनानेन पञ्चस्तूपाब्धयान्वरे ॥ २५ ॥
 प्रशिष्यश्च बीरसेनस्य य शिष्योऽव्याप्यनन्दिनाम् । कुल गण च सन्तान सखगुरुदजिज्ज्वलत् ॥ २६ ॥
 तस्य शिष्योऽमरग्रीमान् जिनसेनसमिद्धधी । (जयधवला प्रशस्ति)
२. श्री बीरसेन इत्यात्त मट्टारकपृथग्रथ । स न पुनातु पूतामा वादिवृन्दारको मुनि ॥ ५५ ॥
 लोकवि च कवित्व च स्थित मट्टारके द्वयम् । वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाक्वा वाचस्पतेरपि ॥ ५६ ॥
 सिद्धांतोपनिबन्धानां विधातुर्मदशुरोद्विचरम् । ममन सरसि स्थेयामदुपादकुचेशयम् ॥ ५७ ॥
 धवला भारती तरन कर्ति च पुवि निर्मलाय । धवलीहननि शेषभुवनं द्वा नमाम्यहम् ॥ ५८ ॥

आदिपुराण उपाधिक

इन्द्रदिने अपने श्रुतान्तरमें वीरसेनद्वारा धवला और जयधवला टीका लिखे जानेका इसप्रकार वृत्तांत दिया है। ज्योदेव गुरुद्वारा सिद्धांत प्रयोगोंकी टीका लिखे जानेके कितने ही काम पश्चात् सिद्धांतोंके तत्पर श्रीमान् पलाचार्य हुए जो चिन्मूटपुरमें निवास करते थे। उनके पास वीरसेन गुरुने सम्पन्न सिद्धांतका अध्ययन किया और ऊपरके निबन्धनादि आठ अधिकार लिखे। फिर गुरुजी अनुता पाकर ये वाटप्राममें आये और वहाँके आनतेन्द्रद्वारा बनवाये हुए जितालयमें रहें। वहाँ उन्हें व्याख्याप्रज्ञप्ति (वर्णदेव गुरुकी बनाई हुई टीका) प्राप्त हो गई। फिर उहोंने ऊपरके वचनादि अठारह अधिकार पूरे करके सर्वकर्म नामका छठवाँ खण्ड सक्षेपसे तैयार किया और इसप्रकार छह खण्डोंका ७२ हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत और संस्कृत मिश्रित धवला टीका लिखा। तत्पश्चात् कपायशामृतका चार प्रभक्तियोंकी २० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखनेके पश्चात् ही ये स्वर्गनासी हो गये। तब उनके शिष्य जयसेन (जिनसेन) गुरुने ४० हजार ५०० प्रमाण टीका और लिखकर उसे पूरा किया। इसप्रकार जयधवला ६० हजार श्लोक-प्रमाण तैयार है।

वीरसेन स्वामीकी अथवा कोई रचना हमें प्राप्त नहीं हुई और यह स्वामानिक ही है, क्योंकि उनका समस्त सन्तान अवस्थाका जातन निश्चयतः इन सिद्धांत प्रयोगोंके अध्ययन, सकलन और टीका-लेखनमें ही बीता होगा। उनके कुतज्ञ शिष्य जिनसेनाचार्यने उन्हें जिन विशेषणों और परिचयोंमें अटुष्ट किया है उन सबके पोषक प्रमाण उनकी धवला और जयधवला टीकामें प्रचुरतासे पाये जाते हैं। उनकी सूक्ष्म मार्मिक बुद्धि, अपार पाण्डित्य, विशाल स्मृति और अनुपम व्यासंग उनकी रचनाके पृष्ठ पृष्ठ पर चटक रहे हैं। उनकी उपलब्ध रचना ७२ + २० = ९२ हजार श्लोक प्रमाण है। महाभारत शतसाहस्रा अर्थात् एक लाख श्लोक प्रमाण होनेसे सप्तराका सबसे बड़ा काव्य समझा जाता है। पर वह सब एक व्यक्तिकी रचना नहीं है। वीरसेनजी रचना मात्रामें शतसाहस्री महाभारतसे घोट्टी ही कम है, पर वह उन्हीं एक व्यक्तिके परिश्रमका फल

१. वाट गने किरयति तन पुनाधेनमृदुपुराणो। श्रीमान्पलाचार्या बभूव सिद्धांततत्त्वज्ञ ॥ १७७ ॥
- तरय समये सरल मिद्वान्तमधील वीरसेनयुग। उपरितमनिबन्धनाधिकारानष्ट च लिख ॥ १७८ ॥
- आगत चित्तदृष्टाद्यत स मयश्चात्तरुप्रानात्। वाटप्रामे चात्रानतेन्द्रतजिनशुद्धे श्रिया ॥ १७९ ॥
- व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वपरस्पर्शस्ततस्तस्मिन्। उपरितमनिबन्धनाधिकारानष्टादशश्रितिकम् ॥ १८० ॥
- स कथनामवर्ण्य षष्ठ खण्ड विवाय सक्षिप्य। इति षण्णा खण्डानां प्रथमसङ्क्षेपमन्तर्या ॥ १८१ ॥
- प्राकृत सरस्वत भाषा मिश्री टीका लिखित्य धवलाभ्याम्। जयधवला च कपायशामृतके चतुर्गुणा

विमर्शनाम् ॥ १८२ ॥
 दिशतिमहत्प्रमदप्रवचनया सयुता विरच्य दिवम्। यानस्तन पुनस्तथि यो जयसेन (जिनसेन)।—

शुक्लनामा ॥ १८३ ॥
 नमस्त चार्चिता सद्यः समापितवान्। जयधवले च लिखितममया मन्त्रादी ॥ १८४ ॥

है। धन्य है वीरसेन नामीकी अपार प्रशंसा और अनुपम साहित्यिक परिश्रमको। उनके विषयमें भव भूति कविके ये शब्द याद आते हैं

उत्पत्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानवर्मा,
कालो ह्ययं निरवधिर्निपुला च पृथ्वी ।

वीरसेनाचार्यका समय निश्चित है। उनकी अपूर्णटीका जयधवलको उनके शिष्य जिनसेनने शक स० ७५९ की फाल्गुन शुक्ल दशमी तिथिको पूर्ण की थी और उस समय अमोघवर्मका राज्य था^१। मान्यखेटको राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्म प्रथमके उल्लेख उनके समयके ताम्रपटोंमें शक स० ७१७ से लगाकर ७८८ तक अर्थात् उनके राज्यके ५२ वीं वर्ष तकके मिलते हैं^२। अतः जयधवल टीका अमोघवर्मके राज्यके २३ वीं वर्ष में समाप्त हुई सिद्ध होती है। स्पष्ट इससे कई वर्ष पूर्व धवल टीका समाप्त हो चुकी थी और वीरसेनाचार्य स्वर्गनासी हो चुके थे।

धवल टीकाके अन्तर्गत जो प्रशस्ति स्वयं वीरसेनाचार्यकी लिखी हुई हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं उसकी छठवां गाथामें उस टीकाकी समाप्तिके सूचक कालका निर्देश है। किंतु दुर्भाग्यवत् हमारी उपलब्ध प्रतियोंमें उसका पाठ बहुत भ्रष्ट है इससे वहां अंकित वर्षका ठीक निश्चय नहीं होता। किंतु उसमें जगत्तुगदेवके राज्यका स्पष्ट उल्लेख है। राष्ट्रकूट नरेशोंमें जगत्तुग उपाधि अनेक राजाओंकी पाई जाता है। इनमेंसे प्रथम जगत्तुग गोविंद तृतीय थे जिनके ताम्रपट शक स० ७१६ से ७३५ तकके मिले हैं^३। इन्हींके पुत्र अमोघवर्म प्रथम थे जिनके राज्यमें जयधवल टीका जिनमेन द्वारा समाप्त हुई। अतएव यह स्पष्ट है कि धवलानी प्रशस्तिमें इन्हीं गोविन्दराज जगत्तुगका उल्लेख होना चाहिये।

१ इति श्रीनारमेनीया टीका सूताधदगिनी । वाट्यामपुरे श्रीमद्वज्रराज्यानुपालिते ॥ ६ ॥

फाल्गुने मासि पूर्वाह्ण दशम्यां गृहपञ्चम । प्रवृद्धमानपूजायनदाश्रमहोन्मव ॥ ७ ॥

अमोघवर्मराजे द्वारा यन्त्रा यशुनादेया । निष्ठिता प्रचय यायादाकल्पान्तमनस्त्रिका ॥ ८ ॥

एनोत्तपष्टिसमधिकसत्तशताब्दशतरेद्रस्य । समतानेष्टु समाप्ता जयधवला प्राभूतव्याख्या ॥ ९ ॥

जयधवला प्रशस्ति

२ Altekar The Rashtrakutas and their times, p 71 Dr Altekar, on page 87 of his book says " His (Amoghavarsha) latest known date is Phalgun Suddha 10 S'aka 799 (i e March 878 A D), when the Jayadhavalā tika of Virasena was finished This is a gross mistake He has wrongly taken Saka 759 to be saka 799

३ राज मातङ्ग प्रोफेसर राजवश ३ पृ ३६, ६५ ६७

अब कुछ प्रशस्ति का उन शकाब्द गाथाआपर विचार काजिये । गाथा न ६ में ' अट्टनासिद्धि ' आर ' विक्रमरायसिद्धि ' सुस्पष्ट है । शतादिनी सूचनाके अभावे अट्टीसना हम जगतुगदेवके राज्यका ले सकते थे । किंतु न तो उसका विक्रमराजसे कुछ सम्बन्ध बैठता जा न जगतुगका राज्य हा ३८ वर्ष रहा । जसा हम उपर बतला चुके हैं उनका राज्य केवल २० वर्ष का लगभग रहा था । अतएव इस ३८ वर्ष का सम्बन्ध विक्रमसेही होना चाहिये । गाथाम शतसूचक शब्द गटवामें है । किंतु जान पड़ता है लेखकका तात्पर्य कुछ सौ ३८ वर्ष विक्रम सातवके कहनका है । किंतु विक्रम सप्तवके अनुसार जगतुगका राज्य ८५१ स ८७० के लगभग आना है । अतः उसके अनुसार ३८ के अकसी कुछ साधनता नहा बैठती । यह भी कुछ साधारण नहीं जान पड़ता कि बारमेनेने यहा विक्रम मन्त्रका उल्लेख किया हो । उन्होंने कहा ' हा गी निर्माणका काल गणना दी है वहा शक काठका ही उल्लेख किया है । उनका गिण्य तिनसनने जयप्रलयाकी समाप्तिका काल शक गणनानुसार है । सूचित किया है । दक्षिणके प्रायः समस्त जन लेखकोंने शककाठका ही उल्लेख किया है । ऐसी अवस्थाम आश्चर्य नहा जो यहा भी लेखकका अभिप्राय शक कालसे हो । यदि हम उक्त सत्या ३८ क साथ सातसो और मित्रा द आर ७३८ शक सप्तवके लें तो यह काल जगतुगके ज्ञान काल अर्थात् शक सप्त ७३५ क बहुत समाय आ जाता है ।

अब प्रश्न यह है कि जत्र गाथाम विक्रमराजका स्पष्ट उल्लेख है तत्र हम उसे शक सप्त अनुमान कमे कर सकत हैं ? पर गोज करनसे जान पड़ता है कि अनेक जन लेखकोंने प्राचीन कालसे शक काठक साथ भी विक्रमका नाम जोड़ रखा है । अकलकचरितमें अकलकके शैलिक साथ शास्वार्थका समय इसप्रकार बतलाया है ।

विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाशुषि ।

काठेऽकलकचरितो मोक्षनादा महानभूत् ॥

यद्यपि हम विषयमें मतभेद है कि यहा लेखकका अभिप्राय विक्रम सप्त से है या शकस, किंतु यह ता स्पष्ट है कि विक्रम और शकका सम्बन्ध एक ही काल गणनासे जोड़ा गया है । यह भ्रमका हो जा चाहि किसी भायतानुसार । यह भी बात नहीं है कि अनेक ही इस-प्रकारका उदाहरण हो । त्रिकोससारकी गाथा न ८५० की टीका करने हुए टीकाकार श्री माधव-चन्द्र त्रैविज लिखते हैं—

‘ श्रीगीतायनिबृत्ते सप्तशतत् पञ्चोत्तरपट्टशतवर्षाणि (६०५) पञ्चमासयुतानि गच्छा पश्चात् विक्रमार्कशकानो जायते । तत्र उपरि चतुर्थव्ययुत्तरविशत (३०४) वर्षाणि सप्तमासा- विमानि गन्ता पश्चात् कल्पी जायते ’ ।

यह क्रिमाक शकराजका उल्लेख है और उसका तात्पर्य स्पष्ट शकसवत्के सस्या-
पक्रमे है। उस अवतरणपर टा पाठकने टिप्पणी की है कि यह उल्लेख त्रुटि पूर्ण है। उन्होंने ऐसा
समझकर यह कहा ज्ञात होना है कि उस शब्दका तात्पर्य विक्रम सत्रसे ही हो सकता है। किंतु
ऐसा नहीं है। शक सत्रकी सूचनामें हा लखकने विक्रमका नाम जोड़ा है, और उसे शकराजकी
उपाधि कहा है जो सूर्या समय है। शक और विक्रमके सत्राधिकालगणनाके नियममें जैन
लेखकोंमें कुछ भ्रम रहा है यह तो अद्वय है। त्रिलोकप्रज्ञसिंह जो शककी उत्पत्ति वीरनिर्माणसे
४६१ वर्ष पश्चात् या विक्रमसे ६०५ वर्ष पश्चात् बतलाई गई है उसमें यही भ्रम या मान्यता
कार्यकारी है, क्योंकि, वीर नि से ४६१ वा वर्ष विक्रमके राज्यमें पड़ता है और ६०५ वर्षसे
शककाल प्रारंभ होता है। ऐसी अवस्थामें प्रस्तुत गायामें यदि 'विक्रमरायणि' से शकसवत्की
सूचना ही हो तो हम कह सकते हैं कि उस गायामें शुद्ध पाठमें धवलाके समाप्त होनेका समय
शक सत्र ७३८ निर्दिष्ट रहा है।

इस निर्णयमें एक कठिनाई उपस्थित होती है। शक सत्र ७३८ में लिखे गये नर-
सारीके ताम्रपटमें जगतुंगके उत्तराधिकारी अमोघवर्षके राज्यका उल्लेख है। यही नहीं, किंतु शक
सत्र ७८८ के सिंगरसे मिले हुए ताम्रपटमें अमोघवर्षके राज्यके ५२ वें वर्षका उल्लेख है, जिससे
ज्ञात होता है कि अमोघवर्षका राज्य ७३७ में प्रारंभ हो गया था। तब फिर शक ७३८ में
जगतुंगका उल्लेख किस प्रकार किया जा सकता है? इस प्रश्नपर विचार करते हुए हमारी दृष्टि
गाथा न ७ में 'जगतुंगदेवरजे' के अनन्तर आये हुए 'रियमिह' शब्दपर जाती है जिसका अर्थ
होता है 'रुते' या 'रिते'। सम्भवतः उसीसे कुछ पूर्व जगतुंगदेवका राज्य गत हुआ था और
अमोघवर्ष सिंहासनावृद्ध हुए थे। इस कल्पनासे आगे गाथा न ९ में जो बोद्धराय नरेन्द्रका
उल्लेख है, उसकी उल्लेख भी सुलझ जाती है। बोद्धराय मभवतः अमोघवर्षका ही उपनाम होगा।
या यह बड़िगकाही रूप हो आर बड़िग अमोघवर्षका उपनाम हो। अमोघवर्ष तृतीयका उपनाम
बड़िग या बड़िगका तो उल्लेख मिश्रता ही है। यदि यह कल्पना ठीक हो तो वीरसेन स्वामीके
इन उल्लेखोंका यह तात्पर्य निश्चित है कि उठाने धवला टीका शक सत्र ७३८ में समाप्त की
जब जगतुंगदेवका राज्य पूरा हो चुका था और बोद्धराय (अमोघवर्ष) राजगद्दीपर बैठ चुके थे।
'जगतुंगदेवरजे रियमिह' और 'बोद्धरायणरिते णरिंदचडामणिमिह भुंजते' पाठोंपर
ध्यान देनेमें यह कल्पना बहुत कुछ पुष्ट हो जाती है।

१ वासविष मिद्धिद चड-सद इगमट्ट वाम-परिमाण । वरिम्मि अदिपत्त उप्पण्णा एथ सगराओ ॥८६॥

णिग्गो वागिणे वृत्तम-मदेम पच वग्गिण । पण मागेसु पदम मत्तागे मग्गिओ अहमा ॥ ८९ ॥

जमोदरपदे रायके प्रारम्भिक इतिहासका दखनस जान पटता ह कि सभयत गोविन्दराजने अपने जीवन काक्रम ही अपने अपत्ययक पुत्र अमात्रपदेको सन्निहित कर दिया था और उनका सक्षक भी नियुक्त कर लिये व, आर आप रायभासे मुक्त होकर, आश्रय नहा, अर्मयान करने लग हा । नवसाराके शक ७३८ के तापयगम जमोदरपदेके गयम किसी प्रकारकी गटपरीका मचना नहा है, किंतु सरतसे मित्र हुए एक सवत ७४३ क ताम्रपत्रोंम एक विष्टके समनके पदचात् अमोदरपदे पुन रायराहणका उद्देश्य ह । इस विष्टका वृत्तान्त पदादास मिल हुए शक सवत ७५७ के ताम्रपत्रोंमभा पाया जाता ह । अनुमान होता ह कि गोविन्दराजके जीवन-काक्रमें तो कुछ गटपरी नहा ह किंतु उनकी मृत्युके पदचात् रायमिहामनके लिये विष्ट मचा जो एक सवत ७४३ के पूर समन हा गया । अतएव शक ७३८ मे जगतुम (गोविन्दराज) जायित थे म कारण उनका उद्देश्य किया और उनका पुत्र मिहामना हो चुके थे ममे उनका भी कसन किया, यह उचित जान पटता ह ।

यदि यह कालमराजा निर्णय थीक हा ता उस परम योग्यनस्वामाक कुछ रचनाकाउ व धरकाक प्राग्भकालका भी कुछ अनुमान लगाया जा सकता ह । मराजा काक ७३८ शकम समाप्त हुए आर तयमरला उमक पश्चात् ७५० तक म । तापय यह कि काद २० वर्ष मे जयमराजके १० हजार मराका मच गय निमकी जामत एक मम ३ हजार जाता ह । इस अनुमानमे मराका ७२ हजार मराक रचन म २० मर लगना चाहिये । अत उसकी रचना ७३८ - २० = ७१८ शकम प्राग्भ हू हांगा, आर चूकि तयमराजके २० हजार मराक मच जानेक पश्चात् मरमेन मरामाका मयु दुइ आर उता मराकाक रचनाम लगभग ७ वर्ष लगे होंग, अत मरमेन मरामाक स्वगमामका समय ७३८ + ७ = ७४५ तक लगभग आता ह । तथा उनका कुछ रचना-काउ एक ७१८ म ७४५ अगत ३१ वर्ष पटना ह ।

१ Altekar The Rashtrakutas and their times p 71 ff

२ जात्रमे का २ वष पूर विद्वर प नामामजी प्रमान अपनी विद्वरनमाग नामक लेखमालाम बीरमनक शिष्य जिनमन स्वामाका पूरा परिचय दत ह मर सयुक्तिक रूपमे जिनमनका नामकाक शक सवत् ६७५ अनुमान लिया था आर कया था कि उनका मराका जम मसे ' अधि नही ता २ वष पठल लगभग ६६५ शकम हुआ होगा ' । इस वारमन स्वामाका जावनकाक शक ६६९ स ७४५ तक जयान् ८० वष पटना ह । ठीक यही अनुमान अन्य प्रकारम मराजा जोतर प्रमात्राल किया था आर लिखा था कि ' जिनमन स्वामाक मर वारसन मरामाकी अवस्था मा ८० वषस कम न हू । मा ऐसा जान पटना ह । विद्वरनमाला पृ २५ आदि, व पृ ३६ इन हमारे कथिथयके पूण परिचयके लिय पाठकाको प्रेमाकाका वर ८० पृष्ठाका पूरा लेख पटना चाहिये ।

अब हम प्रशस्तिमें दी हुई ग्रह-स्थितिपर भी विचार कर सकते हैं। सूर्यकी स्थिति तुला राशिमें बताई गई है सो ठीक ही है, क्योंकि, ज्ञातिरुक्त मासमें मर्य तुलामें ही रहता है। चन्द्रकी स्थितिका बोधक पद अशुद्ध है। शुक्लपक्ष होनेसे चन्द्र मर्यसे सात राशिके भीतर ही होना चाहिये और ज्ञातिरुक्त मासकी त्रयोदशीको चन्द्र मीन या मेष राशिमें ही हो सकता है। अतएव 'गोमिचदग्नि' की जगह शुद्ध पाठ 'मीणे चदग्नि' प्रतीत होता है जिससे चन्द्रकी स्थिति मीन राशिमें पड़ती है। लिपिकारके प्रमादसे लेखनमें वर्णव्यत्यय हो गया जान पड़ता है। शुक्रकी स्थिति मिथ राशिमें बताई है जो तुलाके मर्यके साथ ठीक बैठती है।

सप्तसरके निर्णयमें ना ग्रहोंमेंसे केवल तीन ही ग्रह अर्थात् गुरु, राहु और शनिकी स्थिति सहायक हो सकती है। इनमेंसे शनिका नाम तो प्रशस्तिमें कहा दृष्टिगोचर नहीं होता। राहु आर गुरुके नामोल्लेख स्पष्ट है कि तु पाठ-भ्रमक कारण उनकी स्थितिका निश्चा त ज्ञान नहीं होता। अतएव इन ग्रहोंका वर्तमान स्थितिपरसे प्रशस्तिमें उल्लेखोंका निर्णय करना आवश्यक प्रतीत हुआ। आज इसका विवेचन करते समय शक्र १८६१, आधिन शुभ ५, मंगलवार, है और उस समय गुरु मानमें, राहु तुलामें तथा शनि मेषमें है। गुरुका एक परिक्रमा बारह वर्षमें होता है, अतः शक्र ७३८ में १८६१ अर्थात् ११२३ वर्षमें उसकी ९३ परिक्रमाएँ पूरी हुईं और मेष सात वर्षमें मान राशिआ आगे बढ़ा। इसप्रकार शक्र ७३८ में गुरुकी स्थिति कन्या या तुला राशिमें होना चाहिये। अब प्रशस्तिमें गुरुको तम मर्यक सात तुला राशिमें ३ सकते हैं।

राहुकी परिक्रमा अठारह वर्षमें पूरी होती है अतः गत ११२३ वर्षमें उसकी ६२ परिक्रमाएँ पूरी हुईं और शेष सात वर्षमें वह लगभग पांच राशि आगे बढ़ा। राहुकी गति संदेह नहीं होती है। तदनुसार शक्र ७३८ में राहुकी स्थिति तुलासे पाचवी राशि अर्थात् कुम्भमें होना चाहिये। अतएव प्रशस्तिमें हम राहुका सम्भव कुम्भसे लगा सकते हैं। राहु यहा तृतीया-त पद क्यों है इसका समाधान आगे करेंगे।

शनिकी परिक्रमा तीस वर्षमें पूरी होती है। तदनुसार गत ११२३ वर्षमें उसकी ३७ परिक्रमाएँ पूरी हुईं और शेष १३ वर्षमें वह कोई पांच राशि आगे बढ़ा। अतः शक्र ७३८ में शनि मनु राशिमें होना चाहिये। जब धनलाकारन इनने ग्रहोंकी स्थितियाँ दी हैं, तब वे शनि जैसे प्रमुख ग्रहोंको भूल जाय यह संभव न जान हमारी दृष्टि प्रशस्तिमें चापमिह तरणिवुत्ते पाठपर गई। चाप का अर्थ तो धनु होता ही है, किन्तु तरणिवुत्ते से शनिका अर्थ नहीं निकल सका। पर सात ही यह जानमें आते देर न लगी कि संभवतः शुद्ध पाठ तरणि-वुत्ते (तरणिवुत्ते) है। तरणि मर्यका पर्यायवाची है और शनि सूर्यपुत्र कहलाता है। इसप्रकार प्रशस्तिमें शनिका भी उल्लेख मिट गया और इन तीन ग्रहोंकी स्थितिसे हमारे अनुमान किए हुए धनलाके समाप्ति-काल शक्र सन्त् ७३८ की पूरी पुष्टि हो गई।

इन ग्रहोंका इही राशियोंमें योग शक ७३८ के अनिरिक्त केवल शक ३७८, ५५८, ९१८, १०९८, १२७८, १४५८, १६३८ और १८१८ मेंही पाया जाता है, और ये कोईभी सप्त ध्रुवोंके रचनाकारके लिये उपयुक्त नहीं हो सकते ।

अब ग्रहोंमें केवल तान अथात् केतु, मंगल और बुध ही पमे रह गये तिनका नामोन्मुख प्रशस्तिमें हमारे दृष्टिगोचर नही हुआ । केतुका स्थिति मदन राहुम सतम राशिपर रहती है, अतः राहुका स्थिति बना देने पर उसका स्थिति आप ही स्पष्ट हो जाती है कि उस समय केतु सिंह राशियों में । प्रशस्तिमें शय श शेषपर विचार करनेसे हमें मंगल और बुधका भी पता लग जाता है । प्रशस्तिमें ' कौण्डे ' शब्द आया है । काण्ड शब्द कोपके अनुसार मंगलका भी पर्यायनाम है । असा आगे चरणर तान होगा, कुटला चक्रमें मंगलका स्थिति कोनेमें आती है, असासे ममन मंगलका यह पर्याय कुशल शक्ति को यह उपयुक्त प्रमाण हुआ । अतः मंगलका स्थिति राहुके साथ पुनः राशियों में । राहु पदकी वतया विभक्ति असा मानको यत्न करनेके लिये रखा गइ तान पड़ता है । अतः अत्र ' भावविलम्ब ' और ' कुलविलम्ब ' शब्द प्रशस्तिमें ऐसे वच रहे हैं तिनका अभीतर उपयोग नहीं हुआ । कुल का अर्थ कापानुसार पुनः भी होता है, और पुनः सूर्यका जानू मात्रका गणियोंसे बाहर नहीं जा सकता । जान पड़ता है यदा कुलविलम्ब का अर्थ ' कुलविलम्ब ' है । अथात् पुनःकी सूचकी ही राशियों स्थिति होनेसे उसका विलम्ब था । गायामें मात्रावर्णिके स्थिते विच्छेद का विच्छेद कर दिया प्रतीत होता है ।

अतः तत्र लयका समय नहीं दिया जाता तत्र तत्र यातिप कुटला पर नहीं कहा जा सकती । इस कमी का पूर्ति ' भावविलम्बे ' पद से होता है । ' भावविलम्बे ' का कुछ ठीक अर्थ नहीं है । पर यदि हम उसका जगट ' भावविलम्बे ' पाठ ले लें तो उससे यह अर्थ निकलता है कि उस समय सूर्य लग्नका राशियों था, और क्योंकि सूर्यकी राशि अतः तुल्य बनला है, अतः ज्ञात हुआ कि वरला ठाका को धारमेन स्वामाने प्राप्त कालके समय पूरी का ही जत्र तुल्य राशिके साथ सूर्यदेन उदय हो रहे थे ।

इस विवेचनद्वारा उक्त प्रशस्तिके समयसूचक पदोंका पूरा सशोजन हो जाता है, और उससे घबरायी समाप्ति का काल निर्विवाद रूपसे शक ७३८ वार्तिक शुक्र १३, तदनुसार तारीख ८ अक्टूबर सन् ८१६, दिन बुधवार का पता चल, सिद्ध हो जाता है । उससे धीरेमेन स्वामीके सूत्रम ज्योतिष ज्ञानका भी पता चल जाता है ।

अब हम उन तीन पद्योंको शुद्धनाम इसप्रकार पढ़ सकते हैं —

अठनीसम्भि सतसए निक्मरायक्रिए सु-सगणामे ।
 नामे सुतेरमीए भाणु-विलग्गे धवल-पकरे ॥ ६ ॥
 जगतुंगदेन-ग्जे रियम्भि कुंभम्भि राहुणा कोणे ।
 म्मे तुलाए सते गुरुम्भि कुलप्रिल्लए होते ॥ ७ ॥
 चात्रम्भि तरणि-पुत्ते सिधे सुवम्भि मीणे चटम्भि ।
 रुत्तिय-मामे एसा टीका हु ममाणिआ धवला ॥ ८ ॥

इस पर म मयरा का नामकुट्टरा निम्नप्रकाशमें गीची जा सकती है —



गाम्मेन स्वार्मान अपना टीकाका नाम मयरा म्यो रसरा यह कहाँ प्रतलाया गया
 धवला नामकी दृष्टिगोचर नहीं हुआ । मयरा शब्दाभि शुक्लके जनिष्कित शुद्ध, प्रिशट, स्पष्ट
 सार्थकता भा होता है । समय है अपनी टीकाक इमी प्रमाद गुणको व्यक्त करनेके लिये
 उन्होंने यह नाम चुना हो । ऊपर दी हुई प्रशस्तिमें बात है कि यह टीका
 कार्तिक मासके मय पक्षकी त्रयोदशीका समाम हुई थी । अतएव समय है इसी निमित्तमें
 रचयिताका यह नाम उपयुक्त जान पड़ा हो । ऊपर बतला चुके हैं कि यह टीका त्रिणि उपनाम-
 धारी अमोघनर्प (प्रथम) के राज्यके प्रारम्भका म समाम हुई थी । अमोघनर्पकी अनेक उपाधियोंमें
 एक उपाधि ' अतिशय-मयल ' भी मिलती है । उनकी इस उपाधिका सार्थकता या तो उनके
 शरारके अत्यन्त गहराणाम हो या उनकी अत्यन्त शुद्ध सात्विक प्रवृत्तिमें । अमोघनर्प बड़े धार्मिक
 बुद्धिवाले थे । उन्होंने अपन वृद्धत्वका म्म रायपाद छोड़कर वैराग्य गरण किया था और
 ' प्रश्नोत्तररत्नमालिका ' नामक सुन्दर काव्य लिखा था । बाल्यकालसे ही उनकी यह धार्मिक बुद्धि
 प्रकट हुई होगी । अत समय है उनकी यह ' अतिशय मयल ' उपाधि भी धवलाके नाम-करणमें
 एक निमित्तकारण हुआ हो ।

कहा है कि उन्हींके व्याख्यानको ग्रहण करना चाहिए, परिकर्मके व्याख्यानको नहीं, क्योंकि, यह व्याख्यान सूत्रके विरुद्ध जाता है । इससे स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि 'परिकर्म' इसी पट्खण्डागमका टीका थी । इसकी पुष्टि एक आर उल्लेखसे होती है जहाँ ऐसा ही विरोध उत्पन्न होनेपर कहा है कि यह कथन उसप्रकार नहीं है, क्योंकि, स्वयं 'परिकर्मकी' प्रवृत्ति इसी सूत्रके बलसे हुई है । इन उल्लेखोंसे इस बातमें कोई सन्देह नहीं रहता कि 'परिकर्म' नामका ग्रन्थ था, उसमें इसी आगम का व्याख्यान था और यह ग्रन्थ गोरसेनाचार्यके समुल्लेख विद्यमान था । एक उल्लेख द्वारा ध्वलाकारने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि 'परिकर्म' ग्रन्थको सभी आचार्य प्रमाण मानते थे ।

उक्त उल्लेखोंमेंसे प्रायः सभीका सम्बन्ध पट्खण्डागमके प्रथम तीन पण्डोंके विषयमें है जिसमें इन्द्रनदिके इस कथन का पुष्टि होती है कि यह ग्रन्थ प्रथम तीन पण्डोंपर ही लिखा गया था । उक्त उल्लेखोंमेंसे 'परिकर्मके' कर्ताके नामादिकका कुछ पता नहीं लगता । किन्तु इसी भी कोई बात उनमें नहीं है कि जिससे यह ग्रन्थ कुन्दकुन्दकृत न कहा जा सके । ध्वलाकारने कुन्दकुन्दके अन्य सुविख्यात ग्रन्थोंका भी कर्ताका नाम लिखे बिना ही उल्लेख किया है । यथा, बुक्त च पचथिपाहृते (ध्वला अ पृ २८९)

कुन्दनन्दिन जो इस टीकाको सर्व प्रथम प्रतिलिखित है और ध्वलाकारने उसे सर्व-आचार्य-सम्मत कहा है, तथा उसका स्थान स्थानपर उल्लेख किया है, इससे इस ग्रन्थके कुन्दकुन्दाचार्यकृत माननमें कोई आपत्ति नहीं दिग्वर्ती । यद्यपि इन्द्रनदिने यह नहीं कहा है कि यह ग्रन्थ किस भाषामें लिखा गया था किन्तु उसके जो 'अनरण्य' बखलाव आये हैं वे सब प्राकृतमें ही हैं, जिससे जान पड़ता है कि यह टीका प्राकृतमें ही लिखी गई होगी । कुन्दकुन्दके अन्य सब ग्रन्थ भी प्राकृतमें ही हैं ।

ध्वलाकारने परिकर्मका एक उल्लेख इसप्रकार से आया है—

“ ‘अपटेम णेयं इति एगेज्झा’ इति परमाणुणं गिरयवत्तं पण्यिम्मे बुत्तमिदि ” (ध १११०)

१ परियम्मणेण एव वक्खामं किण्णं विक्कम्मादं' एदणं महं विक्कम्मादं, किन्तु मुत्तणं सह न विक्कम्मादं । नन् एदणं वक्खामाग्गं एदणं वायव्यं, न परियम्मस्स नम्मं मुत्तविक्कम्मादं । (ध्वला अ २००)

२ परियम्माम्भो अण्णोत्तापो जेयणकायीना मेदाणं पमाणमग्गमिदि चे न, एदणं मुत्तलं वक्खं परियम्मपद्दाम्भो । (ध्वला अ पृ १८६)

३ ' गयणाग्गियम्मपरियम्ममिदिच्छा' । (ध्वला अ पृ १४२)

इसका कुन्दकुन्दके नियमसारकी इस गाथासे मित्रान क्रीजिये—

अत्तादि अत्तमन्त्र अत्तन णेर इंदिए मेज्झ ।

अभिभागी ज दग्ग परमाणू त विआगाहि ॥ २६ ॥

इन दोनों अन्तरणोंके मित्रानसे स्पष्ट है कि धनउमें आया हुआ उल्लेख नियमसारसे भिन्न है, फिर भी दोनोंकी रचनामें एक ही हाथ सुस्पष्टरूपसे दिखाई देता है । इन सब प्रमाणोंसे कुन्दकुन्दकृत परिकर्म के अस्तित्वमें बहुत कम संदेह रह जाता है ।

वचनकारने एक स्थानपर 'परिकर्म' का सूत्र कह कर उल्लेख किया है । यथा—
'रुपादियाणि त्ति परियम्ममुत्तेण सह विरुत्तइ' (पत्र ७ अ पृ १४३) । बहुधा वृत्तिरूप जो व्याख्या होती है उसे सूत्र भी कहते हैं । जयप्रगमें यतिवृषभाचार्यको 'कपायप्राप्त' का 'वृत्तिमुत्तरुत्ता' कहा है । यथा—

'मो विचिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वर देऊ' (जयप्र० मंगलचरण गा ८)

इससे जान पड़ता है कि परिकर्म नामक व्याख्यान वृत्तिरूप था । इन्द्रनदिने परिकर्मको ग्रन्थ कहा है । वैयन्ता कोषक अनुसार ग्रन्थ वृत्तिकर एक पर्याय-वाचक नाम है । यथा—
'वृत्तिर्ग्रन्थनावनयो' । वृत्ति उसे कहते हैं जिसमें सूत्रोंका ही विवरण हो, शब्द रचना सक्षित हो और फिर भा सूत्रके समस्त अंशोंका जिसमें संग्रह हो । यथा—

'सुत्तस्सेव विवरणाए सवित्त-सद्व्यवणाए सगलिय सुत्तासेसत्थाए वित्तमुत्त वरएसाणे ।
(जयप्र० अ ५२)

इन्द्रनदिने दूसरी विस टांकना उल्लेख किया है, वह शामकुण्ड नामक आचार्य-कृत थी । यह टीका छठव गण्टको छोटकर प्रथम पांच गण्टोंपर तथा दूसरे सिद्धांत-ग्रन्थ (कपायप्राप्त) पर भी थी । यह टीका पद्धति रूप थी । वृत्तिग्रन्थके विषय-पदोंका भजन अर्थात् विरूपणामक विवरणको पद्धति कहते हैं । यथा—

विचिसुत्त विस्म-ययाभजिए विवरणाए पड्ड वरण्मादो (जयप्र पृ ५२)

इससे स्पष्ट है कि शामकुण्डके समुप्य का वृत्तिग्रन्थ रहे हैं जिनकी उन्धान पद्धति थी । हम ऊपर यह ही आये हैं कि कुन्दकुन्दकृत परिकर्म सभग्न वृत्तिरूप ग्रन्थ था । अतः शामकुण्डने उसी वृत्तिपर और उर कपायप्राप्तकी यतिवृषभाचार्यकृत वृत्तिपर अपनी पद्धति निर्या ।

इस समस्त टीकाका परिमाण भी बारह हजार श्लोक था और उसकी भाषा प्राकृत संस्कृत और कनाडी तीनों मिश्रित थी। यह टीका परिश्रमसे कितने ही काल पश्चात् लिखी गई थी। इस टीकाके कोई उल्लेख आदि बबला व जयप्रबलमें अभी तक हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुए।

इन्द्रनन्दिद्वारा उल्लिखित तीसरी सिद्धान्तटीका तुम्बुलूर नामके आचार्यद्वारा लिखी गई। ये आचार्य 'तुम्बुलूर' नामके एक सुन्दर ग्राममें रहते थे, इसीसे वे तुम्बुलूर-
३ चूडामणिकर्ता चार्य कहलाये, जैसे कुण्डकुन्दपुरमें रहनेके कारण पद्मनन्दि आचार्यकी तुम्बुलूरचार्य कुन्दकुन्द नामसे प्रसिद्धि हुई। इनका असली नाम क्या था यह ज्ञात नहीं होना। इन्होंने उठवें खटको छोट शेष दोनों सिद्धान्तोंपर एक बड़ी भारी व्याख्या लिखी, जिसका नाम 'चूडामणि' था और परिमाण चारसी हजार। इस महती व्याख्याकी भाषा कनाडी थी। इसके अनिरिक्त उन्होंने उठवें खटपर सात हजार प्रमाण 'पञ्चिका' लिखी। इस-प्रकार इनकी कुल रचनाका प्रमाण ९१ हजार श्लोक हो जाता है। इन रचनाओंका भी कोई उल्लेख बबला व जयप्रबलमें हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। किन्तु महाप्रबलका जो परिचय 'बबलादि-सिद्धान्त ग्रंथोंके प्रशस्तिसंग्रह' में दिया गया है उसमें पचिकारूप विवरणका उल्लेख पाया जाता है^१। यथा—

गोत्राणि सतक्रमे पचियस्त्रेण विवरण सुमहत् ॥ पुणो तेहितो सेसद्वारसणि-
योगद्वाराणि सतक्रमे सत्राणि पच्यविगाणि । तो नि तस्सइगभीरत्तादो अत्यविसमपदानमथे धोरु-
द्वयेण पचिय-सस्त्रेण भणिस्सामो ।

जान पडता है यही तुम्बुलूरचार्यकृत पष्ठम खंडकी वह पचिका है जिसका इन्द्रनन्दिने उल्लेख किया है। यदि यह ठाक हो तो कहना पड़ेगा कि चूडामणि व्याख्याकी भाषा कनाडी थी, किन्तु इस पचिकानो उन्होंने प्राकृतमें रचा था।

महाकलं देवने अपने कर्णाटक शब्दानुशासनमें कनाडी भाषामें रचित 'चूडामणि' नामक तत्त्वार्थमहाशास्त्र व्याख्यानका उल्लेख किया है। यद्यपि वहा इसका प्रमाण ९६ हजार बतलाया है जो इन्द्रनन्दिके कथनसे अधिक है, तथापि उसका तात्पर्य इसी तुम्बुलूरचार्यकृत 'चूडामणि' से है ऐसा जान पडता है^२। इनके रचना-कालके विषयमें इन्द्रनन्दिने इतना

१ काले तत किययपि गते पुन श्रामकुण्डसङ्गेन । आचार्येण ज्ञात्वा द्विमेदमप्यागम वात्स्याय ॥ १६२ ॥
श्रावस्त्युणितसङ्गं ग्रंथं सिद्धांतयोरुभयो । पद्येन विना खण्डेन पृथुमहात्रयमङ्गेन ॥ १६३ ॥

प्राकृतसंस्कृतकर्णाटभाषया पद्धति परा रचिता ॥ इन्द्र धुनावतार

२ वात्स्यायिविराज जनेश्विरात्मवचना प्रथम वार्षिक रिपोर्ट, १९३५

३ न चेया (कनाडी) भाषा शब्दानुपयोगिना, तत्त्वार्थमहाशास्त्र व्याख्यानस्य पण्यवतिमहत्प्रमेित

हा कहा ह कि शामकुटरो कितन हा काल पयात् तुम्बुडगचार्य हृष्ट ।

तुम्बुडगचार्यके पयात् कालात्तरमें समन्तभद्र स्वामा हुए, निहें इद्रनादिने
४ समन्तभद्रस्वामी 'तार्किशार्क' कहा है। उहें। दानों सिद्धांतोंका अध्ययन करके
कृत टीका पट्टमण्णगमके पाच पत्रपर ४८ हजार श्लोकप्रमाण टीका रचा। इस
टीकाकी भाषा अत्यंत सुंदर और मृदुल संस्कृत थी।

यहा इद्रनादिका अभिप्राय निश्चयत आत्ममासादि सुप्रसिद्ध ग्रंथोंके रचयितासे हा है,
निहें अष्टमहस्ताके त्रिपण्णगमे भा 'तार्किशार्क' कहा ह। यथा —

तदत्र महामागस्ताकिशार्करूपज्ञाता आत्ममासां साम्
(अष्टम पृ १ टिप्पण)

धन्य टीकामें सम तभद्रस्वामीके नामसहित दो अवतरण हमार दृष्टिगोचर हुए हैं।
इनमें पत्र पत्र ४९४ पर ह। यथा—

'तथा समन्तभद्रस्वामिणा नि उक्त विविधविपक्षतिपेयस्य इत्यादि'

यह श्लोक बृहत्संन्यभूस्तोत्रका ह। दूसरा अवतरण पत्र ७०० पर ह। यथा—

'तथा समन्तभद्रस्वामिनायुक्त, स्यादादप्रविभक्त्यविशेषव्ययनको नय ।'

यह आत्ममासाका श्लोक १०६ का पूर्वांश है। आर भा कुछ अवतरण केवल 'उक्त च' रूपसे
आये हैं जो बृहत्संन्यभूस्तोत्र दि ग्रंथमें मिलते ह। पर हमें ऐसा कहीं कुछ अभी तक नहीं मिल

अथमदमरूपस्य बृहदामण्यमिबानस्य महासासस्यायथा च शब्दागम मुक्तयागम-परमाणम-विषयाणां तथा वाच्य-नाटक
कलाशास्त्र-विषयाणां च वर्णा प्रधानाणां मण्यवतन्नायुपल धर्मानां च । (समन्तभद्र पृ २१८)

अत्र तुम्बुडगचार्यस्वामिनाचार्या बृहत्संन्यभूस्तोत्रमदमात्र । पत्र पत्र विना पत्र पत्र सो पि सिद्धांतयोरुभयो ॥ १६५ ॥
चतुर्विंशतिशतसहस्रं धरचनया युनाम् । कथाभाषयाऽन्येन महती बृहदामणि व्याख्याम् ॥ १६६ ॥
समन्तभद्रग्रंथो वक्ष्ये च पश्चिका पुनरापारम् ।
इदं अथावतार

२ बालांतर तव पुनराग या पत्नी । तार्किशार्कौभूत् ॥ १६७ ॥

यामात् सम तभद्रस्वामान्वय साध्यधीय त द्विविधम् ।

मिद्धातमत् पट्टमण्णगमगतसंक्षेपचरस्य पुन ॥ १६८ ॥

अथो चत्वारिंशत्सहस्रं धरचनया युनाम् ।

विरचितवाननिसुन्दरप्रहमरत्नभाषया टीकाम् ॥ १६९ ॥

इदं अथावतार

सका जिससे उक्त टीकाका पता चउता । श्रुतावतारके ' आस-या पछरि ' पाठमें सभजत आचार्यके निवासस्थानका उल्लेख है, किंतु पाठ अशुद्धसा होनेके कारण ठीक ज्ञात नहीं होता ।

जिनसेनाचार्यद्वृत हरिवंशपुराणमें समन्तभद्रनिमित्त ' जीवसिद्धि ' का उल्लेख आया है, किंतु यह ग्रंथ अभीतक मिला नहा है । ऊहीं यह समन्तभद्रकृत ' जीवद्वान्न ' की टीकाका ही तो उल्लेख न हो ? समन्तभद्रकृत गंधहस्तिमहाभाष्यके भा उल्लेख मिलते हैं, जिनमें उसे तत्त्वार्थ या तत्त्वार्थसूत्रका व्याख्यान कहा है । उस परसे माना जाता है कि समन्तभद्रने यह भाष्य उमास्वानिकृत तत्त्वार्थमंत्रपर लिखा होगा । किंतु यह भी सभज है कि उन उल्लेखोंका अभिप्राय समन्तभद्रकृत उहा सिद्धान्तप्रयोग की टीकासे हो । इन ग्रन्थोंका भी ' तत्त्वार्थमहाशास्त्र ' नामसे प्रामिद्धि रही है, क्योंकि, जेमा हम ऊपर कह आये हैं, तुम्बुङ्गचार्यकृत उन्हा ग्रन्थोंकी ' चटामणि ' टीकाको अकलकृतेने तत्त्वार्थमहाशास्त्र व्याख्यान कहा है ।

इन्द्रनटिने कहा है कि समन्तभद्र स्वामी द्वितीय सिद्धातकी भी टीका लिखनेवाले थे, किंतु उनके एक सधर्मने उहें ऐसा करनेसे रोक दिया । उनके ऐसा करनेका कारण द्रव्यादि—शुद्धि करण-प्रयत्नका अभाव बतलाया गया है^१ । सभज है कि यहा समन्तभद्रकी उस भस्मक व्यापिकी ओर सकेत हो, जिसके कारण कहा गया है कि उहें कुछ काल अपने मुनि आचारका अतिरेक करना पटा था । उनके इही भावों और शरीरकी अरुथाको उनके सहधर्माने द्वितीय सिद्धान्त प्रयोग की टीका लिखनेमें अनुकूल न देग उहें रोक दिया हो ।

यदि समन्तभद्रकृत टीका सङ्कृतमें लिखी गई थी और नीरसेनाचार्यके समय तक, विद्यमान थी तो उसका खला जघनरयामें उल्लेख न पाया जाना उडे आश्चर्यकी बात होगी ।

सिद्धातप्रयोगका व्याख्यानक्रम गुरु परम्परासे चलता रहा । इसी परम्परामें शुभनन्दि

१ दसो, प जालनिशोर मुन्तारहत सभ तमद पृ २१२

२ जीवसिद्धिविधायक उक्तसुत यनुशामनम । उव समन्तभद्रस्य वीरस्येय विनुमते ॥

हरिवंशपुराण १ ३०

३ तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगणपतिप्रवक्त । स्वामी समन्तभद्रोऽभूत्वायमनिदशर ॥

(इन्मिन् विवाततोरनवाटक, मा प्र मा)

तत्त्वार्थ व्याख्यान-पणवनि महम गधदस्ति महामा य विधायक देवागम कवीश्वर स्याद्वाद विधाधि-

पति समन्तभद्र ॥ (एक प्राचीन कताडा ग्रंथ, देता समन्तम पृ २२०)

भाष्यतत्त्वार्थशास्त्राद्भुतमल्लिनिधेरिद्वरगोद्वस्य । प्रोधानारम्भाळे सरलमलमिद साधकार हतयन् ।

(विधानन्द आत्ममीमांसा)

४ विविधन् द्विधावमिद्धातरस्य याग्या मधमणा स्वन । द्रव्यादिशुद्धिकर्णप्रय नभिहान् प्रतिपिद्धम् ॥१७०॥

इन्द्र श्रुतावतार

५ वण्पदेव गुरुकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति

ओर रत्निनन्दि नामके दो मुनि हुए, जो अत्यन्त तार्क्यबुद्धि थे। उनसे वण्पदेवगुरुने यह समस्त सिद्धांत विशेषरूपसे सीखा। यह व्याख्यान भीमरथि आर कृष्णमेस नदियोंके बीचके प्रदेशमें उत्कलिका ग्रामके

समीप मगणरल्ली ग्राममें हुआ था। भीमरथि वृष्णा नदीका शाखा है और इनके बीचका प्रदेश अत्र वेल्गाम व धारवाड कहलाता है। वहीं यह वण्पदेव गुरुका सिद्धांत अय्यन हुआ होगा। इस अय्यनके पश्चात् उन्होंने महाब रको जेट शेप पाच खडोंपर 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' नामकी टीका लिखी। तत्पश्चात् उन्होंने छठे खण्डकी सश्लेषमें व्याख्या लिखी। इस प्रकार छहों खडोंके निष्पन्न हो जानेके पश्चात् उन्होंने कपायप्राश्नकी भी टीका रची। उक्त पाच खडों और कपायप्राश्नकी टीकाका परिमाण साठ हजार, और महाभरती टीकाका 'पाच अधिक थठ हजार' था, और इस सब रचनाका भाषा प्राकृत थी।

धरममें व्याख्याप्रज्ञप्तिके दो उल्लेख हमारा दृष्टिमें आये हैं। एक स्थानपर उसके अन्तरण द्वारा टीकाकारने अपने मतकी पुष्टि की है। यथा—

लोगो यादपदिद्विदो त्ति नियाहपण्णचिअयणाणे (१ १४३)

दूसरे स्थानपर उससे अपने मतका विरोध दिखाया है और कहा है कि आचार्य भेदसे यह भिन्न मायताको लिये हुए हैं और इसलिये उसका हमारे मनसे ऐस्य नहीं है। यथा—

'एदेण नियाहपण्णचिसुणेण सह कम्मण विरोहो' ण, एदंवादो तस्स पुग्गुदस्स आयरियेणेण भेदमाण्णस्स पवत्तामाणादो (ध० ८०८)

इस प्रकारके स्पष्ट मतभेदमें तथा उसके सब कह जानेसे इस व्याख्याप्रज्ञप्तिको 'न सिद्धांत प्रयोग' की टीका मानने में आशंका उत्पन्न हो सकती है। किंतु जयधरममें एक स्थानपर लेखकने वण्पदेवका नाम लेकर उनके आर अपने वाचके मतभेदको बनलाया है। यथा—

चुण्णिसुत्तमि वण्पदेवाइरियलिहिदुचारणाए अतोमुहुत्तमिदि भणिदो । अग्हेटि लिहिदुचारणाए पुण जह० एगसमओ, उक्क० सखेज्जा समया त्ति पक्खिदो (जयध० १८५)

- १ एव व्याख्यानकममवाप्तवान् परमगुरुम्पराया । आद्य उन्निद्धातो द्विविधोऽयमिति निश्चितबुद्धिः ॥ १७१ ॥
 २ रत्निनन्दिमुनि यो भीमरथि वृष्णमखया सति । मध्यमवियय रमणायोऽल्लिखामसामीप्यम् ॥ १७२ ॥
 निम्पातमगणवर्गीग्रामाय विशयरूपण । श्रुत्वा तयान् पात्रं तमसेव वण्पदेवगुरुम् ॥ १७३ ॥
 अपनाय महाबध परमुष्णवपचखडे तु । व्याख्याप्रज्ञप्तिं च वप खं च तत् साक्षयम् ॥ १७४ ॥
 पण्णो खडानामिति निष्पन्नानां तथा कपायस्य शास्त्रकस्य च पश्चिमोत्तरं वदमानयुताम् ॥ १७५ ॥
 पण्डितविराटमात्रायां सम्यक्पुस्तकतन्त्रायां । अष्टसहस्रप्रधां व्याख्यां पञ्चाधिकां महाबधम् ॥ १७६ ॥

इन अन्तरणोंसे वयदेो और उनकी टीका 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' का अस्तित्व सिद्ध होता है। ध्वलाकार वीरसेनाचार्यके परिचयमें हम कह ही आये हैं कि इन्द्रनदिके अनुसार उहोंने व्याख्याप्रज्ञप्तिको पाकर ही अपनी टीका लिखना प्रारम्भ किया था।

उक्त पाच टीकाएँ पद्मपादगमके पुष्पकाण्ड होनेके काल (विक्रमकी २ वीं शताब्दि) से ध्वलाके रचना काल (विक्रमका ० वीं शताब्दि) तक रची गईं जिसके अनुसार स्थूल मानसे कुन्दकुन्द दूमरी शताब्दिमें, शामरुट तीसरीमें, तुम्बुडूर चोथीमें, समन्तभद्र पाचवींमें और जयदेव उठवीं और आठवीं शताब्दिके बीच अनुमान किये जा सकते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि ये सत्र टीकाएँ कहाँ गईं और उनकी पठन-पाठनरूपसे प्रचार क्यों विविध हो गया? हम ध्वलाकारके परिचयमें ऊपर कह ही आये हैं कि उन्होंने, उनके शिष्य निरसेनके शब्दोंमें, चिरकालीन पुस्तकोंका गौरव बढ़ाया और इस कार्यमें वे अपनेसे पूर्वके समस्त पुस्तक-शिष्योंमें बढ गये। जान पड़ता है कि इसी टीकाके प्रभावमें उक्त सत्र प्राचीन टीकाओंका प्रचार रुक गया। वीरसेनाचार्यने अपनी टीकाके विस्तार में विषयके पूर्ण परिचय तथा पूर्वमायताओं व मतभेदोंके समग्र, आलोचन व मथनद्वारा उन पूर्वमायता टीकाओंको पाठकोंकी दृष्टिसे ओझल कर दिया। किन्तु रचय यह वीरसेनीया टीका भी उसी प्रकारके अधिकारमें पड़नेसे अपनेको नहीं बचा सकी। नैमिचन्द्र मिद्वीतचक्रवर्तीने इसका पूरा सार लेकर संक्षेपमें सरल और सुस्पष्टरूपसे गोमटमारकी रचना कर दी, जिससे इस टीकाका भी पठन-पाठन प्रचार रुक गया। यह बात इसीसे सिद्ध है कि गत सात-आठ शताब्दियोंमें इसका कोई साहित्यिक उपयोग हुआ नहीं जान पड़ता और उसकी एकमात्र प्रति पूजाकी वस्तु बनकर तालोंमें पड़ पड़ी रही। किन्तु यह असम्भव नहीं है कि पूर्वकी टीकाओंकी प्रतियाँ अभी भी दक्षिणके किसी शास्त्रमठमें पड़ी हुई प्रकाशकी त्राट जोह रही हों। दक्षिणमें पुस्तकें ताडपत्रोंपर लिखी जाती थीं और ताडपत्र जल्दी क्षीण नहीं होते। साहित्यप्रेमियोंको दक्षिणप्रान्तके मण्डारोंकी इस दृष्टिसे भी खोजबीन करते रहना चाहिए।

९. ध्वलाकारके सन्मुख उपस्थित साहित्य

ध्वला और जयदेवलाका देयनमें पता चलता है कि उनके रचयिता वीरसेन आचार्यके समुप बहुत निशाण जन साहित्य प्रस्तुत था। सप्रगुणका जो भाग अत्र प्रकाशित हो रहा है उसमें उन्होंने सत्कर्मप्राभृत व कपापप्राभृतके नामोंके व उनके विविध अंगिकाओंके उद्धरण व अन्तरण आदि दिये हैं। इनके अतिरिक्त मिद्वसन त्रिगुणरक्त समन्वितका 'मम्मडसुख' (समन्वितम्) नामके

उल्लेख किया है और एक स्थान पर उसके कथनम सिरो प्रसार उसका समागम किया है, तथा उमकी मान गाथाओंको उद्धृत किया है। उन्होंने अकलङ्ककृत तत्त्वार्थगननात्मिका 'तत्त्वार्थ-भाष्य' नामसे उल्लेख किया है और उमक अनेक अवतरण नहीं शब्दों और कहीं कुछ परि-वर्तनक साथ दिये हैं। इनके सिवाय उन्होंने जो २१६ सस्कृत व प्राकृत पद्य ग्रन्था 'उक्त च' कहकर जो कहा कहा सिद्धा पेमा मन्त्राक उद्धृत किये हैं उनमेंमें हमें ६ बुद्धबुद्धकृत प्रवचनमार, पचाम्भिकाय व उसका जयसतकृत टाकाम', ७ तिलोपपण्णत्तिमें, १० अङ्गकृत मूलाचारमें, १ अकलङ्ककृत लघ्वीयस्वर्यामें, २ मलारावनाम, ५ वसुनन्दिश्रावसाचारमें, १ प्रभाचन्द्रकृत शाकटायन-न्यायम, १ दमस्तनकृत नयचक्रम, ३ विसानद्वयन जापत-परीक्षामें मिले हैं। गोम्मटमार जीरकाण्ड, र्मकाण्ड, १ जीरप्ररोवनी टीकामें उसकी ११० गाथाएँ पाई गई हैं जो स्पष्टतः वहापर वहीसे ली गई हैं। वही वगह तिलोपपण्णत्तिका गाथाओंके विषयका उही शब्दोंमें सस्कृत पद्य अथवा गद्यद्वारा उगन किया है व यतिगृपभाचार्यक मतका भी यहां उल्लेख आया है। इनके अतिरिक्त इन गाथाओंमेंसे अनेक इतरापर साहित्यमें भी मिली हैं। समतितर्कका सात गाथाओंका हम उपर उल्लेख कर हा आये हैं। उनके सिवाय हमें ५ गाथाएँ आचारागमें, १ बृहत्कृतपमृत्रमें, ३ दशमेमालिकमृत्रमें, १ स्थनागनीकामें, १ अनुयोग द्वारमें व २ आपश्यक निर्युक्तिमें मिली हैं। उसके अतिरिक्त और विशेष ध्यान करनेसे णिगम्बर और नेतागम्बर साहित्यमें प्रायः सभी गाथाओंके पाये जानेका समागम है।

किंतु मारसेनाचार्यके समुच्च उपरिक्त साहित्यकी विगालताको समझनेके लिये उनका सप्त पुस्तकोंमें समस्त रचना अथात् धरग और जयमलपर कमसे कम एक विहग दृष्टि पाठभेद व मतभेद समुच्च पुष्पदन्त, भूतमलि व गुणधर आचार्यकृत पूरा सूत्र साहित्य प्रस्तुत

१ पृ १५ व गाथा न ५, ६ ७ ८, ९, ६७, ६९

२ पृ १०३ २२६ २३ २३४, २५९

३ गाथा न १ १३, ४६ ७२, ७३ १९८

४ गाथा न २ ३५, ३७, ५५, ५६, ६

५ गाथा न १८ ३१ (पाठभेद) ६५ (पाठभेद) ७०, ७१, १३४, १४७, १४८, १४९, १५०, १५१ १५२ ६ गाथा न ११ ७ गाथा न १५७, १६८ ८ गाथा न १८, १६७, १६८, ३०, ७४,

९ गाथा न २ १ गाथा न १० ११ गाथा न २२

१२ द्वा पृ १, २८ २०, ३२, ३३, आदि १३ देखा पृ ३०२

१४ गाथा न १४, १४, १५, १५१, १५२ (पाठभेद) १५ गाथा न २

१६ गाथा न ३४, ७०, ७१ १७ गाथा न, ८८ १८ गाथा न १४ १९ गाथा न ६८, १००

था। पर इसमें भी यह बात उल्लेखनीय है कि इन सूत्र-ग्रन्थोंके अनेक सस्करण ठोटे पड़े पाठ भेदोंको रखते हुए उनके स मुख विद्यमान थे। उन्होंने अनेक जगह सूत्र-पुस्तकोंके भिन्न भिन्न पाठों व तज्जय मतभेदोंका उल्लेख व यथाशक्ति समाधान किया है।

कहीं कहीं सूत्रोंमें परस्पर विरोध पाया जाता था। ऐसे स्थलोंपर टीकाकारने निर्णय करनेमें अपनी असमर्थता प्रकट की है और स्पष्ट कह दिया है कि इनमें कौन सूत्र है और कौन असूत्र है इसका निर्णय आगममें निपुण आचार्य करें। हम इस विषयमें कुछ नहीं कह सकते, क्योंकि, हमें इसका उपदेश कुछ नहीं मिला। कहीं उन्होंने दोनों विरोधी सूत्रोंका व्याख्यान कर दिया है, यह कह कर कि 'इसका निर्णय तो चतुर्दश पूर्वधारी व केवलज्ञानी ही कर सकते हैं, किंतु वर्तमान कालमें वे हैं नहीं, और अब उनके पासमें सुनकर आये हुए भी कोई नहीं पाये जाते। अतः सूत्रोंकी प्रमाणिकता नष्ट करनेसे डरनेवाले आचार्योंको तो दोनों सूत्रोंका व्याख्यान करना चाहिये'। कहीं कहीं तो सूत्रोंपर उठाई गई शका पर टीकाकारने यद्वातक कह दिया है कि 'इस विषयकी पूछताछ गौतमसे करना चाहिये, हमने तो यहा उनका अभिप्राय कहा है'।

सूत्रविरोधका कहीं कहीं ऐसा कहकर भी उन्होंने समाधान किया है कि 'यह विरोध तो सत्य है किंतु एकांतग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि, वह विरोध सूत्रोंका नहीं है, किंतु इन सूत्रोंके उपसंग्रहकर्ता आचार्य सकल श्रुतके ज्ञाता न होनेसे उनके द्वारा विरोध आ जाना समझ है'। इससे वीरमेन स्वामीका यह मत जाना जाता है कि सूत्रोंमें पाठ-भेदादि परंपरागत

१ वेसु वि सुत्तपोत्थपसु पुनिवेदस्मतर छम्मासा। धवला अ ३४५

वेसु वि सुत्तपोत्थपसु उवलमह, तदा एथ उवपस लद्धूण वत्तव। धवला अ ५९१

वेसु वि सुत्तपोत्थपसु विदियमद्धमरिसदूण पक्खिद अप्पावहुअमावादी। धवला अ १२०६

वेसु वि सुत्तपोत्थपसु एसो पाठा। धवला अ १२४३

२ तदो तेहि सुत्तेहि एवेसि सुत्ताण विरोहो होदि त्ति मणिदे जदि एव उवदेस लद्धूण इद सुत्त इद चासुत्तमिदि आगम णिउणा भणनु, ण च अन्हे एथ वोत्तु समत्था अलद्धोवदेमत्तादी। धवला अ ५६३

३ होउ णाम तुन्हेहि वत्तत्थम सच्च, बहुणसु सुत्तेसु वणत्थदीण उरि णिगोदपदम अणुवलमादी। ×× चोदसपुव्वधरो वेवलणाणी वा, ण च वट्ठमाणाले ते आथ। ण च तेसि पाम सोदूणागदा वि सपहि उवलमति। तदो थप काउण वे वि सुत्ताणि सुत्तासायण मीक्खि जायरिणहि वक्खणिगयत्ताणि। धवला अ ५६७

४ सुत्त वणप्पदिसण्णा विण्ण निदिट्ठा? गोदमो एथ पुच्छेय्वो। अन्हेहि गादमो बादरणिगोदपदिट्ठिदाण वणप्पदिगण णप्पदि त्ति तस्स अमियाओ कहिओ। धवला अ ५६७

५ वयायपाण्डुसुत्तेणद सुत्त विदग्गदि त्ति वुत्त सच्च विदग्गहि त्ति एयत्तग्गहो एथ ण कायव्वा। ×× कथ सुत्ताण विरोहो? ण, एत्थोत्तमधातणमसयल्लमुद-धारयादिरियपरतताण विराह-ममव-दसणादी। धवला अ ८०

आचायाद्वारा भा हो चुके थे। और यह स्वामानिक ही है, क्योंकि, उनके उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि सूत्रोंका अध्ययन कई प्रकारसे चला करता था जिसके अनुसार कोई सूत्राचार्य थे, कोई उच्चारणाचार्य, कोई निक्षेपाचार्य और कोई व्याख्यानाचार्य। इनसे भी ऊपर 'महाशास्त्रोंका' पद ज्ञात होता है। कपायप्राभृतके प्रकाण्ड ज्ञाता आर्यमशु और नागहस्तिका अनेक जगह महाशास्त्रक कहा है। आर्यनन्दिका भी महाशास्त्ररूपसे एक जगह उल्लेख है। सम्भवतः ये स्वयं वारसेनके गुरु थे जिनका उल्लेख धर्मशास्त्रा प्रशस्तिमें भी किया गया है।

धर्मशास्त्रान्ते कई जगह ऐसे प्रसंग भी उदाये हैं जहां सूत्रोंपर इन आचायाना कोई मत उपलब्ध नहीं था। इनका निणय उ होने अपने गुरुके उपदेशके मत पर व परंपरागत उपदेशद्वारा तथा सूत्रोंसे अविद्वद्ध अन्य आचायाके वचनोंद्वारा किया है।

धर्मशास्त्र पत्र १०३६ पर तथा जयप्रकाशके मंगलाचरणमें कहा गया है कि गुणधराचार्य निश्चित कपायप्राभृत आचार्यपरंपरासे आर्यमशु और नागहस्ति आचार्योंको प्राप्त हुआ और उनसे सीखकर यतिवृषभने उनपर वृत्तिवृत्त रचे। गौरीसेन और जिनसेनके सम्मुख, जान पड़ता है, उन दोनों आचायाके अलग अलग व्याख्यान प्रस्तुत थे क्योंकि उ होने अनेक जगह उन दोनोंके

१ सुत्ताश्रयि वक्त्राण-पमिदो उवलमद । तन्हा तगु सुत्ताश्रयि वक्त्राण-पसिद्वण, ध २९४
२ एमा उच्चारणाश्रयि अमियाआ । धवला अ ७६४ एदसिमनियानगराणमुच्चारणाश्रयियो
वणमवलेण परवण वचइस्सामो । जयध अ ८४२

३ णिफखेयाश्रयि परविद गाहाणम थ भणिस्सामा । धवला अ ८६३

४ वक्त्राणाश्रयि परविद वचइस्सामा । धवला अ १२३५

वक्त्राणाश्रयिणममावादा । धवला अ ३४८

५ महावाचयाणमल्लमसुसमणाणमुवदसण

महावाचयाणमल्लमसुसमणाणमुवदसण । धवला अ १८५७

महावाचया अल्लिणदिणा सत्तम्भ वराति । द्विदिसत्तम्भ पयामति । धवला अ १४५८

अजमसु णागइधि महावाचय सुहकमल-विणिमल्लण सम्भारसस । जयध अ ९७३

६ कवमेद णवद ? गुरुवेदसादो । धवला अ ३१२

७ सुत्तामाव सत्त चव सत्ताणि कीरति । ति कध णवदे ? ण, आश्रयि परंपराणमुवदसादो ।

८ बुदा णवद ? अविद्वद्धाश्रयिवयणादो सुत्त समाणादा । धवला अ ५९२

बुदो णवद ? सुत्तविरुद्धाश्रयिवयणादा । धवला अ १२५७ सुत्त णिणा

मनभेदोंका उल्लेख किया है' तथा उन्हें महावाचकके अतिरिक्त 'क्षमाश्रमण' भी कहा है। यतिशुभदृत चूर्णिसूत्रोंकी पुस्तक भी उनके सामने थी और उसके सूत्र-सरया-क्रमका भी बोरसेनने बड़ा ध्यान रखा है^१।

सूत्रों और उनका व्याख्यानमें विवेकके अतिरिक्त एक और विवेकका उल्लेख मिलता है
उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्ति जिम वसलाकारने उत्तर-प्रतिपत्ति और दक्षिण-प्रतिपत्ति कहा है। ये दो भिन्न मान्यताएँ थीं जिनमेंसे टीकाकार स्वयं दक्षिण-प्रतिपत्तिको स्वीकार करते हैं, क्योंकि, यह ऋजु अर्थात् सरल, सुस्पष्ट और आचार्य-परंपरागत है, तथा उत्तर-प्रतिपत्ति अनृजु है और आचार्य-परंपरागत नहीं है। वसलामें इस प्रकारके तीन मत-भेद हमारा दृष्टिआकर्षण हुआ है। प्रथम द्रव्यप्रमाणानुयागद्वारामें उपशमश्रेणीका सरया ३०४ प्रताकर कहा है—

‘ केचि पुबुत्तपमाण पचूण केति । षट् पचूण वसलाण पयाज्जमाण दम्मिणमाइरिय-परंपरागमिदि ज वुत्त होई । पुत्तुत्त-वसलाणमपयाद-ज-माण याउ आइयिपपरा अणागदमिदि णायय ।’

अर्थात् कोई कोई पूर्वोक्त प्रमाणम पाचकी कमी करते हैं। यह पाचकी कमीका व्याख्यान प्रवचन-प्राप्त है, दक्षिण है और आचार्य-परंपरागत है। पूर्वोक्त व्याख्यान प्रवचन-प्राप्त नहीं है, नाम है और आचार्यपरंपरासे आया हुआ भा नहीं है, ऐसा जानना चाहिये।

इसीके आगे क्षपकश्रेणीकी सरया ६०५ प्रताकर कहा गया है—

एसा उत्तर-पडिपत्ती । एय दस अण्णिटे दम्मिण पडिपत्ती हनदि ।

अर्थात् यह (६०५ की सरयासंख्यी) उत्तर प्रतिपत्ति है। इसमेंसे दश निःकाल देने-पर दक्षिण-प्रतिपत्ति हो जाता है।

आगे चलकर द्रव्यप्रमाणानुयागद्वारामें ही सयतोकी सरया ८९९९९९९७ वतलाकर कहा है ‘ एसा दम्मिण-पडिपत्ती ’। इसके अन्तर्गत भी मतभेदादिका निर्गमन करने, फिर

१ कम्महिदि ति अणियोगदार दि मण्णमाणे वे उव्वमेा होंति । जण्णुवक्खसिद्धिदीण पमाणपरुवणा कम्म हिदिपरुवणं ति णागहत्थि खमाममणा मणति । अज्जमरुखमाममणा पुण कम्महिदिपरुवणं चि मणति । एव दादि उव्वदसेहि कम्महिदिपरुवणा कायत्वा । (धवला अ १४४०) एय दुवे उव्वसा महावाचयाणमज्जमखुखवणा पमुव्वमण लोमहत्तिदं आउमसमाण नामा गोद वेदणायाण हिदिसत्त कम्म ठवेदि । महावाचयाण णागहत्थि खवणाण पण्णणे लाग पुरिदे नामा गोद वेदणायाण हिदिसत्त कम्म अतामुहवपमाण हादि । जयध अ १२३९

२ जइवसह्द णिणहत्तमि णव अउव्वमादो । जइवसहत्तविद वारवकादो । जयध अ २४

कहा है 'पञ्चा उत्तर पडिबच्चिं वतइम्मामो' आर तपश्चात् मयना का सग्या ६९९९९९६ वतउर्द है। यहाँ इनकी समार्चनताक विषयम कुउ नहीं कहा।

दक्षिण प्रतिपत्तिक अतर्गत एक ओर मतभेदका भी उल्लेख किया गया है। उउ आचार्यान उल्ल सरणक सब्रम 'चो शका उर्दार्द हे उसका निरसन करके धनडाकार कहते हैं—

‘ज दूसण भणिद तण्ण दूसण, बुद्धिनिट्ठणादरियमुहनिणिग्गयत्तादो।’

अर्थात् ‘जो दूषण कहा गया है वह दूषण नहीं है, क्योंकि यह बुद्धिनिर्हान आचार्योंके मुग्घसे निकली हुई बात है’। समन हे बाग्सेन स्वामान किर्मा समसामयिक आचार्यका शकाको ही दृष्टिमें रखकर यह भर्त्सना का हो।

उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्ति भेदका तासग उल्लेख अतगनुगोहद्वारमें आया है जहा तियच और मनुष्योंके सम्यक्त्व आर सयमादि धारण करनेकी योग्यताके कालका विवेचन करते हुए लिखते हैं—

‘एव ने उअदेसा, त जहा—तिरिक्खेसु वेमासमुहत्तपुअत्तस्सुगि सम्मत सजमामजम च जीरो पटियजदि। मणुसेसु गभादिअट्टमसेसु अतोमुहुत्तभटिण्सु सम्मत सजम सजमासजम च पटियजदि चि। एसा दक्खिणपडिबच्चि। दक्खिण उअजुव आदरियपरपरागदमिदि एयट्ठो। तिरिक्खेसु तिण्णि पक्क तिणि दिवस अतोमुहुत्तस्सुगि सम्मत सजमासजम च पटियजदि। मणुसेसु अट्टमस्साणमुअरि सम्मत सजम सजमासजम च पटियजदि। पसा उत्तरपडिबच्चि, उत्तरमणुअव आदरियपरपराग पागदमिदि एयट्ठो धनडा अ ३३०

इसका तापय यह है कि सम्यक्त्व आर सयमामयमादि धारण करनेकी योग्यता दक्षिण प्रतिपत्तिके अनुसार त्रिचामें (जन्ममें) २ मास और मूर्तपृथक्त्वके पश्चात् होती है, तथा मनुष्योंमें गभस ८ वर्ष और अतमुहूर्तके पश्चात् होता है। किन्तु उत्तर प्रतिपत्तिके अनुसार त्रिचामें वही योग्यता ३ पञ्च, ३ दिन आर अतमुहूर्तके उपरात्त, तथा मनुष्योंमें ८ वर्षके उपरात्त होती है। वरलाकारने दक्षिण प्रतिपत्तिको यहा भी दक्षिण, ऋजु व आचार्य-परपरागत कहा है और उत्तर प्रतिपत्तिको उत्तर, अचूज जोर आचार्य परम्परासे अनागत कहा है।

हमने इन उल्लेखोंका दूसर उल्लेखोंकी अपेक्षा कुउ विस्तारसे परिचय इस कारण दिया है, क्योंकि, यह उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्तिका मतभेद अत्यन्त महत्वपूर्ण और विचारणीय है समन हे इनम धनडाकारका तापय जन समानके भावकी किहा विशेष साम्प्रदायिक मान्यताओंसे ही हा।

धनलामें जिन अ य आचार्यों व रचनाओंके उल्लेख दृष्टिगोचर हुए हैं वे इसप्रकार है ।

तिलोयपण्णत्ति सूत्र त्रिलोकप्रज्ञप्तिको धनलाकारने सूत्र कहा है और उसका यथास्थान खून उपयोग किया है । हम उपर कह आये हैं कि सप्ररूपणामें तिलोयपण्णत्तिके व मुद्रित अशकीं सात गाथाएँ ज्योंकी त्यों पाई जाती हैं और उसने कुछ यतिवृषभाचार्य प्रकरण भाषा परिवर्तन करके ज्योंके त्यों लिखे गये हैं । इस ग्रन्थके कर्ता यतिवृषभाचार्य ऋद्धे जाते हैं जो जयधनलाके अन्तर्गत रूपायप्राभृतपर चूर्णिसूत्र रचनेवाले यतिवृषभसे अभिन्न प्रतीत होते हैं । सप्ररूपणामें भी यतिवृषभका उल्लेख आया है व आगे भी उनके मतका उल्लेख किया गया है ।

मुद्रकुदके पचान्तिनायका 'पचत्थिपाहुड' नामसे उल्लेख आया है और उसकी पचत्थिपाहुड दो गाथाएँ भी उद्धृत की गई हैं । सप्ररूपणामें उनके ग्रन्थोंके जो अन्तरण पाये जाते हैं उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । परिकर्म ग्रन्थके उल्लेख आर उसने साथ मुद्रकुदाचार्यके सन्धका विवेचन भी हम ऊपर कर आये हैं ।

धनलाकारने तत्त्वार्थसूत्रको गृह्यपिच्छाचार्यकृत कहा है और उसके कई मंत्र भी गृह्यपिच्छाचार्यकृत उद्धृत किये हैं । इसमें तत्त्वार्थमंत्रसन्धकी एक श्लोक व श्रमणवेलगोलके कुछ गिलाखेवाके उस कथनकी पुष्टि होनी है जिसमें उमास्तानिको तत्त्वार्थसूत्र 'गृह्यपिच्छोपलालित' कहा है । सप्ररूपणामें भी तत्त्वार्थमंत्रके अनेक उल्लेख आये हैं ।

१ तिरियलोगो वि तिलोयपणत्तिसुत्तादे । धनला अ १४३

चदाइच्चविंशयमाणपरुत्तयतिलोयपणत्तिसुत्तादे । धनला अ १४३

तिलोयपणत्तिसुत्ताणुत्तारि । धनला अ २१०

२ Catalogue of Sans & Prak Mss in C P & Bern, Intro p XV

३ यतिवृषभोपदशान् सवचातिमण्णी इत्यादि । धनला अ ३०२

४ एमो दसणमोत्थीय-उवमामओ वि जइइसहेण मणिद । धनला अ ४२५

५ धनला अ २०९ 'उच च 'पचत्थिपाहुडे' कर्कर चार गाथाएँ उद्धृत की गई हैं जिनमेंसे दो पचास्तिक्काय म क्रमशः १०८, १०७ नंबर पर मिलती हैं । अथ दो 'ण य परिणमइ सय सो' आदि व 'लोया-यासपदेसे' आदि गाथाएँ हमारे समुक्त वर्तमान पचान्तिनायमें दृष्टिगोचर नहीं होती । किन्तु वे दोनों गो जावमें क्रमशः न ५७० और ५८० पर पाई जाता है । धनलाइ उसी पत्रपर आग पुन वही 'सुत्त च पचत्थिपाहुडे' कहकर तान गाथाएँ उद्धृत की हैं जो पचास्तिनायमें क्रमशः २३, २५ आर २६ न पर मिलती हैं । (पचास्तिक्कायसार, आरा, १९००)

६ दया उपर पृ ४६ आदि

७ दमो पृ १५१, २३०, २३६, २३९, २४०

धनञ्जयकृत
अनेकार्थ
नाममाला

इम विषय का एक उपयोगी श्लोक कहकर निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

हतावेय प्रकाशाय व्यग्रच्छेदे विपर्यय ।

प्रादुर्भावे समाप्त च इति शब्द विट्बुद्धिः ॥ धरला अ ३८७

यह श्लोक धनञ्जयकृत अनेकार्थ नाममालाका है और यहाँ यह अपने शुद्धरूपमें इसप्रकार पाया जाता है—

हेतावेय प्रकाशदौ व्यग्रच्छेदे विपर्यये ।

प्रादुर्भावे समाप्तौ च इति शब्द प्रकीर्तित ॥ ३० ॥

इहीं धनञ्जयका बनाया हुआ नाममाला कोप भी है जिसमें उन्होंने अपने द्विमधान शब्दों तथा अलङ्कारों प्रमाण और श्रुत्यपादक लक्षणों अपेक्षित कहा है अर्थात् उनके समान फिर कोई नहीं लिख सका ।

इससे यह तो स्पष्ट था कि उक्त कापकार धनञ्जय, श्रुत्यपाद और अलङ्कारों पश्चात् हुए । किंतु रितने पश्चात् उसका अर्थात् निर्णय नहीं होता था । प्रकाश के उल्लेखसे प्रमाणित होता है कि धनञ्जयका समय धरलाका समाप्तिसे अर्थात् शक ७३८ से पूर्व है ।

धरलामें कुछ ऐमें प्रयोगों के उल्लेख भी पाये जाते हैं जिनके समर्थमें अभीतक कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि वे कहाके और किसके बनाये हुए हैं । इसप्रकारका एक उल्लेख नीरममासका है । यथा, (धरला प २८९) जीरममासाण नि उत्त—

छणचणव विहाण अत्याण जिणसोवइहाण ।

आणाए अहिगमेण य सदइण होइ सम्मत्त ॥

यह गाथा 'उक्त च' रूपमें सध्वरूपणामें भा दो बार आई है और गोमटसार जीरवाणामें भा है ।

एक जगह धरलाकारने छंदसूत्र का उल्लेख किया है । यथा—

ण च दक्षिणधनुसपरेदाण चेगादिचाओ अत्थि छेत्तसुत्तेण सह विरोदादो ।

धरला अ ९०७

एक उल्लेख कर्मप्रवादका भा है । यथा—

‘ सा कम्मपत्रादे सक्थिरेण पक्खिदा ’ (धवला अ १३७१)

जयधवलमें एक स्थानपर दशकरणीसग्रहका उल्लेख आया है । यथा—

शुष्ककुड्यप्रतितसिकतामुष्टिपदनतरममये निर्वर्तते कर्मेर्वापथ बीतरागाणामिति । दस-
करणीसग्रहे पुण पयडिबयसभयमेतमपेक्खिय वेदणीयस्स वीयरायगुणद्वाणेषु वि बधणाकरणमोवट्ट-
णाकरण च दो वि भणिदाणि ति । जयध० अ १०४२

इस अवचरणपरसे इस ग्रंथमें कर्मोंकी बध, उदय, सक्रमण आदि दश अवस्थाओंका वर्णन ह ऐसा प्रतीत होता ह ।

ये योटेसे ऐसे उल्लेख हैं जो धवला और जयधवलापर एक स्थूल दृष्टि डालनेसे प्राप्त हुए हैं । हमें विश्वास है कि इन ग्रंथोंके सूक्ष्म अवलोकनसे जैन धार्मिक और साहित्यिक इतिहासके सम्बन्धमें बहुतसी नई बातें ज्ञात होगी जिनसे अनेक साहित्यिक ग्रंथिया सुलभ सकेंगी ।

१०. पदखंडागमका परिचय

पुण्यदन्त और भूतबलिद्वारा जो ग्रंथ रचा गया उसका नाम क्या था ? स्वयं सूत्रोंमें तो ग्रंथका कोई नाम हमारे देखनेमें नहीं आया, किंतु धवलाकारने ग्रंथकी उत्पत्तिकामें ग्रंथ नाम ग्रंथके मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता, इन छह ज्ञातव्य बातोंका परिचय कराया है । वहा इसे ‘ खडसिद्धान्त ’ कहा है और इसके खडोंकी संख्या छह बतलाई है । इस प्रकार धवलाकारने इस ग्रंथका नाम ‘ पदखंड सिद्धान्त ’ प्रकट किया है । उन्होंने यह भी कहा है कि सिद्धांत और आगम एकार्यनाची हैं । धवलाकारके पश्चात् इन ग्रंथोंकी प्रसिद्धि आगम परमागम व पदखंडागम नामसे ही विशेषत हुई । अपभ्रंश महापुराणके कर्ता पुण्यदन्तने धवला और जयधवलको आगम सिद्धान्त^१, गोम्मतसारके टीकाकारने परमागम^२

१ तदो एय खडसिद्धत पडव भूदबलि पुण्यताहरिया वि कत्तारो उच्चति । (पृ ७१)

इद पुण जीवट्ठाणं खडसिद्धत पडुच्च पुव्वाणुपुव्वीए द्विद छणहं खड्ढाण पदमखड जावट्ठाणमिदि ।

(पृ ७४)

२ आगमी सिद्धतो पयणमिदि एयटो । (पृ २०) आगम सिद्धान्त । (पृ २९)

वृत्तातागम सिद्धान्त ग्रंथा शास्त्रमत परम् ॥ (धनजय-नाममाळा ४)

३ ग उ शुविश्व आयमु सधपापु । सिद्धतु धवल जयधवल नाम ॥ (महापु १, ९, ८)

४ एव विंशतिसरथा गुणस्वानादय ग्रहपणा भगवद्भूतधरशिष्य प्रशिष्यादिगुरुपरमिताया परिपाठ्या अनुक्रमेण मणिता परमागमे पूर्वाचार्य प्रतिपादिता (गो जी टी २१) परमागमे निगोदजीवानां द्रविण्यस्य सुप्रसिद्धत्वात् । (गो जी टी ४४२)

तथा श्रुताग्रन्थके कृता इन्द्रनिदिन पट्पटागम कहा है, और इस ग्रन्थका आगम कहनका बड़ी भाग साधकता भी है। सिद्धान्त और जागम यद्यपि साधारणतः प्रयायसाचा गिन जान है, किंतु निरुक्ति और सूत्रार्थकी दृष्टिमें उनमें भेद है। कोई भा निश्चित या मिश्र गन मिश्रात कहा जा सकता है, किंतु आगम यही मिश्रात कहलाता है जा आनयन्य है और पूर्व परम्पराम आया है। इसप्रकार सभा जागमका मिश्रात कह सकत है किंतु सभी सिद्धांत जागम नहा कहला सकते। मिश्रात सामान्य सज्ञा है जा आगम विशेष।

इस विवेचनके अनुसार प्रस्तुत ग्रंथ पूर्णरूपसे आगम सिद्धान्त ही है। धरमेनाचार्यने पुण्यदत्त और भूतत्रलिङ्गने हा सिद्धांत सिद्धाये जो उन्हें उनमें पूर्वर्ती आचार्योंद्वारा प्राप्त हुए और जिनकी परंपरा महाभारतसमाप्तक पहुँचता है। पुण्यदत्त और भूतत्रलिङ्गने भा उ हा आगम सिद्धांतोंको पुस्तकाकार किया और टीकाकारने भा उनका विवेचन पूर्व मायन्यों और पूर्व आचार्योंके उप दशोंके अनुसार हा किया है जैसा कि उनका टीकामें स्थान स्थानपर प्रकट है। आगमका यह भा विशेषता है कि उसमें हेतुवाद नहीं चलता, क्योंकि, आगम अनुमान आदिनी अपेक्षा नहीं रखता किंतु स्वयं प्रत्यक्षके उपायका प्रमाण माना जाता है।

पुण्यदत्त व भूतत्रलिङ्ग रचना तथा उस पर चारमनकी टीका इसी पूर्व परम्पराना मयादाको लिये हुए है इसीलिये इन्द्रनिदिने उसे आगम कहा है और हमन भी इसी सार्थकताको मान देकर इन्द्रनिदिद्वारा निर्दिष्ट नाम पट्पटागम स्वरूप किया है।

जीवद्वान पट्पटागमोंमें प्रथम खंडका नाम 'जीवद्वान' है। उसके अंतर्गत १ सन्, १ सत्या, ३ क्षेत्र, ४ स्पर्शन, ५ वाक्, ६ अंतर, ७ भाव और ८ अपवहृत्, ये आठ अनुयोगद्वारा, तथा १ प्रवृत्ति

१ पट्पटागमरचनामिषाय पुण्यदत्तपुरा ॥ १३७ ॥ पट्पटागमरचनां प्रविशाय भूतत्रत्याय ॥ १३८ ॥ पट्पटागमपुस्तकमहा मया चिन्तितं वाच्यम् ॥ १४६ ॥ एवं पट्पटागममूला पति प्रकृत्य पुनरनुवा ॥ १८९ ॥ पट्पटागमगतं च पचरस्य पुन ॥ १६८ ॥ इन्द्र श्रुताग्रन्थ

२ शब्द निद्र हते याज्ज आत्तोक्ति समयागमौ (हम २ १५५) पूर्वापरविरुद्धादयपता दाव सन् । पातत्र सवमावतामानयादितिरागम । (चक्रा अ ७१६)

३ 'भूयसामाचार्योपागमुपदशद्वा तदवगत' (१९७) 'किमिलागम तत्र तस्य सत्त्व नात्मिति चत, आगमस्यातर्कगोचरत्वात्' (२६) 'जिष्णा ण जण्णहावाणो' (२२१) 'आश्रित्यपट पराप गिरत्तामागयाण आश्रित्ति पाथस चणविषाण अमुत्तवणविरादादो' (२२२) 'प्रतिपादकार्योपलमात्' (२३१) 'सापौरादवगतो' (२५८) प्रवाहरूपणापान्धपवनस्ती शृदादयोऽस्य यागयातार एव न वतार' (३४९)

४ 'किमिलागम तत्र तस्य सत्त्व नात्मिति चत, आगमस्यातर्कगोचरत्वात्' (२६)

५ गणकवत् च णाण दोणि वि सपिणानि हाति बाहाने । गट्ठाण तु पराक्ख पच्चवरा वत्तल णाण ॥

समुत्तीर्तना, २ स्थानसमुत्तीर्तना, ३ ५ तीन महादण्डक, ६ जघन्य स्थिति, ७ उत्कृष्ट स्थिति, ८ सम्यक्प्रोत्पत्ति और ९ गति-आगति ये नौ चूलिकाएँ हैं । ८४ खडका परिमाण घनलाकारने अठारह हजार पद कहा है (पृ ६०) । प्रोक्त आठ अनुयोगद्वारों और नौ चूलिकाओंमें गुणस्थानों और मार्गणाओंका आश्रय लेकर यहा विम्भारसे वर्णन किया गया है ।

दूसरा गट सुदानध (क्षुल्लकवध) है । इसके ग्यारह अविकार हैं, १ स्वामित्व, २ सुदानध, ३ काल, ४ अन्तर, ५ भगविचय, ५ द्रव्यप्रमाणानुगम, ६ नेत्रानुगम, ७ स्पर्श-
नानुगम, ८ नाना-जाय-काल, ९, नाना-जाय अन्तर, १० भागाभागांनुगम और ११ जलपद्मद्वानुगम । इस गटमें इन ग्यारह प्रमाणआद्वारा कर्मवन्ध करनेवाले जायका कर्मवन्धको भगैमहित वर्णन किया गया है ।

यह गट ४ प्रतिके ४७५ पत्रमें प्रारम्भ होकर ५७६ पत्रपर समाप्त हुआ है ।

तीसरे गटका नाम त्रयस्त्रयामित्वविचय है । कितनी प्रकृतियाँका किस जीवके
३ त्रयस्त्रयामित्व-
विचय कहा तक प्रय होता है, किमके नहीं होता है, कितनी प्रकृतियोंकी किस गुणस्थानमें व्युत्पत्ति होती है, स्रोत्य त्रयस्त्रय प्रकृतियाँ कितनी हैं और पराद्य त्रयस्त्रय कितनी हैं, इत्यादि कर्मवन्धसम्बन्धी विषयोंका बंधन जायका अपेक्षासे इस खंडमें वर्णन है ।

यह गट ५ प्रतिके ५७६ वे पत्रमें प्रारम्भ होकर ६६७ व पत्र पर समाप्त हुआ है ।

चौथे खंडका नाम वेदना है । इसके आदिमें पुन मगलाचरण किया गया है । इसी
४ वेदना गटके अन्तर्गत कृति और वेदना अनुयोगद्वारा है । किंतु वेदनाके कथनकी प्रधानता और अधिक विम्भारके कारण इस गटका नाम वेदना रक्खा गया है ।

कृतिमें आन्तरिकादि पांच शरीरोंकी सघातन और परिशातनरूप कृतिका तथा भयके प्रथम और अप्रथम समयमें स्थित जीवोंके कृति, नोकृति और अवक्तव्यरूप सग्याओंका वर्णन है । १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ गणना, ५ ग्रथ, ६ करण और ७ भाव, ये कृतिके सात प्रकार हैं, जिनमेंसे प्रकृतमें गणनाकृति मुख्य बतलाई गई है ।

वेदनामें १ निक्षेप, २ नय, ३ नाम, ४ द्रव्य, ५ क्षेत्र, ६ काल, ७ भाव, ८ प्रत्यय,

१ यदि पाम कम्म पयस्सि अणियोगहारणि वि एत्थ परुविदायि, तेमि खडगधत्तणमराउण तिण्णि चैव खणणि वि किमिद उच्चद ? न, तेमि पहाणत्ताभावादे । त पि कुदो णवद ? सखेवेण परुवणादे ।

९ स्वामित्व, १० वेदना, ११ गति, १२ अन्तर, १३ सन्निकष, १४ परिमाण, १५ भागा-
भागानुगम और १६ अन्त्यगद अनुगम, इन सोलह अधिकारोंके द्वारा वेदनाका वर्णन है ।

इस खडका परिमाण सोलह हजार पद बनलाया गया है । यह समस्त गड अ प्रतिके
६६७ वें पत्रसे प्रारम्भ होकर ११०६ वें पत्रपर समाप्त हुआ है, जहां कहा गया है—

एव वेयण-अप्पात्रहुमाणिश्रोमदारे समत्त वेयणागट समत्ता (खडो ममथो) ।

पाचवें खडका नाम वर्गणा है । इसा खन्में वर्गीयके अन्तगत वर्गणा अधिकारके
५ वर्गणा अनिरिक्त म्पश, कर्म, प्रकृति और वर्णनका पहला भेद है, इन अनुयोगद्वारोंका भी
अन्तर्भाव कर लिया गया है ।

स्पर्शमें निवेप, नय आदि साठह अधिकारोंद्वारा तेरह प्रकारके स्पर्शाका वर्णन करके
प्रकृतमें कम स्पर्शसे प्रयोजन बनलाया है ।

कर्ममें पुरोक्त सोलह अधिकारोंद्वारा १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ प्रयोग,
५ समग्रान ६ अध, ७ ईर्ष्यापथ, ८ तप ९ क्रिया और १० भाव, इन दश प्रकारके कर्माका
वर्णन है ।

प्रकृतिमें शील और स्वभावको प्रकृतिके पर्यायनाची बताकर उसके नाम, स्थापना,
द्रव्य और भाव, इन चार भेदोंमेंसे कम द्रव्य प्रकृतिका पुरोक्त १६ अधिकारोंद्वारा विस्तारसे वर्णन
किया गया है ।

इस खडका प्रधान अधिकार वर्गीय है, जिसमें २३ प्रकारकी वर्णणाओंका वर्णन
और उनमेंसे कर्मवचके योग्य वर्णणाओंका विस्तारसे कथन किया है ।

यह खड अ प्रतिके ११०६ वें पत्रसे प्रारम्भ होकर १३३२ वें पत्रपर समाप्त हुआ
है और वहां कहा है—

एव विस्सोत्तचय-भरुत्तणाए समत्ताण माहिरिय वग्गणा समत्ता होदि ।

इन्द्रनिन्दने श्रुतान्तराम कहा है कि भूतबलिने पाच खडोंके पुष्पदन्त निरचित सूत्रों-
६ महावध सहित छह हजार सूत्र रचनेके पश्चात् महावध नामके छठवें खडकी तीस
हजार श्लोक प्रमाण रचना की ।

१ तन तत परिपत्तिा भूतबलि सत्परुषणा शुत्वा । पद्वदाममरचनामियाय पुष्पदन्तयुता ॥ १३७ ॥
विज्ञायाप्यापु-मानन्यमता मानवात् प्रतप्य तत । द्रव्यपरुषणायाधिकार यद्वपय्यकस्यावत् ॥ १३८ ॥
मूत्राणि पदसहस्रप्रणाचय पूर्यमृतादिभि । अशित्य महावधवाह्य तत पष्ठक खडम् ॥ १३९ ॥
। पद्यमप्यमृतम । पद्यमप्यमृतम महावा ।

इन्द्र, श्रुतान्तर

ग्रन्थमें जहां वर्णणाद्य समाप्त हुआ है वहां सूचना की गई है कि—

‘ ज त वधविहाण त चउच्चिह, पयडिअधो विदिअधो अणुभागअधो पदेअधो चेदि । एदेसिं चदुण्ह वगण विहाण भूदवलि भट्टारण महाअधे सणअधेण लिहिदि ति अग्गेहि एत्थ ण लिहिदि । तदो सयले महाअधे एत्थ पटविदे वधविहाण समअदि । (धरणा क १२५९-१२६०)

अर्थात् वधविहाण चार प्रकारका है, प्रकृतिअध, स्थितिअध, अनुभागअध और प्रदेशवध । इन चारों प्रकारके वधोका विधान भूतवलि भट्टारकने महाअधमें सविस्तररूपसे लिखा है, इस कारण हमने (गारसेनाचार्यने) उसे यहां नहीं लिखा । इसप्रकारमे समस्त महाअधके यहां प्ररूपण हो जानेपर वधविहाण समाप्त होना है ।

ऐसा ही एक उल्लेख जयप्रबलमें भी पाया जाता है जहां कहा गया है कि प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश वधका वर्णन विस्तारसे महाअधमें प्ररूपित है और उसे वहासे देख लेना चाहिये, क्योंकि, जो बात प्रकाशित हो चुकी है उसे पुन प्रकाशित करनेमें कोई फल नहीं । यथा—

सो पुण पयडिद्विदिअणुभागपदेअधो वधमो परुविदो । (चूणिमूव) । सो उण गाहाए पुअद्धमि णिलणो पयडि द्विदि-अणुभाग-पदेअधे वधो नुहसो गयतरेसु पयविदो ति तत्थेअ विअो दट्टअवो, ण एत्थ पुणो पयविअदे, पयासियपयासणे पयविसेसाणुअभादो । तदो महाअधा— अणुसणेअय पयडि-द्विदि-अणुभाग-पदेअधेसु विहामियसमवेसु तदो अणो समवो हो । जयअ ५४८

इससे इन्द्रनन्दिके कथनका पुष्टि होती है कि ठट्ठा गट स्वयं भूतवलि आचार्यद्वारा रचित सविस्तर पुस्तकाखण्ड है ।

किंतु इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारम आगे चलकर कहा है कि गारसेनाचार्यने एलाचार्यसे सत्कर्म-पाठुड सिद्धान्त सीपनेके अनन्तर निअधनादि अठाह अठ्ठाराद्वाग सत्कर्म नामक उठो गटका सभेपसे विधान किया और दसप्रकार उठा खटोकी गहत्तर हजार प्रथममाण गटका टाका रची गई । (देअ ऊपर पृ ३८)

धरणामें वर्णणाद्यका मनाप्ति तथा उपर्युक्त भूतवलिबृत्त महाअधकी सूचनाके पश्चात् निअधन, प्रअध, उपअध, उदअध, माअध, सअध, लेअध, लेअधकर्म, लेअधपरिणाम, सानामान, दारिअध, मअधगणाय, पुअधगम, निअध अनिअध निअधचिअध-अनिअधचिअध, कर्मस्थिति, पश्चिमम्कअध आर अणुअध, इन अठ्ठ अणुयोगद्वागका कथन किया गया है और इन समस्त भागको चूलिका कहा है । यथा—

एतो उवगिमअयो चूलिया णाम ।

इन्द्रनदिके उपयुक्त क्रमानुसार यहा चरित्रका सक्षपसे उटती गड टहरता है, और इसका नाम सत्कर्म प्रतीत होता है, तथा इसके सहित धरती पृथ्वीगम ७२ हजार श्लोक प्रमाण सिद्ध होता है। विबुध श्रीवर्क मनानुसार आरम्भकृत ७२ हजार प्रमाण समस्त धरती टीकाका हा नाम सत्कर्म है। यथा—

अत्रा तरे एवाचायभारकपाथ मिद्वान्तद्वय वारमननामा मुनि पटिनाऽपराण्यपि अपादशा
धिक्काराणि प्राप्य पच खडे पृथ्वी सप्त य सस्वतत्राहृतभाषया मत्कर्मनामद्वारा द्वापमतिमह-
नप्रमितां धरतलनामाकिता लिखाप्य विनितिसहस्रकर्मपाश्र्वा विनाय शोभेनो मुनि रत्नं
यास्यति । (विबुध आर श्रुतावतार मा प्र मा २१, पृ ३१८)

दुर्भाग्यत महाप्रभ (महाप्रभ) हमें उपदेश नहीं है, हम कारण महाप्रभ और सत्कर्म नामोंका इस उलझनको सुझाना कष्टिन प्रतीत होता है। किंतु मृदङ्गिमें सुरंगित महाप्रभना जो थोडासा परिचय उपलब्ध है उससे ज्ञात होता है कि यह प्रभ भी मत्कर्म नामसे है और उसपर एक पचिसाक्ष्य विवरण है जिसके अन्तिमें ही कहा गया है—

‘ जो ठामि मत्कर्ममें पचिसाक्ष्येण विवरण सुमहत्तम । चात्रासमणियोगारोमेसु तथ
कस्मिन्नेदशा सि जाणि अणियोगारणि वेदणागड्ढि पुणो वास (कर्म-पण्डि-वग्गणाणि)
चत्तारे अणियोगद्वारेसु तथ वग्गणिवग्गणियोगोहि सह वग्गणागड्ढि, पुणो वग्ग
विधाणणामणियोगो सुहावयग्गि सत्पच्येण पक्खिदाणि । ते वि तस्मग्गभारतादो अत्र-निसम
पट्ठणमत्ते योरुद्वयेण (?) पचिसाक्ष्येण भणिस्सामा । (आरवाणा मि भ रिपाट, १९३५)

इसका भासाय यह है कि महाकर्मप्रकृति पाण्डुके आराम अनुयोगद्वारोमेमे कृति और वेदनाका वेदना खडमें, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और मनके वध और पचनीयका वर्णना खडमें और वधविधान नामक अनुयोगद्वारका गुणाग्रमें विस्तारमे वर्णन किया जा चुका है। इनसे शेष जगत्तह अनुयोगद्वार सप्त मत्कर्ममें प्रकृति किये गये हैं। तो भी उनके अतिगमर होनेसे उसके विषय पदोंका अब सक्षपम पचिसाक्ष्यसे कहा कहा जाता है।

इसमे जान पडा कि महाधरतका मृत्प्रभ सत्कर्म (सत्कर्म) नामका है और उसमें महाप्रभप्रकृतिपाण्डुके चौबीस अनुयोगद्वारोमेमे वेदना और वग्गणागड्ढमें वर्णित प्रथम उलझो छोटकर शेष निश्चिनादि अठारह अनुयोगद्वारोमा प्रमाण है।

१ यहा पाठम कुछ पुष्टि जान पडता है, यथाहि, धरतल अनुसार गुणाग्रम वधदना वधन है और वधविधान महाधरतका विषय है।

महाधरल या सत्कर्मकी उक्त पचिका कनकी आर किसकी हे ? समस्त यह वहां पचिका है जिसको इन्द्रादिने सम तमदसे भी पूर्ण तुम्बदराचार्यद्वारा सात हजार श्लोक प्रमाण विरचिन कहा है । [देखो ऊपर पृ ४०]

किंतु जयग्रलामें एक स्थानपर स्पष्ट कहा गया है कि सत्कर्म महाधिकारमें कृति, वेदनादि चौबीस अनुयोगद्वारा प्रतिपन्न है और उनमें उदय नामक अर्थाधिकार प्रकृति सहित स्थिति, अनुभाग आर प्रेयोंके उत्कृष्ट, अनुकृष्ट, जय य न अजय य उत्पन्नके प्ररूपणमें व्यापार करता है । यथा—

संतक्रममहाहियारे रुदि-वेदनादि-चउरीममणियोगद्वारेसु पडिउद्वेसु उदओ गाम
अथाहियारे टिदि-अणुभाग प-साण पयडिमर्मणयाणमुनकस्साणुमकस्स-जहण्णाजहण्णुयपग्गणे य
पारो । जयय अ ५१२

इससे जाना जाता है कि कृति, वेदनादि चौबीस अनुयोगद्वारोंका ही समष्टिरूपसे सत्कर्म महाधिकार नाम है और चाकि ये चौबीस अधिकार तीसरे अर्थात् ब्रह्मात्मविचयके पश्चात् क्रमसे वर्णन किये गये हैं, अतः उस समस्त विभाग अर्थात् अन्तिम तीन स्वर्गोंका नाम संतक्रम या सत्कर्मपाहुड महाधिकार है ।

किंतु, जैसा आगे चलकर ज्ञात होगा, वही चौबीस अनुयोगद्वारोंसे जीवद्वानके थोड़ेसे भागको छोड़कर शेष समस्त पट्खडागमकी उत्पत्ति हुई है । अतः जयधरलके उल्लेखपरसे इस समस्त ग्रन्थका नाम भी सत्कर्म महाधिकार सिद्ध होता है । इस अनुमानकी पुष्टि प्रस्तुत ग्रन्थके दो उल्लेखोंसे अतिरिक्त हो जाती है । पृ २१७ पर कपायपाहुड और सत्कर्मपाहुडके उपदेशमें मनभेदका उल्लेख किया गया है । यथा—

‘ एमो मतकम्म-पाहुड-उत्तसो । कपायपाहुड-उत्तसो पुण ’

आगे चलकर पृष्ठ २२१ पर शका की गई कि इनमेंसे एक वचन सूत्र और दूसरा असूत्र होना चाहिये और यह सम्यक् भी है, क्योंकि, ये जिनेन्द्र वचन नहीं हैं किंतु आचार्योंके वचन हैं । इसका समाधान किया गया है कि नहीं, सत्कर्म और कपायपाहुड दोनों ही सूत्र हैं, क्योंकि उनमें तीर्थंकरद्वारा कथित, गणयद्वारा रचित तथा आचार्यपरंपरासे आगत अर्थका ही ग्रन्थन किया गया है । यथा—

‘ आहियिकाहियाण संतक्रम-कपाय-पाहुडाण कथ सुत्तत्तणमिदि चे ण ’ [पृ. २२१]

यहां स्पष्टतः कपाय पाहुड के साथ सत्कर्मपाहुडसे प्रस्तुत समस्त पट्खडागमसे ही

प्रयोजन हा संकृता है और यह ठान भा ह, क्योंकि, पूरा की रचनामें उक्त चारोंम अनुयोगद्राओंका नाम महाकर्मप्रकृतिपाट्ट है । उसीका धरतेन गुहने पुष्पदत्त भतवटि द्वारा उद्धार कराया है, ऐसा कि जीवदृष्टि के अंत व सुधारनके आदिषी एक गायामे प्रकट होना है—

जयऽ वरमेणणाहो जेण महाकम्मपयटिपाट्टमेलो ।

बुद्धिमिरेणुद्वरिओ समविथो पुष्पदत्तस ॥ (धाउ अ ४७५)

महाकर्मप्रकृति और संकर्म स्थाप एक ही अर्थकी धोतक हैं । अत सिद्ध होता है कि इस समस्त पट्टखंडागमरा नाम संकर्मप्राभृत है । और चूंकि इसका चतुर्भाग धनरा टीकामें प्रविष्ट है, अत ममस्त यगलाको भा संकर्मप्राभृत कहना अनुचित नहीं । उसीप्रकार महापय या निबधनादि अठारह अत्रिकार भी इसीके एक गट्ट हानेसे संकर्म बहे जा सकी है । और तिसप्रकार गड विभागका दृष्टिसे कृतिका बेचना छटमें, और स्वर्ग, कम, प्रकृति तथा यमके प्रथम भद्र बधना यगलापट्टमें अंतर्भाव कर दिया गया है, उसीप्रकार निम्ननादि अठारह अत्रिकारोंका महापय नामक छटमें अंतर्भाव अनुमान किया जा सकता है तिसमे महाधनरातगत उक्त पत्रिकाके कथनकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि, संकर्मका एक विभाग होनेस यह भी संकर्म कहा जा सकता है ।

संकर्मप्राप्त व पट्टखंडागम तथा उसका टाका धनराका इस रचनाकी देखनस ज्ञात होता है कि उसके मुख्यत दो विभाग हैं । प्रथम विभागके अंतगत जावदृष्टि, गुणरा व यम-स्वाभिसिचिच है । इनका मगलाचरण, धुतास्ता आदि एक हा गार जावदृष्टि के आदिमें किया गया है और उन मनका नियम भी जाव या यमका मुख्यतासे हैं । जीवदृष्टिगम गुणगान और मार्गणाओंकी अपेक्षा सत, सत्या आदि गपम जावतयका विचार किया गया है । सुधारधम सामायसी अपक्षा यम, ओर यधस्वामित्वविचयम विनोपकी अपेक्षा यमका विवरण है ।

दूसरे विभागक आग्नि पुन मगलाचरण व धुतास्ता दिया गया है, और उसमें यगर्थन वृत्ति, बदना आदि चारोंम अत्रिकारका यमन वगन किया गया है और इस समस्त विभागम प्रधानतामे कर्मोंकी समस्त व्याओंका विवरण होनेस उसकी विनोय सदा संकर्मप्राभृत है । इन चारोंसामस द्वितीय अत्रिकार वेदनाका विस्तारसे वर्णन मिले जानेके कारण उसे प्रधानता प्राप्त हो गई और उसके नामसे चाय गट्ट गटा हा गया । यमक तासे भेद यमनीयम वर्गणाओंका विस्तारमे वर्णन आया और उसका महत्वके कारण वर्गणा नामका पाचवां गट्ट हो गया । इसी बधनके चौथे भेद वर्गविगानके गूढ विस्तारसे वर्णन मिले जानेके कारण उसका महापय नामक छटवां गट्ट बन गया और शेष अठारह अत्रिकार उहाँके आनुयायकी वस्तु रह गये ।

ब्रह्माकी रचनाके पश्चात् उसके मन्त्रमे ऋषे पारगामी विद्वान् नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रमनीने इन दो ही विभागोंको यानमे ग्वकर जीमकाण्ट और कर्मकाण्टकी रचना की, ऐसा प्रतीत होना है । तथा उसके ठहो खडोंका रयाल करके उन्होंने गर्भके साथ कहा है कि ' जिसप्रकार एक चक्रमनी अपने चक्रके द्वारा छह छट पृथिवीको निर्मितरूपसे अपने यशमें कर लेता है, उसीप्रकार अपने मन्त्रिणी चक्रद्वारा मैंने छह छट सिद्धांतका सम्यक् प्रकारसे साधन कर लिया '—

जह चक्रेण य चक्रा छम्पुड साहिय अग्निधेण ।

तह मइचक्रेण मया छम्पुड साहिय मम्म ॥ ३०७ ॥ गो क

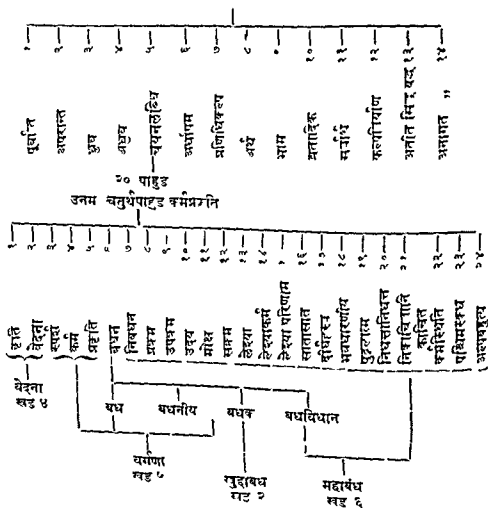
इसस आचार्य नेमिचन्द्रको सिद्धान्तचक्रमतीका पद मिल गया और तभीसे उक्त पूरे सिद्धांतके ज्ञाताको इस पदनीसे विभूषित करनेकी प्रथा चल पड़ी । जो इसके केवल प्रथम तीन खडोंमें पारगत होते थे, उन्हें ही जान पड़ता है, त्रैविध्यदेवका पद दिया जाता था । अथर्ववेदगोत्रके शिष्टलेखोंमें अनेक मुनियोंके नाम इन पदत्रियोंसे अलङ्कृत पाये जाते हैं । इन उपाधियोंने ग्रीसेनसे पूर्वकी सूत्राचार्य, उच्चारणाचार्य, व्याख्यानाचार्य, निक्षेपाचार्य व महाज्ञाचक्रकी पदत्रियोंका सर्वथा स्थान ले लिया । किंतु थोड़े ही कालमें गोम्मतसारने इन सिद्धांतोंका भी स्थान ले लिया और उनका पठन-प्याठन सर्वथा रुक गया । आज कई शताब्दियोंके पश्चात् इनके सुप्रचारका पुन सुअमर मिल रहा है ।

दिग्गजर सम्प्रदायकी मान्यतानुसार पट्खडागम और कपायब्राह्मण ही ऐसे ग्रंथ हैं

पट्खडागमका जिनका सीधा सम्बन्ध महावीरस्वामीकी द्वादशांग वागीसे माना जाता है । जैव
द्वादशांगमे सब श्रुतज्ञान इसमें पूर्व ही क्रमशः छुप्त व छिन्न भिन्न होगया । द्वादशांग श्रुतका
मन्त्रग्र प्रस्तुत ग्रंथमें विस्तारसे परिचय कराया गया है (पृ ९९ से) । इनमेंसे
बारहवें अंगको छोटकर शेष सत्र ही नामोंके अंग-ग्रंथ ज्ञेताम्बर सम्प्रदायमें
अन भी पाये जाते हैं । इन ग्रंथोंकी परम्परा क्या है और उनका विषय विस्तारादि दिग्गजर
मान्यताके कहातक अनुकूल प्रतिकूल है इसका विवेचन आगेके किसी खडमें किया जायगा,
यहां केवल यह बात ध्यान देने योग्य है कि जो ग्यारह अंग ज्ञेताम्बर साहित्यमें हैं वे दिग्गजर
साहित्यमें नहीं हैं और जिस बारहवें अंगका ज्ञेताम्बर साहित्यमें सर्वथा अभाव है वही दृष्टिवाद
नामक बारहवा अंग प्रस्तुत सिद्धान्त ग्रंथोंका उद्गमस्थान है ।

बारहवें दृष्टिवादके अन्तर्गत परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्णगत और चूड़िका ये पांच
प्रभेद हैं । इनमेंसे पूर्णगतके चाटह भेदोंमेंसे द्वितीय आध्यायणीय पूर्वसे ही जीमद्वानका बहुमांग
आर शेष पांच खड संपूर्ण निकले हैं जिनका क्रमभेद नीचेके त्रयश्लोकेसे स्पष्ट हो जायगा ।

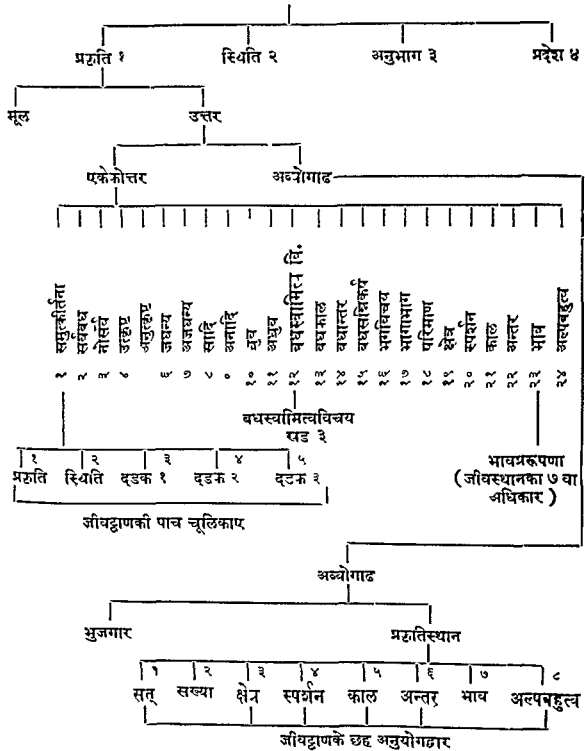
१. वाग्व अग ऋषिनादेके चतुर्थ भेद पर्यगतरा द्वितीय भेद आप्रायणीय पूर्व.



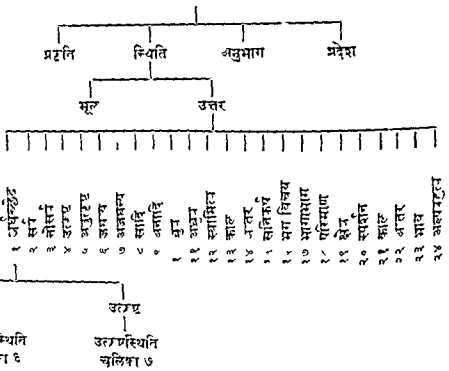
इस वंशवृक्षसे स्पष्ट है कि आप्रायणीय पूर्वके चयनलक्षि अधिकारके चतुर्थ भेद कम प्रकृति पाहुड के बीनास अनुयोगद्वारासे ही चार खंड निष्पन्न हुए हैं। इन्हींके वर्णन अनुयोग द्वारा के एकभेद वर्णनवानसे जीवद्वारा का बहुभाग और तासरा खंड वर्णनवानविषय किस प्रकार निकले यह आगेके वंश वृक्षसे स्पष्ट हो जायगा।

प्रकरणके ११ अनुयोगद्वारोंमें पाचवा द्रव्यप्रमाणानुगम है । वही जीवद्वानकी सख्या प्ररूपणाका उद्गमस्थान है ।

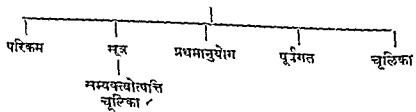
२ बंधविधान



३ ग्रन्थिमान



४ दृष्टिवाद (१२ भाग)



५ व्याख्याप्रज्ञप्ति (पाचवा भाग)



एन वश वृत्तास पदवृत्तासका द्वादशांगमुत्तम मन्त्र स्पष्ट हो जाता है जोर साथ ही साथ उस द्वादशांग वाणीसे साहित्यके विस्तारका भी कुछ अनुमान किया जा सकता है।

११. सत्प्ररूपणाका विषय

प्रस्तुत ग्रंथमें ही जीवदृष्टान्तका उद्यानिकामें कहा गया है कि वरमेन गुरुमे सिद्धान्त साग्यकार पुष्पदन्ताचार्य वनवास देशको गये और वहा उन्होंने 'विंशति' मंत्रोंकी रचना करके और उन्हे तिनपाण्डितको पत्राकर भनत्रलि आचार्य, जो द्रमिल देशको चल गये थे, के पास भेजा । भूतत्रलिनै उन सूत्रोंको देखा और तपश्चात् द्रव्यप्रमाणसे प्रारम्भ करके वेप समस्त पद्व्युदागमकी मन्त्ररचना की । इममें स्पष्ट है कि सत्प्ररूपणाके कुछ मन्त्र पुष्पदन्ताचार्यके बनाये हुए हैं । किंतु उन मंत्रोंकी सरया विंशति जयात् नाम नहीं परंतु एक सो सतत्तर ह, तत्र प्रश्न उपस्थित होता है कि पुष्पदन्तके बनाये हुए तीस मन्त्र कहनेसे ध्वन्याकारका तापर्य क्या है ? ध्वन्याकारने सत्प्ररूपणाके मंत्रोंका विंशति समाप्त होनेके अनन्तर जो जोधालाप प्रकरण लिखा है वह तीस प्ररूपणाआका यानम रचकर हा लिखा गया है । और इस सिद्धान्तका जो सार नेभिचद्र मि च न गोम्मटसार जीवकाण्डमें मगूटीत किया है वह भी उन तीस प्ररूपणाओंके अनुसार ही है । वे तीस प्ररूपणा गोम्मटसारके ग्रन्थमें इसप्रकार हैं—

गुणजीवा' पञ्चनी पाणा' सणा' य मग्गर्णोओ य ।

उजजागा' वि य कमो नाम तु पन्त्रणा भणिया ॥ २ ॥

अथात् गुणस्थान, जानममाम, पर्याप्ति, प्राण, सना, चोदह मार्गणा आर उपयोग ये तीस प्ररूपणा हैं ।

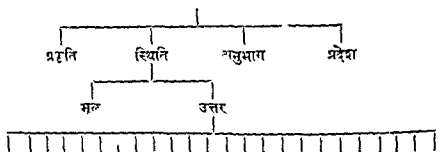
अनएन विंशति सूत्रमें इही तीस प्ररूपणाओंका तापर्य ज्ञान होता है । इन तीसों प्ररूपणाओंका विषय यहा चोदह गुणस्थानों और चोदह मार्गणाओंके भीतर आजाता है ।

राग, द्वेष व मि यात्त भावोंको मोह कहते हैं, और मन, रचन व कायके निमित्तसे आत्माके प्रवेशोंके चचल होनेको योग कहते हैं, और इही मोह और योगके निमित्तसे दर्शन ज्ञान और चारित्ररूप आत्मगुणों की क्रमविकासरूप अवस्थाओंको गुणस्थान कहते हैं ।

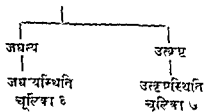
ऐसे गुणस्थान चोदह हैं—१ मिथ्यात्व, २ सामादन, ३ मिश्र, ४ अनिस्तसग्यदृष्टि, ५ नेत्रविरत, ६ प्रमत्तविरत, ७ अप्रमत्तविरत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० मृदमसाम्प-
रय, ११ उपशान्तमोह, १२ श्थीणमोह, १३ सयोगकेरला जार १४ जयोगकेरला ।

१ मिथ्यात्व अवस्थामें जीव अज्ञानके वशीभूत होता है और इसका कारण दर्शन मोहनाय कर्मका उदय है । सामादन और मिश्र मिथ्यात्व और मय्यदृष्टि के राचनी अवस्थाएँ हैं । चाये

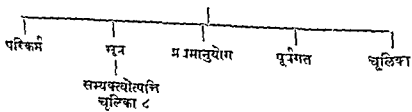
३ वसतिमान



- १ अर्थवृत्ते
- २ सर्व
- ३ नोसर्व
- ४ अत्रपु
- ५ अनुवृत्त
- ६ जघन्य
- ७ अत्रय
- ८ सादि
- ९ अनादि
- १० ध्रुव
- ११ अत्रय
- १२ स्वाभित्य
- १३ मल
- १४ उत्तर
- १५ सानिर्गम
- १६ भग विचय
- १७ भगमाग
- १८ परिमाण
- १९ क्षेत्र
- २० स्पर्शन
- २१ काल
- २२ अंतर
- २३ भाव
- २४ अतपमहत्तम



४ दृष्टिवाद (१२ वा जग)



५ न्याय्याप्रज्ञप्ति (पाचवा जग)



इन पञ्च वृत्तसु पञ्चदशगमना द्वादशागश्रुतसु सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है और साथ ही साथ उस द्वादशाग वाग्वर्गसु साहित्यिके निस्तारका भी कुछ अनुमान लिया जा सकता है।

११. सत्प्ररूपणाका विषय

प्रस्तुत ग्रंथमें ही जाग्रदृणकी उन्नतिकामे कहा गया है कि धर्मेन गुरुसे सिद्धान्त साधकर पुण्यदन्ताचार्य उनकास देशको गये और वहा उन्होंने 'विंशति' सूत्रोंकी रचना करके जा उह चिनपाहितको पत्राकर भूतत्रि आचार्य, जा द्रमिल देशको चले गये थे, क पास भेजा । भूतत्रिने उन सूत्रोंको देखा और तत्पश्चात् द्रव्यप्रमाणसे प्रारम्भ करके शेष समस्त पद्व्युत्पत्ति की मन्त्रचना की । इससे स्पष्ट है कि सत्प्ररूपणाके कुछ सूत्र पुण्यदन्ताचार्यके बनाये हुए हैं । किंतु उन सूत्रोंकी सख्या विंशति अर्थात् बीस नहीं परन्तु एक सा सत्तत्तर है, तत्र प्रथम उपस्थित होता है कि पुण्यदन्तके बनाये हुए बीस सूत्र कहनेसे धरलाकारका तात्पर्य क्या है ? धरलाकारने सत्प्ररूपणाके सूत्राका विंशति समाप्त होनेके अनन्तर जो ओवालाप प्रकरण किया है वह बीस प्ररूपणाओंका ग्रानमे रूपकर ही लिखा गया है । और इस सिद्धान्तका जो मार नेमिचन्द्र सि च ने गोम्मतसार जीवकाण्डम समूहीन किया है वह भी उन बीस प्ररूपणाओंके अनुसार ही है । ये बीस प्ररूपणाएँ गोम्मतसारके शब्दोंमें इसप्रकार हैं—

गुणैर्जीवा' पञ्चती' पाणा मृणा' य मगगणो'जो य ।

उत्तओगा' वि य क्रममे बीस तु प्ररूपणा भणिया ॥ २ ॥

अर्थात् गुणस्थान, जाग्रदमाम, पर्याप्ति, प्राण, सात्ता, चादह मार्गणा और उपपन्न ये बीस प्ररूपणाएँ हैं ।

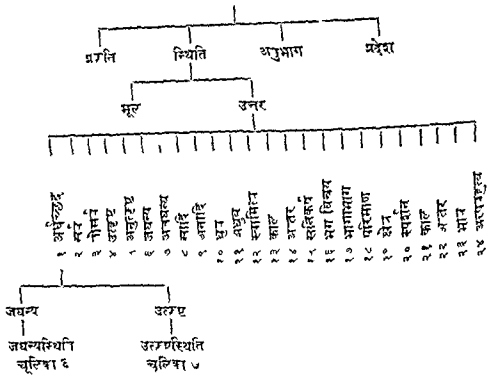
अतएव विंशति सूत्रमें इहाँ बीस प्ररूपणाओंका तात्पर्य जान होता है । इन बीसों प्ररूपणाओंका विषय यहा चौदह गुणस्थानों और चादह मार्गणाओंके भीतर आता है ।

राग, द्वेष व मित्रात्वं भावोंको मोह कहते हैं, और मन, उचन व कायके निमित्तसे आमाके प्रवेशोंके चचल होनेको योग कहते हैं, और इहाँ मोह आर योगके निमित्तसे दर्शन पात्र और चारित्ररूप आसगुणों की क्रमविकासरूप अवस्थाओंका गुणस्थान कहते हैं ।

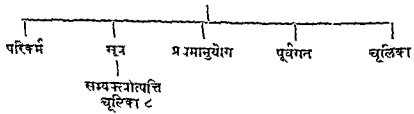
ऐसे गुणस्थान चारह हैं—१ मित्रात्वं, २ नामादन, ३ मिश्र, ४ अवित्तसम्यग्गति, ५ त्रेणित्त, ६ प्रमत्तचित्त, ७ अप्रमत्तचित्त, ८ अश्रुत्करण, ९ अनिच्छित्करण १० मृत्तममाश्रय, ११ उपजातमोह, १२ शीणमोह, १३ सयोमकेरली और १४ अयोमकेरली ।

१ मित्रात्वं अत्रस्थान चौर अतन्नेवशीभूत होता है और इसका कारण दर्शन मोहनाय कर्मका उत्पत्ति है । नामादन और मिश्र विद्याय और सम्यग्गति के प्राचरी प्ररूपणाएँ हैं । अर्थात्

३ नभप्रियान



४ दृष्टिमाद (१२ मा अग)



५ व्याख्याप्रज्ञप्ति (पाचरा अग)



इन पद-वृत्तों पर दृष्टिमाद का दृष्टिमादश्रुतम् सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है और
ही साथ उस दृष्टिमाद वर्णों के साहित्य के विस्तार का भी कुछ अनुमान किया जा सकता है ।

११. सत्प्ररूपणाका विषय

प्रस्तुत ग्रन्थ ही जाग्रद्विज्ञानी उपासिकामें कहा गया है कि धर्मेन गुरुसे सिद्धान्त सीपकर पुण्यदत्ताचार्य बनवास देशको गये और वहा उन्होंने 'विश्वानि' सूत्रोंका रचना करके आर उन्हे जिनपालितको पत्रारु भतत्रलि आचार्य, जो द्रमिल देशको चल गये थे, के पास भेजा । भूतत्रलिने उन सूत्रोंको देखा और तपश्चात् द्रव्यप्रमाणसे प्रारम्भ करके शेष समस्त पद्विद्वत्प्रमाणोंकी सूत्ररचना की । इससे स्पष्ट है कि सत्प्ररूपणाके कुछ सूत्र पुण्यदत्ताचार्यके बनाये हुए हैं । किंतु उन सूत्रोंकी संख्या विश्वानि अर्थात् बीस नहीं परन्तु एक सौ सत्तर है, तत्र प्रथम उपस्थित होता है कि पुण्यदत्तके बनाये हुए बीस तत्र कहनेसे धरणाकारका तात्पर्य क्या है । धरणाकारने सत्प्ररूपणाके सूत्रोंका विवरण समाप्त होनेके अनंतर जो ओघालाप प्रकृति लिखा है वह बीस प्ररूपणाओंका ध्यानमें रखकर हा लिया गया है । और इस सिद्धान्तका जो सार नेमिचन्द्र सि च ने गोम्मटसार जीवकाण्डमें समूहीत किया है वह भी उन बीस प्ररूपणाओंके अनुसार ही है । ये बीस प्ररूपणा गोम्मटसारके शब्दोंमें इसप्रकार हैं—

गुणज्ञानं पञ्चनीं पाणा सृणां य मगगर्णोओ य ।

उपओगो वि य क्रमसो त्रास तु पररूपणा भणिया ॥ २ ॥

अथात् गुणस्थान, जाग्रतसामान, पर्याप्ति, प्राण, सना, चादह मार्गणा आर उपयोग ये बीस प्ररूपणा हैं ।

अतएव विश्वानि सूत्रमें इहीं बीस प्ररूपणाओंका तात्पर्य ज्ञान होता है । इन बीसों प्ररूपणाओंका विषय यहा चादह गुणस्थानों और चादह मार्गणोंके भीतर आजाता है ।

राग, द्वेष व मिथ्यात्व भावोंको मोह कहते हैं, और मन, चचन व कल्पके निमित्तसे आत्माके प्रदर्शोंके चचल होनेको योग कहते हैं, आर इहीं मोह आर योगके निमित्तसे दर्शन ज्ञान और चारित्ररूप आत्मगुणों की क्रमविकासरूप अवस्थाओंको गुणस्थान कहते हैं ।

ऐसे गुणस्थान चादह हैं—१ मिथ्यात्व, २ सासादन, ३ मिश्र, ४ अनिष्टसम्पदद्विष्ट, ५ देशविरत, ६ प्रमत्तविरत, ७ अप्रमत्तविरत, ८ अपूर्वतरण, ९ अनिष्टविरत, १० मृतमसाध्यगव, ११ उपजान्तमोह, १२ शीणमोह १३ सयोगकेरली आर १४ अयोगकेरली ।

१ मिथ्यात्व अवस्थामें जीव अज्ञानके बधीभूत होता है और इसका कारण दर्शन मोहनीय कर्मका उत्पत्ति है । सासादन और मिश्र मिथ्यात्व और सम्पदद्विष्ट के बीचकी अवस्था है । चिंतने

गुणस्थानमें सम्यक्त्व हो जाता है किन्तु चारित्र नहीं सुगता । देशविरक्तता चारित्र थोड़ा सुगता है, प्रमत्तविरक्तता चारित्र पूर्ण ता होता है, किन्तु परिणामाका अपेक्षा अप्रमत्तविरक्तसे चारित्राका क्रमसे शुद्धि व वृद्धि होती जाती है । ग्यारहवें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयता उपगम हो जाता है और बारहवा गुणस्थान चारित्र माहनीयक क्षयसे उत्पन्न होता है । तेरहवें गुणस्थानमें सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता है किन्तु यागोका सद्भाव भी है । अन्तिम गुणस्थानमें दर्शन, ज्ञान और चाग्रिकता पूर्णता तथा योगोका अभ्यास हो जानसे मोक्ष हो जाता है ।

मार्गणा शब्दका अर्थ साधन करना है । अतएव जिन जिन वर्गविशेषोंमें जायेंगी खोज या अन्वेषण किया जाय उन वर्गविशेषोंको मार्गणा कहते हैं । ऐसी मार्गणाएँ चारह हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कर्माय, ज्ञान, सयम, दशन, छेद्या, भयान, सम्यक्त्व, सन्निर, और आहार ।

१ गति चार प्रकारकी है— नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव

२ इन्द्रिया द्रव्य और भाररूप हाती है और ५ पाच प्रकारका है— स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र

३ एकोद्विसे पाच इन्द्रियों तरुका शरीररचनाको काय कहते हैं । एकोद्विष जीव स्थानर और शेष त्रम कहलाते हैं ।

४ आत्मप्रेक्षोकी चचरताका नाम योग है इससे कर्मनर होता है । याग तीन निमित्तोंसे होता है— मन, वचन और काय ।

५ पुरुष, स्त्री व नपुंसकरूप भाव व तद्रूप अवयवविशेषको वेद कहते हैं ।

६ जो आत्माके निर्मलभाव व चारित्रको कय अर्थात् घात पट्टचाये यह कर्माय है । उसके क्रोध, मान, मया और लोभ ये चार भेद हैं ।

७ गति, श्रुति, अग्रधि, मन पयय, केवल, तथा कुमति कुश्रुति और कुअग्रि रूपमें ज्ञान आठ प्रकारका होता है ।

८ मन व इन्द्रियाका उत्तिरे निरोधना नाम सयम है और यह सयम हिसानि पात्रोंकी निवृत्तिमें प्रवृत्त होता है । सामायिक उद्योगस्थापना, परिहायिशुद्धि, मृत्तमापराय, यथा न्याय, सयमामयम और असयम, ये सयमके सात भेद हैं ।

९ चक्षु, अचक्षु, अग्रधि और कनठ ये दर्शनके चार भेद हैं ।

१० कपायसे अनुरजित योगोक्ता प्रवृत्ति व शरीरके गणोंका नाम लेइया है।
इसके उह भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म आर शुद्ध ।

११ जिस शक्तिके निमित्तसे आत्माके दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य गुण प्रगट होते हैं
उसे भव्यव्य कहते हैं । तदनुसार जीव भव्य व अभव्य होते हैं

१२ तत्त्वार्थके श्रद्धानका नाम सम्यग्मत्त्व है, और दर्शनमोहके उपशम, क्षयोपशम,
क्षायिक, सम्यग्मिथ्यात्र, सासादन व मिथ्यात्ररूप भावोंके अनुसार सम्यक्त्वमागणोंके उह भेद हो
जाते हैं ।

१३ मनके द्वारा शिवादिंके ग्रहण करनेको सत्ता कहते हैं और ऐसी सत्ता निम्नमे
हो वह सत्ता कहलाना है । तदनुसार जीव सत्ता व असत्ता होते हैं ।

१४ आहारिक आदि शरीर और पर्याप्तिके ग्रहण करनेको आहार कहते हैं ।
तदनुसार जीव आहारक आर अनाहारक होते हैं ।

इन चौदह गुणस्थानों और मार्गणाओंका प्ररूपण करनेवाले संप्ररूपणोंके अन्तर्गत
१७७ सूत्र हैं निम्नका विषयक्रम इसप्रकार है । प्रथम सूत्रमे पंचपरमेष्ठको नमस्कार किया है । आगेके
तीन सूत्रोंमें मार्गणाओंका प्रयोजन उतलाया गया है और उनका गति आदि नाम निर्देश किया
गया है । ५, ६ और ७ वे सूत्रमे मार्गणाओंके प्ररूपण निमित्त आठ अनुयोगद्वारोंके जाननेकी
आवश्यकता बताई है और उनके सत्, द्रव्यप्रमाण (सत्त्वा) आदि नामनिर्देश किये हैं । ८ वे
सूत्रसे इन अनुयोगद्वारोंसे प्रथम सत् प्ररूपणोंका विवरण प्रारम्भ होता है जिसके आदिमें ही ओष
आर आदेश अर्थात् सामान्य आर विशेष रूपसे विषयका प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञा करके मिथ्यादृष्टि
आदि चौदह गुणस्थानोंका विरूपण किया है जो ९, १० सूत्रसे २३ वे सूत्रतक चला है । २४ वें
सूत्रसे विशेष अर्थात् गति आदि मार्गणाओंका विरूपण प्रारम्भ हुआ है जो अतः तक अर्थात् १७७
वें सूत्रतक चलता रहा है । गति मार्गणा ३२ वें सूत्रतक है । यहापर नरकादि चारों गणियोंके
गुणस्थान उतलाकर यह प्रतिपादन किया है कि एकोद्विगुणसे असत्ता पचोद्विगुणतक शुद्ध तिर्यच
होते हैं, सर्वा मिथ्यादृष्टिसे सप्तसप्तत गुणस्थानतक मिश्र तिर्यच होत हैं, आर इसी प्रकार
मनुष्य भी । देव और नरकी अत्यन्त गुणस्थानतक मिश्र अर्थात् परिणामोंकी अपेक्षा दूसरी तीन
गणियोंके जीवोंके साथ समान होते हैं । प्रमत्तसत्तसे आगे शुद्ध मनुष्य होते हैं । ३३ वें सूत्रसे
३८ वें तक इन्द्रिय मार्गणाका कथन है और उससे आगे ४६ वें सूत्र तक कायका और विर
१०० वें सूत्र तक योगका कथन है । इन मार्गणोंमें योगके साथ पर्याप्तियोंका भी प्ररूपण

किया गया है । तद्वधात् ११० में सूत्रतक वेद, ११४ तक कणाय, १२२ तक नान, १३० तक सप्तम, १३५ तक दर्शन, १४० तक लक्ष्या, १४३ तक मन्त्र १७१ तक सम्यक् १७४ तक सत्ता और फिर १७७ तक आहार मार्गणाका विवरण है ।

प्रतियोगों सूत्रोंका क्रमांक दो कम पाया जाता है, क्योंकि, यहाँ प्रथम मंगलाचरण १ तीसरे सूत्र 'त जहा' की पृथक् गणना नहीं की । किंतु टकाकारने स्पष्ट उनका सूत्रसंग्रहसे व्याख्यान किया है, अतएव हमने उन्हें सूत्र गिना है ।

टाकाकारने प्रथम मंगलाचरण मंत्रक व्याख्यानम इस प्रकार मंगल, निमित्त, हेतु परिमाण, नाम चार कर्ताका विन्तागमे विवेचन करके दूसरे भागके व्याख्यामें द्वादशांगका पूरा पञ्चिय करवाया है । उसमें द्वादशांग श्रुतम चीनट्टाणक भिन्न भिन्न अंगिकाका उ पति प्रतला है । चौथे मंत्रक व्याख्यानम गति आदि चारह मर्गणा गुरु नामाकी निर्मक्ति और साधकता प्रतलने हुए उनका नामा पञ्चिय कर दिया गया है । उसका पश्चात् विषयका सूत्र विस्तार सहित व्याख्यानमे विवेचन किया है । टीकाकारका शला सत्र प्रश्न उत्तरक उनका समाधान करनेका रहा है । उस प्रकार प्रस्तुत प्रथम कोई उह भागका उद्देश्य है और उनके समाधान किन्ने गये हैं । उदाहरणा, दृष्टता, युक्तिया और तका द्वारा गताकारने विषयको स्पष्ट है । यहाँ है और स्पष्ट किया है, किंतु ये सत्र युक्ति और तका, जसा हम ऊपर कह आये हैं, आगमकी मर्यादाको स्पष्ट हुए हैं, और आगम हा यहाँ सत्रापी प्रमाण है । टीकाकारका व्याख्यात विषयका गभीरता, गम्भिरता और तुलनात्मक विवेचना हम अगले पटलमें करगे जिसमें संप्रत्यक्षाका आलाप प्रकरण भा पूरा हो जायेगा । तदनन्तर पाठक स्वयं मंत्रका और टीकाकारने गताका स्वाभाव और मनन करनेका इच्छा करें ।

१२ ग्रंथकी भाषा

प्रस्तुत ग्रंथ रचनाकी दृष्टिसे तीन भागोंमें बंटा हुआ है । प्रथम पुण्डिताचार्यके मंत्र, दूसरे श्रीमेनाचार्यका टीका और तीसरे टीकामें स्थान स्थान पर उद्धृत किये गये प्राचीन ग्रंथ और पद्य । सूत्रोंकी भाषा आदिसे अत तक प्राकृत है और इन सूत्रोंकी सख्या है १७७ । श्रीमेनाचार्यकी टीकाका लगभग तृतीय भाग प्राकृतमें और शेष भाग सभृतमें है । उद्धृत पद्योंकी सख्या २१६ है जिनमें १७ संस्कृतमें और शेष सत्र प्राकृतमें हैं । इससे अनुमान किया जा सकता है कि श्रीमेनाचार्यने समुल्लूखित साहित्य उपस्थित था उसका अधिकांश भाग प्राकृतमें ही था । किंतु उनके संग्रहके लगभग चैत्र साहित्यमें संस्कृतका पाया

हैं गथा और उनकी टीकाओं जो संस्कृत प्राकृतका परिमाण पाया जाता है वह प्रायः उन दोनों भाषाओंकी तात्कालिक आपेक्षिक प्रचलताका द्योतक है। इस समयसे प्राकृतका बल घट चला और संस्कृतका बढ़ा, यहातक कि आजकल जैनियोंमें प्राकृत भाषाके पठन पाठनकी बहुत ही मदत है। दिगम्बर समाजके विद्यालयोंमें तो व्यवस्थित रूपसे प्राकृत पढ़ानेकी सर्वथा व्यवस्था रही ही नहीं। ऐसी अवस्थामें प्रस्तुत ग्रन्थका परिचय कराने समय प्राकृत भाषाका परिचय करा देना भी उचित प्रतीत होता है। प्राकृत साहित्यमें प्राकृत भाषा मुख्यतः पांच प्रकारकी पाई जाती है—मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, और अपभ्रंश।

महारीरस्यामीके समयमें अर्थात् आजसे लगभग टाई हजार वर्ष पूर्व जो भाषा मगध प्रातमें प्रचलित थी वह मागधी कहलाती है। इस भाषाका कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं पाया जाता। किंतु प्राकृत व्याकरणोंमें इस भाषाका उल्लेख बतलाया गया है, और कुछ शिलालेखों और नाटकोंमें इस भाषाके उदाहरण मिलते हैं जिनपर से इस भाषाकी तीन विशेषताएँ स्पष्ट समझमें आ जाती हैं—

१ र के स्थानमें ल, जैसे, राजा-लजा, नगर-णगल,

२ झ, ष और सके स्थानपर श। जैसे, शम-शम, दासी-दाशी, मनुष-मनुश।

३ सज्ञाओंके कर्ताकारक एकवचन पुल्लिङ्ग रूपमें ए। जैसे, देव-देवे, नर-णले, उदाहरण—

अले कुमीलआ। कहेहि, कहिं तुए एजे मणिमधुकिण्णामहेण लाअकीलण अगुली
अए शमाशादिए। (शकुन्तला)

‘ अरे कुमीलक। कह, कहा तने इम मणिमधु और उत्कीर्ण नाम राजकीय अगुलीको पाया ’।

दूसरे प्रकारकी प्राकृत अर्धमागधी इस कारण कहलाई कि उसमें मागधीके आधे लक्षण पाये जाते हैं और क्योंकि, समग्रतः वह आधे मगध देशमें प्रचलित थी। इसी भाषामें प्राचीन जन सूत्रोंकी रचना हुई थी और इसका रूप अत्र श्वेताम्बरीय सूत्र-ग्रंथोंमें पाया जाता है, इसीलिये डा. याकोबीने इसे जैन प्राकृत कहा है। इसमें ष और स के स्थानपर श न होकर सर्वत्र स ही पाया जाता है, र के स्थानपर ल तथा कर्ता कारकमें ‘ए’ विकल्पमें होता है, अर्थात् कहीं होता है और कहीं नहीं होता, और अधिकरण कारकका रूप ‘ण’ व ‘म्मि’ के अतिरिक्त ‘अंमि’ लगाकर भी बनाया जाता है।

उदाहरण —

कोहाइ माण हणिया य वीरे लोभस्स पामे निरय महत्त ।

तम्हा हि वारे त्रिरजो बहाओ छिंज सोय लहुभूयगामा ॥ (आचाराग)

तो यदि य मान का हनन करके महावीरने लोभके महान् पाशको तोट डाला । इस प्रकार वीर वरसे त्रित होकर भूतगामी शोकका छिन्दन करें ।

सुसाणमि ना सुजागारेंसि वा गिरिगुहसि ना रुखमूलमि वा । (आचाराग)

स्मशानमें या शूयागारमें या गिरिगुफामें व वृक्षके मूलमें (साधु निवास करे)

ये मागधाका षट्तिषा अर्धमागधीमें भी धीरे वारे कम होती गई हैं ।

प्राचीन शूरसेन अथात् मुराके जासपासके प्रदेशकी भाषाका नाम शौरसेनी है । व्याकरणान इस भाषाका जसा स्वरूप बतलाया है वैसा संस्कृत नाटकोंमें कहीं कहीं मिलता है, पर इसका स्वतंत्र साहित्य दिगम्बर जैन ग्रंथोंमें ही पाया जाता है । प्रचनसारणि बुद्धबुद्धाचार्यके ग्रंथ इसी प्राकृतमें है । कहा जा सकता है कि यह दिगम्बर नियमों का मुख्य प्राचीन साहित्यिक भाषा है । किंतु इस भाषाका रूप कुछ विशेषताओंको छिपे हुए होनेसे उसका व्याकरणार्थी शौरसेनीसे पृथक् निदर्श करनेके हेतु उसे 'जैन शौरसेनी' कहनेका रिवाज हो गया है । जसा कि आगे चलकर बतलाया जायगा, प्रस्तुत ग्रंथका प्राकृत मुक्त यही है ।

शौरसेनीकी विशेषताएँ ये हैं कि उसमें र का ल कचित् ही होता है, तीनों सकारा के स्थानपर स ही होता है, और कर्माकारक पुल्लिङ्ग एकवचनमें ओ होता है । इसकी अन्य विशेषताएँ ये हैं कि शब्दोंके मध्यमें त के स्थानपर द, य के स्थानपर ध, भ के स्थानपर कही कहा है और प्रकृतिक वृद्धतके रूप सम्बुद्ध प्रत्यय त्ता के स्थानपर चा, इज या ट्ण होता है । जैसे—

सुत - सुतो, भवति - भोदि या होई, कयम् - कय, कया - करिता, करिअ, करिदण, आदि उदाहरण—

रत्तो वरदि कम्म मुचदि कम्महिं राग रहिदण्ण ।

एसो वरसमासो जीराण ताण निच्छयदो ॥

प्रवच २, ८७

णो संहति सोक्ख सुहेसु परम ति निगम धादीण ।

सुणिदण ते जम्भ्या भन्ना वा त पच्छिंति ॥

प्रवच १ ६२

अर्थात् आत्मा रक्त होकर कर्म राधता है तथा रागरहित होकर कर्मोंसे मुक्त होता है। यह जायेंका व्यवसाय है, ऐसा निश्चय जानो।

घातिया कर्मोंसे रहित (केवली भगवान्) का सुख ही सुखोंमें श्रेष्ठ है, ऐसा सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते वे अभव्य हैं, और जो भव्य हैं वे उसे मानते हैं।

महाराष्ट्री प्राकृत प्राचान महाराष्ट्रीकी भाषा है जिसका स्वरूप गायस्ततशनी, सेतुबध, गउटनह आदि काव्योंमें पाया जाता है। सस्कृत नाटकोंमें जहां प्राकृतका प्रयोग होता है वहां पात्र वातचान तो शारसेनीमें करते हैं और गाते महाराष्ट्रीमें हैं, ऐसा विद्वानोंका मत है। इसका उपयोग जनियोने भी रूप किया है। पउमचरित्र, समराश्चक्रहा, सुग्मुदरीचरित्र, पासणाहचरित्र आदि काव्य और श्वेताम्बर आगम सत्रोंके भाष्य, चूर्णी, टीका, आदिका भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। पर यहां भी जैनियोंने इन्कर उधरसे अर्धमागधीकी प्रवृत्तियां लाकर उसपर अपनी टाप लगा दी है, और इस कारण इन प्रयोगोंकी भाषा जैन महाराष्ट्री कहलाती है। जैन महाराष्ट्रीमें सप्तगनी व सेतुबध आदिकी भाषासे विलक्षण आदि व, द्विचमें न और लुप्त वर्णके स्थानपर य श्रुतिका उपयोग हुआ है, जैसा जैन शारसेनीमें भी होता है। महाराष्ट्रीके विशेष लक्षण जा उमे शारसेनासे पृथक् करते हैं, ये हैं कि यहां मध्यवर्णी त का लोप होकर केवल उमका स्वर रह जाता है, किंतु वह द में परिवर्तित नहीं होता। उसीप्रकार य यहां व में परिवर्तित न होकर ह में परिवर्तित होता है, और क्रियाका पूर्वकालिक रूप ऊण लगाकर बनाया जाता है। जैन महाराष्ट्रीमें इन विशेषताओंके अतिरिक्त कहीं कहीं र का ल व प्रयोजन ए आजाता है। जैसे—

जानाति-जाणद, कयम्-कह, भूचा हाऊण, आदि।

उदाहरणार्थ—

सत्रायरेण चलणे गुरुस्स नमिऊण दसरहो राया।

परिसरड नियय-नयारि साएय जण-णाइण्ण ॥

(पउम च ३१, ३८, पृ १३२)

अर्थात् सत्र प्रकारसे गुरुके चरणोंको नमस्कार करके दशरथ राया जन धन परिपूर्ण अपनी नगरी साकेतमें प्रवेश करते हैं।

कमविकासकी दृष्टिसे अपभ्रंश भाषा प्राकृतका सबसे अन्तिम रूप है, उससे आगे फिर प्राकृत अपभ्रंश वर्तमान हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओंका रूप धारण कर लेती है। इस भाषापर भी जैनियों का प्रायः एकछत्र अधिकार रहा है। जितना साहित्य इस भाषाका अभी-

तत्तु प्रकाशमें आया ह उसमेंका कमसे कम तान चौथाई हिस्सा दिग्गम्बर जैन साहित्यका है । कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि जितना प्राकृत भाषाएँ थीं उन समस्त विकसित होकर एक एक अपभ्रंश बना । जैसे, मागधी अपभ्रंश, शोमेली अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि । बौद्ध चर्यापत्रों व विद्यापत्रिकों कीनिरुद्धमें मागधी अपभ्रंश पाया जाता है । किन्तु विशेष साहित्यिक उन्नति जिस अपभ्रंशकी हुई वह शौरसेना महाराष्ट्री मिथित अपभ्रंश है, जिसे कुछ बेया करणोंने नागर अपभ्रंश भी कहा है, क्योंकि, किसी समय समस्त वह नागरिक लोगोंने बोलचालका भाषा थी । पृथ्वीराज महाराज, गणपतिमार्चरिउ, जसहरचरिउ, तथा अन्य कवियोंके करकटचरिउ, भविस्यचक्रहा, सणकुमारचरिउ, सारयधम्मदोहा, पाहुडदोहा, इसी भाषाके काव्य हैं । इस भाषाको अपभ्रंश नाम क्याकरणोंने दिया है, क्योंकि वे स्थितिपालक होनेसे भाषाके स्वाभाविक परिवर्तनमें प्रकाश न समझकर विकार समझते थे । पर इस अपमानजनक नामको लेकर भाषा यह भाषा अब फली फली आर उमीका पुत्रिया आज समस्त उत्तर भारतका काज्यनहार सम्हाले हुए है ।

इस भाषाकी सत्ता व क्रियाकी स्वरचना अब प्राकृतमें बहुत कुछ भिन्न हो गई है । उदाहरणार्थ, कर्ता व कर्म कारक एकरचन, उकारान्त होना है जैसे, पुत्रो, पुत्रम्-पुत्तु, पुत्रेण-पुत्ते, पुत्राय, पुत्रात्, पुत्रस्य-पुत्तइ, पुत्रे-पुत्ते, पुत्ति, पुत्तिहि, आदि ।

क्रियामें, क्तोमि-कत्तु, कुर्याति-करहि, कुरुय-करहु, आदि ।

इसमें नये नये छंदोंका प्रादुर्भाव हुआ जो पुराना संस्कृत व प्राकृतमें नहीं पाये जाते, किन्तु जो हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि आधुनिक भाषाओंमें सुप्रचलित हुए । अन्त्ययमक अर्थात् तुकबंदी इन छंदोंका एक बड़ी विशेषता है । दोहा, चौपाई आदि छंद यहाँमें ही हिन्दीमें आये ।

अपभ्रंशका उदाहरण—

सुहु सारउ मणुयत्तणह त सुहु धम्मायत्तु ।

धम्मु वि रे जिय त करहि ज अरहतइ बुत्तु ॥

सारयधम्मदोहा । ४ ॥

अर्थात् सुख मनुष्यत्वका सार है और यह सुख धर्मके आवीन है । रे जीव ! वह धर्म कर ज अरहतका कहा हुआ है ।

इन विशेष लक्षणोंके अनिरिक स्वर और व्यंजनसम्बन्धी कुछ मिलक्षणताएँ सभी प्राकृतोंमें समानरूपसे पाई जाती हैं । जैसे, स्वरोंमें ऐ और औ, ऋ और ॠ का अभाव और उनके स्थान पर ऋश्च अइ, अउ, अया ए, ओ, तथा अ या इ का आदेश, मध्यवर्ती

व्यंजनोंमें अनेक प्रकारके परिवर्तन व उनका छेप, सयुक्त व्यंजनोंका असंयुक्त या द्विव्यंकरूप परिवर्तन, पंचमाक्षर ह्, झ, ञ आदि सबके स्थानपर हलन्त अस्थायी अनुस्वार व स्वरसहित अस्थायी ण में परिवर्तन । ये परिवर्तन प्राकृत जितनी पुरानी होगी उतने कम और जितनी अर्वाचीन होगी उतनी अधिक मात्रामें पाये जाते हैं । अपभ्रंश भाषामें ये परिवर्तन अपनी चरम सीमापर पहुँच गये और वहामें फिर भाषाका रूपमें विपरिवर्तन हो चला ।

इन सब प्राकृतोंमें प्रस्तुत ग्रंथकी भाषाका ठीक स्थान क्या है इसके पूर्णतः निर्णय करनेका अभी समय नहीं आया, क्योंकि, समस्त ध्वनल सिद्धान्त अमरावतीकी प्रतिके १४६५ पत्रोंमें समाप्त हुआ है । प्रस्तुत ग्रंथ उसके प्रथम ६५ पत्रोंमात्रका संस्करण है, अतएव यह उसका गार्हस्थ भाग है । तथा यथा और जयध्वलाको मिलाकर वीरसेनकी रचनाका यह केवल चालीसवा अंश बैठेगा । सो भी उपलब्ध एकमात्र प्राचीन प्रतिका अभी अभी की हुई पाँचवीं छठवीं पीढ़ीकी प्रतिगोपसे तैयार किया गया है और मूल प्रतिके मिलानका सुअसर भी नहीं मिल सका । ऐसी अवस्थामें इस ग्रंथकी प्राकृत भाषा व व्याकरणके विषयमें कुछ निश्चय करना बड़ा कठिन कार्य है, विशेषतः जब कि प्राकृतोंका भेद बहुत कुछ वर्णविपर्ययके ऊपर अवलम्बित है । तथापि इस ग्रंथके सूक्ष्म अध्ययनादिनी सुविधाके लिये व इसकी भाषाके महत्वपूर्ण प्रश्नों और विद्वानोंका ध्यान आकर्षित करनेके हेतु उसकी भाषाका कुछ स्वरूप बनलाना यहाँ अनुचित न होगा ।

१ प्रस्तुत ग्रंथमें त नहुंवा ढ में परिवर्तित पाया जाता है, जैसे, सूत्रोंमें—गदि-गति, चउ-चतु, वीदराग-वीतराग, मदि-मति, आदि । गाथाओंमें—पव्वड-पर्वन, अदीद-अतीत, तयि-ततीय, आदि । टीकाओंमें—अनदारो-अनतार, एदे-एते, पदिद-पतित, चितिद-चितितम्, सठिद-सस्थितम्, गोदम-गातम, आदि ।

किंतु अनेक स्थानोंपर त का छेप भी पाया जाता है, यथा—सूत्रोंमें—गद्-गति, चउ-चतु, वीरराय वीतराग, जोईसिय-योगिष्ठा, आदि । गाथाओंमें—हेऊ हेतु, पयई प्रकृति, आदि । टीकाओंमें—सम्मइ-सम्मति, चउग्निह-चतुर्विध, स-नाइ-सर्वाति, आदि ।

क्रियाके रूपोंमें भी अधिकतः ति या ते के स्थानपर दि या दे पाये जाते हैं । जैसे, (सूत्रोंमें अस्थि के निगय दूसरी कोई क्रिया नहीं है) । गाथाओंमें—णयदि-नयति, छिज्जदे-छिज्यते, जाणदि-जानाति, लिपदि-लिपति, रोचेदि-रोचते, सदहदि-श्रद्धाति, कुणदि-करोति, आदि । टीकाओंमें—कीरदे, कीरदि-क्रियते, खिरदि-क्षिपति, वच्चदि-वध्यते, जाणदि-जानाति, परस्सेदि-प्रस्पृश्यति, उददि-उदति, निरुज्जदे-निरुध्यते, आदि ।

किन्तु त का लोप होकर सयोगी स्वरमात्र शेष रहनेके भी उदाहरण बहुत मिलते हैं यथा— गाथाओंमें—होर, ह इ-भवति, कहेइ-कयति, पक्काणइ-व्याख्याति, भमइ भमति, भण्णइ-भण्यते, आदि । टीकामें—डुगइ-करोति, रण्णेइ-वर्णयति, आदि ।

२ क्रियाआने पूर्वकाष्ठिक रूपोंके उदाहरण इसप्रकार मिलते हैं— इय-छाडिय-त्यक्त्वा । तु-कटु कृत्वा । अ अहिगम्म अग्रिम्य । दृण-अस्मिदृण जाग्रिय । ऊग-अस्मिऊण, दहूण, मोत्तण, दाउण, चिनिउण, आदि ।

३ मयवर्ती क के स्थानमें ग आदेशके उदाहरण मिलते हैं । यथा— सूत्रोंमें—वेत्तग वेदक । गाथामें—एण्णेस एकदेश, टीकामें—एणत्त एत्त, पण्ण-वण्णक, जण्ण-जण्णक, जण्ण-जण्णक, आगास आकास, जाणुग वायक, आदि ।

किन्तु बहुत मयवर्ती क का लोप पाया जाता है । यथा— सूत्रोंमें—सापराइय साम्परायिक, एइदिय एकेदिय, सामादय सामायिक, माइय-कायिक । गाथाओंमें—तिथयर तीर्थकर, गायणी-व्याकरणा, पर्यं प्रहति, पचएण-पचकन, समाण्ण ममाकीर्ण, अहिया अग्रिकार । टीकामें—एय एक, परियम्म परिकम्म किदियम्म कृतिकम्म गायण-व्याकरण, भट्टारण भट्टारकण, आदि ।

४ मयवर्ती क, ग च, ज, त, द, जोर प, क लोपके तो उदाहरण सर्वत्र पाये जाते हैं, किन्तु इनमेंसे कुछ क लोप न होनेके भी उदाहरण मिलते हैं । यथा— ग—मज्जोग सयोग, सजोग सयोग, चाग-त्याग, जुग-युग, आदि । त—वितीद-यत्नात् । द—उदुमथ-दुग्धम् चादर-चादर, उगादि-युगादि, अणुमाद अनुमाद, वेद, उदार, आदि ।

५ ध और व के स्थानमें प्रायः ह पाया जाता है, किन्तु कहा कहा थ के स्थानमें घ और घ के स्थानमें घ ही पाया जाता है । यथा—पुर कथक, क-कथम, ओत्रि-अत्रि, (स १३१) सोम्म-सोम्म (म १६९), सागरण (स ४१), कदिविरो-कनिविरो, (गा १८) आगर (टी १०)

६ सजाओंके पञ्चमी-एकवचनके रूपमें सूत्रोंमें व गाथाओंमें आ तथा टीकामें उहता-यतसे दो पाया जाता है । यथा— सूत्रोंमें—णियमा नियमात् । गाथाओंमें—मोहा-मोहात् । तम्हा-तम्हात् । टीकामें—णाणादो, प्रमादो, केण्णदो, विदियादो, येत्तदो, काउदो, आदि ।

सजाओंके सप्तमी-एकवचनके रूपमें म्मि आर म्मि दोना पाये जाते हैं । यथा— सूत्रोंमें—एकम्मि (२६, ४३, १२०, १४८, १४९) आदि । ण्वम्हि (२३, १२७)

गाथाओंमें—एक्कम्, लोक्कम्, पम्पम्, मदम्, आदि । टीकाओंमें—एक्कम्, चड्ढम्, जम्हि, आदि ।

दो गाथाओंमें कर्ताकारक प्रवचनकी निमित्त उ भा पाई जाती है । जैसे थावरु (१३५) एक्कु (१४६) यह स्पष्टतः अपभ्रंश भाषाकी ओर प्रवृत्ति है और उस लक्षणका श्रुत ७३८ से पूर्वके साहित्यमें पाया जाना महत्वपूर्ण है ।

७ जहां मध्यवर्ती व्यञ्जनका लोप हुआ है वहां यदि सयोगी शेष स्वर अ अथवा आ हो तो बहुधा य श्रुति पायी जाती है । जैसे—तित्थयर तीर्थकर, पय्य पदार्थ, पेयणा-पेदना, गय-गत गज, निमगया निमार्गया, आहारया आहारका, आदि ।

अ के अतिरिक्त ' ओ ' के साथ भी और कचित् ऊ ऋ ए के साथ भी हस्तलिखित प्रतियोंमें य श्रुति पाई गई है । किन्तु हेमचन्द्रके नियमका तथा जैन शौरसेनीके अथर्व प्रयोगोंका विचार करके नियमके लिए इन स्वरोंके साथ य श्रुति नहीं रखनेका प्रस्तुत प्रथमें प्रयत्न किया गया है । तथापि इसके प्रयोगकी ओर आगे हमारी सूक्ष्मदृष्टि रहेगी । (देखो ऊपर पाठमशौनके नियम पृ १३)

उ के पश्चात् लुप्तवर्णके स्थानमें बहुधा ऋ श्रुति पाई जाती है । जैसे—गालुया बालुका, गहन-बहुक, विहुर-विधूत, आदि । किन्तु ' पञ्जप ' में बिना उ के सामीप्यके भी नियमसे ऋ श्रुति पाई जाती है ।

८ वर्ण विकारके कुछ विशेष उदाहरण इस प्रकार पाये जाते हैं—**सूत्रोंमें**—अङ्गादज्ज-अर्धतृतीय (१६३), अणियोग-अनुयोग (५), जाउ-अप् (३९) इहि-इद्धि (५९) ओधि, ओहि अओधि (११५, १३१), ओराटिय-ओदारिक (५६), उट्ठमत्थ-उत्थमत्थ (१३२), तेउ तेनस (३९), पज्जय-पर्याय (११५), मोस-मया (४९), वेत्तर-व्यन्तर (९६), णेरइय-नारक, नारकी (२५), **गाथाओंमें**—इस्सय-इस्साकु (५०), उराल-उदार (१६०), ग्गाल-अगार (१५१), खेत्तण्ह-क्षेत्रज्ञ (५२), चाग-याग (९२), पइय-स्पर्शक (१२१), सस्सेदिम-सन्वेदज (१३९) ।

गाथाओंमें आए हुए कुछ देशी शब्द इस प्रकार हैं—कायोली-वीर्य (८८), धुम्मत-भ्रमत् (६३), चोक्को-शुद्ध (२०७), निमेण-आधार (७), भेज्ज मीर, (२०१), मेर-माता, मर्यादा (९०)

टीकाके कुछ देशी शब्द—अल्लियइ-उपसर्पति (२२०), चटनिय-आनन्द (२२१), छडिय-व्यस्त्या (२११), निमुट्टिय-नन (६८), गोलानिय-व्यतीय (६८) ।

१ अबणो य श्रुति (८, १, १८०,) टीका—अविद गति, पिपड ॥ १८० ॥

२ के उपाये, प्रवचनसारकी श्रुति, पृ १२५

इन थोड़ेसे उदाहरणोंपरसे ही हम सूत्रों, गाथाओं व टीकाकी भाषा के विषयमें कुछ निर्णय कर सकते हैं। यह भाषा मागधी या अर्धमागधी नहीं है, क्योंकि उसमें न तो अनिगद्य रूपसे, और न निरुल्लापसे ह्रस्व के स्थान पर लृट्, न स के स्थानपर श्वा पाया जाता, और न कर्ताकारक एकाचन में कहीं ए मिलता।

त के स्थानपर द, क्रियाओंके एकाचन वर्तमान कागमें दि व दे, पूर्णकालिक क्रियाओं के रूपमें तु व दृण, अपादानकारककी विभक्ति दो तथा अधिकरणकारककी विभक्ति म्हि, क के स्थानपर ग, तथा थ के स्थानपर य आदेश, तथा ढ, ओर ध का लोपभाव, ये सब शौरसेनाके लक्षण हैं। तथा त का लोप, क्रियाके रूपोंमें ह, पूर्ण कालिक क्रियाके रूपमें उण्, ये महाराष्ट्रीके लक्षण हैं। ये दोनों प्रकारके लक्षण सूत्रों, गाथाओं व टीका सभीमें पाये जाते हैं। सूत्रोंमें जो वर्णविकारके विशेष उदाहरण पाये जाते हैं वे अर्धमागधीकी ओर संकेत करते हैं। अतः कहा जा सकता है कि सूत्रों, गाथाओं व टीकाकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है, उसपर अर्धमागधी का प्रभाव है, तथा उसपर महाराष्ट्रीका भा मस्कार पड़ा है। ऐसा ही भाषाको पिरोल आदि पाश्चात्तिक विद्वानोंने जैन शौरसेनी नाम दिया है।

सूत्रोंमें अर्धमागधी वर्णविकार का बाहुल्य है। सूत्रोंमें एक मात्र क्रिया 'अलि' आती है और यह एकाचन न बहुवचन दोनोंकी योजना है। यह भी सूत्राक प्राचीन आर्थ प्रयोग का उदाहरण है।

गाथाएँ प्राचीन साहित्यके भिन्न भिन्न ग्रंथोंकी भिन्न भिन्न कालिका रची हुई अनुमान की जा सकती हैं। अतएव उनमें शौरसेनी व महाराष्ट्रापनकी भावना भेज दी है। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा जितनी अधिक पुरानी है उतना उसमें शौरसेनीपन अधिक है और जितनी अर्वाचीन है उतना महाराष्ट्रीपन। महाराष्ट्रीका प्रभाव साहित्यमें पीछे पीछे अधिकाधिक पड़ता गया है। उदाहरणके लिये प्रस्तुत ग्रंथ की गाथा न० २०३ छानिये तो यह इसप्रकार पाई जाती है—

रुसदि जिंददि अण्णे दुसदि नहुसो य सोय भय-बहुला ।

अमुषदि परिमनदि पर पससदि अप्पय नहुसो ॥

इसा गाथाने गोम्मटसार (जीवकांड ५१२) में यह रूप धारण कर लिया है—

रुसदि जिंददि अण्णे दुसदि नहुसो य सोय भय-बहुलो ।

अमुषदि परिमनदि परे पससदि अप्पय नहुसो ॥

यहारी गाथाओंका गोम्मटसारम् असप्रकारका महाराष्ट्री परिवर्तन बहुत पाया जाता है। किंतु कहीं कहीं ऐसा भी पाया जाता है कि जहां हम ग्रंथमें महाराष्ट्रीपन है वहां गोम्मटसारमें

शोरसेनीपन स्थिर है। यथा, गाथा २०७ में यहाँ 'सुमड ऋहुअ हि' है उहाँ गो जी ५१६ में 'सुमडि ऋहुग पि' पाया जाता है। गाथा २१० में यहाँ 'एय-णिगोद' है, किन्तु गोम्मटसार १९६ में उसी जगह 'एग-णिगोद' है। ऐसे स्थलों पर गोम्मटसार में प्राचीन पाठ रक्षित रह गया प्रनात होता है। इन उदाहरणों से यह भा स्पष्ट है कि जबतक प्राचीन ग्रंथों का पुरानी हस्तलिखित प्रतियों की सामग्राना से परीक्षा न की जाय और यथेष्ट उदाहरण समुप उपस्थित न हो तबतक इनका भाषा के विषय में निश्चयन कुछ कहना अनुचित है।

टीका का प्राकृत गद्य पाठ, महामोदर और विषय के अनुसार संस्कृत की तर्कशैली से प्रभावित है। सन्धि और समासों का भी यथास्थान बाहुल्य है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि सूत्र-ग्रंथों या स्फुट छोटी मोटी गद्य रचनाओं को छोड़कर दिगम्बर साहित्य में अभी तक यहाँ एक ग्रंथ ऐसा प्रकाशित हो रहा है जिसमें साहित्यिक प्राकृत गद्य पाया जाता है। अभी इस गद्य का बहुत बड़ा भाग आगे प्रकाशित होने वाला है। अतः ज्यों ज्यों वह साहित्य सामने आता जायगा त्यों त्यों इस प्राकृत के स्वरूप पर अधिकाधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा।

इसी कारण ग्रंथ की संस्कृत भाषा के विषय में भी अभी हम विशेष कुछ नहीं लिखते। केवल इतना सूचित कर देना पर्याप्त समझते हैं कि ग्रंथ की संस्कृत शैली अत्यन्त प्रौढ़, सुपरिभाषित और न्यायशास्त्र के ग्रंथों के अनुरूप है। हम अपने पाठ-संशोधन के निमेषों में कह आये हैं कि प्रस्तुत ग्रंथ में अरिहत् शब्द अनेकवार आया है और उसकी निराकृति भी अरिहिननाद् अरिहत् आदि की गई है। संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार हमें यह रूप विचारणीय ज्ञात हुआ। अर्ह वातु से बना अर्हत् होता है और उसके एकवचन व बहुवचन के रूप क्रमशः अर्हन् और अर्हन्तः होते हैं। यदि अरिहन् से कर्त्तृवाचक रूप बनाया जाय तो अरिहन्तृ होगा जिसके कर्त्ता एकवचन व बहुवचन रूप अरिहन्ता और अरिहन्तार, होना चाहिये। चूँकि यहाँ व्युत्पत्ति में अरिहिननात् कहा गया है अतः अर्हन् व अर्हन्त शब्द ग्रहण नहीं किया जा सकता। हमने प्रस्तुत ग्रंथ में अरिहन्ता कर दिया है, किन्तु है यह प्रश्न विचारणीय कि संस्कृत में अरिहन्त जैसा रूप रखना चाहिये या नहीं। यदि हम हन् धातु से बना हुआ 'अरिहा' शब्द ग्रहण करें और पाणिनि के 'मघना बहुलम्' सूत्र का इस शब्द पर भी अधिकार चलायें तो बहुवचन में अरिहन्त हो सकता है। संस्कृत भाषा की प्रगतिके अनुसार यह भी असंभव नहीं है कि यह अकारान्त शब्द अर्हत् के प्राकृत रूप अरहत्, अरिहत्, अरुहत् परसे ही संस्कृत में रूढ़ हो गया हो। विद्वानों का मत है कि गोविन्द शब्द संस्कृत के गोपेन्द्र का प्राकृत रूप है। किन्तु पीछे से संस्कृत में भी वह रूढ़ हो गया और उसीकी व्युत्पत्ति संस्कृत में दी जाने लगी। उस अवस्थामें अरिहन्त शब्द अकारान्त अर्हत् संस्कृत में रूढ़ माना जा सकता है। त्रैयाकरों को इसका विचार करना चाहिये।

उपसंहार

अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहाशारस्वामीके वचनाका उनका प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गातमने द्वादशांग श्रुतके रूपमें ग्रन्थ रचना की जिसका ज्ञान आचार्य परम्परासे क्रमशः कम होते हुए धरमेनाचार्यतक आया। उन्होंने बागध्व जगद्विनादका अन्तर्गत पूर्वोंके तथा पाचवें जग व्याख्याप्रज्ञप्तिके कुछ अंशका पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यका पढ़ाया। और उन्होंने वीर निर्माण के पश्चात् ७ वीं शताब्दिके लगभग सत्कर्मपाहुडकी ७८ हजार सूत्रोंमें रचना की। इसकी प्रसिद्धि पद्मसङ्गागम नामसे हुई। इसकी टीकाएँ क्रमशः कुन्दकुन्द, शामसुड, तुम्बुल्लर, ममन्तभद्र और वप्पदेवने बनाई, ऐसा कहा जाता है, पर ये टीकाएँ अब मिलती नहीं हैं। इनके अन्तिम टीकाकार वीरसेनाचार्य हुए जिन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध टीका धनलाला रचना शक ७३८ कार्तिक शुक्र १३ को पूरी की। यह टीका ७२ हजार श्लोक प्रमाण है।

पद्मसङ्गागमका उटना छठ महावध है। जिसकी रचना स्वयं भूतबलि आचार्यने बहुत विन्यासे की थी। अतएव पंचिकादिकको जेट उसपर लिख टीकाएँ नहीं रचा गयीं। इस महावधकी प्रसिद्धि महाधनलालके नामसे है जिसका प्रमाण ३० या ४० हजार कहा जाता है।

धरमेनाचार्यक समयके लगभग एक आचार्य गुणधर हुए जिन्हें भी द्वादशांग श्रुतका कुछ ज्ञान था। उन्होंने कृपायप्राप्त की रचना की। इसका आर्यमन्त्र और नागहस्तिने व्याख्यान किया और यतिशुभ आचार्यने चूणिसूत्र रच। इसपर भी वीरसेनाचार्यने टीका लिखी। किन्तु वे उसे २० हजार प्रमाण लिखकर ही स्वर्गगसी हुए। तब उनके सुयोग्य शिष्य जिनमेनाचार्यने ४० हजार प्रमाण और लिखकर उसे शक ७५९ में पूरा किया। इस टीकाका नाम जयधनलाल है और यह ६० हजार श्लोक प्रमाण है।

इन दोनों या तीनों महाग्रन्थों की केवल एकमात्र प्रति ताटपनपर शेष रही थी जो सिककों वगैरे मूडिस्ट्रीके सडारमें पड़ गयी। गत २०१२५ वर्षमें उनमेंसे धनलाल व जयधनलालकी प्रतिनिधियाँ किसी प्रकार बाहर निकल पाई हैं। महावध या महाधनलाल अब भी दुप्राप्य है। उनमेंसे धनलालके प्रथम अंशका अब प्रकाशन हो रहा है। इस अंशमें द्वादशांगगणी ३ प्रथम रचनाके इतिहासके अतिरिक्त सत्प्रख्यापणा अर्थात् जानसमासों और मार्गणाओं का विशेष विवरण है। सूत्रोंकी भाषा पूर्णतः प्राकृत है। टीकामें जगह जगह उद्धृत पुराचार्योंके पद्य २१६ हैं जिनमें केवल १७ संस्कृतमें और शेष प्राकृतमें हैं, टीकाका कोई तृतीयांश प्राकृतमें और शेष संस्कृतमें है। यह सब प्राकृत प्रायः उही शौरसेनी है जिसमें कुन्दकुन्दादि आचार्या के ग्रन्थ रचे पाये जाते हैं। प्राकृत और सुसूक्त दोनोंका शैली अत्यंत सुन्दर, परिमार्जित और प्रौढ़ है।

टिप्पणियोमे उल्लिखित ग्रन्थोकी

संकेत-सूची

संकेत	ग्रन्थ नाम	संकेत	ग्रन्थ नाम
१ अनु सू	अनुयोगद्वारसूत्र	२४ जी द. सू	जीवद्वान् दब्बाणिओग- द्वार सूत्र
२ अभि रा कौ	अभिमानराजेन्द्रकोप	२५ जी नि प्र	जीवविचारप्रकरण
३ अल चि	अलङ्कारचिन्तामणि	२६ जी स. सू	जीवद्वान् सतपस्त्वणा सूत्र
४ अष्टश	अष्टशती	२७ ज्यो क	ज्योतिष्करण्डक सटीक
५ अष्टस	अष्टसहस्री	२८ णाया सू	णायाधम्मकहासुत्त
६ आचा नि	आचाराङ्ग-निर्युक्ति	२९ तत्त्वार्थ भा.	तत्त्वार्थभाष्य (श्वे)
७ आ नि.	आनन्दयक-निर्युक्ति	३० त रा वा	तत्त्वार्थराजवार्तिक
८ आ पा	आढापपद्धति	३१ त श्वे वा	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
९ आ पु	आदिपुराण	३२ त सू	तत्त्वार्थसूत्र
१० आ मी	आत्ममीमांसा	३३ ति प	तिलोपपण्णत्ति
११ इन्द्र श्रुता	इन्द्रनन्दिश्रुतावतार	३४ द भ	दशभक्ति
१२ उत्त	उत्तराव्ययन	३५ द वै	दशैकालिक
१३ ओप सू	ओपपातिरुम्भ	३६ देगीना	देगीनाममाला
१४ क प्र	कर्मप्रय	३७ द्र स वृ	द्रव्यसप्रहवृत्ति
१५ क प्र	कर्मप्रकृति	३८ धनला	धनला (लिखित)
१६ क प्र य उ टी	कर्मप्रकृति यशोविजय	३९ न च	नयचक्र
१७ कसायपाहुडचुणि	उपाध्यायकृत नि टी	४० न्या कु च	न्यायकुसुदचन्द्र
१८ गुण क्र प्र	(लिखित)	४१ न सु	नन्दिसूत्र
१९ गो क	गुणस्थान-क्रमारोह-	४२ पञ्चस	पञ्चसप्रह (दि)
२० गो जी	प्रकरण	४३ पञ्चा	पञ्चास्तिकाय
२१ गो जी , जी प्र , टी	गोम्मटसार कर्मकांड	४४ पञ्चाव्या	पञ्चाव्यायी
	जीनकांड	४५ पञ्चा नि	पञ्चाशक सटीक वि
	जीनतत्त्वप्रदीपिका टीका	४६ प सु	परीक्षामुख
२२ गो. जी , म प्र , टी	गो० जी० मदप्रबो-	४७ पा उ	पाणिनि उणादि
	धिनी टीका	४८ पात महाभा	पातञ्जल महाभाष्य
२३ जयन	जयधनला (लिखित)		

सकेत

अथ नाम

सकेत

अथ नाम

४९ पु सि
५० प स
५१ प्र क मा
५२ प्रज्ञा सू
५३ प्रमाणनयत

५४ प्रमाणमी
५५ प्रवच
५६ प्र सा पू
५७ वा अ
५८ वृ क सू
५९ वृ स्व स्तो
६० व्र शु
६१ भग गी
६२ भग सू
६३ मूलाचा

पुत्रपार्थसिद्धशुपाय
पचसप्रह (इने)
प्रमेयकमल्मानट
प्रज्ञापना सूत्र
प्रमाणनयतत्वाञ्जोक्ताल
कार
प्रमाणमीमासा (इने)
प्रचनसार
प्रचनसारोद्धार पूर्वार्ध
वारस अणुनेक्खा
वृहत्कल्पसूत्र
वृहत्स्वयम्भूस्तोत्र
नल्लहेमचद्र श्रुतस्कथ
भगवद्गीता
भगवती सूत्र
मूलाचार

६४ मूला
६५ रत्नक
६६ ल क्ष
६७ लघाय
६८ „ खो वृ लि
६९ लो प्र
७० वि भा
७१ स त
७२ स त टी
७३ स त सू
७४ स सि
७५ सम सू
७६ स्या सू
७७ ह पु

मूलाधना (भगवती
आराधना)
रत्नकरण्ड श्रावकाचार
लघिसार क्षपणासार
लघीयखय
„ स्वोपज्ञवृत्ति लिखित
लोकप्रकाश
विशेषानन्दयकमाप्य
समतितर्क
समतितर्क टीका
सभाष्यतत्त्वार्थाविगमसूत्र
सर्वार्थसिद्धि
समनायाज्ञसूत्र
स्यानाज्ञसूत्र
हरिविशपुराण

सत्प्ररूपणाकी विषय-सूची

१	१-७२	चक्रवर्ती और तीर्थंकरका स्वरूप	५७
मगलाचरण		२. नै श्रेयस-मुख-कथन	५८
१ मगलाचरण टीकाकारकृत	१	३ प्रकारान्तरसे निमित्त और हेतुका कथन	६०
२ सूत्रकारकृत पंच परमेष्ठी नमस्काररूप मगलाचरण	८	७ ग्रय-परिमाण	६०
३ मगल, निमित्त आदि छह अधिकारोंकी प्रतिज्ञा	८	८ ग्रय-नाम	६०
४ मगलका स्वरूप और विवेचन	९	९ कर्ता के भेदोंका निरूपण	६०
१ नय-निरूपण	१०	१ क्षेत्र-विशिष्ट अर्थकर्ता	६१
२ नयोंमें निक्षेपोंका अन्तर्भाव	१४	२ कालकी अपेक्षा अर्थकर्ता	६२
३ निक्षेप-निरूपण	१७	३ भावकी अपेक्षा अर्थकर्ता	६३
४ मगलके पर्यायनाची नाम, निरुक्ति व अनुयोगद्वारासे कथन	३१	४ ग्रय कर्ता	६४
५ छह दृढकोंद्वारा मगल-निरूपण	३९	५ अगवारियोंकी परम्परा	६५
६ सूत्रके मगलत्व अमगलत्वका विवेचन	४१	६ श्रुतावतार-वर्णन	६७
७ अरिहत्ताका शब्दार्थ और स्वरूप	४२	२	
८ सिद्धका " "	४६	जीवस्थानका अवतार	७२-१३२
९ अर्हत् और सिद्धमें भेदाभेद विवेचन	४६	१० उपक्रम	७२ ८३
१० आचार्यका शब्दार्थ और स्वरूप	४८	१ आनुपूर्वीके तीन भेद	७२
११ उपाध्याय " "	५०	२ नामके दश भेद	७३
१२ साधु " "	५१	३ प्रमाणके पांच भेद	८०
१३ आचार्यादि परमेष्ठियोंमें भी देवत्वकी सिद्धि	५२	४ वक्तव्यताके तीन भेद	८२
१४ अरिहत्ताको ग्रयम नमस्कार करनेका प्रयोजन	५३	५ अर्थाधिकारके तीन भेद	८२
५ निमित्त-कथन	५४	११ निक्षेप-कथन	८३
६ हेतु-कथन	५५	१२ नयनिरूपण	८३-९१
१ अभ्युदय सुखमें राजा, महाराजा, मण्डलीक, महामण्डलीक, नारायण,		१ नयके दो भेद	८३
		२ द्रव्यार्थिक नयना निरूपण	८३
		३ पर्यायार्थिक नयका निरूपण	८५
		१३ अनुगम-निरूपण	९१-१३२
		१ प्रमाणानुगमके भेदोंका निरूपण	९३

२ श्रुतज्ञानके भेद प्रभेदाका स्वरूप	०६
३ आध्यायणीय पूर्वके १४ अयाधिकार आर चारद्वान् एवके अतगता- धिकारोंकी उत्पत्ति	१२२

३

विषयकी उत्थानिका १३२-१५९

१४ चौदह मार्गणाओंका सामान्य स्वरूप- निरूपण	१३२-१५३
---	---------

१ गतिमार्गणा	१३४
२ इन्द्रियमार्गणा	१३५
३. कायमार्गणा	१३८
४ योगमार्गणा	१३९
५ वेदमार्गणा	१४०
६ कर्मायमार्गणा	१४१
७ ज्ञानमार्गणा	१४२
८ सत्यमार्गणा	१४४
९ दर्शनमार्गणा	१४५
१० छेदमार्गणा	१४९
११ मन्त्रमार्गणा	१५०
१२ सम्यक्मार्गणा	१५१
१३ सङ्गिमार्गणा	१५१
१४ आहारमार्गणा	१५२
१५ अनुयोगद्वारके आठा भेदोंका सोपरस्तिरूप निरूपण	१५३

४

सत्प्ररूपणा १५९-४१०

१६ ओष और आदेशकी प्रतिज्ञा तथा गुणस्थान निरूपण	१५९ २००
१ मिथ्यादृष्टिगुणस्थान	१६१
२ सासादनसम्यग्दृष्टि गुण०	१६३

३ सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान	१६६
४ असत्तासम्यग्दृष्टि "	१७०
५ सत्यतासत्यत "	१७३
६ प्रमत्तसत्यत "	१७५
७ अप्रमत्तसत्यत "	१७८
८ अप्रवृत्तगण "	१७०
९ अनिवृत्तिरूपण "	१८३
१० सूक्ष्मसात्त्विकगण	१८८
११ उपजातकृपाय "	१८८
१२ क्षीणकृपाय "	१८०
१३ मयोगकेतवर्ती "	१९०
१४ अयोगकेतवर्ती "	१००
१५ सयोगी और अयोगीके मनका श्रमाय होनपर वेदमार्गकी मनुक्तिक सिद्धि	१०२
१६ सिद्धस्वरूप निरूपण	२००
१७ मार्गणाओंम गुणस्थान-निरूपण २०१-४१०	
१ गतिभेद-निरूपण	२०१
२ नरकगतिमे गुणस्थान प्रतिपादन	२०४
३ नियन्त्रणनिर्मे " "	२०७
४ मनुष्यानिर्मे " "	२१०
५ उपशमनिर्मे निरूपण	२१०
६ क्षणनिर्मे " "	२१५
७ श्रेयगतिमे गुणस्थान निरूपण	२२५
८ शुद्ध नियन्त्रणाका "	२२७
९ मिश्र नियन्त्रणाका "	२२८
१० मिश्र और शुद्ध मनुष्याका "	२३१
११ इन्द्रियमार्गणाके भेद	२३१
१२ इन्द्रियोंके भेद प्रभेदाका स्वरूप	२३२
१३ एकद्विज जीवाके भेद	२४९
१४ पर्याप्ति निरूपण	२५४

१५ पर्याप्ति और प्राणमें भेद	२५६	३४ आदेशकी अपेक्षा वेद-सत्त्व- प्रतिपादन	३४५
१६ द्वीन्द्रियादि जीवोंके भेद	२५८	३५ कर्मायमार्गणाके भेद व स्वरूप	३४८
१७ अपर्याप्त अवस्थामें मनका निराकरण	२५९	३६ कर्मायमार्गणामें गुणस्थान-विचार	३५१
१८ इन्द्रियमार्गणामें गुणस्थान-सत्त्व- प्रतिपादन	२६१	३७ ज्ञानमार्गणाके भेद व स्वरूप	३५३
१९ कायमार्गणाके भेद	२६४	३८ ज्ञानमार्गणामें गुणस्थान-विचार	३६०
२० स्थावरकायिक जीवोंके भेद	२६७	३९ समयमार्गणाके भेद व स्वरूप	३६८
२१ व्रसकायिक जीवोंके भेद	२७२	४० समयमार्गणामें गुणस्थान-विचार	३७४
२२ कायमार्गणामें गुणस्थान-निरूपण	२७४	४१ दर्शनमार्गणाके भेद व स्वरूप	३७८
२३ योग मार्गणाके भेद व स्वरूप	२७८	४२ दर्शनमार्गणामें गुणस्थान विचार	३८३
२४ मनोयोगके भेद और उनमें गुणस्थान-निरूपण	२८०	४३ छेद्यामार्गणाके भेद व स्वरूप	३८६
२५ वचनयोगके भेद ,,	२८६	४४ छेद्यामार्गणामें गुणस्थान-विचार	३९०
२६ काययोगके भेद ,,	२८९	४५ भव्यमार्गणाके भेद व स्वरूप	३९२
२७ केरटि-समुद्घात-विचार	३००	४६ भव्यमार्गणामें गुणस्थान-विचार	३९४
२८ त्रिसयोगी योगोंके स्वामी	३०८	४७ सम्यक्त्वमार्गणाके भेद व स्वरूप	३९५
२९ द्विसयोगी और एकमयोगी योगोंके स्वामी	३०९	४८ सम्यक्त्वमार्गणामें गुणस्थान- विचार	३९६
३० योगोंमें पर्याप्त व अपर्याप्त-विचार	३१०	४९ आदेशकी अपेक्षा सम्यक्त्व- सत्त्व प्रतिपादन	३९९
३१ आदेशकी अपेक्षा गतिमार्गणामें पर्याप्त व अपर्याप्त विचार	३२२	५० सङ्गिमार्गणाके भेद व स्वरूप	४०८
३२ वेदमार्गणाके भेद व स्वरूप	३४०	५१ सङ्गिमार्गणामें गुणस्थान-विचार	४०८
३३ वेदमार्गणामें गुणस्थान-विचार	३४२	५२ आहारमार्गणाके भेद और उसमें गुणस्थान विचार	४०९

मंगलाचरणम्

श्रीमत्परम-गम्भीर-स्याद्वादामोघ लाञ्छनम् ।

जीषात् त्रैलोक्य नाथस्य शासनं जिन शासनम् ॥ १ ॥

सः श्रीमान् धरसेन नाम-सुगुरुः श्रीजैन सिद्धान्त-सद्-

याद्विर्गुर्धर पुष्पदन्त मुमुनिः श्रीभूतपूर्वो बलिः ।

एते सन्धुनयो जगत्त्रय-हिता स्वर्गामरैरर्चिता

कुर्षुर्म जिनधर्म कर्मणि मतिं स्वर्गापयर्गप्रदे ॥ २ ॥

श्रीरीरसेन इत्याप्त भट्टारकं पृथु-प्रथम् ।

स न पुनातु पूतात्मा चादि वृन्दारको मुनिः ॥ ३ ॥

धरला भारतीं तस्य कीर्तिं च शुचिं निर्मलाम् ।

धरलीकृत निःश्लेष भुवना ता नमाम्यहम् ॥ ४ ॥

भूयादारीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनम् ।

शासनं वीरसेनस्य रीरसेन-कुशेशयम् ॥ ५ ॥

सिद्धाना कीर्तनादन्ते यः सिद्धान्तं प्रसिद्ध-वात् ।

मोज्जायनन्त सन्तानः सिद्धान्तो नोऽप्रतापिरम् ॥ ६ ॥



सिरि-भगवत-पुष्पदन्त-भूदबलि-पणीदे

छक्खंडागमे

जीवट्टाणं

तस्म

सिरि-वीरसेणाडरिय-विरट्टया टीका

धवला

मिद्धमणतमणिदियमणुवममप्पुत्थ-मोस्समणउज्ज ।

केवल-पटोह-णिजिय-दुण्णय-तिमिर जिण णमह ॥ १ ॥

जो सिद्ध है, अनन्त-स्वरूप है, अनिन्द्रिय है, अनुपम है, आत्मोत्पन्न सुखको प्राप्त है, अनवद्य अर्थात् निदाप है, और जिन्होंने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभापुजसे कुनयरूप अन्धकारको जीत लिया है, ऐसे जिन भगवानको नमस्कार करो। अथवा, जो अनन्त-स्वरूप है, अनिन्द्रिय है, अनुपम है, आत्मोत्पन्न सुखको प्राप्त है, अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं, जिन्होंने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभापुजसे कुनयरूप अन्धकारको जीत लिया है, और जो समस्तकर्म-दायुओंके जीवनसे 'जिन' सदाको प्राप्त हैं, ऐसे निन्द परमात्माको नमस्कार करो।

विशेषार्थ—‘मिद्ध’ शब्दका अर्थ रुतवृत्त होना है, अर्थात्, जिज्ञान अपने करने योग्य सब कर्मोंको कर लिया है, जिन्होंने अनादिकालम यद्यपि हुण घानावरणादि कर्मोंको प्रवण्ड ध्यानरूप अतिके द्वारा भस्म कर दिया है, येन कर्म प्रपञ्च मुक्त जीवोंको मिद्ध कहते हैं। अरहत परमेश्वरी भी चार घटिया कर्मोंका नाश कर चुके हैं, इसलिये वे भी घातनिकर्म भय सिद्ध हैं। इस विशेषणसे उनके मतका निराकरण हो जाता है जो अनादि कालसे ही शिवरूपी कर्मोंसे अस्पृष्ट मानते हैं। अथवा, ‘पिबु’ धातु गमनार्थक भी है, जिससे सिद्ध शब्दका यह अर्थ होता है, कि जो शिव लक्ष्मण पहुँच चुके हैं, और यहाँसे लट कर कर्मों नहीं मानते। इस कथनसे मुक्त जीवोंके पुनरागमनकी मायता का निराकरण हो जाता है। अथवा, ‘पिबु’ धातु ‘सराधन’ के अर्थ भी आती है, जिसमें यह अर्थ निकलता है, कि जिज्ञान आत्मीय गुणाको प्राप्त कर लिया है, अर्थात्, जिसकी आत्मा अपने स्वाभाविक अनन्त गुणाका विकास हो गया है। इस व्याख्यासे उन लोगोंके मतका निराकरण हो जाता है, जो मानते हैं कि, ‘जिस प्रकार दापर पुझ जाने पर, न वह पृथ्वीसे ओर नीचे जाता है, न आकाशकी ओर ऊपर हो जाता है, न किसी दिशाका ओर जाता है और न किसी जिज्ञासी ओर हो। किन्तु तलके क्षय हो जानेसे केवल शान्ति अर्थात् नाशको ही प्राप्त होता है। उसीप्रकार, मुक्तिके प्राप्त होना हुआ जीव भी न नीचे भूतलकी ओर जाता है, न ऊपर नभस्तरकी ओर, न किसी दिशाकी ओर जाता है, और न किसी जिज्ञासी ओर हो। किन्तु छेद अर्थात् रागपरिणामिके नष्ट हो जानेपर, केवल शान्ति अर्थात् नाशको ही प्राप्त होता है’।

अनन्त—जिसका अन्त अर्थात् विनाश नहीं है उसे अनन्त कहते हैं। अथवा, ‘अनन्त’ शब्द सामा वाचक भी है, इसलिये जिसकी सीमा न है उसे भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्त पदार्थोंके जाननेवालेको भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्त कर्मोंके अशोक जीतनेवालेको भी अनन्त कहते हैं। अतः, अनन्त ज्ञानादि गुणास युक्त होनेके कारण भी अनन्त कहते हैं।

अनिन्द्रिय—जिससे इन्द्रिया न हों, उसे अनिन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रिया अर्थात् भौतिकी छत्रस्थ दशम पाई जाता है, परन्तु सिद्ध और अरहत परमात्मा छत्रस्थ दशम

‘आत्माका प्रयोग मन्त्र है। तथा च मा मधुदादा’। अथवा, ‘४०’ माहानि आचार्य मत एतन्नाम मन्त्राय मिद्ध शब्द आदि प्रवृत्त’। पात मन्त्रा पृ ७ सित बद्धमप्रक कर्मभक्त भक्त द २ जात्रयमान पुत्रयमानान् यन् मिद्धा। अथवा ‘पिबु मन्त्र’ इति वचनात् सधति स्म अपुनगन्तुया तदुत्तिगुणमग-उत्। अथवा, ‘पिबु मन्त्रा’ इति वचनात् सधति मिद्धयन्ति निग्नित्वा मन्त्रि म्। अथवा ‘पिबु शब्द माहानि च’ इति वचनात् सधान् स्म सामितताभूवत् माहानि स्मृता चानमवान् स्म इति मद्धा। अथवा, मिद्धा निया अवयवमान स्थितिकत्वात्। प्रयाता वा म स्मृत्प्रगुणमन्त्रात्। आत्मा च, भात मित यन् पुण्यकर्म या वा गतो निवृत्ति-साध म्नि। ग्याताभुशा परिनिप्रिया या साञ्ज्नु मद्ध कृतमहला म्॥ भग स १, १, १, (दास)। धवला, ज पृ ४७४

२ नास्यन्तास्तत्पन्नन्त निरत्वमविनाशनाविनश्यमान। नास्यात् सामास्यनन्त क्वलात्मनाञ्ज्नु त्वात्। आनाथ विषयनादानन्त अनन्ताय विषय ज्ञान स्वरूपत्वात्। अनन्त कमाश-अयनादनन्त। अनन्तानि भागानि यस्य यनन्त। अभि सा काय।

३ ‘नय विज्ञेय तन्मणे लिये १५ अणिदियत्तभा’। पा स म काय (अणिदिअ)।

उल्लघन करके केवलज्ञानसे विभूषित है, इसलिये वे अनिन्द्रिय हैं। भावेन्द्रियोंकी तरह इन दोनों परमात्माओंके भाव मन भी नहीं पाया जाता है, क्योंकि नेरहव गुणस्थानमें क्षायोपशमिक ज्ञानोंका अभाव है। अतः, 'अणिन्द्रिय' पद अर्तान्द्रिय के अर्थमें भी आता है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि वे हमारे इन्द्रिय जन्म ज्ञानसे नहीं जाने जा सकते हैं, अर्थात् वे दोनों परमात्मा इन्द्रियोंके अगोचर हैं। 'अणिन्द्रिय' पदका अर्थ अनिन्द्रित भी होता है, जिसका यह तात्पर्य है कि सिद्ध और अरहत परमेष्ठी निर्दोष होनेके कारण सबके द्वारा अनिन्द्रित हैं। निन्दा उसकी की जाती है जिसमें किसी प्रकारके दोष पाये जावें, जिसका आचरण दूसरोंके लिये आह्वितकर हो। परन्तु उक्त दोनों परमेष्ठी कामादि दोषोंसे रहित होनेके कारण कोई भी उनकी निन्दा नहीं कर सकता है, इसलिये वे अनिन्द्रित हैं।

अनुपमं—प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उसके स्वरूप निर्णयके लिये हम जो कुछ भी दृष्टान्त देकर, शब्दोंद्वारा, उसे मापनेका प्रयास करते हैं, उस मापनेको उपमा कहते हैं। 'उप' अर्थात् उपचारसे जो 'मा' माप करे वह उपमा है। उपचारसे मापनेका भाव यह है कि एक वस्तुके गुण धर्म किसी दूसरी वस्तुमें तो पाये नहीं जाते हैं, इसलिये आकार, दीप्ति, स्वभाव आदि धर्मोंमें थोड़ी बहुत समानता होने पर भी किसी एक वस्तुके द्वारा दूसरी वस्तुका ठीक कथन तो नहीं हो सकता है, फिर भी दृष्टान्तद्वारा दूसरी वस्तुका कुछ न कुछ अनुभव या परिज्ञान अवश्य हो जाता है। इसलिये इस प्रक्रियाको उपमाम लिया जाता है। परन्तु यह प्रक्रिया उन्हीं पदार्थोंमें घटित हो सकती है जो इन्द्रियगोचर हैं। सिद्धपरमेष्ठी तो अर्तान्द्रिय है। अरहत परमेष्ठीका शरीर इन्द्रियगोचर होते हुए भी उनकी पुनीत आत्माका हम ससारी जन इन्द्रियज्ञानके द्वारा साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं। इसलिये उपमाद्वारा उनका परिज्ञान होना असंभव है। उन्हें यदि कोई भी समुचित उपमा दी जा सकती है, तो उन्हींकी दी जा सकती है जो कि सर्वथा लघुग्रन्थ ज्ञानियोंके अप्रत्यक्ष हैं। अतः सिद्ध और अरहत परमात्माको अनुपम अर्थात् उपमा रहित कहना सर्वथा युक्ति-युक्त है। 'उप' का अर्थ पास भी होता है, अर्थात् ऐसा कोई पदार्थ, जिसके लिये उसकी उपमा दी जाती है, पासका अर्थात् उसका ठीक तरहसे प्रोथ करानेवाला, होना चाहिये। परन्तु ससारमें ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जिसके द्वारा हम सिद्ध और अरहत परमेष्ठीके स्वरूपकी तुलना कर सकें। अतएव वे अनुपम हैं।

आत्मात्पन्न सुख—जिसके द्वारा आत्मा, शान्ति, सतोष या आनन्दका चिरकाल-तक अनुभव करे उसे सुख कहते हैं। ससारी जीव कोमल स्पर्श, विविध रस परिपूर्ण उत्तम सुखाद्य भोजनके स्वादमें, वायुमण्डलको सुरमित करनेवाले नानाप्रकारके पुष्प, इत्र, नैल

१ लाज नमनश्चो ह्यथ कर्त्तव्ययो न विद्यते । उपमायत तथन तन्माधिष्ठम स्मृतम् ।

जयध अ पृ १२४९

२ अस्तमाद मधुध विमयाता अणोवममन । अतुच्छिण्ण च सह सद्बुधोगपमिडाण ॥ प्रवच १, १३
स पर बाधा मदिय विच्छिण्ण वध-वारण विसम । ज इदिण्हि एद्ध त सोकप दम्भमेव तथा ॥ प्रवच १, ७६
वम पर वसे मान्ने दू खम्भतरितादय । पाप वाजे सखेस्नात्था अद्वानाकाप्पणा स्मृता ॥ रत्नक १, १०

आदि सुगन्धित पदार्थोंके सुघनेमें, स्मरणार्थ रूपोंके अजलेकनमें, श्रवण सुन्न कर मर्गांतोंके सुननेमें आर वित्तम प्रमोद उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकारके विषयोंके चिन्तनमें आनन्दका अनुभवसा करता है, आर उससे अपनेसे सुखी भी मानता है। पर यथार्थमें देखा जाय तो इसे 'सुख' कहा कह सकते हैं। सुख जिस कहना चाहिये वह तो आनन्दताके अभावमें ही उपलब्ध हो सकता है। परन्तु इन सब विषयोंके ग्रहण करनेमें आनन्दता देखी जाती है, क्योंकि प्रथम तो इन्द्रिय सुखकी कारणभूत सामग्रीका उपलब्ध होना ही अशक्य है, इसलिये आनन्दता होती है। दूसरा उक्त सामग्री यदि मित्र भी जाय तो उस चिरस्थायी बनानेके लिये आर उसे अपने अनुकूल परिणामानके लिये चिन्ता करनी पड़ती है। इतना सब कुछ करने पर भी उस सामग्रीसे उत्पन्न हुआ सुख चिरस्थायी ही रहेगा, यह कुछ कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि संसारमें न किसीका सुख चिरस्थायी रहा है और न कोई प्राणी ही। फिर इस सुखमें रोग, शोक, इष्टिभोग, अनिष्टमभोग आदि निमित्तोंसे सदा ही भेदों का घाव उपस्थित होती रहती है, जिससे वह सुख सामग्री ही दुःखकर हो जाती है। यदि इनमेंसे ही घस होना, तो भी ठीक था। पर वह सुख पापसा धीन है, क्योंकि संसारमें सुखकी सामग्री परिमित है आर उसके प्रादुर्भाव अर्थात् उसके अभिप्राय अस्तित्व है। अतः जो भी व्यक्ति सुखकी आवश्यकतासे अधिक सामग्री एकत्रित करता है, यथार्थतः देखा जाय तो, वह दूसरोंके व्याय प्राप्त अशक्तों की भाँति है। इसलिये यह सुख पापका बीज है। फिर यह सुख जारम्भादि निमित्तोंमें अनेकों जीवाकी हिंसा करनेके बाद ही तो उपलब्ध होता है, अतः कर्मबन्धका कारण भी है। अतः यह इन्द्रियोंमें उत्पन्न होनेवाला सुख, सुख न होकर यथार्थमें दुःख ही है। किंतु जो आनन्द, जो शान्ति, स्वाधीन है, अर्थात्, बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा न करके केवल आत्मासे उत्पन्न होती है, बाधा रहित है, अनिन्दित एक धारमय प्रकाशित हो कर सदाकाल स्थायी है, नवीन कर्मबन्ध करानेवाली भी नहीं है, दूसरोंके अधिकार नहीं छीननेसे पापका बीज भी नहीं है, उसे ही सच्चा सुख कहा जा सकता है। सो ऐसा आत्मोपनि, अनन्त सुख सिद्ध और अरहत परमेष्ठिने ही समझें। अतः उक्त विशेषण देना सार्थक एवं समुचित ही है।

अनन्तर—अत्र, पाप या दोषका कहते हैं। गुणस्थानधर्मसे आत्माके प्रतिक-विनाशको देखत हुये यह भलीभाँति समझमें आ जाता है कि ज्यों ज्यों आत्मा विमुक्ति मार्गपर अग्रेसर होता जाता है, त्यों त्यों ही उसमेंसे मोह, राग, द्वेष, काम, भ्रंश, मान, माया, मत्सर, लोभ, तृष्णा आदि विकार परिणति अपने आप मन्द या शून्य होती हुई चली जाती है। यही तब कि एक वह समय आ जाता है जब वह उन समस्त विकारोंमें रहित हो जाता है। इसी अवस्थाको मंगलमार्गे अनन्तर या निर्दोष शब्दसे प्रगट किया है।

केवलप्रमौघनिजितदुर्नयतिमिर—अथ दृष्टिभेदकी अपेक्षा रहित केवल एक दृष्टि

१ जहाँ एक ही समय दुःख या शान्ति त १, १५ नरपक्षा नया मिथ्या मापन्या वस्तु तत्पश्यन्। आ भी प्रतिपाद्य त १, १५ । तत्पश्यन् प्रतिक्षेपो दुःख केवल विषय ।

भेदको ही दुर्नय कहते हैं। इससे पदार्थका बोध तो होता है, परन्तु वह बौध केवल पक्षग्राही रहता है। इससे प्राणीमात्र किसी पदार्थकी समीचीनताका अनुभव नहीं कर सकते हैं। इसलिये इसके द्वारा पदार्थको जानते हुए भी उसके विषयमें जाननेवाले अन्ये ही बने रहते हैं, क्योंकि इस दृष्टि भेदसे पदार्थ जितने अंशमें प्रतिभासित होता है, पदार्थ केवल उतना ही नहा है, वह तो उसकी केवल एक अवस्था ही है। पदार्थ तो उस जाने हुए अंशसे आरंभ भी कुछ है। जोर यह दृष्टि भेद पदार्थके उन अंशोंकी अपेक्षा ही नहा करता है, यत्कि अपने द्वारा ग्रहण किये हुए अंशोंकी ही उस पदार्थकी समग्रता समझ लेता है। अतएव वह दृष्टि भेद पदार्थका प्रकाशक होते हुए भी अंधकारके समान है। मंगलकारने इसी दृष्टिको सामने रखकर अन्य दृष्टिभेदोंकी अपेक्षा रहित एक दृष्टि भेदको 'दुर्नय निमित्त' सजा दी है। इसे, सिद्ध और अरहन्त परमेष्ठिने अपने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभा पुजसे जीत लिया है, क्योंकि केवलज्ञानरूप सूर्यमें ऐसा एक भी दृष्टि भेद नहीं है जिसका समन्वय नहा होता है, अर्थात्, उसमें सभी दृष्टि-भेदोंका समन्वय हो जाता है। अतएव वह पदार्थका पूर्ण प्रकाशक है। सूर्यके उदित होने पर जिसप्रकार अन्धकार घिरा जाता है, उसीप्रकार केवलज्ञानरूपी सूर्यके प्रभा पुजके सामने वे दृष्टियाँ नहीं ठहर सकती हैं। अतएव केवलज्ञान निभूषित सिद्ध और अरहन्त परमेष्ठिको 'केवलप्रमोघनिजितदुर्नयनिमित्त' यह विशेषण देना युक्तियुक्त ही है।

जिन—मोह या मिथ्यात्व नामाका सबसे अधिक अहित करनेवाला है। इससे यगम होकर ही यह जीव अनादि कालसे आत्म-स्वरूपको भूला हुआ ससारमें भटक रहा है। जब इस जीवको उपदेशादिका निमित्त मिलता है और उसमें 'स' स्या है, 'पर' स्या है, 'हित' स्या है, 'अहित' स्या है, इसका बोध करके आत्म-व्यापणकी ओर इसकी प्रवृत्ति होने लगती है, परिणामात् इतनी अधिक पवित्रता आ जाती है, कि वह केवल अपने स्वार्थकी पुष्टिके लिये दूसरोंके न्याय प्राप्त अधिकारोंको छीननेसे लगाने लगता है। उसके पहिले बाधे हुए कर्म हलके होने लगते हैं, नया नवीन कर्मोंकी स्थिति भी कम पड़ने लगती है, सासारिक कार्योंको करते हुए भी उनमें उसे स्वभावतः अहंत्वका अनुभव होने लगता है नव कहीं समझना चाहिये कि यह जीव सम्यग्दर्शनके सम्मुख हो रहा है। फिर भी ऊपर जितने भी कारण बतलाये हैं, वे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके समर्थ कारण नहा हैं। इनके होने हुए यदि मिथ्यात्व या मोहका उपशम करनेमें समर्थ ऐसे अवसर, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप परिणाम होते हैं तो समझना चाहिये कि यह जीव सम्यग्दर्शनको पा सकता है, इनके बिना नहीं, क्योंकि इन परिणामोंमें ही मिथ्यात्वके नाश करनेकी सामर्थ्य है। इसतरह जब यह जीव अधकरणरूप परिणामोंको उलूघन करके अपूर्वकरणरूप परिणामोंको प्राप्त होता है, तब यह जिनत्वकी पहिली सीढ़ी पर है, ऐसा समझना चाहिये। यहाँ से 'जो कर्मरूपी शत्रुओंको जीते उसे जिन कहते हैं', इस व्याख्याके अनुसार, जिनत्वका प्रारम्भ होता है। इसके

१. सकलाम प्रदश निविड निबद्ध धानि कम-मघ-पटल विघटन प्रवटीभूतानन्त ज्ञानादि-नव-केवल-लधिधना

धिन । गो जी, जी प्र टी, गा १ अनेक विषम भव गहन दु ख प्रापण हेतून् कर्मात्तान् जयन्ति निजयन्तीति जिना । गो जी, म प्र टी, गा १

बारह-अगगिगज्जा वियालिय मल मूढ-दमणुत्तिलया ।
 त्रिनिह-उर-चरण भूसा पमियउ मुय-देवया सुडर ॥ २ ॥
 मयल-गण-उउम-रविणो त्रिनिहद्वि-निराडया त्रिणिम्मगा ।
 णीगया वि कुराया गणहर-देवा पमीयतु ॥ ३ ॥
 पमियउ महु धरसेणो पर-वाड-नाजोह-डाण उर-मीहो ।
 मिद्धतामिय-सायर-तरग-सवाय-घोय-मणो ॥ ४ ॥

आगे जैसे जैसे कर्म-शुभ्रका अभय होता जाता है वैसे ही वैसे जिनत्व धर्मका प्रादुर्भाव होता जाता है, और बारहवें गुणस्थानके अन्तमें जब यह जीव समस्त धानिया कर्मोंको नष्ट कर चुकता है तब पूर्णरूपसे 'जिन' सवाको प्राप्त होता है। सिद्ध परमेष्ठी तो समस्त कर्मोंसे रहित हैं, इसलिये अरहत और सिद्ध परमेष्ठी कर्मशुभ्रोंके जीतनेसे साक्षात् जिन हैं, ऐसा समझना चाहिये।

इसप्रकार शास्त्रारम्भम अनन्त जादि विरोधणामे युक्त अरहत और सिद्ध दोनों परमेष्ठियोंको नमस्कार किया है ॥ १ ॥

जो श्रुतज्ञानके प्रसिद्ध बारह अंगसे ग्रहण करने योग्य है, अर्थात् बारह अंगका समूह ही जिसका शरीर है, जो सर्व प्रकारके मल (अर्थात्) आर तीन मूढताओंसे रहित सम्यग्दर्शन-रूप उन्नत नित्यसे विराजमान है और नाना प्रकारके निर्मल चरित्र ही जिसके आभूषण है, ऐसी भगवती श्रुतदेवता चिरकाल तक प्रसन्न रहो ॥ २ ॥

जो सर्व प्रकारके गण, मुनिगण अर्थात् ऋषि, यनि, मुनि आर अनगार, इन चार प्रकारके सघरूपा कमलोंके लिये अग्नि, मुनि, आधिका, आधक और अधिका इन चार प्रकारके सघरूपी कमलोंके लिये मृदने समान है, जो बल, बुद्धि इत्यादि नाना प्रकारकी ऋद्धियोंसे विराजमान है, जो अन्तरा और बहिरा देना प्रकारके परिग्रहसे रहित है आर जो वीतरागी होने पर भी समस्त भूमण्डलके द्वितीय है, ऐसे गणधर देव प्रसन्न होत।

इस मग्यरूप गा'गमें 'णीराया वि कुराया' पदमें विरोधाभास अलंकार है। जो नीराग अर्थात् वीतराग होता है, उसके कुसित अर्थात् खोटा राग कैसे हो सकता है? इस विरोधका परिहार इस प्रकार कर लेना चाहिये कि गणधरदेव 'णीराया वि' अर्थात् वीतराग होने पर भी 'कुराया' अर्थात् भूमण्डलमें रहनेवाले समस्त प्राणियोंके द्वितीय होने है। अग्नि, वीतराग होने पर भी अभी पृथ्वी मण्डल पर विराजमान है, मोक्ष को नहीं मये ॥ ३ ॥

जो परवादीरूपी दायिप्योंके समूहके मदका नाश करनेके लिये श्रेष्ठ सिंहके समान है, अर्थात् जिसप्रकार सिंहके सामने मदीनम्त भी दायी नहीं टहर सकता है, किंतु वह गलितमद होकर भाग भाग होता है, उसीप्रकार जिनके सामने अन्य मतावलम्बी अपने आप गलितमद हो जाते हैं, और मिजानरूपी अमृत-सागरकी तरंगोंके समूहसे जिनका मन धुल गया है,

पणमामि पुष्पदन्तं दुरुयतं दुष्णयधवार-रविं ।

भग्ग-सिर-भग्ग-कटयमिमि-ममिड-वडं सया दत्त ॥ ५ ॥

पणमह कय-भूय-वलिं भूयवलिं केम-वाम-परिभूय-वलिं ।

णिणिहय-वम्मह-पसर वड्डाणिय-णिमल-णाण-वम्मह-पसरं ॥ ६ ॥

मगल णिमित्त-हेऊ परिमाण णाम तह य कत्तार ।

जागरिय उ णि पच्छा उक्खणउ सत्यमाइरियो ॥ १ ॥

अर्थात्, सिद्धान्तके अग्रगण्यसे जिन्होंने त्रिकोण प्राप्त कर लिया है, ऐसे श्री धर्मेन्द्र आचार्य मुझ पर प्रसन्न हों ॥ ४ ॥

जो दुष्कृत अर्थात् पापाका अन्त करनेवाले हैं, जो कुनयस्पर्षी अधिकारके नाश करनेके लिये सूर्यके समान हैं, जिन्होंने मोक्षमार्गके कटकोको (मिथ्योपदेशादि प्रतिबन्धक कारणोंको) भग्न अर्थात् नष्ट कर दिया है, जो कृपियोंकी समेति अर्थात् समाके अधिपति हैं, और जो निरन्तर पचेन्द्रियोंका व्रमन करनेवाले हैं, ऐसे पुष्पदन्त आचार्यको मे (धर्मेन्द्र) प्रणाम करता हूँ ॥ ५ ॥

जो भूत अर्थात् प्राणिमात्रसे पूजे गये हैं, अथवा, भूत नामक व्यन्तर जीवोंके देवामे पूजे गये हैं, जिन्होंने अपने केशपाश अर्थात् सयत सुन्दर बालोंसे बलि अर्थात् जरा आदिसे उत्पन्न होनेवाली शिथिलताका परिभूत अर्थात् तिरस्कृत कर दिया है, जिन्होंने ममदेवके प्रसारको नष्ट कर दिया है, और जिन्होंने निर्मल-ज्ञानके छाग ब्रह्मचर्यके प्रसारको बढ़ा लिया है, ऐसे भूतबलि नामक आचार्यको प्रणाम करो ॥ ६ ॥

निशेपार्थ—जिस समय भूतबलि आचार्यने अपने गुरु धर्मेन्द्र आचार्यसे सिद्धान्त ग्रन्थ पढ़कर समाप्त किया था उस समय भूत-नामक व्यन्तर देवोंने उनकी प्रजा की थी। इसका उल्लेख धवलामें आगे स्वयं किया गया है।

मगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता, इन छह अधिकारोंका व्याख्यान करनेके पश्चात् आचार्य शास्त्रका व्याख्यान करें।

निशेपार्थ—शास्त्रके प्रारम्भमें पहिल मंगलाचरण करना चाहिये। पीछे जिस निमित्तसे शास्त्रकी रचना हुई हो, उस निमित्तका वर्णन करना चाहिये। इसके बाद शास्त्र प्रणयनके प्रत्यक्ष और परम्परा-हेतुका वर्णन करना चाहिये। अनन्तर शास्त्रका प्रमाण बताना चाहिये। फिर ग्रन्थका नाम और आम्नायकमसे उसके मूलकर्ता, उत्तरकर्ता और परम्परा-कर्ताओंका उल्लेख करना चाहिये। इसके बाद ग्रन्थका व्याख्यान करना उचित है। ग्रन्थरचनाका यह क्रम आचार्य

१ मंगल-कारण हेतु सत्य सपरिमाण नाम कत्तार । पश्म णि य कट्टिदत्ता एमा जागरिय परिमाणा ॥

ति प १, ७

गोपया पञ्चाशतिकाये जयमनावायवृत्त्याग्यया सदापलम्बने। अनगाधमावृत्तेऽग्या सत्सङ्गबाया ददयत ।

इति णायमाइरिय-परपरामय मणेणाप्रहारिय पुब्बाइरियायाराणुमण तिरयण-
उ त्ति पुप्फदताइरियो मगलादीण छण्ण सकारणाण परणण्ड सुत्तमाह—

णमो अरिहंताण, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं ।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सब्ब-साहूणं ॥ १ ॥

अथमिदं सुत्तं मगल-णिमित्त-हेउ-परिमाण-नाम-कृत्तराण मकारणाण परूण्य ?
ण, तालपलय सुत्तं व देमामामियत्तादो ।

परंपरासे चला आ रहा है, ओर इस प्रथम भी इसी क्रमसे व्याख्यान किया गया है ॥ १ ॥

आचार्य परंपरासे आये हुए इस न्यायको मनम धारण करके, ओर पूर्वव्यापोंके
आचार अर्थात् व्यवहार परंपराका अनुसरण करना रखनेका कारण है, ऐसा समझकर
पुष्पदन्त आचार्य मगलादिक उहा अधिकारोंका सकारण व्याख्यान करनेके लिये मगल-सूत्र
कहते हैं—

अरिहंताका नमस्कार है, सिद्धाका नमस्कार है, आचार्योंके नमस्कार है, उपा-
ध्यायोंका नमस्कार है, आर लोकम सर्व साधुओंका नमस्कार है ॥ १ ॥

निर्णेषार्थ—यहाँ मगलसूत्र नमोकार मंत्रके नामसे प्रसिद्ध है। इसके अंतिम भागमें
जो 'लाए' अर्थात् 'लोसम' आर 'सब्ब' अर्थात् सर्व पद आये हैं, उनका सबंध 'णमो
अरिहंताण' आदि प्रत्येक नमस्कार प्राप्त के साथ कर लेना चाहिये। इसका गुलामा
आचार्यने स्पष्ट जगें चरकर किया है।

शुभा—यह सूत्र, मगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्त्तव्य सकारण प्ररूपण
करता है, यह कैसे समझ है? शकाराका यह अधिप्राय है कि इस सूत्रम जब कि केवल मगल
अर्थात् शुभ-हेतुतासे नमस्कार किया गया है तब उससे निमित्त जानि अन्य प्राप्त अधिकारोंका
स्वीकरण इस समय है।

मभाधान—यह मगलसूत्र 'ताल प्रमय' सूत्रके समान देशामर्शक होनेसे मगलादि
छद्म अधिकारोंका सकारण प्ररूपण करता है, इसीलिये उपर्युक्त शका ठीक नहीं है।

निर्णेषार्थ—जो सूत्र अधिष्टान विषयाके एकदेश कथनद्वारा समस्त विषयाकी
सम्वत्ता पर उस देशामर्शक मन कहते हैं। इसीलिये 'तालप्रमयसूत्र' के समान यह मगलसूत्र

१ देशामर्शक स्वरूपकरणम्—

तत्र सुत्तं दमामानय तत्र उत्तममत्तवत्तणाणि एदण उत्ताणि । स प्रता पृ ८८६ एद
दमामानियत्ता उदा । एदमपदुयायणण एधनवमयत्तम मत्तयत्तादा । स प्रता पृ ४६८ एद दमामानिय
मत्त दमपदुयायणमत्त मत्तिदातादा । स प्रता पृ ५८९ एद दमामानियत्तुत्त, तण्ण आमामियत्तण
अमामानियत्ता उदा । स प्रता पृ ५९१ दमामानियत्तुत्त ज्ञानवत्त तित्तु त्तु त्तिदिक्ख । उदा धवादिसदा,

तत्थ वाड-णिकखेय-णय-ण्यत्थ-णिरुत्ति-आणियोग-इरेहि मगल परुत्तिज्जिदि ।
तत्थ वाड 'भ मत्ताया' इच्चमाडओ मयलत्थ-वत्थूण सहाण मूल-कारणभूदो । तत्थ
'मणि' इदि जणेण वाडणा णिप्पण्णो मगल-सदो' । वाड-परुत्तज्जा किमट्ट कीरेटे ? ण,

भी देशामर्शक है । कल्पसूत्रके कल्प्याकल्प्य नामक प्रथम उद्देश्यक प्रथम सूत्रमें 'तालपलम्ब' पद आता है, जिसका भाव यह है कि ताटवृक्षको आदि लेकर जितनी भी वनस्पतिकी जातियाँ ह, उनके अभिन्न (बिना तोटे या काटे गये) ओर अपक या रुचे अर्थात् संचित मूल, पत्र, फल, पुष्प आदिका लेना साधुको योग्य नहा है । इस सूत्रमें तो केवल 'तालपलम्ब' पद ही दिया है, फिर भी उसे उपलम्भण मानकर समस्त वृक्ष जाति और उसके पत्र पुष्पादिकाका ग्रहण किया गया है । उसीप्रकार यह नमस्कारात्मक सूत्र भी देशामर्शक होनेसे मगलके साथ अधिकृत निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्तृका भी बोधक है ।

उन उक्त मगलादि छह अधिकारोंमें से पहले धातु, निक्षेप, नय, एकार्य, निरुक्ति और अनुयोगके द्वारा 'मगल' का प्ररूपण किया जाता है । उनमें 'भू' धातु सत्ता अर्थमें है, इसको आदि लेकर समस्त अर्थ वाचक शब्दाकी जो मूल कारण है उन्हें धातु कहते हैं । उनमेंसे 'मणि' धातुमें मगल शब्द निष्पन्न हुआ है । अर्थात् 'मणि' धातुमें 'अलच' प्रत्यय जोड़ देने पर मगल शब्द बन जाता है ।

शङ्का—यह धातुका निरूपण किसलिखे किया जा रहा है ? शङ्काकारका यह अभिप्राय है कि यह ग्रन्थ सिद्धान्त विषयका प्ररूपक है, इसलिखे इसमें धातुके कवनकी कोई व्याख्ययकता नहीं थी । इसका कवन तो व्याकरण-शास्त्रमें करना चाहिये ।

समाधान—ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं है, क्योंकि, जो शिष्य धातुसे अपरिचित है, अर्थात् किस धातुसे कौन शब्द बना है इस बातको नहा जानता है, उसे धातुके परिज्ञानके

च न तालपलमत्तामि ॥ मूला १ २३ 'दमामानिय' इयादि न्धितिरन्धे वाच्य तत्रयमनयापदिष्टमा-
चेलक्यमिति मत्र त्तामर्शकम् । तालपत्रिग्रहदशस्य चल्स्य परामर्शक बाह्यपत्रिग्रहाणामुपलक्षणानामुपात्तम् ।
तथा 'तालपलम्ब ण कपदि' ति मत्र तालशब्दो वनस्पत्यम्बदशस्य तद्विनिक्षेपस्य परामर्शका
ननपत्तीनामुपलभणाय गृहात । तथा चान् कम्प, हृदिनपीमधिगुच्छा गुम्मा वञ्ची लदा य रुक्खा य । एव
रणकदावा तालात्मण जादिद्धा ॥ तालदि दलदि वि त तलम् जादा वि उम्सिदा व वि । तालादिणो तत्र वि य
वणपदाण त्वति णाम ॥ तात्थ्य प्रग्ग्व तालपलम्बम् । पलम्ब च द्विदिध, मूलपलम्ब अग्रपलम्ब च । तत्र मूलपलम्ब
भूयन्नुग्रसि रुन्दमूलाङ्गुदिनम् । तत्तात्थ्यदग्रपलम्बम्, जङ्गमबालपत्रपुष्पफलादिनम् । वनस्पतिन-दादिनमनुमोत्तु-
निप्रधानामायाणा च न युयंते इति । तथा "तालपलम्ब ण कपदि ति" इत्यत्र मूत्रेऽधस्तथा मकलाऽपि बाह्य
परिमदाऽमुष्णानां ग्रातु न युयंते इत्याचेलक्रेति मूत्रेऽथ इति तापयम् । तथा चानम्, तत्रैवामर्शक
मूत्रमाचेलक्यमिति न्धितम् । तत्तात्थ्यादिशब्दाऽत्र तालपलम्बमनयम् ॥ मूला ८४ जाचेलक्रेनेमिय
महात्तरायपिंडिनिमित्तम् वदनेऽपिडिक्कमण मात्त पत्ता समणस्सो ॥ मूला ४२ जत्था एगगण्णे गहण
तत्तात्थ्याण मज्जति । तिण्णपलम्ब तु मूत्था समगपलम् ॥ ४ व म ८५

अणमय-धातुस्य सिन्धुस्य अथावगमाणुवनतीति । उक्तं च—

शब्दप्रसिद्धिं पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति ।

अर्थात्तत्त्वज्ञान तत्त्वज्ञानात्परं श्रेय ॥ २ ॥ इति ।

निष्ठये निष्णात् स्थितिं च निष्पत्तेरिति । मो वि उच्चिहो, नाम द्वयणा-द्व्य-
र्येत-काल-भावा भंगलमिति ।

उच्चारणमप्यर्थं निश्चये वा कथं तु दृष्टं ।

अथ गणयति तद्वर्तमानं तदो ते गणय भगिनो ॥ ३ ॥

बिना विरहित शब्दके अर्थमा ज्ञान नहा हो सकता है । अथ अर्थ-बोधके लिये विवक्षित शब्दके अर्थका ज्ञान कराना आवश्यक है । इसलिये यहाँ पर धातुका निरूपण किया गया है । यहाँ भी है—

शब्दसे पदकी निधि होती है, पदकी सिद्धिसे उसके अर्थका निर्णय होता है, अर्थ-निर्णयसे तत्त्वज्ञान अर्थात् हेयोपादेय विवेककी प्राप्ति होती है, और तत्त्वज्ञानसे परम कल्याण होता है ॥ २ ॥

जो किसी एक निश्चय या निर्णयमें क्षण करे, अर्थात् अनिष्टात घटुका उसके नामादिद्वारा निर्णय करावे, उसे निक्षेप कहते हैं । यह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे छह प्रकारका है, और उमके सब-धसे भंगल भी छह प्रकारका हो जाता है, नामभंगल, स्थापनाभंगल, द्रव्यभंगल, क्षेत्रभंगल, कालभंगल, और भावभंगल ।

‘उच्चारण किये गये अर्थ पद और उममें किये गये निक्षेपको देखकर, अर्थात् समझकर, पदार्थको ठीक निर्णयनक पहुँचा देते हैं, इसलिये वे नय कहलाते हैं ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—आगमके किसी श्लोक, शाय, चाक्ष अथवा पदके ऊपरसे अर्थ निर्णय

१ भाषाया ‘व्याख्यापदमिति’ इत्येतावन्मात्रमप्येतेन सह समाचर्यतु शास्त्रादयन्तस्य सिद्धिर्भाषादिव्याख्यानमप्युपलभ्यते ।

२ जगत्तु जगत्तु ज ज जउमेण हह हह हह । कत्र भाषा नामादिषु त विवक्ष्य हवे समष्टि ॥ नयच २९९ निश्चिन्त्यारण तत्र तत्रा व निश्चिन्त्य व निश्चिन्त्य । नियमा व निश्चिन्त्य वा क्षेत्री भाषा वि ज भगिन ॥ वि भा ११२ निश्चिन्त्य शास्त्रादेनामस्थापनादिभेदेयमन यत्रस्थापन नियम । निश्चिन्त्ये नामादि भेदेन्यस्थापनानामादिनाम निक्षेप । वि भा ११२ म दी

३ नामनिष्ठानादो दन्त्यन्तेनाति कालमात्रा य । इय उच्येय भाषिय भंगलभाषणदत्तेजगण ॥

ति प १, १८

४ जगिपदि जगिपदि अथोद्गदी हादि तमिमववराण रलावा जगपद नाम । जगप अ पृ १२

५ भाषय पाठभेदेन जगववलायामनुपलभ्यते । तपया, उच्चारिधमि इ पदे निश्चये वा कथं तु दृष्टं ।

अथ गणयति ते तद्वदा वि नृदा गणा भगिन्या । जगप अ पृ ३० सुत मय पयया वप निश्चिन्त्यो य निश्चिन्त्यमिति ॥

उ प सू ३०९

इदि वयणादो कय-णिस्खेवे दृङ्ण णयाणमनदारे भवदि । को णयो' णाम ?

णयदि ति णयो भाणिओ वृहटि गुण पञ्जएहि ज दव' ।

परिणाम-खेत कालतेरेसु अणिण्ड सम्मान ॥ ४ ॥

करनेके लिये पहले निर्दोष पद्धतिसे श्लोकादिकका उच्चारण करना चाहिये, तदनन्तर पदच्छेद करना चाहिये, उसके बाद उसका अर्थ कहना चाहिये, अनन्तर पद निक्षेप अर्थात् नामादि विधिसे नयोंका अवलम्बन लेकर पदार्थका ऊहापोह करना चाहिये। तभी पदार्थके स्वरूपका निर्णय होता है। पदार्थ निर्णयके इस क्रमका दृष्टिमें रखकर माथाकारने अर्थ पदका उच्चारण करके, और उसमें निक्षेप करके, नयोंके द्वारा, तत्त्व निर्णयका उपदेश दिया है। माथामें 'अत्यपद' इस पदसे पद, पदच्छेद और उसका अर्थ ध्वनित किया गया है। जितने अक्षरोंसे वस्तुका बोध हो उतने अक्षरोंके समूहको 'अर्थ पद' कहते हैं। 'णिस्खेव' इस पदसे निक्षेप विधिकी, और 'अथ णयति तच्चत' इत्यादि पदोंसे पदार्थ निर्णयके लिये नयोंकी आवश्यकता बतलाई गई है ॥ ३ ॥

पूर्वाक्त वचनके अनुसार पदार्थमें किये गये निक्षेपको देखकर नयोंका अवनार होता है।

शुभा--नय किसे कहते हैं ?

अनेक गुण और अनेक पर्यायोंसहित, अथवा उनकेद्वारा, एक परिणामसे दूसरे परिणाममें, एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें और एक कालसे दूसरे कालमें अविनाशी स्वभावरूपसे रहनेवाले द्रव्यको जो ले जाता है, अर्थात् उसका स्मरण करा देता है, उसे नय कहते हैं ॥ ४ ॥

निशेपार्थ--जागममें द्रव्यका लक्षण दो प्रकारसे बतलाया है, एक 'गुणपर्यवचद द्रव्यम्' अर्थात् जिसमें गुण और पर्याय पाये जाय उसे द्रव्य कहते हैं। और दूसरा 'उत्पाद-व्यय-प्रौढ्ययुक्त सत्' व 'सद् द्रव्यलक्षणम्' जो उत्पत्ति, विनाश और स्थिति-स्वभाव होता है वह सत् है, और सत् ही द्रव्यका लक्षण है। यहा पर नयकी निश्चिति करते समय द्रव्यके इन

१ "अनन्त पर्यायात्मकस्य वस्तुन अयनम पर्यायाभिगम कर्तव्यं जालयुतयपक्षो निवचय प्रयोगो नय इति अय वाक्य-नय तच्चाय माय गत ।" जयव ज पृ २६ तथाज्ञाद प्रविमतायै विज्ञय-यन्त्रो नय । आ भी १०६ वस्तुयनेवातामन्यविरोधन हवणामाव्य विज्ञपस्य यावाभ्य प्रापण प्रवण प्रयागो नय । स सि १, ३३ प्रमाण प्रजाधितार्थ विशेष प्ररूपो नय । त रा वा १, ३३ प्रमाणन वस्तुसंश्रुतीताथकागो नय । धुत विकल्पो वा ज्ञातुरभिप्रायो वा नय । नानास्वभाव्येभ्यो व्यावृत्त एकरिमन् स्वभाव वस्तु नयति प्राप्नोति वा नय । आ प १२१ जीवादीन् पदायावयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निवर्तयन्ति निर्माययन्ति उपलम्बयन्ति व्यञ्जयन्ति इति नया । स त दृ १, ३० ज णाणीण विरप्प सुअ मय व द्दु अम-सगण्ण । त इह णय पठच, णाणी पुण तदि णाणीहि ॥ न च १७८

२ दव्य सङ्खलणिय उपाद-व्यय पुवत्त-नहुत् । गुण-पञ्जयासय वा ज त भणति सव्वण्ह ॥ पथा १०

अपरिचत्त-सहवैशुपाद व्यय पुवत्त-सज्जत् । गुणव च मपञ्जाय ज त द व ति वृचति ॥ प्रवच २, ३

तित्यवर नयण सगह तिसैस पंगार-मूल गायरणी ।

द-गुडिओ य प-जय गयो य सेसा त्रियणा सि ॥ ५ ॥

द गडिय गय परई सुद्धा सगह पंगरणा तिसयो ।

पडिऊय पुण नयणय णिच्छयो तस्म वगहारो ॥ ६ ॥

दोना लक्षणापर दृष्टि रक्खी गई प्रतीत होनी ह। नय किसी निवक्षित धर्मद्वारा ही द्रव्यका बोध कराता ह। नयके इस लक्षणका सर्वत्र भी 'गुणपञ्चणहि' पदद्वारा हा जाना हे। यह पद तत्ताया चिन्तित्ति सहित हानस उस द्रव्यके लक्षणमें तथा निरुक्तिके साथ नयके लक्षणमें भी ल सक्ने ह ॥ ४ ॥

नीथरुकर चचनाके सामान्य प्रस्तारका मूल व्याख्यान करनेवाग द्रव्याधिक नय हे आर उहा चचनोंके विशेष प्रस्तारका मूल व्याख्याना पर्यायाधिक नय ह। शेष सभी नय इन दोना नयोंके निरूप्य जगत् भेद ह ॥ ५ ॥

विशेषार्थ—जिन द्रव्यके दिव्य-जनिह द्वारा जितना भी उपदेश दिया हे, उसका, अभेद जगत् सामान्यकी मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाला द्रव्याधिक नय ह, आर भेद अर्थात् पर्यायका मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाला पर्यायाधिक नय ह। ये दोना ही नय समस्त विचारा अथवा शास्त्राके आधारभूत ह, इसलिये उह यहा मूल व्याख्याता कहा हे। शेष सप्रह, व्यवहार, अनुमान, शब्द आदि इन दोना नयोंके अगतर भेद हे ॥ ॥

सप्रह नयकी प्ररूपणाको विषय करना द्रव्याधिक नयकी शुद्ध प्रकृति ह, आर उस्तुके प्रत्येक भेदके प्रति शब्दोंका निश्चय करना उमसा व्यवहार हे। अर्थात् व्यवहार नयकी प्ररूपणाका विषय करना द्रव्याधिक नयकी अशुद्ध प्रकृति ह ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—वस्तु सामान्य विशेष धर्मात्मक हे। उनमसे सामान्य धर्मको विषय करना द्रव्याधिक आर विशेष धर्मका (पर्यायको) विषय करना पर्यायाधिक नय हे। उनमसे सप्रह आर व्यवहारके भेदसे द्रव्याधिक नय दो प्रकारका ह। जो अभेदका विषय करता ह उसे सप्रह नय कहते ह, आर जो भेदको विषय करता ह उसे व्यवहार नय कहते हैं। ये दोना ही द्रव्याधिक नयकी प्रमत्त शुद्ध आर अशुद्ध प्रकृति ह। जब तक द्रव्याधिक नय घट, पट आदि विशेष भेद न करके द्रव्य सत्त्वरूप हे इसप्रकार द्रव्यको अभेदरूपसे ग्रहण करता ह तब तक वह उसकी शुद्ध प्रकृति समझनी चाहिये। इसे ही सप्रह नय कहते ह। तथा सत्त्वरूप जो द्रव्य हे, उसके जीव आर अजीव ये दो भेद ह। जीवके समारी ओर मुक्त इस्तरह दो भेद ह। अजीव भा पुटल, धर्म, अधर्म, आकाश ओर काल इस तरह पांच भेदरूप हे। इस प्रकार उनसेतर प्रमेदोंकी अपेक्षा अभेदको स्पर्श करता हुआ भी जब वह भेदरूपसे वस्तुको ग्रहण करता हे, तब वह उसकी अशुद्ध प्रकृति समझनी चाहिये। इसीको व्यवहार नय कहते ह।

मूल-णिमेष^१ पञ्चन णयस्स उजुसुद ययण-वि-उदो^२ ।

तस्स ६ सग्दीया साह पसाहा सुहुम-भेया ॥ ७ ॥

उप-जति नियति य भाग णियमेष पञ्चन णयस्स ।

दग्दियस्स सज्ज सदा अणुण्णमाणिण्ड ॥ ८ ॥

यह पर इनका विशेष समझना चाहिये कि वस्तुमें चाहे जितने भेद किये जाय, परन्तु वे कालकृत नहीं होना चाहिये, क्योंकि वस्तुमें कालकृत भेदकी प्रधानतासे ही पर्यायाधिक नयना अवतार होता है। द्रव्याधिक नयकी अशुद्ध प्रकृतिमें द्रव्यभेद अथवा सत्ताभेद ही इष्ट है, कालकृत भेद इष्ट नहीं है ॥ ६ ॥

ऋजुसूत्र वचनका विच्छेदरूप वर्तमान काल ही पर्यायाधिक नयका मूल आधार है, और शब्दादिक नय शास्त्रा उपशास्त्रारूप उसके उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेद है ॥ ७ ॥

विशेषार्थ—वर्तमान समयवत्ता पर्यायको विषय करना ऋजुसूत्र नय है। इसलिये जब तक द्रव्यगत भेदाकी ही मुख्यता रहती है, तब तक व्यवहार नय चलता है, और जब कालकृत भेद प्रारम्भ हो जाता है, तभीसे ऋजुसूत्र नयका प्रारम्भ होता है। शब्द, समभिरूढ और एवभूत इन तीन नयोंका विषय भी वर्तमान पर्यायमात्र है। परन्तु उनमें ऋजुसूत्रके विषयभूत अर्थके वाचक शब्दोंकी मुख्यता है, इसलिये उनका विषय ऋजुसूत्रसे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतर माना गया है। अर्थात् ऋजुसूत्रके विषयमें लिंग आदिसे भेद करनेवाला शब्दनय, शब्दनयसे स्वीकृत लिंग, वचनवाले शब्दोंमें व्युत्पत्तिभेदसे अर्थभेद करनेवाला समभिरूढ नय, और पर्याय-शब्दको उस शब्दसे ध्वनित होनेवाले क्रियाकालमें ही वाचक माननेवाला एवभूत नय समझना चाहिये। इसतरह ये शब्दादिक नय उस ऋजुसूत्र नयकी शाखा उपशाखा है, यह सिद्ध हो जाता है। अतएव ऋजुसूत्र नय पर्यायाधिक नयका मूल आधार माना गया है ॥ ७ ॥

पर्यायाधिक नयकी अपेक्षा पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं, क्योंकि, प्रत्येक द्रव्यमें प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्याय उत्पन्न होती हैं और पूर्व पर्यायोंका नाश होता है। किन्तु द्रव्याधिक नयकी अपेक्षा ये सदा अनुत्पन्न और अविनष्ट स्वभाववाले हैं। उनका न तो कभी उत्पाद होता है और न कभी नाश होता है, वे सदाकाल स्थितिस्वभाव रहते हैं ॥ ८ ॥

विशेषार्थ—उत्पाद दो प्रकारका माना गया है, उसीप्रकार व्यय भी, एक स्वनिमित्त, और दूसरा परनिमित्त। इसका खुलासा इसप्रकार समझना चाहिये कि प्रत्येक द्रव्यमें आगम प्रमाणसे अनन्त अगुरुलघु गुणके अनिभागप्रतिच्छेद माने गये हैं, जो पङ्गुगुणहानि और पङ्गुगुणवृद्धिरूपसे निरन्तर प्रवर्तमान रहते हैं। इसलिये इनके आधारसे प्रत्येक द्रव्यमें उत्पाद

^१ 'णिमेषमवि ठाण' देशा ना ८, ३७

^२ ऋजुसूत्रवचनविच्छेदो मूलाधारो येषां नयानां त पर्यायाधिका । विच्छिद्यतस्मिन् काल इति विच्छेद । ऋजुसूत्रवचन नाम वर्तमानवचन, तस्य विच्छेद ऋजुसूत्रवचनविच्छेद । स काल मूल आधारो येषां नयानां त पर्यायाधिका । ध्वन्यायामग्रे नय विवरण

त य णेगम-मगह-वजहार-णमु सच्चं एते णिस्सेवा इवति तच्चिमयम्मि
तच्चमपं मारिच्छ सामण्णहि मच्च णिक्खेय-मममादो। कथ दच्चद्विय-णयं भाय-णिक्खेयस्स
मममो ? ण, वट्टमाण पज्जायौवल्लिरय दच्च भायो एदि दच्चद्विय-णयम्म वट्टमाण-

और व्यय हुआ करता है। इसका स्वनिमित्तोत्पाद-व्यय कहते हैं। उसीप्रकार पर निमित्तसे भी द्रव्यमें उत्पाद और व्यय का व्यवहार किया जाता है। जैसे, स्वर्णहारने कटेसे कुण्डल बनाया। यहाँ पर स्वर्णकारके निमित्तसे कटरूप सेनेरी पर्याय नष्ट होकर कुण्डलरूप पर्यायका उत्पाद हुआ है और इसमें स्वर्णकार निमित्त है, इसलिये इस पर निमित्त उत्पाद-व्यय समझ लेना चाहिये। इसीप्रकार आकाशादि निष्क्रिय द्रव्यों में भी पर निमित्त उत्पाद और व्यय समझ लेना चाहिये, क्योंकि आकाशादि निष्क्रिय द्रव्य दूसरे पदार्थोंके अग्राहन, गति आदिमें कारण पड़ते हैं, और अवगाहन, गति आदिमें निरन्तर भेद दिखाई देता है, इसलिये अग्राहन, गति आदिमें कारण भी भिन्न होना चाहिये। स्थित वस्तुके अग्राहनमें जो आकाश कारण है उसमें भिन्न दूसरा ही आकाश किया परिणत वस्तुके अग्राहनमें कारण है। इसतरह अवगाह्यमान वस्तुके भेदसे आकाशमें भेद सिद्ध हो जाता है, और इसलिये आकाशमें पर निमित्तसे भी उत्पाद-व्ययका व्यवहार किया जाता है। इसीप्रकार धर्मादिक द्रव्यों में भी पर निमित्तसे उत्पाद और व्यय समझ लेना चाहिये। इसप्रकार यह सिद्ध हो गया कि पर्यायाधिक नयनी अपेक्षा पदार्थ उत्पन्न भी होतें हैं और नाशही भी प्राप्त होते हैं। इसप्रकार अनन्त मालसे अनन्त-पर्याय परिणत होते रहने पर भी द्रव्यका कभी भी नाश नहीं होता है, और न एक द्रव्यके गुण-धर्म बदलकर कभी दूसरे द्रव्य रूपही हो जाते हैं। अतएव द्रव्याधिक नयकी अपेक्षा पदार्थ संप्रदा स्थिति-समाप्त है ॥ ८ ॥

उन मान नयोंमें स नेगम, समग्र और व्यवहार, इन तीन नयोंमें नाम, स्थापना आदि सभी निक्षेप होते हैं, क्योंकि, इन नयोंके विषयभूत नष्ट-सामान्य और सादृश्य सामान्यमें सभी निक्षेप सम्भव हैं।

शङ्का—द्रव्याधिक नयमें भावनिक्षेप कैसे सम्भव है? अर्थात् जिस पदार्थमें भावनिक्षेप होता है वह तो उस पदार्थकी वर्तमान पर्याय है परन्तु द्रव्याधिक नय सामान्यके विषय करता है, पर्यायको नहीं। इसलिये द्रव्याधिक नयमें, अर्थात् द्रव्याधिक नयके विषयभूत पदार्थमें, जिसप्रकार दूसरे निक्षेप घटित हो जाते हैं उसप्रकार भावनिक्षेप घटित न हो सकता है। भावनिक्षेपका अन्तर्भाव तो पर्यायाधिक नयमें सम्भव है?

समाधान—यह नहीं है, क्योंकि, वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको ही भाव कहते हैं, और यह वर्तमान पर्याय भी द्रव्यकी आरम्भसे लेकर अन्ततककी पर्यायोंमें आती जाती है। तथा द्रव्य, अर्थात् सामान्य, द्रव्याधिक नयका विषय है जिसमें द्रव्यकी विकारवर्ती पर्याय अन्तनि-

१ नेगम मगह-वजहार मज्ज इ-अव । ममाय पाहुं उणि (अथ अ) पृ ३०

गाम्पन्य द्रवा, तिष्ठव्यवस्था मदात् । मन्त्र परिणामस्तिथय, मण्ड कुण्डादियुक्तवत् । परापरविवर्त-
यति स्वयम् वेत्ति मन्त्रि व्यापारिण । पृ ४, ५

मनि आरभणहुडि आ उतरमादो । सगहे सुद्ध-दण्डिए पि भाव-णिकसेवस्स अतिथत्तं
ण विरुज्झदे सुकुम्भिए-णिम्मित्तमेस-विमेस-सत्ताए सच्च-कालमण्डिःए भावव्भुव-
गमादो ति ।

णाम टण्णा दणिए ति एस दण्डियस्स णिकसेवो ।

भाओ दु पज्जणटिय परस्परणा एस परमहो ॥ ९ ॥

अणेण सम्मड-सुत्तेण सह कवमिदं वक्खाण ण विरुज्झदे ? इदि ण, तत्थ
पञ्जायस्मलस्सण-क्खण्डणो भावव्भुवगमादो ।

हित ह, अतएव द्रव्यार्थिक नयमें भावनिक्षेप भी बन जाता है। यहा पर पर्यायकी गौणता
और द्रव्यकी मुख्यतासे भावनिक्षेपका द्रव्यार्थिक नयमें अन्तर्भाव समझना चाहिये।

इसप्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिकरूप सप्रह नयमें भी भावनिक्षेपका सद्भाव विरोधको प्राप्त
नहीं होता है, क्योंकि, अपनी कुक्षिमें समस्त विशेष सत्ताओंको समाविष्ट करनेवाली और
सदाकाल एकरूपसे अवस्थित रहनेवाली महासत्तामें ही 'भाव' अर्थात् पर्यायका सद्भाव माना
गया है।

अभेदरूपसे उस्तुको जब भी ग्रहण किया जायगा, तब ही वह वर्तमान पर्यायसे युक्त
होगी ही, इसलिये वर्तमान पर्यायका अन्तर्भाव महासत्तामें हो जाता है। और शुद्ध सप्रह
नयका महासत्ता विषय है, अतएव सप्रह नयमें भी भावनिक्षेपका अन्तर्भाव ही जाता
है। यहा पर भी पर्यायकी गौणता और द्रव्यकी मुख्यता समझना चाहिये।

अज्ञा—'नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीनों द्रव्यार्थिक नयके निक्षेप है, और भाव
पर्यायार्थिक नयका निक्षेप है। यही परमार्थ सत्य है।' ॥ ९ ॥

सन्मतितर्कके इस कथनसे 'भावनिक्षेपका द्रव्यार्थिक नयमें अथवा सप्रह नयमें भी
अन्तर्भाव होता है' यह व्याख्यान क्यों नहीं विरोधको प्राप्त होगा ?

निशेपार्थ—शस्त्रकारका यह अभिप्राय है, कि सन्मतिकारने भावनिक्षेपका केवल
पर्यायार्थिक नयमें ही अन्तर्भाव किया है। परन्तु यहापर उसका द्रव्यार्थिक नयमें भी अन्तर्भाव
किया गया है। इसलिये यह कथन तो सन्मतिकारके कथनसे विरुद्ध प्रतीत होता है।

समाधान—ऐसी शका ठीक नहीं है, क्योंकि, सन्मतितर्कमें, पर्यायका लक्षण क्षणिक
है इसे भावरूपसे स्वीकार किया गया है। अर्थात् सन्मतितर्कमें पर्यायकी धिवक्षासे कथन किया
है, और यहा पर वर्तमान पर्यायको द्रव्यसे अभिन्न मानकर कथन किया है। इसलिये कोई
विरोध नहीं आता है।

१ स त १, ६ नामात् स्थापनाद्रव्य द्रव्यार्थिकनयार्पणात् । पर्यायार्पणात् भावस्तेन्याम् सम्य-
गारित ॥ त स्ते वा १, ५ ६९ नामादित्य दण्डियस्स भावो य पञ्चनयस्स । सगह-ववहरा पदमगस्स सेसा
य इयस्स ॥ वि मा ७५ पर्यायार्थिकनयेन पयायतन्वमधिगन्तव्यम्, इतरेषां नामस्थापनाद्रव्याणां द्रव्यार्थिकनयेन
स्थापनामकत्वात् । स पि १, ६ वृत्ति

उज्जुमुदे इरण णिस्सेर रज्जिउग मज्जे णिस्सेवा ह्वरति तन्व साम्भित्त-
साम्भणभावात् ।

कथमुज्जुमुदे पञ्जगडिण दय-णिस्सेयो त्ति ? ॥, तत्थ उट्टमाण-ममयाणत-
मुणणिण्ड एग दव्व-सभपाटो । ॥ तत्थ णाम-णिस्सेयाभायो पि मद्दोणलद्धि-काले णियत-
ताचयत्तुलभाटो । मद्-ममभिरूढ-प्पभूद-णणस्स पि णाम-भाय णिस्सेया हरात्ति तेसि
चेय तत्थ सभपाटो । अत्थ किमट्ट णय-परुणणमिदि ?

प्रमाण नय निश्चयेयाऽथा नाभिस्तमा, यने ।

युक्त च युक्तमिति तस्यायुक्त च युक्तमने ॥ १० ॥

ऋतुसूत्र नयम स्थापना निक्षेपमें छोड़कर शेष सभी निक्षेप सभाव हैं, क्योंकि, ऋतुसूत्र नयम सादृश्य सामान्यता ग्रहण नहीं होता है। और स्थापना निक्षेप सादृश्य-सामान्यता मुख्यतासे होता है।

प्रका—ऋतुमूल तो पर्यायाधिक नय है, उसमें द्रव्यनिक्षेप कैसे घटित हो सकता है?

समाधान—एसी शका ठीक नहै है, क्योंकि, कजुमन नयमें प्रतीमान समयवर्ती पर्यायस अनन्तगुणित एक द्रव्य ही ना प्रियरूपसे समय है।

विशेषार्थ—पर्याय द्रव्यको छोड़कर स्वतन्त्र नहीं रहती है, और क्रतुसूत्रका विषय वर्तमान पर्यायनिशिष्ट द्रव्य है। इसलिख क्रतुसूत्र नयम द्रव्यनिक्षेप भी सम्भव है।

इसीप्रकार क्लृप्तत्रय नाम निक्षेपता भी अभाज नहा है, क्योंकि, जिस समय शब्द का ग्रहण होता है, उसी समय उसकी नियत वाच्यता अर्थात् उसके विषयभूत अर्थका भी ग्रहण हो जाता है।

गुरु, समभिन्धु गुरु एवम्भूत नयम भी नाम जोग भाव ये दा निक्षेप होते ह, क्योंकि, य दो ही निक्षेप यहा पर सभव ह, अन्य नहीं।

निर्णयार्थ शब्द, सम्भिरूढ आर एवभूत, य तीनो ही नय शब्द प्रधान ह, आर शब्द किसी न किसी सशके प्राचक होत ही ह। अत उक्त तीनों नयोंम नाम निक्षेप घन जाता ह। तथा, उक्त ताना नय प्राचक शब्दके उच्चारण करने ही पूर्वमानकालीन पर्यायको भी विषय करने हे, अतएव उनम भाव निक्षेप भी घन जाता हे।

शका—यहाँ पर नयका निरूपण किसलिये किया गया है?

समाधान—जिस पदार्थका प्रत्यक्षतादि प्रमाणाके द्वारा, नगमादि नयोंके द्वारा और

१ उद्गमनी ठवण तउ । कमाय पाहुन उणिण (नयध अ.) पृ ३०

३ तां ण पमाय कएअं जिअएअं जिअएअं (जयव अ,) पृ ३१

३ ना ण धमाण कणं निक्खयणं निमित्तं अयं । तस्मात्तु ज्ञत्तं जत्तमज्जत्तं प पत्तिदं । नि प
अथ ना क माप्तिगदं निक्खयणं धमाणां विणिग्गा । तस्मात्तु ज्ञत्तं जत्तमज्जत्तं क पत्तिदं ।

ज्ञान प्रमाणमित्याहुत्पाथा न्यास उच्यते ।

नञो ज्ञातुमिमांशो युक्तितोऽर्थ परिग्रहे ॥ ११ ॥ एति ।

तत कर्तव्य नयनिरूपणम् ।

उदाणि णिकसेनत्थ भणिस्सामो । तत्थ णाम-मगल णाम णिमित्ततरं णिरवेक्खता
मगल-मण्णा । तत्थ णिमित्त चउच्चिह, जाह-दव्व-गुण-फिरिया चेदि । तत्थ जाई तव्वम-
सारिच्छ-लसण-आमण्ण । दव्व दुविह, मज्जोय-दव्व ममजाय-दव्व चेदि । तत्थ

नामादि निक्षेपोंके द्वारा सूक्ष्म दृष्टिसे विचार नह। किया जाता है, यह पदार्थ कभी युक्त
(मगत) होते हुए भी अयुक्त (असगत) सा प्रतीत होता है जो कभी अयुक्त होते हुए भी
युक्त की तरह प्रतीत होता है ॥ १० ॥

विज्ञान लेख सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, नामादिकोंके द्वारा वस्तुमें
भेद करनेके उपायको न्यास या निक्षेप कहते हैं, और ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं ।
इसप्रकार युक्तिसे अर्थात् प्रमाण, नय और निक्षेपोंके द्वारा पदार्थका ग्रहण अथवा निर्णय
करना चाहिये ॥ ११ ॥

अतएव नयका निरूपण करना आवश्यक है ।

अब आगे नामादि निक्षेपोंका कथन करते हैं । उनमेंसे, अन्य निमित्तोंकी अपेक्षा रहित
किमीकी 'मगल' ऐसी सहा करनेको नाममगल कहते हैं । नाम निक्षेपमें सहाके चार
निमित्त होते हैं, जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया । उन चार निमित्तोंमें से, तद्रूप और सादृश्य-
लक्षणवाले सामान्यको जाति कहते हैं ।

निशेपार्थ—जिसमें त्रिविधत-द्रव्यगत भूत, वर्तमान और भविष्यकाल सवन्धी पर्यायों
अन्वयरूपसे होती हैं उस सामान्यको, अथवा किसी एक द्रव्यकी त्रिकालगोचर अनेक पर्यायोंमें
रहनेवाले अन्वयको तद्रव्यसामान्य या ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं । जैसे मनुष्यकी बालक, युवा
और वृद्ध अवस्थाओं मनुष्यत्व सामान्यका अन्वय पाया जाता है । तथा एक ही समयमें नाना
व्यक्तिगत सदृश परिणामको सादृश्यसामान्य या तिर्यक्सामान्य कहते हैं । जैसे, रंग, आकार
आदिसे भिन्न भिन्न प्रकारकी गायोंमें गोत्व सामान्यका अन्वय पाया जाता है ।

द्रव्य निमित्तके दो भेद हैं, सयोग द्रव्य और समजाय द्रव्य । उनमें, अलग अलग मत्ता

१ ज्ञान प्रमाणमादृशपाथो याम उच्यत । नया ज्ञातुमिमांशो युक्तितोऽर्थ परिग्रहे ॥ लघाय ६, २
णाण होदि पमाण पञो वि णाट्म्य दिदय भावत्था । णिकसेओ वि उवाआ वुचाण जअपटिगदण ॥ ति प १, ८३
वथ पमाणमिमय णयविमय इव वथ एयम । ज दादि णिणयट्ट त णिकसेने इव विमय ॥ णाणामहाय मरिय वड्डु
गहिउण त पमाणेण । एयनणामणट्ट पञ्छा णय जजण वुणह ॥ जम्हा णण्ण ण विणा णो णस्स मिय-वाय-
पौवत्ता । तम्हा सो णायवा एयत वुवामण ॥ न च १७२, १७३, १७४

२ नाना वस्तुमिमांशो निमित्त कथित ममम् । तस्मान् यच्च जायादि निमित्तान्तरमित्यत ॥

त स्तो वा १, ५

मजोय दव्यं णाम पुध पुध पमिद्वाण दव्याण मजोमेण णिप्पण । ममयाय-दव्यं
 णाम ज दव्यम्मि समयेद । गुणो णाम पज्जायादि-परोप्पर निरुद्धो अनिरुद्धो वा ।
 किरिया णाम परिष्फट्ठणरूपा । तत्थ जाड-णिमित्त णाम गो-मणुम्म-घट-पड-त्थम-
 वेत्तादि । सजोग-दव्य णिमित्त णाम दडी छत्री मोली इच्चैरमादि । ममयाय-णिमित्त
 णाम गल गडो काणो कुडो इच्चैरमाट । गुण णिमित्त णाम णिण्हे रुहिरौ इच्चैरमाडे ।
 किरिया णिमित्त णाम गायणो णच्चणो इच्चैरमाडे । ण च एदे चत्तारि णिमित्ते
 मोत्तण णाम पउत्तीए अण्ण णिमित्तत्तरमत्थि ।

रखनेवाले द्रव्यके मेलमे जो पदा हो उमे सयोग द्रव्य कहते ह । जो द्रव्यम समयेन हो
 अर्थान् कथंचित् तादात्म्य रखता हो उसे समयाय द्रव्य कहते ह । जो पर्याय आदिकसे परस्पर
 निरुद्ध हो अथवा अविरुद्ध हो उमे गुण कहते ह ।

विशेषार्थ—इसका अर्थ इसप्रकार प्रतीत होता ह कि उत्पाद आर द्रव्यकी विप्रक्षाले
 गुण, पर्यायसे कथंचित् निरुद्ध अर्थात् भिन्न हैं, आर ध्रात्य विप्रक्षाले टक्कोत्कीर्ण न्याया
 नुसार अभिन्न अर्थात् अविरुद्ध भी ह ।

परिस्पन्द अर्थात् हलन चलनरूप अवयवोंको क्रिया कहते ह ।

उन चार प्रकारके निमित्तमसे, गा, मनुष्य, घट, पट, स्तम्भ आर घेत इत्यादि जाति-
 निमित्तक नाम ह, क्योंकि, गो, मनुष्यादि सत्ताण गो, मनुष्यादि जानिम उत्पन्न होनेमे प्रचलित
 ह । दण्डी, छत्री, मोली इत्यादि सयोग द्रव्य निमित्तक नाम हैं, क्योंकि, दडा, छतरी, मुकुट
 इत्यादि न्यतर सत्तावाले पदार्थ ह, आर उनके सयोगसे दडी, छत्री, मोली इत्यादि नाम
 व्यवहारमें आते हैं । गलगण्ड, काना, कुबडा इत्यादि समवाय द्रव्यनिमित्तक नाम ह, क्योंकि,
 जिसके लिये 'गलगण्ड' इस नामका उपयोग किया गया ह उससे गलेका गण्ड भिन्न सत्तावाला
 नहीं है । इसीप्रकार काना, कुबडा आदि नाम समझ लेना चाहिये । कृष्ण, रुधिर इत्यादि गुण
 निमित्तक नाम हैं, क्योंकि, कृष्ण आदि गुणोंके निमित्तसे उन गुणवाले द्रव्यमें ये नाम व्यव
 हारमें आते ह । गायक, नर्तक इत्यादि क्रियार निमित्तक नाम ह, क्योंकि, गाना, नाचना आदि
 क्रियाओंके निमित्तसे गायक नर्तक आदि नाम व्यवहारमें आते हैं । इसतरह जाति आदि
 उन चार निमित्तोंको छोड़कर सत्ताकी प्रवृत्तिम अथ कोई निमित्त नहीं ह ।

१ जातिगण शब्दो ि या न्यायिषु वर्तन । जाति तु म विपया गौरव इति शब्दवत् ॥

त स्म वा १, ५, ३

२ सयोग द्रव्य शब्द स्यात्कलायातिरदवत् । समवायि द्रव्य शब्दा विद्यालालादिरास्थित ॥

त स्म वा १, ५, ९

३ गुणप्राधान्या वृत्त द्रव्य गुणनिमित्तक । शुक पाठ इत्यादि शब्दव्यवसायत ॥ त स्म वा १, ५, ६

४ कम प्राधान्यस्तत्र कम प्रवृत्तिरुपपन्न । चरति शब्दे यद् रुचिदियतिनिमित्तम् ॥ त स्म वा १, ५, ७

उच्चत्थ-णिरनेकसो मगल-सदो णाम-मगल । तम्म मगलस्स आवारो अट्ठविहो । तं जहा, जीरो वा, जीना मा, अजीरो मा, अजीना वा, जीरो य अजीरो य, जीना य अजीना य, जीरो य अजीना य, जीना य अजीना य^१ ।

तत्थ ट्ठण-मगल णाम आहिद-णामस्स अण्णस्स सोयमिदि ट्ठण ट्ठणा णाम ।

वाच्यार्थ अर्थात् शब्दार्थकी अपेक्षा रहित 'मगल' यह शब्द नाममगल है। उस नाममगलका आधार आठ प्रकारका है। जैसे, १ एक जीव, २ अनेक 'जीव', ३ एक अजीव, ४ अनेक अजीव, ५ एक जीव और एक अजीव, ६ अनेक जीव और एक अजीव, ७ एक जीव और अनेक अजीव, ८ अनेक जीव और अनेक अजीव ।

१ विशेषार्थ—मगलके लिये आधार या आश्रय आठ प्रकारका होता है, जिसका खुलासा इसप्रकार समझना चाहिये—'साभात् एक जिनेन्द्रदेवके आश्रयसे जो मगल किया जाता है उसे एकजीवाश्रित मगल कहते हैं। यहा जिनेन्द्रदेवके स्थानपर एक जिन याति भी लिया जा सकता है। २ अनेक यतियोंके आश्रयसे जो मगल किया जाता है उसे अनेक जीवाश्रित मगल कहते हैं। ३ एक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके आश्रयसे जो मगल किया जाता है उसे एक अजीवाश्रित मगल कहते हैं। ४ अनेक जिन प्रतिमाओंके आश्रयसे जो मगल किया जाता है उसे अनेक अजीवाश्रित मगल कहते हैं। ५ एक जिनेन्द्रदेव और एक ही उनकी प्रतिमाके आश्रयसे एक ही समय जो मगल किया जाता है उसे एक जीव और एक अजीवाश्रित मगल कहते हैं। ६ अनेक यति और एक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके आश्रयसे एक ही समय जो मगल किया जाता है उसे अनेक जीव और एक अजीवाश्रित मगल कहते हैं। ७ एक जिनेन्द्रदेव और अनेक जिन प्रतिमाओंके आश्रयसे एक ही समय जो मगल किया जाता है उसे एक जीव और अनेक अजीवाश्रित मगल कहते हैं। ८ अनेक यति और अनेक जिन प्रतिमाओंके आश्रयसे एक ही समय जो मगल किया जाता है उसे अनेक जीव और अनेक अजीवाश्रित मगल कहते हैं।

उन नामादि निक्षेपोंमेंसे अब स्थापनामगलको बतलाते हैं। किसी नामको धारण करने-वाले दूसरे पदार्थकी 'वह यह है' इसप्रकार स्थापना करनेको म्यापना निक्षेप कहते हैं।

१ प्रतिप 'वज्जथ' इति पाठ । ' नाम पि हा न मना तच्च च ग तथथपरिउध ॥ वि भा ३४००

२ पाठाध्यमादशप्रतावित्थमुपलभ्यत—“जावो वा जावा वा अजावा वा अजीवो वा जावो च अजावो च अजावा च अजावा च जावा च अजीवा च जीना चति” । “निबिदि प्रतिममज्जीवनाम, यथा णिच इति । निबिदिनरुज्जावनाम यथा यथ इति । निबिदिनकाजीवनाम, यथा घट इति । निबिदिनकाजीवनाम, यथा प्राणाद इति । निबिदिनकाजीवनाम, यथा प्रतीहार इति । निबिदकजीवानकाजावनाम, यथा काहार इति । निबिदिनकाजावानक जावनाम, यथा मदुराणि । निबिदिनरुज्जावावावावा, यथा नगरामिनि” । त एव वा १, ५ जावत्स सो जिणत्स च अजीवत्स उ जिणदपडिमाण । जीवाण जईण पि व अजावाण तु पडिमाण ॥ जीवत्साजीवत्स य जइणो विवत्स चणअ समय । जावत्सावाण य जइणो पडिमाण चणअ ॥ जीवाणमजीवत्स य जईण विवत्स चणअ समय । जावणमजावाण य जइण पडिमाण चणअ ॥ वि भा ३४२४, ३४२५, ३४२६

सा दुषिहा, स-भाराम-भार दृश्या चेदि । तत्त आगारनण पन्थुम्मि मन्माय-दृश्या ।
तन्निरीया अमन्माय दृश्या ।

मगल-पञ्चय परिणत जीव रूप लिहण एणण-चवण-अपेयणादिण ढुट्टिद पुट्टीए
आरोपिद-गुण समह सन्माय दृश्या मगल । पुट्टीए ममारोपिद-मगल-पञ्चय-परिणत-
जीव गुण सरूपएउ पगटयादयो अमन्माय दृश्या-मगल ।

दव्व-मगल णाम अणागय-पञ्चाय विमेम पडुच्च गहियाहिमुहिय दव्व अतन्माय ता ।
त दुषिह, आगम णो आगम दव्व चेदि । आगमो मिट्ठतो पय्यणमिदि एयटो । आगमाटो

यह स्थापनानिधेय दो प्रकारका ह, सद्भाव-स्थापना और असद्भाव-स्थापना । इन दोनोंमें से, जिस
वस्तुकी स्थापना की जाती है उसके आकारका धारण करनेवाली वस्तुमें सद्भाव-स्थापना
समझना चाहिये, तथा जिस वस्तुकी स्थापना की जाती है उसके आकारसे रहित वस्तुमें
असद्भाव-स्थापना जानना चाहिये ।

लेखनीसे लिखकर अर्थात् चित्र बनाकर, और गन्त जगत् छती, टाकी आदिके
द्वारा, बंधन अर्थात् चिन्ता, लेप आदिके द्वारा तथा क्षेपण अर्थात् साचे आग्निमें डलाने आदिके
द्वारा मूर्ति बनाकर स्थापित किये गये, और जिसमें बुद्धिसे अनेक प्रकारके मगलरूप अर्थात्
सर्व गुणसमूहाकी स्थापना की गई है ऐसे मगल पर्यायसे परिणत जीवक स्वरूपको अर्थात्
आत्मिको सद्भाव-स्थापना मगल कहते हैं ।

नमस्कारादि करते हुए जीवके आकारसे रहित अक्ष अर्थात् शतरजकी गोष्ठाम,
घराटक अर्थात् कालियाम तथा इन्नोंप्रकारकी अन्य वस्तुओंमें मगल-पर्यायसे परिणत जीवके
गुण या स्वरूपकी बुद्धिमें कल्पना करना अतदाकार-स्थापना मगल है ।

विशेषार्थ—जैसे शतरज आदिने खेलमें राजा, मंत्री आदिकी और खेजनेकी काढी
य पासमें स्थायी आरोपणा होती है, उसीप्रकार मगलपर्यायपरिणत जीव और उसके
गुणोंकी बुद्धिके द्वारा की हुई स्थापनाको असद्भाव-स्थापनामगल कहते हैं ।

अथ द्रव्यमगलका कथन करते हैं । आगे होनेवाली पर्यायको ग्रहण करनेके समुच्च
हुए द्रव्यको (उस पर्यायकी अपेक्षा) द्रव्यनिधेय कहते हैं । अर्थात्, वर्तमान पर्यायकी
विषयासे रहित द्रव्यको ही द्रव्यनिधेय कहते हैं । यह द्रव्यनिधेय आगम और नो आगमके
भेदसे दो प्रकारका है ।

आगम, सिद्धान्त और प्रवचन, ये शब्द एकार्थवाची हैं । आगमसे भिन्न पदार्थको नो
आगम कहते हैं ।

१ तस्यापारम्भमाननं भावद्राष्टिना समाना प्रतिमा सद्भावस्थापना, मुख्यदाशन स्वयं तस्यास्तद्विद्धि-
ममवान्, कश्चित्स्यास्यसद्भावार्त्तं न सा वा १, १
२ मूल्यादायना वस्तुमात्रा पनमद्भावस्थापना परापदशब्दवत्तरसा यमिति मय्ययात् । त सा वा १, ५

अणो णो-आगमो । तत्त जागमदो ढव्व-मगल णाम मगल-पाहुड-जाणो अणुपजुत्तो,
मगल-पाहुड-सद-रयणा वा, तम्मत्त-द्वयण-सुख-रयणा वा । णो-आगमदो ढव्व-मगल
विप्पिह, जाणुग-सरीर भविय तच्चदिरित्तमिदि । ज त जाणुग-सरीर णो-आगम-उव्व-मगल
त तिप्पिह, मगल-पाहुडम्म केवल णाणादि-मगल-पज्जायम्म वा आधारत्तणेण भविय-उट्टमा-
णादीढ-सरीरमिदि । आहारम्माहेयोपयागदो मउदु णरिढ-मगल-पज्जाय-परिणद-जीव-

मगल प्राप्त अर्थात् मगल विषयका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको जाननेवाला, किन्तु
वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगम द्रव्यमगल कहते हैं । अथवा, मगल विषयके
प्रतिपादक शास्त्रकी शब्द-रचनाको आगम द्रव्यमगल कहते हैं । मगल विषयको प्रतिपादन
करनेवाले शास्त्रकी स्थापनारूप अश्वरोंकी रचनाको भी आगम द्रव्यमगल कहते हैं ।

विशेषार्थ—आगे होनेवाली पर्यायके समुच्चय, अथवा वर्तमान पर्यायकी विवक्षासे
रहित, अर्थात् भूत या भविष्यत् पर्यायकी विवक्षासे द्रव्यको द्रव्यनिशेष कहा है, और तद्विष-
यक ज्ञानको आगम कहा है । इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जो वर्तमानमें मगलविषयक
शास्त्रके उपयोगसे रहित हो वह आगमद्रव्यमगल है । यहापर जो मगलविषयक शास्त्रकी
शब्दरचना अथवा मगलशास्त्रकी स्थापनारूप अश्वरोंकी रचनाको आगमद्रव्यमगल कहा है
वह उपचारसे ही समझना चाहिये, क्योंकि, मगलविषयक शास्त्र ज्ञानमें मगलविषयक शास्त्रकी
शब्दरचना और मगलशास्त्रकी स्थापनारूप अश्वरोंकी रचना ये मुख्यरूपसे निमित्त पड़ते हैं । वैसे
तो सहकारी कारण शरीरादिश्च और भी होते हैं, परन्तु वे मुख्य निमित्त न होनेसे उनका
ग्रहण नो आगममें किया है । अथवा, मगलविषयक शास्त्रज्ञानसे और दूसरे निमित्तोंकी अपेक्षा
इन दोनों निमित्तोंकी विशेषता दिखानेके प्रयोजनसे इन दोनों निमित्तोंका आगमद्रव्यमगलमें
ग्रहण कर लिया है ।

नो आगमद्रव्यमगल तीन प्रकारका है, ज्ञायकशरीर, भव्य या भावि और तद्व्यतिरिक्त ।
उनमें जो ज्ञायकशरीर नो आगमद्रव्यमगल है वह भी तीन प्रकारका समझना चाहिये । मगल-
विषयक शास्त्रका अथवा केवलज्ञानादिरूप मगल पर्यायका आधार होनेसे भाविशरीर, वर्तमान-
शरीर और अतीतशरीर, इसप्रकार ज्ञायकशरीर नो-आगमद्रव्यनिशेषके तीन भेद हो जाते हैं ।

शक्ता—आधारभूत शरीरमें आधेयभूत आत्माके उपचारसे धारण की हुई मगल-
पर्यायसे परिणत जीवके शरीरको नो आगमज्ञायकशरीरद्रव्यमगल कहना तो उचित भी है,

१ आगमआणुवउत्ता मगल-महाणुयामिजा वत्ता । तनाण लद्धि-महिआ वि नावउत्ता ति ता दव ॥

जइ नाणमागमा ता उट्ट दव्व दव्वमागमो वट्ट णु । आगम-वाणमाया देहा सदो यत्ता दव्व ॥ मगल-वयध-जाणय
येहो भवस्स वा सजीवो वि । नो आगमआ दव्व आगम रायेओ ति ज मणिज ॥ अहवा नो देमस्मि ना आगमओ
तदग-दत्ताओ । भवस्स भाविणो वाऽऽगमम्म ज कारण ददा ॥ जाणय-भव-मरागहरित्तमिह दव्व मगल नो । जा
मगल्ला विगिा व पुणमाणा अणुवउत्ता ॥ वि मा २९, ३०, ४४, ६०, ६६

मरीरम्भ मंगल-व्यवसौ ण अण्णेमि, तेसु द्विद मंगल-पज्जायाभाता । ण, राय पज्जाया-
हारत्तणेण ण्णागदादीद जीये पि राय यत्तारोणलभा ।

तत्त्व अदीद-मरीर तिग्रिह, चुद चड्ढ चत्तमिदि । तत्त्व चुद णाम कयलीधादेण
णिणा पव पि फल न कम्मोदण्ण ज्झीयमाणायु-कयय पदिद । चड्ढ णाम कयली-
धादेण छिण्णायु कयय पदिद मरीर । उच्च च—

पल्लु भावी ओर भूतनालके शरीरकी अवस्थाको मंगल सज्ञा देना किसी प्रकार भी उचित नहीं
है, क्योंकि, उनमें वर्तमान मंगलरूप पर्यायका अभाव है?

ममाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि राज पर्यायका आधार होनेसे अनागत और अतीत
जीवन भी जिसप्रकार राजारूप व्यवहारकी उपलब्धि होती है, उसीप्रकार मंगल पर्यायसे
परिणत जीवका आधार होनेसे अतीत और अनागत शरीरमें भी मंगलरूप व्यवहार हो
सकता है ।

निशेपार्थ—आगमके सहकारी कारण होनेसे शरीरको नो आगम कहा गया है और
उसमें अन्यय प्रत्ययकी उपलब्धि होनेसे उसे उच्य कहा गया है । ये दोनों बातें अतीत, वर्तमान
और अनागत इन तीनों शरीरोंमें घटित होती हैं, इसलिये इनमें मंगलपनेका व्यवहार हो
सकता है । इसका गुलासा इसप्रकार है—

ओदारिक, वक्रियक और आहारक शरीर मंगलविषयक शास्त्रके परिज्ञानमें सहकारी
कारण हैं, क्योंकि, इनके बिना कोई शास्त्रका अभ्यास ही नहीं कर सकता है । अब इनमें अन्यय-
प्रत्यय कैसे पाया जाता है इसका गुलासा करने ह । जिस शरीरसे मैंने मंगल शास्त्रका अभ्यास
किया था वही शरीर उक्त अभ्यासको पूरा करने समय भी विद्यमान है, इसप्रकार तो वर्तमान
ज्ञायक शरीरमें अवयवप्रत्यय पाया जाता है । मंगल शास्त्रज्ञानसे उपयुक्त भेदा जो शरीर था,
तद्विषयक शास्त्रज्ञानसे रहित भेद अब भी वही शरीर विद्यमान है, इसप्रकार अतीत ज्ञायक
शरीरमें अवयवप्रत्ययकी उपलब्धि होती है । मंगल शास्त्रज्ञानके उपयोगसे रहित भेदा जो
शरीर है वही तद्विषयक तत्त्वज्ञानकी उपयोग-दशामें भी होगा, इसप्रकार अनागत ज्ञायकशरीरमें
अवयवप्रत्ययकी उपलब्धि बन जाती है । इसलिये वर्तमान शरीरकी तरह अतीत और अनागत
शरीरमें भी मंगलरूप व्यवहार हो सकता है ।

इनमेंसे अतीत शरीरके तीन भेद हैं, च्युत, व्याधित और त्यक्त ।

कदलीघात मरणके बिना कर्मके उदयसे बढनेवाले आयुकर्मके क्षयसे पके हुए
फलके समान अपन आप पतित शरीरको च्युतशरीर कहते हैं ।

निशेपार्थ—जैसे पका हुआ फल अपना समय पूरा हो जानेके कारण वृक्षमेंसे स्वयं
गिर पड़ता है । वृक्षसे अलग होनेके लिये उसे और दूसरे निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं पड़ती है ।
उसीप्रकार आयु कर्मके पूरे हो जाने पर जो शरीर शस्त्रादिकके बिना छूट जाता है, उसे च्युत
शरीर कहते हैं ।

कदलीघातके भाग आयु—
कहते हैं । कहा भी है—
हूय शरीरको व्याधितशरीर

‘निस त्रेयण रत्तकखय भय सत्थग्गहण-सक्किलिस्सेहि ।

आहारोस्सासाण गिरोहदो ङ्गिन्दे आऊ ॥ इदि ।

चतसरीर तिप्पिह, पायोपगमण-विहाणेण, इग्गिणि-विहाणेण, भत्त-पच्चम्प्राण-विहाणेण चात्तमिदि । तत्रात्मपणेपरारनिग्गेअ प्रायोपगमनम् । आत्मोपकारसच्चपेक्ष परोप-

धिपके खा लेनेसे, घेदनामे, रक्तका क्षय हो जानेसे, तीव्र भयसे, शम्भाघातसे सम्प्लेशकी अधिकतासे, अहार आर व्यामोच्युत्सके रक्त जानेसे आयु क्षीण हो जाती है । इसतरह जो मरण होता है उसे क्यूलीघात मरण कहते हैं ।

विशेषार्थ—जैसे रुदली (केला) के वृक्षका नलवार आदिके प्रहारसे एकदम विनाश हो जाता है, उसीप्रकार विष भक्षणादि निमित्तोंसे भी जीवकी आयु एकदम उर्दीर्ण हो जाती है । इसे ही अकाल मरण कहते हैं, और इसके डारग जो शरीर छूटता है उसे न्यायिन शरीर कहते हैं ।

त्यक्तशरीर तीन प्रकारका है, प्रायोपगमन विधानसे छोड़ा गया, इग्गिनी विधानसे छोड़ा गया और भक्तप्रत्याख्यान विधानसे छोड़ा गया । इसतरह इन तीन निमित्तोंसे त्यक्त शरीरके तीन भेद हो जाने हैं ।

अपने ओर परके उपकारकी अपेक्षा रहित समाधिमरणको प्रायोपगमन विधान कहते हैं ।

विशेषार्थ—प्रायोपगमन समाधिमरणको धारण करनेवाला साधु सस्तरका ग्रहण करना, बाधाके निवारणके लिये हाथ पायका हिलाना, एक क्षेत्रको छोड़कर दूसरे क्षेत्रमें जाना आदि प्रियाए न तो स्वयं करता है और न दूसरेसे कराता है । जैसे काष्ठ सर्वथा निश्चल रहता है, उसीप्रकार वह साधु समाधिमें सर्वथा निश्चल रहता है । शास्त्रोंमें प्रायोपगमनके अनेक प्रकारके अर्थ मिलते हैं । जैसे, सधको छोड़कर अपने परेन्द्रांश किसी योग्य देशका आश्रय करके जो समाधिमरण किया जाता है उसे पादोपगमन समाधिमरण कहते हैं । अथवा, प्राय अर्थात् सन्यासकी तरह उपवासके द्वारा जो समाधिमरण होता है उसे प्रायोपगमन समाधिमरण कहते हैं । अथवा, पादप अर्थात् वृक्षकी तरह निष्पन्दरूपसे रहकर, शरीरसे किसी भी प्रकारकी प्रिया न करते हुए जो समाधिमरण होता है उसे पादोपगमन समाधिमरण कहते हैं । इन सब अर्थोंका मुख्य अभिप्राय यही है कि इस विधानमें अपने व परके उपकार की अपेक्षा नहीं रहती है ।

१ गौ क ५७

२ पायावगमणमण, पादाभ्यासुपगमन दाक्कन तन श्रवणि मण पादापामनमरणम् । अथवा ‘पाउगग-मणमण’ इति पाठ, भवतात्पर्येण प्राप्य सन्नन सर्वान बह प्राप्यशब्दनाश्रये । अन्य गमन प्राप्ति, तन काणभूतेन यद्विबल मरण तदुच्यत पाउगगमणमणमिति । मल्लास पृ ११३ ‘पाआवगमण’ पादपस्यवोपग मनमत्पन्दनया वरधान पादपापगमनम् । तदुत-पाआवाम भणिय मम विमम पायवा जश पडितो । नवर परम्यआगा केपेअ जहा नलनस ज्व ॥ १४४ अमिरा काप (पाओवगमण)

कारनिर्गपेय इगिनीमणम् । आत्मपरोपकारमव्यपेक्ष भक्तप्रत्याख्यानमिति । तत्र भक्त-
प्रत्याख्यान त्रिविधं जघन्योत्कृष्टमध्यममेवात् । जघन्यमन्तर्मुहूर्तप्रमाणम् । उत्कृष्ट-
भक्तप्रत्याख्यान द्वादशवर्षप्रमाणम् । मध्यममेतयोन्तर्गलमिति ।

जिस सन्यासम, अपने द्वारा किये गये उपकारकी अपेक्षा रहती है, किंतु दूसरेके द्वारा किये गए वयावृत्त आदि उपकारकी अपेक्षा सत्रया नहीं रहती, उसे इगिनीसमाधि कहते हैं ।

विशेषार्थ — इगिनी शब्दना अर्थ इगित (अविप्राय) है । इससे यह तात्पर्य निकलता है कि इस समाधिमरणसे करनेवाला स्वतः किये हुए उपकारकी अपेक्षा रखता है । इस समाधि मरणम साधु सधस निकृष्टर किसी योग्य देशम समभूमि अथवा शिलापट्ट देखकर उसके ऊपर स्वयं तृणका समस्त तैयार करके समाधिकी प्रतिष्ठा करता है । इसमें उठना, बैठना, सोना, हाथ-पराका पसारना, मल मूत्रना निसर्जन करना आदि विषाण क्षपक स्वयं करता है । किसी दूसरे साधुकी सहायता नही लेता है । इस तरह यात्राजीवन चार प्रकारके आहारके त्यागके साथ, स्वयं किये गये उपचार सहित समाधिमरणसे इगिनी-सन्यास कहते हैं ।

जिस सन्यासम अपने और दूसरेके द्वारा किये गये उपकारकी अपेक्षा रहती है उसे भक्तप्रत्याख्यानसन्यास कहते हैं ।

विशेषार्थ — भक्त नाम भाजनका है और प्रत्याख्यान त्यागसे कहते हैं । इसका यह अभिप्राय है कि जिस सन्यासम क्रम-क्रमसे आहारादिका त्याग करते हुए अपने और पगये उप-
कारकी अपेक्षा रखकर समाधिमरण किया जाता है, उसे भक्त प्रत्याख्यान-सन्यास कहते हैं ।

इन तीन प्रकारके समाधिमरणोंमेंसे भक्त प्रत्याख्यानविधि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदस तीन प्रकारकी है । जघन्य भक्तप्रत्याख्यानविधिना प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमान है, उत्कृष्ट भक्तप्रत्याख्यानविधिना प्रमाण बारह वर्ष है और मध्यम भक्तप्रत्याख्यान विधिना प्रमाण, जघन्य अन्तर्मुहूर्तस लेकर बारह वर्षके भीतर है ।

१ इगिनीशब्द अतिमात्रना मित्राया मण्यत, स्वाभिप्रायण भित्वा प्रययमान मरण इगिनीमरणम् । यत्न स्वर्गशांतिमाश्रमव । मुद्राया पु १ ६ अत्र नियमाऽनुविधाहविरति, परपरिक्रमविवर्जनञ्च भवति । अन्य पुनरिहिन्यान्तर उद्धतनादि चष्टामक पङ्क्ति यथासमाधि विदधानि । जमि रा काव (इगिनी)

२ भयत दग्धियवमिति मन्त्रमाहात । तस्य प्रतिष्ठा प्रत्याख्यान त्याग । भक्तप्रान्तवा स्वपरयावत्य मयः मरणम् । मुद्राया पु १ १३

३ उक्तमण्य भक्त पशुणा गाला जिह्वादि जिह्वादि । तत्र हि सपहुत वाग्वि वरिमाण पुण्याण ॥ जोगति निवर्तति ॥ स्वर्गति मवर्तमानि वक्तारि । नियन्त्रिणी य आत्मा वक्तारि पुणा वि मान्द्र ॥ जायविल निजियगीति दर्शित आरविलण एव च । अद एदि विगर्ति

मज्जम विणास-भरण उस्मास-णिरोहं काउण मुढ-साहु मरीर कत्थ णिपददि ? ण कत्थ वि तहा मुढ-देहस्स मगलत्ताभावादो । मगल-पाहुड-धारयस्स धरिट-महव्वयस्स चत्त-देहस्स अचत्त-देहस्स वा देहो कधममगल ? साहणमजुत्तकारिस्स देहत्तादो अमगल-मिदि ण वोत्तु जुत्त, पुब्ब ति-रयणाहारत्तेण मगलत्तमुपगयस्स पच्छा भूढ-पुब्ब णाएण मगल-भाप पडि विरोहाभावादो । तदो मगल-भायेण कत्थ वि णिवदेयव्वभेदेण सरीरे-णेति । ण चड्ढमिह पददि चत्तस्स वि आहार-णिरोहेण पदिदस्स चड्ढत्तापत्तीदो । तो कखहिं एण घेत्तव्व ? ऊयली-घादेण मरण-ऊसाए जीवियासाए जीविय-मरणामाहि विणा वा पदिद सरीर चड्ढ । जीवियामाए मरणामाए जीविय-मरणासाहि विणा वाकयली

शुक्रा—सयमके विनाशके भयसे द्वासोच्छ्वासका निरोध करके मरे हुए साधुके शरीरका त्यक्तके तीन भेदोंमेंसे किस भेदमें अन्तर्भाव होता है ?

समाधान—ऐसे शरीरका त्यक्तके किसी भी भेदमें अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि, इसप्रकारसे मृत शरीरको मगलपना प्राप्त नहीं हो सकता ।

शुक्रा—जो मगल शास्त्रका धारक है अर्थात् ज्ञाता है, जिसने महाव्रतांको धारण किया है, चाहे उस साधुने समाधिसे शरीर छोड़ा हो अथवा नहीं छोड़ा हो, परन्तु उसके शरीरको अमगलपना कैसे प्राप्त हो सकता है ? यदि कहा जावे कि साधुओंमें अयोग्य कार्य करनेवाले साधुका शरीर होनेसे वह अमगल है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो शरीर पहले ग्लान्यका आधार होनेसे मगलपनेको प्राप्त हो चुका है, उसमें पीछेसे भी भूतपूर्व न्यायकी अपेक्षा मगलत्वके स्वीकार कर लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है । इसलिये मगलपनेकी अपेक्षा सयमके विनाशके भयसे द्वासोच्छ्वासके निरोधसे छोड़े हुए साधुके शरीरको त्यक्तके तीन भेदोंमेंसे किसी एक भेदमें ग्रहण करना ही चाहिये । इस शरीरका च्यावितमें तो ग्रहण हो नहीं सकता है, क्योंकि, यदि इसका च्यावितमें ग्रहण किया जावे, तो आहारके निरोधसे छूटे हुए त्यक्त शरीरका भी च्यावितमें ही अन्तर्भाव करना पड़ेगा ? तो ऐसे शरीरका किस भेदमें ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान—मरणकी आशासे या जीवनकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन दोनोंकी आशाके बिना ही कदलीघातसे छूटे हुए शरीरको च्यावित कहते हैं । जीवनकी आशासे, मरणकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन दोनोंकी आशाके बिना ही कदली-

१, ता पाठ निश्चित्य उपासनिगममादिणि न्याद । अण्हायाम तेहि वयण सान्नि जीमम्मि ॥ पडि पाना वा विज्जु निरिमिता राणयाइ वा हुज्जा । सम्बद्धत्थपायादभा व्य वनेण हाजादि ॥ एण्णि नग्गेणि पण्य मरण तु पाउमसमथो । उपासनिगदपत्र रज्जगण थ कुजादि ॥ यव पृ १४६ ४८

गति

जीवित मरणासाहि विना मरुतोयलद्धि-
 कयली-घादेणियरेण ना पदिद-सरीर चत्त-देहमिदि ।
 भविष्यकाले मङ्गलप्राभृतनायको जीव. मङ्गल पर्याय
 तद्व्यतिरिक्त द्विविध कर्मनोकर्ममङ्गलमेदात् । तत्र कर्ममङ्गल
 प्रविभक्त-तीर्थकर-नामकर्म-कारणेर्जाय-प्रदेश-निवद्ध-तीर्थकर-
 निवर्तनत्वान्मङ्गलम् । यत्तनोकर्ममङ्गल तद् द्विविधम्, लौकिक लोकोत्तर

यस्य समाधिप्राप्तये रक्षित होकर छूटे हुए शरीरमें च्युत कहते हैं। आत्म-स्वरूपकी भावित्व विमर्श, जिसका परिणाम अन्तर्गत परिग्रहण द्वारा त्याग कर दिया है ऐसे साधुके जीवन और मरणकी भावना के बिना ही कदलीघातमें अथवा इन कारणोंसे छूटे हुए शरीरको त्यक्तशरीर कहते हैं।

विशेषार्थ— ऊपर बतलाये गये च्युत, व्याधित और त्यक्तके स्वरूप पर ध्यान देनेसे यह भागीप्राप्त धिक्कित हो जाता है कि समय बिनाशके भयसे द्वासीच्छासका निरोध करके छूटे हुए साधुके शरीरका व्याधितमें ही अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, व्याधित मरणमें कदलीघातकी प्रवृत्ति है। और द्वासीच्छासका स्वयं निरोध करके मरना कदलीघातमरण है। उसमें समाधिवा मङ्गाय नहीं रह सकता है इसलिये ऐसे मरणका त्यक्तके किसी भी भेदमें ग्रहण नहीं किया जा सकता है। यद्यपि किसी त्यक्तमरणमें कदलीघात भी निमित्त पड़ता है। परन्तु यहापर कदलीघातमें, परतन उपसर्गादि निमित्तोंका ही ग्रहण किया गया है, स्वयं द्वासीच्छासनिरोध आदि आत्मघातके साधन विरहित नहीं है।

जो जीव भविष्यकालमें मंगल शास्त्रका जाननेवाला होगा, अथवा मंगलपर्यायसे परिणत होगा उसे भयनोभागमद्रव्यमगलनिषेध कहते हैं।

विशेषार्थ— साधकशरीरके तीन भेद किये हैं। उसका एक भेद भावी भी है। परन्तु उसमें इस भावीको भिन्न समझना चाहिये, क्योंकि, साधकशरीरके भावी चिरकालमें घातके भागे होनेवाले शरीरको ग्रहण किया है, और यहापर भविष्यमें होनेवाला तद्विषयक शास्त्रका ज्ञान ग्रहण किया है।

कर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमगल और नोकर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमगलके भेदसे तद्व्यतिरिक्तनोभागमद्रव्यमगल दो प्रकारका है। उनमें दर्शनविशुद्धि आदि सोलह प्रकारके तीर्थकर नामकमें कारणोंमें जीवके प्रदेशोंसे बंधे हुए तीर्थकर नामकर्मको कर्मतद्व्यतिरिक्तनोभागमद्रव्यमगल कहते हैं, क्योंकि, यह भी मंगलपनेका सहकारी कारण है।

नोकर्मतद्व्यतिरिक्तनोभागमद्रव्यमगल दो प्रकारका है। एक लौकिक नोकर्म-तद्व्यतिरिक्तनोभागमद्रव्यमगल और दूसरा लोकेश्वर नोकर्मतद्व्यतिरिक्तनोभागम-

मिति । तत्र लौकिकं त्रिभिधम्, सच्चित्तमचित्त मिश्रमिति । तत्राचित्तमङ्गलम्—

मिद्वत्य पुष्प कुम्भो उदणमाला य मंगल उत्त ।

सेदो वण्णो आदसणो य कण्णा य च्चस्सो^१ ॥ १३ ॥

सच्चित्तमङ्गलम् । मिश्रमङ्गल मालङ्कारकन्यादि ।

उन दोनोंमंसे लाकिकमंगल सच्चित्त, अचित्त आर मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है । इनमें—^१सिद्धार्थ अर्थात् पीले सरसों, जलसे भरा हुआ कलश, घटनमाला, छत्र, श्वेत वर्ण, और दर्पण आदि अचित्त मंगल हैं । और बालकन्या तथा उत्तम जातिका घोड़ा आदि सच्चित्त मंगल हैं ॥ १३ ॥

विशेषार्थ—पञ्चास्तिरायकी टीकामें भी जयमेन आचार्यने इन पदार्थोंको मंगलरूप माननेमें भिन्न भिन्न कारण दिये हैं । वे इसप्रकार हैं, जिनन्देवने प्रतादिकके द्वारा परमार्थको प्राप्त किया और उन्हें सिद्ध यह सत्ता प्राप्त हुई, इसलिये लोकमें सिद्धार्थ अर्थात् सरसों मंगलरूप माने गये । जिनन्देव सपूर्ण मनोरथोंसे अथवा केवलज्ञानसे परिपूर्ण है, इसलिये पूर्ण-कलश मंगलरूपसे प्रसिद्ध हुआ । बाहर निकलते समय अथवा प्रवेश करते समय चौबीस ही तीर्थंकर घन्टना करने योग्य हैं, इसलिये भरत चक्रवर्तीने घन्टनमालाकी स्थापना की । अरहन् परमेष्ठी सभी जीवोंका कल्याण करनेवाले होनेसे जगके लिये छात्राकार हैं, अथवा सिद्धलोक भी छात्राकार है, इसलिये छत्र मंगलरूप माना गया है । ध्यान, शुक्लेश्या इत्यादि श्वेत-वर्ण माने गये हैं, इसलिये श्वेतवर्ण मंगलरूप माना गया है । जिनन्देवके केवलज्ञानमें जिसप्रकार लोक और अलोक प्रतिभसित होता है, उसीप्रकार दर्पणमें भी अपना निम्ब झलकता है, अतएव दर्पण मंगलरूप माना गया है । जिसप्रकार धीनराग सर्वज्ञदेव लोकमें मंगलस्वरूप हैं, उसीप्रकार बालकन्या भी रागभ्रातसे रहित होनेके कारण लोकमें मंगल मानी गई है । जिसप्रकार जिनन्देवने कर्म शत्रुओं पर विजय पाई, उसीप्रकार उत्तम जातिके घोड़ेमें भी शत्रु जीते जाते हैं, अतएव उत्तम जातिका घोड़ा मंगलरूप माना गया है ॥ १३ ॥

अलंकार सहित कन्या आदि मिश्र मंगल समझना चाहिये । यद्वा पर अलंकार अचित्त और कन्या सच्चित्त होनेके कारण अलंकारसहित कन्याको मिश्रमंगल कहा है ।

१ वयणियममजमणहि साध्दि निणवोहि पमट्ठो । मिद्धा सण्णा जमि सिद्धया मंगल तेण ॥ पुण्णा मणोरेहेति य वज्जणायण चावि सपुण्णा । अरुता इदि लोए सुमंगल पुण्णुभो दु ॥ णिग्गमणपवेगमिह य इह चउवीस पि वदणिष्ठा ते । वदणमाले वि क्या मरुण य मंगल तेण ॥ सवज्जणणिग्गदियरा छवायारा जगस्स अरुहता । छवायार मिद्धि चि मंगल तेण छव त ॥ सेदो वण्णो साण लेस्सा य अवाइसेगक्कम च । अरुण इदि लोए सुमंगल सेदवण्णो दु ॥ दामइ लोयालोओ केवलणणे तहा निणिद्रम । तद दोमइ मुकुरे विवु मंगल तेण त सुणह ॥ जइ वीयरायमज्जण्ह निणवरो मंगल इवइ लोए । इयायसालकण्णा तद मंगलमिदि विवाणादि ॥ कम्मारे जिनेविणु जिणवरमि मोक्खु जिणाहि वि जेण । जच्चस्स उ जजिजल निणइ मणु उच्चइ तेण ॥ पच्चा टीरा

लोकोत्तरमङ्गलमपि त्रिविधम्, सचित्तमचित्त मिश्रमिति । सचित्तमर्हदादीनाम-
नाद्यनिधनजीवद्रव्यम् । न केवलज्ञानादिमङ्गलपर्यायपरिशिष्टार्हदादीनाम्, जीवद्रव्यस्य
ग्रहण तस्य वर्तमानपर्यायोपलक्षित द्रव्य भाग इति भावनिक्षेपान्तर्भावात् । न केवल-
ज्ञानादिपर्यायाणां ग्रहण तेषामपि भावरूपत्वात् । अचित्तमङ्गल कृत्रिमाकृत्रिमचैत्याल-
यादि, न तत्स्थप्रतिमास्तु सस्थापनान्तर्भावात् । अकृत्रिमाणा कथं स्थापनाव्यपदेशः ?
इति चेन्न, तत्रापि नुद्वया प्रतिनिधौ स्थापितमुद्योपलम्भान् । यथा अयित्तिर माणवकोजपि
तथा स्थापनेन स्थापनेति तामा तद्व्यपदेशोपपत्तेर्ना । तदुभयमपि मिश्रमङ्गलम् ।
तत्र 'नेत्रमङ्गल' गुण परिणतासन-परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति परिनिर्माण-

लोकोत्तर मङ्गल भी सचित्त, अचित्त और मिश्रक भेदस तीन प्रकारका है । अरहत
आदिका जनादि और अनन्तस्वरूप जीवद्रव्य सचित्त लोकोत्तर नो आगमनद्रव्यतिरिक्तद्रव्य
मङ्गल है । यहापर केवलज्ञानादि मङ्गल पर्याययुक्त अरहत आदिकका ग्रहण नहो करना चाहिये,
किन्तु उनके सामान्य जीवद्रव्यका ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, वर्तमान पर्यायसहित
द्रव्यका भावनिक्षेपमें अन्तर्भाव होता है । इसलिये केवलज्ञानादियुक्त अरहतके आत्मार्क
भावनिक्षेपमें परिगणना होगी । उसकी द्रव्यनिक्षेपमें गणना नहीं हो सकती है । उसीप्रकार
केवलज्ञानादि पर्यायाका भी इस लोकोत्तर नो आगमनद्रव्यमङ्गलमें ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि
वे सब पर्याय भावस्वरूप होनेके कारण उनका भी भावनिक्षेपमें ही अन्तर्भाव होगा ।

वृत्रिम और अवृत्रिम चैत्यालयादि अचित्त लोकोत्तर नो आगमनद्रव्यतिरिक्तद्रव्य
मङ्गल है । उन चैत्यालयामें द्वािष्ठ प्रतिमाआमा इस निक्षेपमें ग्रहण नहो करना चाहिये
क्योंकि, उनका स्थापना निक्षेपमें अन्तर्भाव होता है ।

प्रश्न—अवृत्रिम प्रतिमाआम स्थापनाका व्यवहार कसे समझें ?

समाधान—इसप्रकार शका करना उचित नहीं है, क्योंकि, अवृत्रिम प्रतिमाआम
भी बुद्धिद्वारा प्रतिनिधित्व मान लेने पर 'ये जिनेन्द्रिय है' इसप्रकारके मुख्य व्यवहार
उपगम्य होती है । अथवा, अग्नि तुल्य धालकको भी जिसप्रकार अग्नि कहा जाता है, उसीप्रकार
वृत्रिम प्रतिमाआम की गई स्थापनाके समान यह भी स्थापना है, इसलिये अवृत्रिम नि
प्रतिमाआममें स्थापनाका व्यवहार हो सकता है । उक्त दोनों प्रकारके सचित्त और अनि
मङ्गलको मिश्र मङ्गल कहते हैं ।

गुणपरिणत आसनक्षेत्र, अर्थात् जहा पर योगासन घोरानसन इत्यादि अनेक आसन
तदनुकूल अनेक प्रकारके योगाभ्यास, जिनिन्द्रियता आदि गुण प्राप्त किये गये हों ऐसी
परिनिष्क्रमणक्षेत्र, केवलज्ञानोत्पत्तिक्षेत्र और निर्माणक्षेत्र आदिको क्षेत्रमङ्गल कहते

१ गुणपरिणत आसन क्षेत्र परिनिष्क्रमण क्षेत्र आसनम् । उत्पत्ता इय पदुदा बहुभय स्वतन्त्रमङ्गलम् ॥ १
उदाहरण पातञ्जलसूत्रप्रवचनम् । आत्मद्रव्यपदुदी पञ्चवीम भावियपञ्चमपञ्चगुणम् ॥ दशअवतिदकेवलज्ञानात्

श्रेत्रादि । तस्योदाहरणम्, ऊर्जयन्त-चम्पा-पात्रा-नगरादि । अधोष्ठितस्यादि-पंचविंशत्यु-
त्तर पञ्च धनु-शत-प्रमाण-शरीर-स्थित-ऊरुल्याद्यष्टधाकाश-देशा वा, लोकमात्रान्म-
प्रदेशलोक-पूर्णपूरित-विश्व-लोक-प्रदेशा वा ।

तस्य काल मंगल नाम, जम्हि काले केवल-शाखादि-पञ्चएहि परिणदो कालो
पात्र-मल-गालणत्तादो मंगल । तस्योदाहरणम्, परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाण-
दिनमाढयः । जिन-महिम-सम्बद्ध-कालोऽपि मङ्गलम् । यथा, नन्दीश्वरदिनमादिः ।

तस्य भाव-मंगल नाम, वर्तमानपर्यायोपलक्षित द्रव्य भाव । न द्विनिधु-
आगमनो-आगममेवात् । आगम-मिद्वान्त- । आगमदो मंगल-पाण्डु-जाणजो
उपजुतो । गो-आगमदो भाव-मंगल दुग्धि, उपयुक्तस्तत्परिणत इति । आगममन्तरेण
अर्थोपयुक्त उपयुक्त । मङ्गलपर्यायपरिणतस्तत्परिणत इति ।

अग्रे उदाहरण देकर इसका खुलासा किया जाता है—

ऊर्जयन्त (गिरनार पर्वत) चम्पापुर और पात्रापुर आदि नगर क्षेत्रमंगल ह ।
अथवा, साठे तीन हाथसे लेकर पाचसो पर्यन्त धनुष तकके शरीरम स्थित और केवलज्ञाना-
दिसे व्याप्त जाकाश प्रदेशको क्षेत्रमंगल कहते ह । अथवा लोकप्रमाण आत्मप्रदेशसे लोक-
पूर्णममुद्धानदेशाम व्याप्त किये गये समस्त लोकके प्रदेशोंको क्षेत्रमंगल कहते ह ।

जिन कालमें जीव केवलज्ञानादि अवस्थाओंको प्राप्त होता ह उसे पापरूपी मलका
गलनेवाला होनेके कारण कालमंगल कहते ह । उदाहरणार्थ, दीक्षास्नानाणक, केवलज्ञानको
उत्पत्ति और निर्वाण प्राप्तिके दिवस आदि कालमंगल समझना चाहिये । जिन महिमासम्बन्धी
काल को भी कालमंगल कहते ह । जैसे, आष्टादिक पर्व आदि ।

वर्तमान पर्यायमें युक्त द्रव्यको भाव कहते ह । वह आगमभावमंगल और नोआगम-
भावमंगलके भेदसे दो प्रकारका ह । आगम मिद्वान्तको कहते ह, इसलिये जो मंगलविषयक
शास्त्रका ज्ञाना होते हुए वर्तमानमें उसमें उपयुक्त ह उसे आगमभावमंगल कहते ह । नो आगम-
भावमंगल, उपयुक्त और तत्परिणतके भेदसे दो प्रकारका ह । जो आगमके बिना ही मंगलके
अर्थमें उपयुक्त ह उसे उपयुक्तनो आगमभावमंगल कहते ह और मंगलरूप पर्याय अर्थान्

गणदया वा । मेरीप्राप्तवत्प्रत्यक्षदयादयापुण्य ॥ दिण्याम लायाण सादि पयसा वि मयः सेता ॥

ति प १, २२२४

१ 'अथा' इत्यत्र 'अवधनुष' इति पाठन भावम् ।

२ जिन काल केवलज्ञानादि मंगल पाणमदि ॥ परिनिष्क्रमण केवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाण-
मात्रादि पणप कालमंगल एव ॥ ३२ जेयमय इति तत्कालमंगल पक्क । जिनमहिमावयव चदानरदाव
पट्टीआ ॥ ति प, १, २४-२६

३ मङ्गलप्राप्ति अन्तिमपर्वतद्वयममं च । भाव मंगलमद पडियउ मरवादिमस्तर्पेनु ॥ ति प १, २७.

एदेसु णिस्सेवेसु कण णिकसेवेण पयोजण ? णो-आगमदो भाव-णिकसेवेण तत्परिणण पयोजण । जदि णो-आगमदो भाव-णिकसेवेण तत्परिणदेण पयोजणमियेरेहि णिकसेवेरेहि इह किं पयोजण ?

जय बहु जाणिजा अरिमिद तय णिस्सेवे णियमा ।

जय बहु न जाणति चउट्टय णिकसेवे तत्थ ॥ १२ ॥

इदि वयणाणे णिस्सेवे कदो ।

अथ स्यात्, किमिति निक्षेप क्रियत इति ? उच्यते, त्रिभिधा श्रोतार, अच्यु-
त्यन्न अगताशेषप्रतिशितपदार्थ एकदेशतोऽगताशेषविवक्षितपदार्थ इति । तत्र प्रथमोऽ-
च्युत्यन्नत्वान्नाध्यवस्यतीति । विवक्षितपदस्यार्थं द्वितीयः सशेते कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत-

जिनेन्द्रेश आदिकी प्रन्दना, भावस्तुति आदिमें परिणत जीवको तत्परिणतनोआगमभावमगल पदते ह ।

शका—इन निक्षेपोंमेंसे यहा (इस ग्रन्थावताररूप प्रकरणमें) किस निक्षेप से प्रयोजन है ?

ममाशान—यहापर तत्परिणतनोआगमभावमगल से प्रयोजन है ।

शका—यदि यहा तत्परिणतनोआगमभावमगल से ही प्रयोजन था, तो अन्य निक्षे-
पोंके कथन करने से यहा क्या प्रयोजन है ? अर्थात् प्रयोजनके बिना उनका यहा कथन नहीं
करना चाहिये था ।

समाधान—‘जहा जीवादि पदार्थोंके विषयमें बहुत जाने, यहापर नियमसे सभी
निक्षेपोंके द्वारा उन पदार्थोंका विचार करना चाहिये । और जहापर बहुत न जाने, तो यहापर
चार निक्षेप अवश्य करना चाहिये । अर्थात् चार निक्षेपोंके द्वारा उस वस्तुका विचार अवश्य
करना चाहिये ’ ॥ १४ ॥

इस वचनके अनुसार यहापर निक्षेपोंका कथन किया गया ।

पूर्वात् कथनके मत लेने पर भी, किस प्रयोजनको लेकर निक्षेपोंका कथन किया
जाना है, इसप्रकारकी शका करने पर आचार्य उत्तर देते हैं, कि श्रोता तीन प्रकारके होते हैं,
पहला अच्युत्यन्न अर्थात् वस्तु-स्वरूपसे अनभिज्ञ, दूसरा सपूर्ण विवक्षित पदार्थको जाननेवाला,
और तीसरा एकदेश विवक्षित पदार्थको जाननेवाला । इनमेंसे पहला श्रोता अच्युत्यन्न होनेके
कारण विवक्षित पदके अर्थको कुछ भी नहीं समझता है । दूसरा ‘यहा पर इस पदका कौनसा
अर्थ अधिकृत है’ इसप्रकार विवक्षित पदके अर्थमें रुद्ध करता है, अथवा, प्रकरणप्राप्त अर्थको

१ श्रितु ‘जाणिजा’ इति पाठ

२ जय य न जाणज्जा निस्सव निविस्स निवसेस । जय दि अ न जाणज्जा चउट्टय निविस्सवे तत्थ ॥

इति, प्रकृतार्थादन्यमर्थमादाय विपर्यस्यति वा । द्वितीयचतृतीयोऽपि मशेते विपर्य-
स्यति वा । तत्र यद्यव्युत्पन्न पर्यायार्थिको भवेन्निक्षेपः क्रियते अव्युत्पन्नव्युत्पादनमुखेन
अप्रकृतनिराकरणाय^१ । अथ द्रव्यार्थिकः तद्द्वारेण प्रकृतप्ररूपणायागेपनिक्षेपाः उच्यन्ते
व्यतिरेकधर्मनिर्णयमन्तरेण विविनिर्णयानुपपत्ते । द्वितीयचतृतीययोः सशयितयोः
सशयिप्रतिनाशायोपनिक्षेपकथनम् । तयोरेव विपर्यस्यतोः प्रकृतार्थावधारणार्थं निक्षेपः
क्रियते । उक्तं च—

अगम्य गिनारणह पयदस्स परब्रह्मणा गिमित्तं च ।

ससय-विणासणह तच्चययधारणह च ॥ १५ ॥

निक्षेपमिसृष्ट मिद्वान्तो वर्ण्यमानो वक्तुः श्रोतुश्चोत्पद्योत्थानं कुर्यादिति वा ।

मङ्गलस्यैकार्थं उच्यते, मङ्गल पुण्य पूतं पवित्रं प्रशस्तं शिवं शुभं कल्याणं भद्रं

छोड़ कर और दूसरे अर्थको ग्रहण करके विपरीत समझता है । दूसरी जातिके श्रोताके समान
तीसरी जातिका श्रोता भी प्रकृत पदके अर्थमें या तो सदेह करता है, अथवा, विपरीत निश्चय
कर लेता है ।

इनमेंसे यदि अव्युत्पन्न श्रोता पर्यायका अर्थी अर्थात् पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा
वस्तुकी किसी विवक्षित पर्यायको जानना चाहता है, तो उस अव्युत्पन्न श्रोताको प्रकृत
विषयकी व्युत्पत्तिके द्वारा अप्रकृत विषयके निराकरण करनेके लिये निक्षेपका कथन करना
चाहिये । यदि वह अव्युत्पन्न श्रोता द्रव्यार्थिक है, अर्थात् सामान्यरूपसे किसी वस्तुका स्वरूप
जानना चाहता है, तो भी निक्षेपोंके द्वारा प्रकृत पदार्थके प्ररूपण करनेके लिये सपूर्ण निक्षेप कहे
जाते हैं, क्योंकि, विशेष धर्मके निर्णयके बिना विधिका निर्णय नहीं हो सकता है । दूसरी और
तीसरी जातिके श्रोताओंको यदि सदेह हो, तो उनके सदेहको दूर करनेके लिये सपूर्ण निक्षेपोंका
कथन किया जाता है । और यदि उन्हें विपरीत ज्ञान हो गया हो, तो प्रकृत अर्थात् विवक्षित
वस्तुके निर्णयके लिये सपूर्ण निक्षेपोंका कथन किया जाता है । कहा भी है—

अप्रकृत विषयके निवारण करनेके लिये, प्रकृत विषयके प्ररूपण करनेके लिये, सशयका
विनाश करनेके लिये और तत्त्वार्थका निश्चय करनेके लिये निक्षेपोंका कथन करना चाहिये ॥१५॥

अथवा, निक्षेपोंको छोड़कर वर्णन किया गया सिद्धान्त सभ्य है वक्ता और श्रोता
दोनोंको कुमार्गमें ले जावे, इसलिये भी निक्षेपोंका कथन करना चाहिये ।

अब मङ्गलके एकार्थ-वाचक नाम कहते हैं, मङ्गल, पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव,

१ ननु निक्षेपमात्रेऽपि प्रमाणन्यैरधिगम्यत एव तत्वाद्य इति चेन्न, अप्रकृतनिराकरणार्थत्वात्, प्रकृतरूपणाय
त्वाच्च निक्षेपत्वम् । न सन्नु नामादायप्रकृते प्रमाणन्याधिगता भावो व्यवहारयाल, मुख्योपचारविभागेनैव तन्मिद्वे ।
न च तद्विभागो नामादिनिक्षेपैर्विना सम्भवति, येन तद्विभागेऽपि तत्त्वार्थाधिगति र्यात् । लघ्वीय पृ ९९

मौर्यमित्येवमादीनि मङ्गलपर्यायरचनानि । एकार्थप्ररूपण किमिति चेत्, यतो मङ्गलार्थाऽनेकशब्दाभिधेयस्ततोऽनेकेषु शास्त्रेषु नैकाभिधाने मङ्गलार्थं प्रयुक्तविस्तृतार्थं । सोऽयामोहेन शिष्यं सुखेनापगम्यत इत्येकार्थं उच्यते 'यद्येकशब्देन न जानाति ततोऽन्येनापि शब्देन ज्ञापयितव्य' इति रचनाद्वा ।

मङ्गलस्य निरुक्तिरुच्यते, मल गालयति विनाशयति दहति हन्ति विशोधयति विध्वंसयतीति मङ्गलम् । तन्मल द्विविधं द्रव्यभाजमलभेदात् । द्रव्यमल द्विविधम्, बाह्य-माभ्यन्तरं च । तत्र स्वेदरजोमलादि बाह्यम् । घन-कठिन पीप-प्रदेश-निरद्र-प्रकृति स्थित्यनुभाग प्रवेश विभक्त-ज्ञानापरणाग्रपरिध-कर्माभ्यन्तर-द्रव्यमलम् । अज्ञानादर्शनादिपरि-

शुभ, कल्याण, भद्र आर सोख्य इत्यादि मङ्गलके पर्यायवाची नाम ह ।

शंका—यहा पर मङ्गलके एकार्थ-वाचक अनेक नामोंका प्ररूपण किसलिये किया गया है ?

समाधान - क्योंकि, मङ्गलरूप अर्थ अनेक शब्द वाच्य है, अर्थात् अनेक पर्यायवाची नामोंके द्वारा मङ्गलरूप अर्थका प्रतिपादन किया जाता है, इसलिये प्राचीन आचार्योंने अनेक शास्त्रोंमें अनेक अर्थात् भिन्न भिन्न शब्दोंका द्वारा मङ्गलरूप अर्थका प्रयोग किया है । इससे अनिधर्मके बिना शिष्योंको मङ्गलके पर्याय-वाची उन सब नामोंका सरलतापूर्वक ज्ञान हो जावे, इसलिये यहा पर मङ्गलके एकार्थ-वाची नाम कहे हैं ।

अथवा, 'यदि शिष्य एक शब्द से बहुत विषयको नहीं समझ पावे, तो दूसरे शब्दोंके द्वारा उसे ज्ञान करा देना चाहिये' इस वचनके अनुसार भी यहापर मङ्गलरूप अर्थके पर्याय वाची अनेक नाम कहे गये हैं ।

अब मङ्गलकी निरुक्ति (व्युत्पत्तिजन्य अर्थ) कहते हैं । जो मलका गालन करे, विनाश करे, घात करे, दहन करे, नाश करे, शोधन करे, विध्वंस करे, उसे मङ्गल कहते हैं । द्रव्यमल और भाजमलके भेदसे यह मल दो प्रकारका है । द्रव्यमल भी दो प्रकारका है, बाह्य द्रव्यमल और आभ्यन्तर-द्रव्यमल । इनमल, पसीना, धूलि आर मल आदि बाह्य द्रव्यमल हैं । सान्द्र और कठिनरूपसे जीवके प्रदेशोंमें यद्ये दुष्प, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रवेश इन

१ पुण्य पदपरिवर्ता पयस्यापिभयमपमकल्लाणा । सदधोवखादा मध्ये निदिष्टा मङ्गलस्य पञ्जाया ॥

ति प १, ८

२ गालयति विनाशयति घाति दहति हन्ति विध्वंसयति । निद्रमादि मलाह वन्ता तन्मा य मङ्गल मणिद ॥

ति प १, ९

३ दाणि विषया हानि ह मन्म इम दन्मभाजभोगि । ति प १, १०

४ दन्मल निद्रप बातिमन्मन्तर चैय । सेदश्लैषुपदमपहृदी बाहिमल समुद्रि । ति प १, १० ११

५ पुण दिन्तवपय निबधन्वात पयडिदिदिवा । अशुभागपदमा चडि पतकभेज्जमाण तु ॥

णामो भागमलम् ।

अथवा अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात्रिभिः मलम् । उक्तमर्थमलम् । अभिधानमलं तद्वाचकः शब्दः । तयोक्त्यन्तर्गुह्यः प्रत्ययमलम् । अथवा चतुर्विधं मलं नामस्थापना-द्रव्यभावमलभेदात् । अनेकविधं वा । तन्मलं गालयति विनाशयति विध्वंसयतीति मङ्गलम् । अथवा मङ्गं सुखं तल्लायति आदत्त इति वा मङ्गलम् । उक्तं च—

मङ्गशब्दोऽयमुद्दिष्टं पुण्यार्थस्याभिधायकः ।

तन्मलातीत्युच्यते सद्भिर्मङ्गलं मङ्गलार्थमिति ॥ १६ ॥

भेदोंमें विभक्त ऐसे ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्म आभ्यन्तर द्रव्यमल हैं । अज्ञान और अदर्शन आदि परिणामोंको भावमल कहते हैं ।

अथवा, अर्थ, अभिधान (शब्द) और प्रत्यय (ज्ञान) के भेदसे मल तीन प्रकारका होता है । अर्थमलको तो अभी पहले कह आये हैं, अर्थात् जो पहले बाह्य द्रव्यमल, आभ्यन्तर द्रव्यमल और भावमल कहा गया है उसे ही अर्थमल समझना चाहिये । मलके वाचक शब्दोंको अभिधान मल कहते हैं । तथा अर्थमल और अभिधानमलमें उत्पन्न हुई बुद्धिको प्रत्ययमल कहते हैं ।

अथवा, नाममल, स्थापनामल, द्रव्यमल और भावमलके भेदसे मल चार प्रकारका है । अथवा, इसीप्रकार विवक्षाभेदसे मल अनेक प्रकारका भी है । इसप्रकार ऊपर कहे गये मलका जो गालन करे, विनाश करे व ध्वंस करे उसे मगल कहते हैं ।

अथवा, मग शब्द सुखवाची है उसे जो लावे, प्राप्त करे उसे मगल कहते हैं । कहा भी है—

यह मग शब्द पुण्यरूप अर्थका प्रतिपादन करनेवाला माना गया है । उस पुण्यको जो लाता है उसे मगलके इच्छुक सत्पुरुष मगल कहते हैं ॥ १६ ॥

णापावरणपटुदी अट्टविह उम्ममखिलपावरण । अमतरद्वयमलं जीवपदेमे विवद्वमिति हवा । ति प १, ११ १२

१ भावमल पादत्र अण्णाणालमणादिपरिणामा ॥ ति प १, १३

२ अहंता बहुमेयगय णापावरणादि द्रव्यभावमलभेदा । ति प १, १४

३ ताह गालदि पटु जदो तदो मगल मणिद ॥ ति प १, १५

४ अहंता मग मानस लादि हु गणहदि मगल तम्हा । एदाण वज्जमिदि मगलगत्यदि गयक्कतो ॥ ति प १, १४, १५

५ पुण्य आदिरिणि मगलपुण्यं च वाचिद मणिद । त लादि हु आदसे जदो तदो मगलपवर ॥

ति प १, १६

पाप मलमिति प्रोक्तमुपचारसमाध्यात ।

तद्धि गालयतीत्युक्त मङ्गल पण्डितैर्जनै ॥ १७ ॥

अथवा मङ्गलति गच्छति कर्ता कार्यमिद्विमानेनास्मिन् नेति मङ्गलम् । मङ्गलशब्द-
गार्थविपर्ययनिश्चयोत्पादनार्थ निरुक्तिरुक्ता । मङ्गलम्यानुयोग उच्यते-

किं कस्त केण कथं च केचिदिति विधौ य भागो ति ।

उद्दि अणिओग-दोरेहि स पे भागणुगतत्वा ॥ १८ ॥ इदि वयणादो ।

किं मङ्गलम् ? जीवा मङ्गलम् । न सर्वजीवाना मङ्गलप्राप्ति द्रव्यार्थिकनयापेक्षया
मङ्गलपर्यायपरिणतजीवस्य पर्यायाधिकनयापेक्षया केवलज्ञानादिपर्यायाणा च मङ्गल-

उपचारसे पापको भा मल कहा हे । इसलिये जो उसका गालन अर्थात् नाश करना हे
उसे भी पण्डितजन मंगल कहते हैं ॥ १७ ॥

अथवा कर्ता, अर्थात् किसी उद्दिष्ट कार्यको करनेवाला, जिससे द्वारा या जिसके किये
जाने पर कार्यकी सिद्धिको प्राप्त होता हे उसे भी मंगल कहते हे । इसतरह मंगल शब्दके
अर्थ त्रिपर्यय निश्चयके उत्पन्न करनेके लिय मंगल शब्दकी निरुक्ति कही गई हे ।

अथ मंगलका अनुयोग कहत हे, अर्थात् अनुयोगद्वारा मंगलका निरूपण करते हे ।

विशेषार्थ—जिने प्रकथित आगमका पूर्वापर सदर्भ मिलान हुए अनुकूल व्याख्यान
करनेका अनुयोग कहते हे । अथवा, सूत्रका उसके वाच्यरूप त्रिपर्ययके साथ संबंध जोड़नेको
अनुयोग कहते हे । अथवा, एक ही भगवत् प्रोक्त-सूत्रके अनेक अर्थ होते हे, इसलिये सूत्रकी
'अणु' सहा हे । उस सूक्ष्मरूप सूत्रका अर्थरूप विस्तारके साथ संबंधके प्रतिपादन करनेको
अनुयोग कहते हे ।

पदार्थ क्या हे, किसका हे, किसके द्वारा होता हे, कहा पर होना हे, कितने समय
तक रहता हे, कितने प्रकारका हे, इसप्रकार इन छह अनुयोग द्वारासे संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान
करना चाहिये ॥ १८ ॥ इस वचनसे अनुयोगद्वारा मंगलका निरूपण किया जाता हे ।

मंगल क्या हे ? जीव ही मंगल है । किंतु जीव को मंगल कहनेसे सभी जीव मंगलरूप
नहीं हो जायेंगे, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा मंगलपर्यायसे परिणत जीवको अर्थात् मंगल
करते हुए जीवको, ओर पर्यायाधिक नयकी अपेक्षा केवलज्ञानादि पर्यायोंको मंगल माना हे ।

१ पाप मल ति मण्णदि उवचांसम्बण्णं विवाण । त गलदि विणाम णदि ति भणति मंगल वंद ॥

ति प १, १७

२ अणुशयमणुआणं सुयस्य नियण्णं जममिधण्णं । वावरो वा जागा जा अणुवोशुक्लो वा ॥
अथा जमपओ पावपच्चावन्ति सुयमणु तस्य । अमिधेए वावरो जागो तण व सक्का ॥ वि मा १-१३, १३१५

३ मृत्वा ७०५ दुविया पम्पणा, छयसा य नवहा य छयया इयसा । किं कस्त कथं व कहिं केवचिरे
कविदो य मने । आ नि ८६४ तानीमानि वदुयागद्वाराणि, निर्देशवामिन्वसाधनाधिकरणास्थितिविधानत ।

त्वाभ्युपगमात् ।

कस्य मङ्गलम् ? द्रव्यार्थिकनयार्पणया नित्यतामादधानस्य पर्यायार्थिकनयार्पण-
योत्पादविगमात्मकस्य । देवदत्तात्कम्बलस्येव न जीवान्मङ्गलपर्यायस्य भेदः सुवर्ण-
स्याङ्गुलीयकमित्यत्राभेदेऽपि पृथुपलम्भतोऽनेकान्तात् ।

केन मङ्गलम् ? औदयिकादिभ्यः ।

क मङ्गलम् ? जीवे । कुण्डाद्भद्राणामिन न जीवान्मङ्गलपर्यायस्य भेदः सारे स्तम्भे

मगल किसके होता है ? द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्यताको धारण करनेवाले अर्थात् सदाकाल एक-स्वरूप रहनेवाले और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उत्पाद और व्ययस्वरूप जीवके मगल होता है । यहा पर जिसप्रकार (कम्बल देवदत्तका होते हुए भी) देवदत्तसे कम्बलका भेद है, उसप्रकार जीवका मगलरूप पर्यायसे भेद नहीं है । क्योंकि, 'यह अगूठी स्वर्णकी है' यहा पर अभेदमें, अर्थात् अगूठीरूप पर्याय स्वर्णसे अभिन्न होने पर भी जिसप्रकार भेदघोतक पृष्ठी विभक्ति देखी जाती है, उसीप्रकार 'जीवस्य मगलम्' यहा पर भी अभेदमें पृष्ठी विभक्ति समझना चाहिये । इसतरह सबन्धकारकमें अनेकान्त समझना चाहिये । अर्थात् कहीं पर दो पदार्थोंमें भेद होने पर भी सबन्धकी धिवन्नासे पृष्ठी कारक होता है और कहीं पर अभेद होने पर भी पृष्ठी कारकका प्रयोग होता है ।

किस कारणसे मगल उत्पन्न होता है ? जीवके ओदयिक, ओपशमिक आदि भावोंने मगल उत्पन्न होता है ।

निशेपार्य—यद्यपि कर्मोंके उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे सम्यग्दर्शनादिकी उत्पत्ति होती है, इसलिये उनसे मगल की उत्पत्ति मानना तो ठीक है । परन्तु ओदयिक भावसे मगलकी उत्पत्ति नहीं बन सकती है, इसलिये यहा पर 'ओदयिक आदि भावोंसे मगल उत्पन्न होता है' यह कहना किसप्रकार समझ है ? इसका समाधान इसप्रकार समझना चाहिये कि यद्यपि सभी ओदयिक भाव मगलकी उत्पत्तिमें कारण नहीं हैं, फिर भी तीर्थकर प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न होनेवाला ओदयिक भाव मगलका कारण है । इसलिये उसकी अपेक्षाने ओदयिक भावकी भी मगलकी उत्पत्तिके कारणोंमें ग्रहण किया है ।

मगल किसमें उत्पन्न होता है ? जीवम मगल उत्पन्न होता है । जिसप्रकार कूड़ेसे उसमें रक्खे हुए बेरोंका भेद है, उसप्रकार जीवसे मगलपर्यायका भेद नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, 'सारे स्तम्भ' अर्थात् वृक्षके सारमें स्तम्भ है । यहा पर जिसतरह अभेदमें भी सप्तमी विभक्तिकी

व सु १, ७ तत्र क्रिययुवागि वस्तुस्वरूपकथन निर्देश । वन्येस्युवागि स्वस्येत्याविपलकथन स्वात्मित्वम् । केनेति प्रश्ने कथनिरूपण साधनम् । कस्मिन्मि यतुयोगे आभारप्रतिपादनमधिकरणम् । नियधिरमिति प्रश्ने कालरूपण स्थिति । कतिविध इत्यतुयोगे प्रकारकथन विधानम् । लघोय पृ ९५

१ ग्रन्थि 'सात्त्विकस्तम्भ' इति पाठ ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

नानावर्णपेषया नवोयम् । एकवर्णपेषया
 वृणावर्णपेषया चाटिनपर्यवमितमिति निविवम् । कथमनाय-
 मन्तुः । द्रव्याधिकनयापणया । तथा च मिथ्यादृष्टवस्था-
 मन्तुः । अनेति चेन्न दोष इष्टवान् । न मिथ्याविरतिप्रमादाना
 नानावर्णपेषया । अतो हि मङ्गलम् न च केवलज्ञानायनन्तधर्मान्मक ।
 नानावर्णपेषया नानावर्णमात्रेण आश्रितमाणिक्यलाभभावे तदावगुणानुपपत्ते
 अनेति चेन्न दोष इष्टवान् । न च तदाऽनुपलम्भात् ।

जहाँ जहाँ 'जीरे मालम्' यहाँ पर भी अमेदमें सज्जनों विभक्ति समझना
नाहि। इत्यादि किन्तु इत्यादि अधिकरण कारकके प्रयोगमें भी अनेकान् हैं। अर्थात् कहीं
मेरे लिये अधिकार आता है और कहीं अमेदमें भी अधिकरण कारक होता है।
इत्यादि इत्यादि 'नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वदा माल रहता है और एक
जहाँ जहाँ सादि अनन्त, और सादि-सान् इत्येकार मालके तीन भेद हो
जाते हैं।

दोनों — मूल में एक जीवकी अपेक्षा अनादि-अनन्तपना कैसे बनता है, अर्थात् एक जीव अनादि काल में अन्तकाल तक भगल होता है यह कैसे समझ है ?

—**काल**—द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे मगलमें अनादि-अनन्तपना बन जाता है। अनादि-द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यतासे जीव अनादिकालसे अनन्तकाल तक सर्वादा एक स्वभाव अवस्थित है और मगलरूप पर्याय उससे सर्वाथा भिन्न नहीं है। अनपेक्ष मगलमें भी अनादि अनन्तपना बन जाता है।

श्रीका—इसतरह तो मिथ्यादृष्टि अवस्थामें भी जीवको मालूमनकी प्राप्ति हो
जाता?

नभायान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, ऐसा प्रसंग तो हमें इष्ट ही है। किंतु ऐसा मान लेने पर भी मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदि की मंगलपना सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि, उनमें जीवत्व नहीं पाया जाता है। मंगल तो जीव ही है, और वह जीव केवलज्ञानादि अनन्त धर्मात्मक है।

आवृत्त अवस्थामें अर्थात् केवलज्ञानावरण आदि कर्मबन्धनकी दशामें मगलभूत केवलज्ञानादिका अभाव है, अर्थात् उस अवस्थामें ये सर्वथा नहीं पाये जाते । यदि कोई ऐसा प्रश्न करे, तो, आभियमाण अर्थात् जो कर्मोंके द्वारा आवृत्त होते हैं ऐसे केवलज्ञानादिके अभावमें केवलज्ञानादिको आवरण करनेवाले कर्मोंका सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकेगा । दूसरे, जीवके लक्षणरूप ज्ञान और दर्शनके अभाव मानने पर लक्ष्यरूप जीवके अभावकी भी आपत्ति आ जाती है । लेकिन ऐसा नहीं है, क्योंकि, ग्रन्थशास्त्रादि प्रमाणोंसे जीवकी उपलब्धि नहीं होती

न भस्मच्छात्रानां व्यामचारः तापप्रकाशयित्वा तदुपलब्धमात् । यथापत्तात्कालावधाना न स्थितिरिति चेन्न, अनुव्यञ्जानसतानापेक्षया तत्स्थैर्यस्य विरोधाभावात् । न छन्नस्थज्ञान-दर्शनयोरल्पत्वादमङ्गलत्वमेकदेशस्य माङ्गल्याभावे तद्विश्रामयनानामप्यमङ्गलत्वप्राप्तेः । रजोजुषा ज्ञानदर्शने न मङ्गलीभूतकेवलज्ञानदर्शनयोरप्यभावाविति चेन्न, ताम्बा व्यतिरिक्त-योन्तयोरमत्वात् । मत्यादयोऽपि मन्तीति चेन्न, तदप्यना मत्यादिव्यपदेशात् ।

हो ऐसा नहा देखा जाता । किंतु प्रत्यक्षादि प्रमाणोंमें भी उसकी उपलब्धि होती ही है ।

यहां पर भस्मसे ढकी हुई अग्नि के साथ व्यभिचार दोष भी नहा आता है, क्योंकि, ताप और प्रकाश की वहां पर भी उपलब्धि होती है ।

विशेषार्थ—आवृत अवस्थामें भी केवलज्ञानादि पाये जाते हैं, क्योंकि, वे जीवके गुण हैं, यदि इस अवस्थामें उनका अभाव माना जावे तो जीवका भी अभाव मानना पड़ेगा । इस अनुमानको ध्यानमें रखकर शकाकारका कहना है कि इस तरह तो भस्मसे ढकी हुई अग्निसे व्यभिचार हो जावेगा, क्योंकि, भस्माच्छादित अग्निमें अग्निरूप द्रव्यका सद्भाव तो पाया जाता है, किंतु उसके धर्मरूप ताप और प्रकाशका सद्भाव नहीं पाया जाता है । इसतरह हेतु विपक्षमें चला जाता है, अतएव वह व्यभिचारित हो जाता है । इसप्रकार शकाकारका भस्मसे ढकी हुई अग्निसे साथ व्यभिचारका दोष देना ठीक नहीं है, क्योंकि, रापसे ढकी हुई अग्निमें भी उसके गुणधर्म ताप और प्रकाशकी उपलब्धि अनुमानादि प्रमाणोंसे बराबर होती है ।

शका—केवलज्ञानादि पर्यायरूप हैं, इसलिये आवृत अवस्थामें उनका सद्भाव नहीं बन सकता है ?

समाधान—यह शका भी ठीक नहीं है, क्योंकि, कभी भी नहीं टूटनेवाली ज्ञान-सतानकी अपेक्षा केवलज्ञानके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

छन्नस्थ अर्थात् अल्पज्ञानियोंके ज्ञान और दर्शन अल्प होनेमात्रसे अमगल नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, ज्ञान और दर्शनके एकदेशमें मगलपनेका अभाव स्वीकार कर लेने पर ज्ञान और दर्शनके संपूर्ण अवयवोंको भी अमगल मानना पड़ेगा ।

शका - आवरणसे युक्त जीवोंके ज्ञान और दर्शन मगलीभूत केवलज्ञान और केवल-दर्शनके अप्रयव ही नहीं हो सकते हैं ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, केवलज्ञान और केवलदर्शनसे भिन्न ज्ञान और दर्शनका सद्भाव नहीं पाया जाता है ।

शका—केवलज्ञान और केवलदर्शनसे अतिरिक्त मतिज्ञानादि ज्ञान और चक्षुदर्शन आदि दर्शन तो पाये जाते हैं । इनका अभाव कैसे किया जा सकता है ?

समाधान—उस ज्ञान और दर्शनसंबन्धी अवस्थाओंकी मतिज्ञानादि और चक्षुदर्शनादि नाना सहाय हैं । अर्थात् ज्ञानगुणकी अवस्थाविशेषका नाम मत्यादि और दर्शनगुणकी अवस्था-

मज्झे अपसणे च वत्तव्व । उत्त च—

आदीयमाण मये पणत्त मगल तिणिदिहि ।

तो कय मगल विणयो वि णमो सुत्त पक्खामि ॥ १९ ॥

तिसु द्वाणेषु मगल किमट्ट उच्ये ? कय-कोउय-मगल-पायच्छित्तां विणयोपगया-
मिस्मा अज्जेत्ताने सोदाने वत्तागे आरोगमविग्गेण विज्ज विज्जा फल पावेत्तु त्ति । उत्त च-

आदिग्धि भद उयण सिस्सा लहु-पारया हवतु त्ति ।

मये अ वेण्ठिति य विज्जा विज्जा फल चरिमे ॥ २० ॥

चाहिये । कहा भी है—

जिने-द्रवेवने आदि, जन्त और मध्यमें मगल करनेका विधान किया है । अतः मगल-
विनयको करने भी मैं नमोकार सूत्रका वर्णन करता हूँ ॥ १९ ॥

ग्रन्थ—प्रथमे आदि, मध्य और अन्त, इसप्रकार तीन स्थानोंमें मगल करनेका उपदेश
विस्मयिष्ठ दिया गया है ?

समाधान—मगलसत्रार्थी आवश्यक कृतिकर्म करनेवाले तथा मगलसबन्धी प्राय-
श्चित्त करनेवाले अर्थात् मगल करने लिये आगे प्रारम्भ किये जानेवाले कार्यमें दुःस्वप्नादिकसे मनमें
चंचलता आदि न हो इसलिये प्रायश्चित्तस्वरूप मगलीक दधि, अक्षत, चन्दनादिकको सामने
रखनेवाले और विनयको प्राप्त करने शिष्य, अथेता अर्थात् पढ़नेवाले, श्रोता और वक्ता आरोग्य
और निर्धर्मरूपसे विद्या तथा विद्याके फलको प्राप्त हो, इसलिये तीनों जगह मगल करनेका
उपदेश दिया गया है । कहा भी है—

शिष्य सरलतापूर्वक प्रारम्भ किये गये प्रथाध्ययनादि कार्यके पारगत हों इसलिये आदिमें
भट्टवचन अर्थात् मगलाचरण करना चाहिये । प्रारम्भ किये गये कार्यकी व्युच्छित्त न हो
इसलिये मध्यमें मगलाचरण करना चाहिये, और विद्या तथा विद्याके फलकी प्राप्ति हो इसलिये
अन्तमें मगलाचरण करना चाहिये ॥ २० ॥

१ सामास्यादिनिमित्त यत्कपनादि नियतं तत्कानुस्य । उक्तं च सोग्गादिनिमित्तं परमं ण्वणादि कीडग-
मणिय ॥ भाषा १, १४

२ कृतानि वानुक्रमङ्गायव प्रायश्चित्तानि दुःस्वप्नादिविघानाथमवश्यमरणायत्वाप्यस्ते तथा । अथ त्वाहु-
पायच्छित्तं त्ति पादेन पाद वा त्ताथश्रुदायपरिग्राह्य पादच्छित्तं । कृतं त्वानुक्रमङ्गलात् तं पादच्छित्तमिति विमद-
तद वानुवानी मयानिलगानि, मन्त्राणि तु सिद्धाथवदध्यक्षाद्वाङ्मूलादि । भग २, ५ १०८ दाग

३ पदमे मगलवयण मिस्मा सत्थस्म पारगा हानि । मक्षिस्म विविग्गे विज्जा विज्जाफल चरिमे ॥

नि प १, २

विना प्रणश्यन्ति मय न जातु न दुष्टदेवा परिलक्ष्यति ।
अर्यान्वयेष्टाश्च सदा लभन्ते जिनोत्तमाना परिकीर्तनेन ॥ २१ ॥

आदो मयेऽनसाने च मङ्गल मापित वुधे ।
तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्र तदग्निप्रसिद्धये ॥ २२ ॥

तच्च मंगल दुग्धि णिवद्धमणिग्रद्धमिदि । तत्थ णिवद्ध णाम, 'जो सुत्तस्सादीए सुत्त-कत्तारेण णिवद्ध-देवदा-णमोकारो त णिवद्ध-मंगल । जो सुत्तस्सादीए सुत्त-कत्तारेण कय-देवदा-णमोकारो तमणिग्रद्ध-मंगल । इद पुण जीवद्वाणं णिवद्ध-मंगल । यत्तो ' इमेसिं चोद्दसण्ह जीवसमासाण ' इदि एदस्म सुत्तस्सादीए णिवद्ध- ' णमो अग्निहंताण ' इच्चादि-देवदा-णमोकार-दंसणादो ।

सुत्त किं मंगलगुद अमंगलमिदि ? जदि ण मंगल, ण त सुत्त पावकाणस्स

जिनेन्द्रदेवके गुणोंका कीर्तन करनेसे विघ्न नाशको प्राप्त होते हैं, कभी भी भय नहीं होता है, दुष्ट देवता आक्रमण नहीं कर सकते हैं और निरन्तर यथेष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है।

विद्वान् पुरुषोने, प्रारम्भ किये गये किसी भी कार्यके आदि, मध्य और अन्तमें मंगल करनेका विधान किया है। यह मंगल निर्भिन्न कार्यसिद्धिके लिये जिनेन्द्र भगवानके गुणोंका कीर्तन करना ही है।

यह मंगल दो प्रकारका है, निबद्ध मंगल और अनियद्ध मंगल। जो ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारके द्वारा इष्ट देवता नमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है, अर्थात् श्लोकादिरूपसे रचा जाता है, उसे निबद्ध मंगल कहते हैं। और जो ग्रन्थकारके द्वारा देवताको नमस्कार किया जाता है (किन्तु श्लोकादिके द्वारा सप्रह नहीं किया जाता है,) उसे अनियद्ध मंगल कहते हैं। उनमेंसे यह 'जीवस्थान' नामका प्रथम खण्डगम निबद्ध मंगल है, क्योंकि, 'इमेसिं चोद्दसण्ह जीवसमासाण' इत्यादि जीवस्थानके इस सूत्रके पहले 'णमो अग्निहंताण' इत्यादि रूपसे देवता-नमस्कार निबद्धरूपसे देखनेमें आता है।

शङ्का—सूत्र ग्रन्थ स्वयं मंगलरूप है, या अमंगलरूप ? यदि सूत्र स्वयं मंगलरूप नहीं है, तो यह सूत्र भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, मंगलके अभावमें पापका कारण होनेसे

१ णामदि विग्घ मेददि यद्दो ण्डा सग ण लषति । इद्दा अथा लमं जिणणाम गद्वणमेचण ॥

वि प १, ३०

२ आदश प्रतिपु ' जा सुत्तस्सादाए सत्तकत्तारेण कयदेवदाणमोकारो त णिवद्धमंगल । जो सुत्तस्सादीए सत्तकत्तारेण णिवद्धा देवदाणमोकारो तमणिग्रद्धमंगल ' इति पाठ ।

३ जह मंगल मये विप सय तो विमिह मंगलग्गहण ' सीममहमंगलपरिगग्रथमेत तदभिगण ॥ इह मंगल पि मंगलवुद्दाए मंगलं जहा साड । मंगलतिथवुद्धिपरिगग्गे वि नण णारण मणिजं ॥ वि मा २०, २१०

मुत्त-निरोहदो । अहं मगल, किं तत्थ मगलेण एगदो चेय कज्ज णिप्पत्तीदो इदि । ण ताव मुत्त ण मगलमिदि ? तारिस्स पडज्जाभावादो परिमेसादो मगल स । मुत्तम्सादीए मगल पटिज्जदि, ण पुब्बुत्तदोसो पि दोण्ह पि पुंघ पुंघ विणासिज्जमाण-पाव-दसणादो । पढण-विग्घ निदानण मगल । सुत्त पुण समय पडि असस्सेज्ज-गुण-सेढीए पाव गालिय पच्छा सव्व-कम्म-अणय-कारणमिदि । देवतानमस्कारोऽपि चरमानस्थाया कृत्स्नकर्मक्षय-कारीति द्वयोरप्येककार्यकृत्वमिति चेन्न, सूत्रप्रियपरिज्ञानमन्तरेण तस्य तथाविधसामर्थ्या-भारान् । शुद्धध्यानान्मोक्ष, न च देवतानमस्कारः शुद्धध्यानमिति ।

इदानीं देवदा णमोकार-सुत्तस्मृत्यो उच्यते ।

‘ णमो अरिहताण ’ अरिहननादरिहन्ता । नरकतियकुमानुष्य-

उसका सूत्रपनेमे विरोध पट जाता हे। और यदि सूत्र स्वयं मंगलरूप है, तो फिर उसमें अलगसे मंगल करनेकी क्या आवश्यकता हे, क्योंकि, मंगलरूप एक सूत्र-ग्रन्थसे ही कार्यकी निष्पत्ति हो जाती हे ? और यदि कहा जाय कि यह सूत्र नहीं हे, अतएव मंगल भी नहीं हे, तो ऐसा तो कहीं कहा नहीं गया कि यह सूत्र नहीं हे। अतएव यह सूत्र है और परिशेष न्यायसे मंगल भी हे। तब फिर इसमें अलग से मंगल क्यों किया गया ?

समाधान—सूत्र के आदि में मंगल किया गया है तथापि पूर्वोक्त दोष नहीं आता है, क्योंकि, सूत्र और मंगल इन दोनों में पृथक् पृथक् रूपमें पापोंका विनाश होता हुआ देखा जाता है।

निषेध और अनिषेध मगल पठनम आनेवाले विघ्नोंको दूर करता है, और सूत्र, प्रति-समय असरपात गुणित श्रेणीरूपसे पापोंका नाश करके उसके बाद संपूर्ण कर्मोंके क्षयका कारण होता है।

शुका—देवता-नमस्कार भी अन्तिम अवस्थायें संपूर्ण कर्मोंका क्षय करनेवाला होता है, इसलिये मंगल ओर सूत्र ये दोनों ही एक कार्यको करनेवाले हैं। फिर दोनोंका कार्य भिन्न भिन्न क्यों बतलाया गया है ?

समाधान—वेसा नहीं है, क्योंकि, सूत्रकथित विषयके परिज्ञानके बिना केवल देयता-नमस्कारमें कर्मक्षयकी सामर्थ्य नहीं है। मोक्षकी प्राप्ति शुद्धध्यानसे होती है, परन्तु देयता-नमस्कार तो शुद्धध्यान नहीं है।

निर्गोपार्थ—शास्त्रज्ञान शुद्ध ध्यानका साक्षात् कारण है और देवता नमस्कार परंपरा कारण है, इसलिये दोनोंके अलग अलग कार्य बतलाये गये हैं।

हो। यदि 'अरिहंत' शब्दों के

प्रेतावासगताशेषदुःखप्राप्तिनिमित्तत्वादरिमोहः । तथा च शेषकर्मव्यापारो वैफल्यमुपेयादिति चेन्न, शेषकर्मणा मोहतन्त्रत्वात् । न हि मोहमन्तरेण शेषकर्माणि स्वकार्यनिष्पत्तौ व्यापृतान्युपलभ्यन्ते येन तेषां स्वातन्त्र्यं जायेत । मोहे विनष्टेऽपि कियन्तमपि कालं शेषकर्मणा सत्त्वोपलम्भान्न तेषां तत्तन्त्रत्वमिति चेन्न, विनष्टेऽपि जन्ममरणप्रबन्धलक्षणसंसारोत्पादनसामर्थ्यमन्तरेण तत्सत्त्वस्यामत्तमानत्वात् केवलज्ञानाद्यशेषात्मगुणाभिर्भाषप्रतिबन्धनप्रत्ययसमर्थत्वाच्च । तस्यारेहंननादरिहन्ता ।

रजोहननाद्वा अरिहन्ता । ज्ञानदृगावरणानि रजासीय बहिरङ्गान्तरङ्गाशेषत्रिकालगोचरानन्तार्थव्यञ्जनपरिणामात्मकमस्तुविषयबोधानुभवप्रतिबन्धकत्वाद्रजासि । मोहोऽपि रजः

है । नरक, तिर्यच, कुमानुष और प्रेत इन पर्यायोंमें निवास करनेसे होनेवाले समस्त दुःखोंकी प्राप्तिका निमित्तकारण होनेसे मोहको 'अरि' अर्थात् शत्रु कहा है ।

शुका — केवल मोहको ही अरि मान लेनेपर शेष कर्मोंका व्यापार निष्फल हो जाना है ?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि, बाकीके समस्त कर्म मोहके ही आधीन हैं । मोहके बिना शेष कर्म अपने अपने कार्यकी उत्पत्तिमें व्यापार करते हुए नहीं पाये जाते हैं । जिससे कि ये भी अपने कार्यमें स्वतन्त्र समझे जाय । इसलिये सच्चा अरि मोह ही है, और शेष कर्म उसके आधीन हैं ।

शुका — मोहके नष्ट हो जाने पर भी कितने ही काल तक शेष कर्मोंकी मत्ता रहती है, इसलिये उनको मोहके आधीन मानना उचित नहीं है ?

समाधान — ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, मोहरूप अरिके नष्ट हो जाने पर जन्म, मरणकी परंपरारूप ससारके उत्पादनकी सामर्थ्य शेष कर्मोंमें नहीं रहनेसे उन कर्मोंका सत्त्व असत्त्वके समान हो जाता है ।

तथा केवलज्ञानादि संपूर्ण आत्मगुणोंके आविर्भावके रोकनेमें समर्थ कारण होनेसे भी मोह प्रधान शत्रु है, और उस शत्रुके नाश करनेसे 'अरिहत' यह सच्चा प्राप्त होती है ।

अथवा, रज अर्थात् आवरण-कर्मोंके नाश करनेसे 'अरिहत' यह सच्चा प्राप्त होती है । ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म धूलिकी तरह, बाह्य और अन्तरंग समस्त निकालके विषयभूत-अनन्त अर्थपर्याय और व्यजनपर्यायस्वरूप वस्तुओंको विषय करनेवाले बोध और अनुभवके प्रतिबन्धक होनेसे रज कहलाते हैं । मोहको भी रज कहते हैं, क्योंकि, जिसप्रकार जिनका मुख

१ प्रतिप अत्रायय च 'अरिहत' इति पाठ । रागदोषकमाप य इदियाणि य पच य । परीतदे उवसमो नासयतां नमरिहा ॥ मुलावा ५०४ अद्विद पि य कम्म अरिभूय होइ सबजीवाणं । त कम्ममरिं हता अरिहता तेण तुचिनि ॥ इदियाविसयकमाप परीतदे वेयणा उपससण । एण अरिणो हता अरिहता तेण वच्चति ॥

वि भा ३५८३, ३५८२

भस्मग्जसा पूरिताननानामिष भूयो मोहविरुद्धात्मना जिह्मभागेपलम्भात् ।
किमिति त्रितयर्म्यं विनाश उपदिश्यत इति चेन्न, एतद्विनाशस्य शेषकर्मविनाशविना-
भावेत्वात् । तेषां हननादरहन्ता ।

रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता । रहस्यमन्तरायः, तस्य शेषघानि त्रितयविनाशविना-
भाविनो भ्रष्टबीजवन्निःशक्तीकृताघातिकर्मणो हननादरिहन्ता ।

अतिशयपूजाहर्त्वाद्वाहन्तः । सर्गांतरणजन्मभिषेकपरिनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्ति-
परिनिर्माणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानप्रासपूजाभ्योऽधिकत्वादतिशयानामहर्त्वा-
द्योग्यत्वादहन्तः ।

भस्मसे व्याप्त होता है उनमें जिह्मभाव अर्थात् कार्यकी मन्दता देखी जाती है, उसप्रकार
मोहसे जिनका आत्मा व्याप्त हो रहा है उनके भी जिह्मभाव देखा जाता है, अर्थात् उनकी
स्वानुभूतिमें कालुष्य, मन्दता या झुटिलता पाई जाती है ।

शुद्धा — यद्वा पर केवल तीनों, अर्थात् मोहनीय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके
ही विनाशका उपदेश क्यों दिया गया है ?

समाधान — ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, शेष सभी कर्मोंका विनाश इन तीन
कर्मोंके विनाशका अविनाभावी है । अर्थात् इन तीन कर्मोंके नाश हो जाने पर शेष कर्मोंका
नाश अनश्वरभावी है । इसप्रकार उनका नाश करनेसे अरिहत सत्ता प्राप्त होती है ।

अथवा, 'रहस्य' के अभावसे भी अरिहन्त सत्ता प्राप्त होती है । रहस्य अन्तराय
कर्मको कहते हैं । अन्तराय कर्मका नाश शेष तीन घातिया कर्मोंके नाशका अविनाभावी है,
और अन्तराय कर्म के नाश होनेपर अघातिया कर्म भ्रष्ट बीज के समान नि शक्त हो जाते हैं ।
ऐसे अन्तराय कर्मके नाशसे अरिहत सत्ता प्राप्त होती है ।

अथवा, सातिशय पूजाके योग्य होनेसे अहन्त सत्ता प्राप्त होती है, क्योंकि, गर्भे, जन्म,
दोषा, केवल और निर्वाण इन पांचा कल्याणकर्मों देवोंद्वारा की गई पूजापर देव, असुर और
मनुष्योंको प्राप्त पूजाओंसे अधिक अर्थात् महान् है, इनलिये इन अतिशयोंके योग्य होनेसे अहन्त
सत्ता समझना चाहिये ।

१ अरुति गमाशु अरिहा पूता सुदत्तमा लाग् । रज ता अरिहा य अहता तण उच्चद ॥ मूलावा ५०५
औरति वदणममणा अरिहा पूयसकर । निद्धिममण च अरिहा अरुता तेण वुच्चति ॥ दवाएणमणुण्ण अरिहा
पूजा सुग्गमा जग्ग । अरिहा हता रय हता अरिहता तण वुच्चति ॥ वि मा ३५८४, ३५८५

२ अविषमान वा रह एकात्मणा दश , अतथ म य गिरिशुवादीनां सपवेदितया समस्तबस्तुस्तोमगत
प्रच्छन्नवस्यामान यनां ते अहन्ता [अहता] अथवा अविषमाना रथ स्थन्दन सकल्पप्रिहापलक्षणपुत्र
अन्तर्ध विनाश तत्तुपट्टमणूना येषां त अहन्ता [अहता] । अथवा ' अहताण ' नि कषिदप्यामनिमगच्छन्त ,

आविर्भूतानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यविरतिक्षायिकमम्यत्तदानलाभभोगोपभोगाद्यन-
न्तगुणत्वादिहैवात्मसात्कृतसिद्धस्वरूपाः स्फटिकमणिमहीधरगभोद्भूतादित्यभिम्बद्देदीप्य-
मानाः स्पशरीरपरिमाणा अपि ज्ञानेन व्याप्तविश्वरूपा, स्पन्धिताशेषप्रमेयत्वतः प्राप्त-
विश्वरूपाः निर्गताशेषामयत्वतो निरामया प्रिगताशेषपापाञ्जनपुञ्जत्वेन निरञ्जना,
दोषकलातीतत्वतो निष्कला । तेभ्योऽर्हद्भ्यो नमः, इति यावत् ।

निद्वद्भ-मोह तरुणो त्रिविण्णाणाण-सायरुत्तिण्णा ।

निहय णिय विम्व यग्गा बहु-ब्राह्-त्रिणिग्गया अयला ॥ २३ ॥

दलिय-मयण प्ययाया तिकाळ-विंसएहि तीहि णयणेहि ।

दिट्ठ-सयलट्ठ सारा सुदद्ध तित्तरा मुणि व्वड्ढो ॥ २४ ॥

ति-रयण-तिसूलधारिय मोहधासुर कवध-विद-हरा ।

सिद्ध सयलप-रूना अरहता दुण्णय-ऊयता ॥ २५ ॥

अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त-वीर्य, अनन्त विरति, क्षायिक-सम्यक्त्य,
क्षायिक-दान, क्षायिक-लाभ, क्षायिक भोग और क्षायिक-उपभोग आदि प्रगत हुए अनन्त गुण-
स्वरूप होनेसे जिन्होंने यही पर सिद्धस्वरूप प्राप्त कर लिया है, स्फटिकमणिके पर्वतके मध्यसे
निकलते हुए सूर्य विम्बके समान जो देदीप्यमान हो रहे हैं, अपने शरीर प्रमाण होने पर भी
जिन्होंने अपने ज्ञानके द्वारा संपूर्ण विश्वको व्याप्त कर लिया है, अपने (ज्ञान) में ही संपूर्ण
प्रमेय रहनेके कारण (प्रतिभासित होनेसे) जो विश्वरूपताको प्राप्त हो गये हैं, संपूर्ण आमय
अर्थात् रोगोंके दूर हो जानेके कारण जो निरामय है, संपूर्ण पापरूपी अजनके समूहके नष्ट हो
जानेसे जो निरञ्जन हैं, और दोषोंकी कलाप अर्थात् संपूर्ण दोषों से रहित होनेके कारण जो
निष्कल हैं, ऐसे उन आरिहताओंको नमस्कार हो ।

जिन्होंने मोहरूपी वृक्षको जला दिया है, जो विस्तीर्ण अज्ञानरूपी समुद्रसे उत्तीर्ण हो
गये हैं, जिन्होंने अपने विघ्नोंके समूहको नष्ट कर दिया है, जो अनेक प्रकारकी बाधाओंसे रहित
हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने कामदेवके प्रतापको दलित कर दिया है, जिन्होंने तीनों कालोंको
विषय करनेरूप तीन नेत्रोंसे सकल पदार्थोंके सारको देख लिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात्
मोह, राग और द्वेषकी अच्छी तरहसे भस्म कर दिया है, जो मुनिव्रती अर्थात् दिग्गम्यर अथवा
मुनियोंके पाति अर्थात् ईश्वर हैं, जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य इन
तीन रतरूपी त्रिगुलको धारण करके मोहरूपी अन्धकासुरके कण्ठधनुन्दका हरण कर लिया है,

क्षणरागत्वार । अथवा 'अरह्यद्भव' प्रष्टृपरागादिन्तुपुनमनाज्ञतरविषयमपक्वपि वातरागत्वादिव स्वस्वभावा
मयजन्त [अरहता] । अरहताणमि यापि पाठान्तरम् । तत्र 'अरोहद्भव' अनुपजायमानस्य क्षाणकमवीजत्वात् ।
आट्ठ च, दधे बीजे यथावन्त प्रादुर्भवति नांडुर । वमबीजं तथा दधे न रोगान मवांडुर ॥ नमस्स्वगायता चर्चा
भीममवगहनभमगमीतभूतानामनुपमानन्दरूपपरमपदपुण्यप्रदंश्चैव परमोपचारिणादिनि । भृग १, १, १, दाहा

‘णमो सिद्धाण’ सिद्धाः निष्ठिताः कृतकृत्या सिद्धमाध्या’ नष्टाष्टकर्मणि । सिद्धानामर्हता च को भेद इति चेन्न, नष्टाष्टकर्मणिः सिद्धाः नष्टातिरुर्माणोऽर्हन्त इति तयोर्भेदः । नष्टेषु घातिरुर्मस्वाभिर्भूताशेषात्मगुणत्वाच्च गुणकृतस्तयोर्भेदः इति चेन्न, अघातिकर्मादयमत्रोपलम्भात् । तानि शुद्धध्यानाग्निनार्थदग्धत्वात्सन्त्यपि न स्वकार्य-कर्तृणीति चेन्न, पिण्डनिपाताभासान्यथानुपपत्तिर्यथा आयुष्यादिशेषकर्मोदयास्तित्यसिद्धेः ।

जिन्होंने सपूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त कर लिया है और जिन्होंने दुर्नयका अन्न कर दिया है, ऐसे अरिहन्त परमेष्ठी होते हैं ॥ २३, २४, २५ ॥

विशेषार्थ—शिवमतमें महादेवको कामदेवका नाश करनेवाला, अपने तीन नेत्रोंसे सकल पदार्थोंके सारको जाननेवाला, त्रिपुरका ध्वंस करनेवाला, मुनिवती अर्थात् दिग्गम्बर, त्रिगुलको धारण करनेवाला और अधकामुरके कथघट्टन्दका हरण करनेवाला माना है । महादेवके इन विशेषणोंको लक्ष्यम रखकर नीचेकी दो गाथाओंकी रचना हुई है । जिससे यह प्रगट हो जाता है कि अरिहन्त परमेष्ठी ही सच्चे महादेव हैं ।

‘णमो सिद्धाण’ अर्थात् सिद्धोंको नमस्कार हो । जो निष्ठित अर्थात् पूर्णतः अपने स्वरूपमें स्थित है, दृढवृत्त्य है, जिन्होंने अपने साधकों को सिद्ध कर लिया है, और जिनके ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट हो चुके हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं ।

शंका—सिद्ध और अरिहन्तोंमें क्या भेद है ?

समाधान—आठ कर्मोंको नष्ट करनेवाले सिद्ध होते हैं, और चार घातिया कर्मोंको नष्ट करनेवाले अरिहन्त होते हैं । यही उन दोनोंमें भेद है ।

शंका—चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जाने पर अरिहन्तोंकी आत्माके समस्त गुण प्रकट हो जाते हैं, इसलिये सिद्ध और अरिहन्त परमेष्ठिम गुणवृत्त भेद नहीं हो सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, अरिहन्तोंके अघातियाकर्मोंका उदय और सत्त्व दोना पाये जाते हैं, अनप्य इन दोनों परमेष्ठियोंमें गुणवृत्त भेद भी है ।

शंका—वे अघातिया कर्म शुद्धध्यानरूप अगिके द्वारा अधजलेसे हो जानेके कारण उदय और सत्त्वरूपसे विद्यमान रहते हुए भी अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं है ?

समाधान—ऐसा भी नहीं है, क्योंकि, शरीरके पतनका अभाव अन्यथा सिद्ध नहीं होता है, इसलिये अरिहन्ताके आयु आदि शेष कर्मोंके उदय और सत्त्वकी सिद्धि हो जाती है । अर्थात् यदि आयु आदि कर्म अपने कार्यमें असमर्थ माने जाय, तो शरीर का पतन हो जाना चाहिये । परन्तु शरीर का पतन तो होता नहीं है, इसलिये आयु आदि शेष कर्मोंका कार्य करना सिद्ध है ।

१ सप्तवित्रातीणं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति । भवति तदा कृतवत्स तस्यैव पुरुषार्थसिद्धिमापन्न ॥

२ ति ११

२ दीर्घकालमयं जन्म उप्पिदा अट्ठकम्मसु । मिदं धत्तं पिघत्तं यं सिद्धत्तमुत्तमं ॥ मूलाच ५०७

(तत्कार्यस्य चतुरशीतिलक्षयोन्यात्मकस्य जातिजरामरणोपलक्षितस्य मंसागस्यासत्त्वात्तेपा-
मात्मगुणघातनसामर्थ्याभावाच्च न तयोर्गुणकृत भेद इति चेन्न, आयुष्येदनीयोदययो-
र्जीवोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयोः सत्त्वात् ।)

नोर्ध्वगमनमात्मगुणस्तदभावे चात्मनो विनाशप्रसङ्गात् । सुखमपि न गुणस्तत
एव । न वेदनीयोदयो दुःखजनकः केवलिनि केवलित्वाभ्यानुपपत्तेरिति चेदस्त्वेवमेव
न्यायप्राप्तत्वात् । किंतु सलेपनिर्लेपत्वाभ्या देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिद्धम् ।

शुद्धा—कर्मोंका कार्य तो चौरासी लाख योनिरूप जन्म, जरा ओर मरणसे युक्त
सत्कार है । वह, अघातिया कर्मोंके रहने पर भी अरिहत परमेष्ठिके नहीं पाया जाता है । तथा,
अघातिया कर्म आत्माके अनुजीवी गुणोंके घात करनेमें असमर्थ भी है । इसलिये अरिहत और
सिद्ध परमेष्ठिमें गुणकृत भेद मानना ठीक नहीं है ?

समाधान—पेसा नहीं है, क्योंकि, जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का प्रतिबन्धक आयु-
कर्म का उदय ओर सुखगुणका प्रतिबन्धक वेदनीय कर्मका उदय अरिहत्तों के पाया जाता है ।
इसलिये अरिहत और सिद्धों में गुणकृत भेद मानना ही चाहिये ।

शुद्धा—ऊर्ध्वगमन आत्माका गुण नहीं है, क्योंकि, उसे आत्माका गुण मान लेने पर
उसके अभावमें आत्माका भी अभाव मानना पड़ेगा । इसीकारण सुख भी आत्माका गुण नहीं
है । दूसरे वेदनीय कर्मका उदय केवलीमें दुःखको भी उत्पन्न नहीं करता है, अन्यथा, अर्थात्
वेदनीय कर्मको दुःखोत्पादक मान लेने पर, केवली भगवान्के केवलीपना ही नहीं बन
सकता है ?

समाधान—यदि पेसा है तो रहो, अर्थात् अरिहत और सिद्धोंमें गुणकृत भेद सिद्ध
नहीं होता है तो मत होओ, क्योंकि, वह न्यायसंगत है । फिर भी सलेपत्व और निर्लेपत्वकी
अपेक्षा और देशभेदकी अपेक्षा उन दोनों परमेष्ठियोंमें भेद सिद्ध है ।

त्रिगोपार्थ—अरिहत और सिद्धोंमें अनुजीवी गुणोंकी अपेक्षा तो कोई भेद नहीं है ।
फिर भी प्रतिजीवी गुणोंकी अपेक्षा माना जा सकता है । परन्तु प्रतिजीवी गुण आत्माके भाव-
स्वरूप धर्म नहीं होनेसे तत्कृत भेदकी कोई मुख्यता नहीं है । इसलिये सलेपत्व ओर निर्लेपत्वकी
अपेक्षा अथवा देशभेदकी अपेक्षा ही इन दोनोंमें भेद समझना चाहिये । ऊपर जो ऊर्ध्वगमन
ओर सुख आत्माके गुण नहीं है, इसप्रकारका कथन किया है । वहा पर उन दोनों गुणोंका
तात्पर्य प्रतिजीवी गुणोंसे है । ऊर्ध्वगमनसे अवगाहनत्व और सुखसे अव्याबाध गुणका ग्रहण
करना चाहिये । क्योंकि, ग्रन्थान्तरोंमें आयु और वेदनीयके अभावे होनेवाले जिन गुणोंको
अवगाहन ओर अव्याबाध कहा है । उन्हें ही वहा पर ऊर्ध्वगमन और सुखके नामसे प्रतिपादन
किया है ।

तेभ्य' मिद्रेभ्यो नम इति यावत् ।

णित्य त्रिनिहृद्-कम्मा तिट्ठण सिर-सेहुरा निहुन दृग्वा ।

सुह मायर मज्ज-गया णिरजणा णिच्च अट्ट गुणा ॥ २६ ॥

अणम-जा कय क-जा स-जाययेहि दिट्ठ सत्थ' ।

व-न सिलत्थ-भगय पडिम जमे-ज सठाणा ॥ २७ ॥

माणुस सठाणा मि दु मत्थावयेहि णो गुणेहि ममा ।

सन्निद्रियाण तिसय जमेग देसे विजाणति ॥ २८ ॥

‘णमो आहरियाण’ पञ्चत्रिधमाचार वरन्ति चारयन्तीत्याचार्या चतुर्दश-
विद्याभ्यानपारगा एकादशाङ्गधरा^१ । आचाराङ्गधरो वा तात्कालिकस्वसमयपरममय-
पारगो वा मेरुरित्ति निबल, क्षितिरित्ति सहिष्णु भागर इव वहि भिन्नमल^२ सप्तमय-

ण्ये सिद्धोंको नमस्कार हो ।

जिहोंने नाना भेदरूप आठ कर्मोंका नाश कर दिया है, जो तीन लोकके मस्तकके
शेखरस्वरूप ह, दु खोंमें रहित ह, सुखरूपी सागरमें निमग्न ह, निरजन ह, नित्य ह, आठ
गुणोंसे युक्त है, अनवय अर्थात् निदाय है, कृतकृत्य ह, जिहोंने सर्वोत्तम अथवा समस्त
पर्यायोंसहित सपूर्ण पदार्थोंको जान लिया है, जो चञ्चलशिला निर्मित अभय प्रतिमाके समान
अभेद्य आकारसे युक्त ह, जो पुरुषान्तर होने पर भी गुणोंसे पुरुषके समान नहीं ह, क्योंकि,
पुरुष सपूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको भिन्न भिन्न देशमें जानता है, परन्तु जो प्रति प्रदेशमें सब
विषयोंको जानते ह, वे सिद्ध ह ।

‘णमो आहरियाण’ आचार्य परमेषुओंको नमस्कार हो । जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, तप
और धर्म इन पांच आचार्योंका स्वयं आचरण करते ह और दूसरे साधुओंमें आचरण कराते

१ नमररणीरता चषामविप्रणाशिहानदशनमुग्धवायादिगणयुक्तनया स्वविषयप्रमोदप्रकषापादनन
भानामतीवोपकारहनुवादिनि । मग १, १, १ टाका

२ उम्हा पञ्चविहाचार आचरता पमासदि । आयरियाणि देसता जायरेआ नेण उच्चद ॥ मूलावा ५१०
आया पञ्चविह चरदि चरवेदि जो निदिचार । उवदिमदि य आया पमा जायाव नाम ॥ मूलावा ४१९

३ चामदननपुर्णा महामदी मायरो ध्व गमीरा । कप्पववहाधारा हादि हु जायाव नाम ॥

मूलावा ४२५

४ पञ्च मज्जवतणा तकाडियमपरममयमधारा । णाणागुणगणभरिया आहरिया मग पमादतु ॥

ति प १, ३

५ ‘माग दुद्धरिमा मूग धम्मपहावागमिलो । विदिसमिमायम्मरिमो कम्म त सा दु संपत्ता ॥’

मूलावा १५९

विप्रमुक्तः आचार्य ।

पत्रयण-जलहि-जलोपर षडायामल बुद्धि-सुद्ध छावासो^१ ।

मेरु च णिष्पत्तपो सूर्यो पचाणणो वज्जो ॥ २९ ॥

देस कुल जाइ-सुद्धो सोमगो मग भग-उम्मुक्खो ।

गयण च णिरुवलेज्जो आडरियो एरिसो होई ॥ ३० ॥

मगह-णिग्गह कुसलो सुत्तय-निसारओ पहिय-कित्ती ।

सारण नारण साहण-किरियुज्जुत्तो ह्वा आडरियो^१ ॥ ३१ ॥

एवाविधेभ्य आचार्येभ्यो^१ नम इति यावत् ।

हँ उन्हें आचार्य कहते ह । जो चोदह विद्यास्थानोंके पारगत हों, ग्यारह अगके धारी हों, अथवा आचारागमात्रके धारी हों, अथवा तत्कालीन स्वसमय और परसमयमें पारगत हों, मेरुके समान निश्चल हों, पृथिवीके समान सहनशील हों, जिन्होंने समुद्रके समान मल अर्थात् दोषोंको बाहर फेंक दिया हो, और जो सात प्रकारके भयसे रहित हों, उन्हें आचार्य कहते हैं ।

प्रवचनरूपी समुद्रके जलके मध्यमें स्नान करनेसे अर्थात् परमागमके परिपूर्ण अभ्यास और अनुभवसे जिनकी बुद्धि निर्मल हो गई है, जो निर्दोष रीतिसे छह आवश्यकोंका पालन करते हैं, जो मेरु पर्वतके समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर हैं, जो सिंहके समान निर्भीक हैं, जो वर्य अर्थात् श्रेष्ठ हैं, देश, कुल और जातिसे शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहसे रहित हैं, आकाशके समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं । जो सभके समग्र अर्थात् दीक्षा और निग्रह अर्थात् शिक्षा या प्रायश्चित्त देनेमें कुशल हैं, जो सूत्र अर्थात् परमागमके अर्थमें विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है, जो सारण अर्थात् आचरण, धारण अर्थात् निषेध और साधन अर्थात् मर्तोंकी रक्षा करनेवाली क्रियाओंमें निरन्तर उद्युक्त हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी समझना चाहिये ॥ २९, ३०, ३१ ॥

ऐसे आचार्योंको नमस्कार हो ।

१ तत्र मातिरिण्णमुन लोरे वे वेदनामयम् । चतुर्थी मातिरराण स्यादशुप्तिस्तु पञ्चमी ॥ माति स्याद्वा तथा मृत्यु मातिरारुग्गिक्क तत् । त्रमादुदेक्षितामेति सप्तमा मातय स्मृता ॥ पञ्चाध्या २, ५०४, ५०५

२ 'सुद्धछावासो' ण वसो अग्रगो, अवसत्ता कम्ममावामग इति व्युत्पत्तावपि सामयिकादिभेदाय शब्दो वतते । व्याधिदोषस्यादिना व्याकुलो भण्यते अवस परवश इति यावत् । तेनापि कर्त्तव्यं वर्मेति । अथवा, 'आवासो' इत्ययमपि, आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनोति क्त्वा सामायिक चतुर्विंशतिस्तथो वदना प्रतिमण प्रत्याख्यान व्युत्सर्ग इत्येवमपि षडवश्यकानि ॥ मूलारा गा ११६ टीका

३ सगरुणगाहवृत्तलो सुचयविसारओ पहियकित्ती । त्रिरियाचरणसुद्धो गोहृय आदेख वयणो य ॥

मूलावा १५८

४ आ मयादया तद्विषयविनयरूपया चयन्ते सेयते जिनसामनार्थोपदेशकतया तदाकाङ्क्षिम् इत्याचार्या ।

‘ जमा उपज्ञायाण ’ चतुर्दशविद्यास्थानन्यायात्तार’ उपाध्याया’ तात्कालिक-
प्रवचनन्यायात्तारो वा आचार्यस्योक्ताशेषलक्षणसमन्विता’ सग्रहानुग्रहादिगुणहीना ।

चोदस पुत्रमहोयहिमहिगम्म सिन थिओ सिनत्थीण ।

मीलवराण दत्ता होद मुणासो उपज्ञायो ॥ ३२ ॥

एतेभ्य उपाध्यायेभ्य नम इति यावत् ।

‘ जमा उपज्ञायाण ’ उपाध्याय परमेष्ठीको नमस्कार हो । चोदह विद्यास्थानने व्याख्यान करनेवाले उपाध्याय होते हैं, अथवा तत्कालीन परमागमके व्याख्यान करनेवाले उपाध्याय होते हैं । वे सग्रह, अनुग्रह आदि गुणोंको छोड़कर पहले कहे गये आचार्यके समस्त गुणासे युक्त होते हैं ।

जो साधु चोदह पूर्वस्थी समुद्रम प्रवेश करके जयात् परमागमका अभ्यास करके मोक्षमार्गमें स्थित हैं, तथा मोक्षके इच्छुक शीलधरा अर्थात् मुनियोंको उपदेश देते हैं, उन मुनीश्वरोंको उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं ॥ ३२ ॥

येमे उपाध्यायोंको नमस्कार हो ।

उत्त च, सत्तथवि लसुणज्जा गच्छम भविस्सुजाय । सत्तथिस्सिम्ममुक्का जय वाण्ड जायिस्सि ॥ जयसा जाचारा सानावासादि पक्का । जा मयादया वा चातो विहा जागरस्तन साधन स्मरणणात् प्रसाधणात् प्रश्रवणात्तथाचाया । जाह च, पक्खिह जायार जायगमाणा तथा पयामना । जायार दसता जायारिया तण चुचति ॥ जयसा जा इपद अपरिणया इत्थं चाता हरित्ता य त जाचाग वात्तया इयय । सुतायुत्तमागनिरूपणनिपुणा विनया, जतस्तणु साधनो यथापच्छायावापदसक्तया इयाचाया । नमस्यता चयमाचातोपदसक्तयापराचिवात् ।

मग १, १, १ टीका

१ ‘ निमत् ’ पाठ प्रतिपाति ।

२ बालमग विपक्खाद सज्ञाय कथितं बुव । उपदयइ स ज्ञाय सत्थु ज्ञाड उच्चदि ॥ मल्लावा ५११, जा नि १००० उ’ ति उपजागमणं स ति य ज्ञाणस्म होइ णिदस । ण्ण जति उत्ता एया अत्ता वि पड्ढाजा ॥ उ’ ति उपजागमणं व’ ति ज पावपरिउज्जं हाइ । स’ ति ज ज्ञाणस्म वण ‘ ओ ’ ति ज जावस्मणा कम्म ॥ जा नि १९८, ० ९ उप समीपमागवादीयन ‘ इह जयने ’ इति वचनान् पत्थत्ते ‘ इण गता ’ इति वचनान् अधि आधिक्येन गम्यते, ‘ इह स्मरणे ’ इति वचनाद्वा स्मयन धृततो विनयवचनं ययस्त उपाध्याया । यदात्त, बालमगो ज्ञिक्काओ सम्भाजो रहिजा वहे । त उपइसति जम्हा उपज्ञाया तण चुचति ॥ अथवा उपधानमुपाधि सतिधित्ततापाधिना उपावा वा जाया लाम क्षुत्तम्य यया त । उपधीना वा विगयानां प्रमाच्छेदमनानामायो लामा यम्य । जयसा उपाधिरित्ते मत्ताथरत्त जाय इष्टफल दवजनित्तवन अयानां इष्टफलानां समुत्पत्तद्वद्वत्तुत्वायेयां त । जयवा आचानां मन र्पाडानामाया लाम जाण्णाय अधियां वा ‘ नज बुमाधन्वात् ’ उबुत्तानामायायाय । ध्व चित्तायां इयस्स धाता प्रयोगात्तन वृत्तायत्तवेदेन च दुध्यानवायाय । उपहत आयाय जायाया वा येस्त उपायाया । नमस्सता चयां समुत्पदायायात्तनित्तवचनायापनतो विनयवचनं मयानामुपपत्तिविति । मग १, १, १ टीका

‘गमो लोए मव्व साहूण’ अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूप माधयन्तीति माधवः ।
पञ्चमहान्तधरास्त्रिगुप्तिगुप्ता, अष्टादशगीलसहस्रधराश्चतुरशीतिशतमहस्रगुणवराश्च साधवः ।

सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुट-मूरुगिटि-मदरिंदु मणी ।

खिदि-उरगवर-सरिसा परम-पय त्रिमगया साह ॥ ३३ ॥

सकलकर्मभूमीपूतपत्रेभ्यस्त्रिकालगोचरेभ्यः साधुभ्यो नमः

‘गमो लोए स-उसाहूण’ लोक अर्थात् ढाई द्वीपयुता सर्व साधुओंको नमस्कार हो ।
जो अनन्त ज्ञानादिरूप शुद्ध आत्माके स्वरूपकी साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं । जो पांच
महान्तताको धारण करते हैं, तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित हैं, अठारह हजार शीलके भेदोंको
धारण करते हैं और चौदासी लाख उत्तर गुणोंका पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठी होते हैं ।

सिंहके समान पराक्रमी, गजके समान स्वाभिमानी या उन्नत, बेलके समान भद्र-
प्रकृति, मृगके समान सरल, पशुके समान निरीह गोचरी-वृत्ति करनेवाले, पवनके समान
नि सग या सन जगह बिना रुकावटके विचरनेवाले, सूर्यके समान तेजस्वी या सकल तत्वोंके
प्रकाशक, उद्धि अर्थात् सागरके समान गर्भीर, मन्दराचल अर्थात् सुमेरु पर्वतके समान परीपह
और उपसर्गोंके आने पर अकम्प और अडोल रहनेवाले, चन्द्रमाके समान शान्तिदायक, मणिके
समान प्रभा पुजयुक्त, क्षितिके समान सर्व प्रकारकी याथाओंसे सहनेवाले, उरग अर्थात् सर्पके
समान दूसरेके बनाये हुए अनियत आश्रय-वसतिरुक्ता आदिम निवास करनेवाले, अम्बर अर्थात्
आकाशके समान निरालम्बी या निर्लेप और सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्षका अन्वेषण
करनेवाले साधु होते हैं ॥ ३३ ॥

संपूर्ण कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए त्रिकालवर्ती साधुओंको नमस्कार हो ।

१ गणनल व गिराल्लणा, वाउरि अपडिबवा, मादमल्लि इव सुद्धहियया, पुसखरपत्त इव निरुवलेया,
कुम्भो इव गच्छिदिया, रिहग इव विष्णुसुवा, खगिरिसाण व एग्गयाया, मारुडपक्खी व अप्पमत्ता, कुजरा इव साङ्गीग,
वसमो इव जातस्थिमा, सीहो इव दुद्धरिमा, मदरा इव अप्पक्का, सागरो इव गमीरा, चदो इव सीमलेमा, सरो इव
दिच्छेया, जच्चक्कणम व इव जातम्भा, वसुधरा इव मज्जक्कसम्मिया, सुहयहुयामणो तेयमा जलता अणगारा ।
सूत्र २, २ ७० उरगगिरिजलणमागरनत्तल्लनग्गणममो ज जो हाई । नमरमियधरिजलत्तल्लनविपणममो
ज तो समणो ॥ अनु पृ २५६

२ निव्वाणमाधव जोगे सदा जुजति साधवो । ममा सव्वेसु भूदसु तम्हा ते सव्वमाधवो ॥ मूलावा ५१२ ।
आ नि १००५ साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति माधव । समता वा सव्वभूतेषु ध्यायतीति निश्चिंतायावात्
साधव । यदाह, निव्वाणसाहूण जोए जम्हा साहति माहुणो । समा य सव्वभूतसु तम्हा ते भावमाहुणो ॥ सादायक वा
सयमरारिणा धारयन्तीति साधव । सव्वमहण च सवेया गुणवतामन्निशेयनमनीयताप्रतिपादनार्थम् । अथवा, सवेन्यो
जीवेन्यो हिता साना, ते च ते साधनम् सार्वसाधव । सार्वस्य वा अर्हतो न तु बुद्धादे साधन सार्वसाधव ।
सार्वत् वा उभयोर्गता साधयन्ति कुवन्ति, सार्वान् वा अर्हन्त साधयन्ति तदाज्ञानरणादाराधयन्ति प्रतिष्ठापयन्ति वा
दुनयनिरासाराणादिनि सव्वमाधव सार्वमाधवो वा । अथवा अन्वेषेण भ्रवणादिषु बाधेषु अथवा सत्यानि दक्षिणान्यदु-

परोक्षपरोक्षकृतो भेदो वस्तुपरिच्छिन्ति प्रत्येकत्वात् । नैकस्य ज्ञानस्यानस्थाभेदतो भेदो निर्मलानिर्मलानस्थावस्थितदर्पणस्यापि भेदापत्तेः । नानययावयविकृतो भेदः अन्यजम्पा-
त्रयप्रिनोऽन्यतिरेकात् । सम्पूर्णरत्नानि देवो न तदेकदेश इति चेन्न, रत्नैकदेशस्य देवत्वाभावे
समस्तस्यापि तदसत्त्वापत्तेः । न चाचार्यादिस्थितरत्नानि कृत्स्नकर्मक्षयकृत्तृणि रत्नैकदेश-
त्वादिति चेन्न, अत्रिसमूहकार्यस्य पललराशिदाहम्य तत्कणादप्युपलम्भात् । तस्मादाचार्या-
दयोऽपि देवा इति स्थितम् ।

त्रिगताशेषलेपेषु मिद्रेषु सत्सहता सलेपानामादौ किमिति नमस्कारः क्रियत इति
चेन्नैव दोषः, गुणाधिकसिद्धेः श्रद्धाधिस्यनिम्बनत्वात् । अमत्यहृत्याप्तागमपदार्थागमो

अभाव होता जाता है, वैसे ही वैसे अप्रगट रत्नोंके शेष अवयव अपने आप प्रगट होते जाते
हैं। इसलिये उनमें कारण-कार्यपना भी नहीं बन सकता है। इसीप्रकार आचार्यादिक और
सिद्धोंके रत्नोंमें परोक्ष और प्रत्यक्ष जन्य भेद भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, वस्तुके ज्ञान
सामान्यकी अपेक्षा दोनों एक है। केवल एक ज्ञानके अस्थाभेदसे भेद नहीं माना जा सकता
है। यदि ज्ञानमें उपाधिरुत अवस्था भेदसे भेद माना जाये, तो निर्मल और मलिन दशको प्राप्त
दर्पणमें भी भेद मानना पड़ेगा। इसीप्रकार आचार्यादिक और सिद्धोंके रत्नोंमें अवयव और
अवयवी जन्य भी भेद नहीं है, क्योंकि, अवयव अवयवोंने सर्वथा अलग नहीं रहते हैं।

शुद्धा—सम्पूर्ण रत्न अर्थात् पूर्णताको प्राप्त रत्नत्रयको ही देव माना जा सकता है,
रत्नोंके एकदेशको देव नहीं माना जा सकता ?

समाधान—ऐसा कहना भी उचित नहा है, क्योंकि, रत्नोंके एकदेशमें देवपनाके
अभाव मान लेने पर रत्नोंकी समग्रतामें भी देवपना नहीं बन सकता है। अर्थात् जो कार्य
जिसके एकदेशमें नहीं देखा जाता है वह उसकी समग्रतामें कहासे आ सकता है ?

शुद्धा—आचार्यादिकमें स्थित रत्नत्रय समस्त कर्मोंके क्षय करनेमें समर्थ नहा हो
सकते हैं, क्योंकि, उनके रत्न एकदेश हैं।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, जिसप्रकार पलल-राशिका दाह रूप
अत्रि समूहका कार्य अत्रिके एक कणसे भी देखा जाता है, उन्नीप्रकार यहा पर भी समझना
चाहिये। इसलिये आचार्यादिक भी देव हैं, यह बात निश्चित हो जाती है।

शुद्धा—सर्व प्रकारके कर्म लेपसे रहित सिद्ध परमेष्ठीके विद्यमान रहते हुए अघ्रातिया-
कर्मोंके लेपसे युक्त अरिहत्तोंको आदिमें नमस्कार क्यों किया जाना है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सबसे अधिक गुणवाले सिद्धोंमें श्रद्धाकी
अधिकताके कारण अरिहत्त परमेष्ठी ही हैं, अर्थात् अरिहत्त परमेष्ठीके निमित्तसे ही अधिक
गुणवाले सिद्धोंमें सबसे अधिक श्रद्धा उत्पन्न होती है। अथवा, यदि अरिहत्त परमेष्ठी न होते तो
हम लोगोंको आप्त, आगम और पदार्थका परिज्ञान नहीं हो सकता था। किन्तु अरिहत्त परमेष्ठीके

न भवेदस्मदादीनाम्, मजातयेतत्प्रमादादित्युपकारापेक्षया प्रदावर्हन्मस्कारे क्रियते ।
न पक्षपातो दोषाय शुभपक्षवृत्ते श्रेयोहेतुत्वात् । अद्वैतप्रधाने गुणीभूतद्वैते द्वैतनिबन्धनस्य
पक्षपातस्यानुपपत्तेः । आप्तश्रद्धाया आप्तागमपदार्थविषयश्रद्धाविक्रयनिबन्धनत्वात्
पनार्थं गार्हतामादौ नमस्कार । उक्तं च—

तस्सतिथ धम्मग्रह णिग ठे तस्सतिथ वेणइय पउजे ।

मकारण त सिर-पचण^१ काण्ण वाया मणमा वि णिच ॥ ३४ ॥

मगलस्स कारण गय ।

सपहि णिमित्तमुच्चदे । रुस्म णिमित्त ? सुत्तानदारस्म । त रुधं जाणिजदि

प्रमादमे ह्येस बोधकी प्राप्ति हुई है । इसलिये उपकारकी अपेक्षा भी आदिमें अरिहत्तोंको नमस्कार किया जाता है ।

यदि कोई कहे कि इसप्रकार आदिमें अरिहत्तोंको नमस्कार करना तो पक्षपात है ? इस पर आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा पक्षपात दोषोत्पादक नहीं है । किन्तु शुभ पक्षमें रहनेसे वह कल्याणका ही कारण है । तथा द्वैतको गौण करके अद्वैतकी प्रधानतासे किये गये नमस्कारमें द्वैतमूल्य पक्षपात बन भी तो नहीं सकता है ।

विशेषार्थ—पक्षपात वहाँ सम्भव है जहाँ दो वस्तुओंमेंसे किसी एककी ओर अधिक आकर्षण होता है । परन्तु यहाँ परमेश्वरोंको नमस्कार करनेमें दृष्टि प्रधानतया गुणोंकी ओर रहती है, धन्तुभेदकी प्रधानता नहीं है । इसलिये यहाँ पक्षपात किसीप्रकार भी सम्भव नहीं है ।

आप्तकी श्रद्धासे ही आप्त, आगम और पदार्थोंके विषयमें नद श्रद्धा उत्पन्न होती है, इस बातके प्रसिद्ध करनेके लिये भी आदिमें अरिहत्तोंको नमस्कार किया गया है । कहा भी है—

जिसके समीप धर्म ज्ञान प्राप्त करे उसके समीप विनय युक्त होकर प्रवृत्ति करनी चाहिये । तथा उमरा, शिर पचन अर्थात् मस्तक, दोनों हाथ और दोनों जघाण इन पचागोंसे तथा वाय, घन और मनसे निरंतर सत्कार करना चाहिये ।

इसतरह मगलके कारणका वर्णन समाप्त हुआ । अब निमित्तका कथन करते हैं—

शुक्रा — यहाँ पर किसके निमित्तका कथन किया जाता है ?

समाधान—यहाँ पर सूत्रायतार अर्थात् ग्रन्थके प्रारम्भ होनेके निमित्तका वर्णन किया जाता है ।

१ अरतुक्कमप मिद्धा नञ्जनि तेण अरहाइ । न वि कोइ य परिहाण पणमिता पणमइ रघो ॥

आ नि १०१५

२ आदिसप्रतिपु 'गुणिभूतद्वैते' इति पाठ ।

३ आदिसप्रतिपु 'शब्दाधिक्य' इति पाठ ।

४ प्रतिपु 'पचमण' इति पाठ । दो जायू दोणिं करा पचमण हाइ उचमण तु । सम्म सपणिवाओ दोओ पच-पणिवाओ ॥ पमा वि ३, १५

५ जस्तणि धम्मपयाइ सिक्खे तस्सणि वेणइय पउजे । सकारण सिरसा पजळाओ कायगिरां ओ

सुत्तापदारस्त ण अण्णोस्मेति ? पयरणदो । ' भोजन-वेलाए सेंधवमाणि ' ति वयणादो लोण इव । वद्ध-वध-वधकारणं भुव-भोक्त्त-भोक्त्तकारणाणि णिम्मेत्त-णय-व्यमाणाणि योग दारेहि अहिगम्म भणिय-वणो जाणदु ति सुत्तमोडण्ण अत्थदो तित्थयरादो, गधदो गणहर-देवादो ति ।

द्रव्यभागाभ्यामकृत्रिमत्वत मदा ग्थितस्य श्रुतस्य कथमनन्तर इति चेदेतत्सर्व-मभनिष्यद्यदि द्रव्याधिकनयोऽभिरक्षिष्यन् । पर्यायार्थिकनयापेक्षायामनन्तरमन्तु पुन-र्यत एव ।

उद्व्य-णय-पयत्ये सुय णाणाइच्च-दिप्प-तेण्ण ।

पस्ततु भव्य-जीवा इय सुय-रणिणो ह्ये उदयो ॥ ३५ ॥

साम्प्रत हेतुरुच्यते । तत्र हेतुर्द्विविधः प्रत्यक्षहेतुः परोक्षहेतुरिति । कस्य हेतु ?

शका—यह कैसे जाना जाता है कि यहा पर सूत्रावतारके निमित्तका कथन किया जाता है, अन्यका नहीं ।

समाधान—यह बात प्रकरणसे जानी जाती है । जैसे भोजन करते समय ' सैन्यर लाओ ' इसप्रकारके वचनसे सेंधे नमकका ही ज्ञान होता है, उसीप्रकार यहा पर भी समझ लेना चाहिये कि यहा पर ग्रन्थावतारके निमित्तका ही कथन किया जा रहा है ।

बद्ध, वन्ध, वन्धके कारण, मुक्त, मोक्ष और मोक्षके कारण, इन छह तत्वोंको निक्षेप, नय, प्रमाण और अनुयोगद्वारोंसे भलीभांति समझकर भव्यजन उनके ज्ञाना धर्म, इसलिये यह सूत्र ग्रन्थ अर्थ प्ररूपणाकी अपेक्षा तीर्थकरने और ग्रन्थरचनाकी अपेक्षा गणधरदेवसे अतीर्ण हुआ है ।

शका—द्रव्य और भावसे अकृत्रिम होनेके कारण सर्वदा एकरूपसे अवस्थित श्रुतका अवतार कैसे हो सक्ता है ?

समाधान—यह शका तो तब बनती जब यहा पर द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षा होती । परन्तु यहा पर पर्यायाधिक नयकी अपेक्षा होनेसे श्रुतका अवतार तो बन ही जाता है ।

भव्य जीव श्रुतज्ञानरूपी सूर्यके दीप्त तेजसे छह द्रव्य और नव पदार्थोंको देखे अर्थात् भलीभांति जानें, इसीलिये श्रुतज्ञानरूपी सूर्यका उदय हुआ है ॥ ३५ ॥

अथ हेतुका कथन किया जाता है,

हेतु दो प्रकारका होता है, एक प्रत्यक्ष हेतु और दूसरा परोक्ष हेतु ।

शका—यहा पर किसके हेतुका कथन किया जाता है ?

मनसा अ निच । द वे ९, १३

१ प्रतिशु ' यणत्स ' इति पाठ ।

२ उद्व्यणवपयत्ये सुदणाशुमणिग्गिमसीण । दक्खनु मव्वजावा अण्णाणनमण सत्कम्मा ॥

ति प १, ३४

मिद्वान्ताध्ययनस्य । तत्र प्रत्यक्षहेतुर्द्वित्रिधः साक्षात्प्रत्यक्षपरम्पराप्रत्यक्षमेवात् । त
साक्षात्प्रत्यक्षमज्ञानविनाश मज्ज्ञानोत्पत्तिर्देवमनुष्यादिभिः सततमभ्यर्चन प्रतिसम
मसत्प्राप्तगुणश्रेण्या कर्मनिर्जरा च । कर्मणामसत्प्राप्तगुणश्रेणिनिर्जरा केषां प्रत्यक्षे
चेन्न, अधिमनःपर्ययज्ञानिना सूत्रमधीयानानां तत्प्रत्यक्षतायां ममुपलम्भात् । त
परम्पराप्रत्यक्ष शिष्यप्रतिश्रुत्यादिभिः सततमभ्यर्चनम् । परोक्ष द्वित्रिधम्, अभ्युदयनैः श्रे
समिति । तत्राभ्युदयसुरा नाम मातादि-प्रशस्त-कर्म तीत्रानुभागोदय जनितेन्द्र-प्रतीन
मामानि-प्रायश्चित्तदादि-देव-चक्रवर्ति बलदेव-नारायणार्धमण्डलीक-मण्डलीक-महामण्ड
लीक राजाधिराज-महाराजाधिराज-परमेस्वरादि दिव्य-मानुष्य-सुखम् ।

समाधान—यह पर सिद्धान्तरे अध्ययनके हेतुका कथन किया जाता है ।

उन दोनों प्रकारके हेतुओंमेंसे प्रत्यक्ष हेतु दो प्रकारका है, साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु
परंपरा प्रत्यक्ष हेतु । उनमेंसे अज्ञानका विनाश सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति, देव, मनुष्यादिके
निरन्तर पूजाका होना और प्रत्येक समयमें असत्प्राप्त गुणित श्रेणीरूपसे कर्मोंकी निर्जरा
होना साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु (फल) समझना श्राद्धि ।

शुद्धा—कर्मोंकी असत्प्राप्त गुणित श्रेणीरूपसे निर्जरा होती है, यह किनके प्रत्यक्ष ।

समाधान—ऐसी शक्ति कीक नहीं है ? क्योंकि, सूत्रका अध्ययन करनेवाले
असत्प्राप्त गुणित श्रेणीरूपसे प्रतिसमय कर्म निर्जरा होती है, यह बात अविज्ञानी
मन पर्यय-ध्यानियोंको प्रत्यक्षरूपसे उपलब्ध होती है ।

शिष्य, प्रतिश्रुत्यादिके द्वारा निरन्तर पूजा जाना परंपरा प्रत्यक्ष हेतु है । परोक्ष
भी दो प्रकारका है, एक अभ्युदयसुख और दूसरा नेत्रेयसुख । इनमेंसे साक्षात्चेदनीय
प्रशस्त-कर्म प्रकृतियोंके तीव्र अनुभागके उदयसे उत्पन्न हुआ इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक, प्रायश्
आदि देवसब धी दिव्य सुख और चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, अर्धमण्डलीक, महामण्ड
राजाधिराज, महाराजाधिराज, परमेस्वर आदि मनुष्य-सम्बन्धी मानुष्य सुखको अभ्युदय
कहते हैं ।

१ सवसापसवस पञ्चवसा दाणिं होदि पञ्चवसा । अण्णागस्त विण्णम जाण्णिवारस्त सप
देवमनुत्तादादि य सततमभ्यर्चणपराणां । पणिसमयमसवसवसुणमणिकम्मणिञ्जरण ॥ नि प १, ३६ ३७

२ इय सवसापसवस पञ्चवसुपर पर न पादव । सिस्सपणिसिस्सपण्णुदीहि सट्ठमपञ्चणपया ॥
च परावस अभ्युदयसोवसा मोक्खसोवसा । सादादिविविधसुसयस्मन्निव्याणमागउदण्हि ॥ इदमण्णुदिसि
तेरीसिस्सामममाणपणुदिसुह । राजाधिराजमहाराजइमण्डलिमण्डलयण ॥ महमण्णियाण अद्वचक्किचक्किरितित्थपरसो
अट्ठावमसण सामोसणेण मतिवहाण ॥ नि प १, ३८ ४१

अष्टादशसत्यानां श्रेणीनामधिपतिर्विनम्राणाम् ।

राजा स्यामुत्तुङ्गधरः कल्पतरुः सेयमानानाम् ॥ ३६ ॥

एतद्युज्जतीओ गाहाजो—

हय हथि-रहाणहिया सेणाइ मति-सेद्धि-दट्ठई ।

सुद-वखत्तिय-उम्हण-वइसा तह महयरा चेव ॥ ३७ ॥

गणरायमच्च-तउर पुरोहिया दप्पिया महामत्ता ।

अट्टारह सेणीओ पयाणा मेलिया होंति' ॥ ३८ ॥

पृतनाङ्ग दण्डनायक उर्ण-वणिग्-गणेश-महामात्राश्च ।

मन्त्रि-पुरोहित-सेनान्यमाल-तलवर-महत्तरा स्युः श्रेण्य ॥ ३९ ॥

पञ्चशतनरपतीनामधिराजोऽधीश्वरो भवति ङेके ।

राजसहस्राधिपतिः प्रतीयतेऽमौ महाराज ॥ ४० ॥

द्विसहस्रराजनाथो मनीषिर्भिर्यतेऽर्धमण्डलिकः ।

मण्डलिकश्च तथा स्याच्चतुः सहस्रावनीशपतिः ॥ ४१ ॥

जो नम्रीभूत अटारह श्रेणियोंका अधिपति हो, मुकुटको धारण करनेवाला हो और सेवा करनेवालोंके लिये कल्पवृक्षके समान हो उसे राजा कहते हैं ॥ ३६ ॥

यहा प्रकरणमें उपयोगी गाथाएँ उद्धृत की जाती हैं ।

घोडा, हाथी, रथ इनके अधिपति, सेनापति, मन्त्री, श्रेष्ठी, दण्डपति, शूद्र, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वश्य, महत्तर, गणराज, अमात्य, तलवर, पुरोहित, स्वभिमानों महामान्य और पैदल सेना इसतरह सब मिलकर अटारह श्रेणियाँ होती हैं ॥ ३७, ३८ ॥

अथवा हाथी, घोडा, रथ और पयादे ये चार सेनाके अंग, दण्डनायक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वश्य और शूद्र ये चार वर्ण, वणिक्पति, गणराज, महामात्र, मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, अमात्य, तलवर और महत्तर ये अटारह श्रेणियाँ होती हैं ॥ ३९ ॥

लोकमें पाचसौ राजाओंके अधिपतिको अधिराज कहते हैं, और एक हजार राजाओंके अधिपतिको महाराज कहते हैं ॥ ४० ॥

पण्डितजन दो हजार राजाओंके स्वामीको अर्धमण्डलीक कहते हैं और चार हजार राजाओंके स्वामीको मण्डलीक कहते हैं ॥ ४१ ॥

१ वरयणमण्डपारा सत्रयमाणा भवति द० जट्ट । दत्ता त्रयि राता निवसत् सममवष्ट ॥ कश्चिदस्य
राशिविद् मन्त्रादयः सन्नि-पट्टि-द० ई । सुदृग्मधिराजना इति तद् मन्त्ररा पत्रा ॥ गणरायमनितलवरपुरोहिया
मन्त्रा म मन्त्रा । बहुविधपण्डया य जट्टाणा इति मन्त्रा ॥ ति प १, ४० ४४

अष्टसहस्रमक्षीपतिनायकमाहुर्वुधा महामण्डलिकम् ।

पोशरात्तमहर्षिर्निर्मयमानसिखण्डधरणाश ॥ ४२ ॥

पदखण्डभरतनाथ द्वारिसाद्वरणपतिसहस्राणां ।

दिव्यमनुष्य निदुरिह भोगागार सुचक्रधरम् ॥ ४३ ॥

सकृन्मुनेरुनाथस्तीर्णकरो वर्धते मुनिररिष्टे ।

विधुधवलचामराणां तस्य स्याद् चतु पथि ॥ ४४ ॥

तित्यवर गणहरत्त तहेन देविद-चक्रभक्ति ।

अण्णरिहमेनार्द्र अमुदय-फल त्रियाणादि ॥ ४५ ॥

तत्र नै.श्रेयस नाम सिद्धानामर्हता चातीन्द्रियसुखम् । उक्त च—

अदिमयमा ससुत्र त्रिमयादीद अणोऽनमगत ।

अनुविठ्ठल च सुह सुदुधजोगो य सिद्धाण ॥ ४६ ॥

बुधजन जोठ हजार राजाओंके स्वामीको महामण्डलीक कहते हैं। और जिसे सोलह हजार राजा नमस्कार करते हैं उसे तीन खण्ड पृथिवीका अधिपति अर्थात् नारायण कहते हैं ॥ ४२ ॥

इस लोकम उत्तीस हजार राजाओंसे सेवित, नव निधि आदिसे प्राप्त होनेवाले भोगोंके भण्डार, उत्तम चक्र रहकोंके धारण करनेवाले और भरतक्षेत्रके छह खण्डोंके अधिपतिोंके दिव्य अर्थात् अनेक गुणोंसे युक्त मनुष्य अर्थात् चक्रवर्ती समजना चाहिये ॥ ४३ ॥

जिनके ऊपर चन्द्रमाके समान धवल चोमट चरर दुरते हैं ऐसे सकल भुवन के अद्वितीय स्वामीको श्रेष्ठ मुनि ती रक्ष कहते हैं ॥ ४४ ॥

इस लोकम तीर्थरूपना, गणधरपना, देवेन्द्रपना, चक्रनिपना और इसीप्रकारके अन्य अर्ह अर्थात् पूज्य पदोंको अभ्युदयका फल समजना चाहिये ॥ ४५ ॥

अरिहन् और मित्राके अतीन्द्रिय सुखको नश्रेयस सुख कहते हैं। कहा भी है—

अतिशयरूप, आत्मासे उत्पन्न हुआ, विषयोंसे रहित, अनुपम, अनन्त और विच्छेद

१ पञ्चसयरायसामा जशिशो हादि कितिमतिदिमा । रायण चा सहस्र पाद या होदि महाराजो ॥ दुग्दसमउडवदभुनसरो तथ अदमालिजा । चउराजसहस्राण जहिणो हाइ मालिय ॥ मम्मज्जिजा नामो जटमहस्राण जहिणइ ताण । रायण अद्वकी सामो मोम्मसस्समत्ताण ॥ नि प १, ४५-४७

२ उल्लभभरतनाथ बवाससहस्रमण्डपदुहाजो । हादि हु सखलवका विधयगे सयभुवनवई ॥ ति प १, ४५ उल्लभभरतनाथ परानिमननाथ विविदुयते सोलमरायकास्मा मयवण तु सरलनिवद । अउनि वासुदन जगत्तम्मा त्रिय सन ॥ घत्तण मरत्तो मो वामगण जउमाणाण । मुत्तिव विविपित्त म महुमहण त न चाणित्ति ॥ दा साका धवामा सउरलण तु सकलितरु । अ उति चक्रका जगत्तम्मा त्रिय सत्त ॥ अ वयवम्म अ वत्त दुग्द पाद चक्रवर्त्ति । तठा नत्ता वरवणा जपतिमियला त्रिणवारदा ॥ जा नि ७१ ७५

३ प्रपच १, १३ 'सुदुधजोगविद्वान्' इति पञ्चम ।

भात्रिय मिद्धताण दिणयर-ऊर-णिम्मल हवइ पाण ।
 सिसिर-यर-कर सरिच्छ हवइ चरित स-उस-चित्त ॥ ४७ ॥
 मेरु वर णिण्णरूप णट्ठ-मल ति-मूढ-उम्मुक्क ।
 सम्मदसणमणुउममुण्णज्ज पयणभासा^१ ॥ ४८ ॥
 तत्तो चेय सुहाइ सयगद देन मणय खयरण ।
 उम्मुलियट्ठ कम्म पुड सिद्ध सुह पि पयणादो ॥ ४९ ॥
 निय मोहिंघण-जलणो अण्णाण तमयार दिणयरओ ।
 कम्म मउ कलुस-पुसओ जिण उयणमिओवेही सुहयो ॥ ५० ॥
 अण्णाण-निमिर-हरण सुमन्निय हियवारिंद जोहणम ।
 उज्जोदय सयल-उह सिद्धत-दिगयर भजह ॥ ५१ ॥

रहित सुख तथा शुद्धोपयोग सिद्धांके होता है ॥ ४६ ॥

जिन्होंने सिद्धान्तका उत्तम प्रकारसे अभ्यास किया है ऐसे पुरुषोंका ज्ञान सूर्यकी किष्णके समान निर्मल होता है और जिसमें अपने चित्तको स्वाधीन कर लिया है ऐसा चन्द्रमाकी किरणोंके समान चारित्र होता है ॥ ४७ ॥

प्रपन्न अर्थात् परमागमके अभ्याससे भेदके समान निष्कम्प, अठ मल रहित, तीन मूढताओंसे रहित और अनुपम सम्पद्दर्शन भी होता है ॥ ४८ ॥

उस प्रपन्नके अभ्याससे ही देन, मनुष्य और पिशाचोंके सर्व सुख प्राप्त होते हैं, तथा अठ कर्मोंके उन्मूलित हो जानेके बाद प्राप्त होनेवाला विशद सिद्ध सुख भी प्रपन्नके अभ्याससे ही प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

घट जिनागम जीवके मोहरूपी ईधनके भस्म करनेके लिये आग्निके समान है, अज्ञानरूपी गाढ अन्धकारको नष्ट करके लिये सूर्यके समान है, कर्ममल अर्थात् द्रव्यकर्म, और कर्मकलुष अर्थात् भावकर्मके मार्जन करनेवाला समुद्रके समान है और परम सुमग है ॥ ५० ॥

अज्ञानरूपी अन्धकारको हरण करनेवाले, भव्यजीवोंके हृदयरूपी कमलको विकसित करनेवाले और संपूर्ण जीवोंके लिये पथ अर्थात् मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेवाले ऐसे सिद्धान्तरूपी दिवाकरको भजो ॥ ५१ ॥

१ सोत्त त्थयरण क्खतादाण तद्द य इदियादाद । अदिसयमादनमुत्तर णिसियममणुवम पवर ॥ सुवणाणमाविणाए पाण मवड निरण उज्जोओ । जाद चटुज्जल चरित चित्त त्वेदि भजण ॥ कणयवगधरधारे भूत्तयविरिद्धि हयंगमल । जायदि पयणपट्ठे सम्मईणमणुवम ण ॥ ति प १, ४९ ५१

२ धरयेयरमणुवाए हम्मति सुहाइ आरियमासा । तथेय णिय्याणमद णिण्णामिदवातुणद्धमल । ति प १, ५२

३ प्रतिपु ' निणयणमिओवेहि ' इति पाठ

अथवा जिनपालितो निमित्तम्, हेतुमोक्ष, शिक्षकाणां हर्षोत्पादन निमित्तहेतुकथने प्रयोजनम् । परिमाणमुच्यते । अस्मिन् पय सवाय-पडिवत्ति-अणियोगद्वारेहि मखेज्ज, अत्थदो अणत्त । पद पडुच्च अट्टारह-पद सहस्स । शिक्षकाणां हर्षोत्पादनार्थं मतिन्याकुलता-विनाशनाथं च परिमाणमुच्यते । नाम जीवद्वानमिदि । कारण पुब्बं च वत्तच्च ।

तत्तत् कृत्ता दुनिहो, अत्तत् कृत्ता गय-कृत्ता चेदि । तत्तत् अत्तत्-कृत्ता द्रव्यादीहि
चउहि परुणिज्जदि । तत्र तस्य तावद् द्रव्यनिरूपण क्रियते । स्पेद-रजो-मल रक्तनयन-
कटाक्षशरमोक्षादि-शरीरगताग्नेपटोपादुषित-समचतुरस्रसम्भान-पञ्चवृषभसहनन-दिव्यगन्ध
प्रमाणस्थितनखरोम निर्भूषणायुधाम्बरभय मौम्यनटनादि निशिष्टदेह-र चतुर्भिधोपसर्ग

अथवा, जिनपालित ही इस श्रुतावतारके निमित्त है और उसका हेतु मोक्ष है, अर्थात् मोक्षके हेतु जिनपालितके निमित्तसे इस श्रुतका अवतार हुआ है। यहाँ पर निमित्त और हेतुके कथन करनेसे पाठकजनोंमें हर्षना उत्पन्न कराना ही प्रयोजन है।

अथ परिमाणना व्याख्यान करते ह, अक्षर, पद, सघात, प्रतिपत्ति, और अनुयोग छात्रोंकी अपेक्षा श्रुतका परिमाण सरपात ह और अर्थ अर्थान्तर्हास्य विषयकी अपेक्षा अनन्त है। पदकी अपेक्षा अक्षरह हजार प्रमाण है। शिक्षकजनको हर्ष उत्पन्न करानेके लिये जोर मतिस्वर्धी व्याकुलता दूर करनेके लिये यद्वा पर परिमाण कहा गया है।

नाम, इस शास्त्रका नाम जीवस्थान है ।

कारण, कारणों का ध्यान पहले कर जाये। उसी प्रकार यद्वा पर भी उसका ध्यान करना चाहिये।

कर्ताके दो भेद हैं, अर्थकर्ता वार प्र यकर्ता । कामसे अर्थकर्ताका द्रव्यादिक चार द्वाराके द्वारा निरूपण किया जाता है । उनमेंसे पहले द्रव्यी अपेक्षा अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं—

पसीना, रज अर्थात् याह्य कारणोंसे शरीरम उत्पन्न हुआ मल, मल अर्थात् शरीरसे उत्पन्न हुआ मल, रज नेत्र और कटाक्षरूप घाणाफा छेड़ना आदि शरीरमे होनेवाले संपूर्ण दोषोंमे रहित, समचतुरस्र सस्थान, चक्रगृपभनाराच सहनन, दिव्य गुणधमयी, सदेव योग्य प्रमाणरूप नख और रोममाले, आभूषण जामुघ, वस्त्र और भयरहित सोम्य मुख आदिसे

२ विविद्भन्धि ज्ञानं सर्वज्ञं अक्षरानगणनाम् । इदं पमाणमुदिदं निश्चयं सद्ब्रिहस्पतिम् ॥

ति प १, ५३

० कलासु दुर्गिण्यो गान्ध्या रयस्यमदति । दत्तादिउत्पत्तिर्भाविनी अधस्तातः ॥ वेदज्ञानमलेन
 रतचित्तदुःखमनामात्रादि । इष्यदुद्दिष्टमहिमततममिदमतीतः ॥ आदिमहर्षणवदा समचउत्स्यगचारमठाणो ।
 दिव्यज्ञानवधारी पमापदिदामणमन्त्रो । गिन्मूसापुत्रवर्मादी सन्मानणादिदिव्यतः ॥ अहमिदमहर्षतपमानवर
 लम्प्यपदो ॥ अजीवित्वमगादि निज निमुक्ता उमायपरिहीणा । हृष्टपट्टदिपरिमहि परिचला रायदोमहि ॥

ति प १, ५५-५९

शुद्धादिपरीपह-रागद्वेषरूपायेन्द्रियादिसकलदोषगोचरातिक्रान्तः योजनान्तरदूरसमीपस्थाष्टा-
दशभाषा-सप्तहृतगतकुभाषायुत-तिर्यग्देवमनुष्यभाषाकारन्यूनाधिक-भावातीतमधुरमनोहर-
गम्भीरविशदप्रागतिशयसम्पन्न. भवनप्रासिवाणव्यन्तर-ज्योतिष्क-कल्पवामेन्द्र-विद्याधर-
चक्रवर्ति च नारायण-राजाविराज-महाराजार्धमहामण्डलीकेन्द्राग्नि-वायु-भूति-सिंह-व्याला-
दि-देव-विद्याधर-मनुष्यर्षि-तिर्यग्गन्धर्वः प्राप्तपूजातिशयो महावीरोऽर्थकर्त्ता ।

तत्थ खेत्त-विसिद्धोत्थ-कृत्ता परुत्रिज्जदि—

पच-सेल-पुरे रम्मे विउले पण्डुलमे ।

पाणा दुम-समाडण्णे देव पाणव वदिदे' ॥ ५२ ॥

महानीरेणत्थो कहिओ भविष लोयस्स ।

ज्योपयोगिनौ श्लोकौ—

युक्त ऐसे विशिष्ट शरीरको धारण करनेवाले, देव, मनुष्य, तिर्यच और अचेतनहुन चार प्रकारके उपसर्ग, शुद्धा आदि बावीस परीपह, राग, द्वेष, कषाय और इन्द्रियविषय आदि सपूर्ण दोषोंसे रहित, एक योजनके भीतर दूर अथवा समीप बैठे हुए अठारह महाभाषा और सानसौ लघुभाषाओंसे युक्त ऐसे तिर्यच, देव और मनुष्योंकी भाषाके रूपमें परिणत होनेवाली तथा न्यूनता और अधिकतासे रहित, मधुर, मनोहर, गम्भीर और विशद ऐसी भाषाके अतिशयको प्राप्त, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, कल्पवासी देवोंके इन्द्रोंसे, विद्याधर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, राजाधिराज, महाराज, अर्धमण्डलीक, महामण्डलीक, राजाओंसे, इन्द्र, अग्नि, वायु, भूति, सिंह, व्याल आदि देव तथा विद्याधर, मनुष्य, ऋषि और तिर्यचोंके इन्द्रोंसे पूजाके अतिशयको प्राप्त श्री महावीर तीर्थंकर अर्थकर्ता समझना चाहिये ।

अब क्षेत्र विशिष्ट अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं—

पचशैलपुरमें (पचपद्माब्दी अर्थात् पाच पर्वतोंसे शोभायमान राजगृह नगरके पास) रमणीक, नानाप्रकारके वृक्षोंसे व्याप्त, देव तथा दानवोंसे घनित और सर्व पर्वतोंमें उत्तम ऐसे विपुलाचल नामके पर्वतके ऊपर भगवान् महावीरने भग्य जीवोंको उपदेश दिया अर्थात् दिव्य ध्यानिके द्वारा भावयुत प्रगट किया ॥ ५२ ॥

इसविषयमें दो उपयोगी श्लोक हैं—

१ ज्योपयमणवडिदतिरियावरमयुनिनिरुपडिबोहा । मिदमगुरुमार्गता विसदवितयसयलभासादि ॥
अडममहाभासा सुल्लयमासा वि सतमयवसा । अक्खरअणक्खरपयमण्णीजवाण सयलभासाओ ॥ एवादि मासाण
पाउवदतोडवठवावार । परिहरिय एककाल मवजणाणदरमानो ॥ भावणनतरजोडमियक्कपवानेहि वेमक्खलेहि ।
विजोहोहि चक्किप्पमुहेहि परहि तिरियेहि ॥ एवेहि जण्णेहि विरविदचरणारविदक्खगत्तो । विडिमयलट्टमारो महीरी
अभत्तारो ॥ ति प १, ६०-६४

२, जयवलाया गाथेयं ' मिद्धचारणसेविदे ' इति चतुर्थचरणपाठमदनोपलभ्यते । सुखेयरमणद्वारा गुणगामे

ऋषिगिरिरैऋशायां चतुरस्रो याम्यदिशि च वैभार ।
 त्रिपुलगिरिर्नैऋत्यामुमौ त्रिकोणौ स्थितौ तत्र ॥ ५३ ॥
 धनुराकारदिठको वारुणनाययसोर्म्यदिषु ततः ।
 वृत्तादृतिरैशाया पाण्डु सर्वे कुशामवृता ॥ ५४ ॥

एमो खेत्त-परिच्छेदो ।

तत्थ कालदो अत्थ कत्ता पत्तविज्जदि —

इम्मिस्स त्तसण्णिण्ण चउत्थ समयस्स पत्तिमे भाए ।
 चोत्तीस तास सेमे किञ्चि त्तिसेमूण्ण सत्ते ॥ ५५ ॥

पूर्व दिशामें चोकोर आकारवाला ऋषिगिरि नामका पर्वत है । दक्षिण दिशामें वैभार
 आर नैऋत दिशामें त्रिपुलाचल नामके पर्वत है । ये दोनों पर्वत त्रिकोण आकारवाले
 हैं ॥ ५३ ॥

पश्चिम, वायव्य ओर सौम्य दिशामें धनुषके आकारवाला फला हुआ छिन्न नामका
 पर्वत है । ऐशान दिशामें पाण्डु नामका पर्वत है । ये सब पर्वत कुशके जगन्मातासे ढके
 हुए हैं ॥ ५४ ॥

यह क्षेत्र परिच्छेद समझना चाहिये ।

अब कालकी अपेक्षा अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं—

इस अवसर्पिणी कल्पकालके दुःखमा सुखमा नामके चोखे कालके पिउठे भागमें कुछ
 कम चौत्तीस वर्ष बाकी रहने पर, वर्षके प्रथममास अर्थात् आषण मासमें, प्रथमपक्ष अर्थात्

पञ्चमेलणपरिमि । विउलम्मि पच्चद्वार वीरणिणो जउत्तरा ॥ ति प १, ६१ इह तिसत्थण कउत्तरइ कम्मार्दं गमयइ
 सिन ना । गच्छइ य तण वीगे स गह वामे महावीरा ॥ ति भा २०६५

१ जयधक्कायां 'भुगिरि' इति पाठ ।

२ चउत्तसो पुञ्जाण तिमिच्छो दाहिणाए वमसो । णरिदिदिमाए विउला दाणि तिराणटिवायारा ॥

ति प १, ६६

३ प्रतिपु 'त्रिनादा' इति पाठ ।

४ धनुराकारयत्रा राकेणवययमामदिषु ततः । वृत्तादृतिरैशान पाण्डु सर्वे कुशामवृता । जयध
 अ वृ ० चावमरिष्ठो जिण्णो वरुणाणिलसोमदिगविभागसु । इमाणाए पडव वटो सत्थे कुसमापरियरणा ॥
 ति प १, ६७ ऋषिपूजा गिरस्तन चतुरस्र सनिसर । दिग्गजेन्द्र इवेऽस्य ककुभं भूपयसत्त्वं ॥ वैभारो दक्षिणामायां
 त्रिकोणादृतिराश्रित । दक्षिणपददिग्मर्थं त्रिपुल्लव तदाहति ॥ स पद्मापारतिमित्रमो दिशो याय वलान्न । क्षोभते
 पाण्डुको हृव पूर्वोत्तरदिगन्तर ॥ इ पु ३, ५३-५५

५ पञ्चावसर्पिणीण चउत्थकालस्स चरिममागमि । तेषाम्पत्तज्जसामपण्णरसत्तिसत्तमग्नि ॥

दाण छागे भोगे परिभागे वीरिण य सम्मत ।

णन केनल लद्धाओ दसण णाण चरित य ॥ ५८ ॥

खाणे दसण मोहे चरित मोहे चउच्च वाइ तिए ।

सम्मत्त रिरिय णाण खइयाइ होति केरुणिणो ॥ ५९ ॥

उण्णणग्धि अणने णट्ठग्मि य ठादुमणिए णाणे ।

णन निह पयत्थ गभा दिव्वञ्जुणी कहेइ सुत्तट्ठ ॥ ६० ॥

एतविधो महारीरोऽर्थकृता । तेन महारीरेण केनलणाणिणा कट्टिदन्थो तम्हि चेत्त
काले तत्थेन खेत्ते खयोत्तम-जणिद-चउत्तमल पुट्ठि-सपण्णेण उम्हणेण गोठम-गोत्तेण सयल
दुस्सुदि पारएण जीवाजीव निमय-मदेह निणासणट्ठमुत्तमय-उम्हमाण पाद-मूलेण इदभूदिणा
वहारिदो । उत्तं च—

ज्ञान, लाभ, भोग, परिभोग, वीर्य, सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान आर चारित्र्य ये नन केनल
लब्धिया सम्मत्ता व्याहिये ॥ १ ८ ॥

दर्शनमोहनिय ओर चारित्र्यमोहनियके क्षय हो जाने पर तथा मोहनिय कर्मके क्षय हो
जानेके बाद चार घातिया कर्मोंसे शेष तीन घातिया कर्मोंके क्षय हो जाने पर केवली जिनके
सम्यक्त्व, वीर्य ओर ज्ञान ये क्षायिक भाव प्रगट होते हैं ॥ ५० ॥

ज्ञायोपशमिक ज्ञानसे नष्ट हो जाने पर आर अनन्तरूप केवलज्ञानके उत्पन्न हो जाने
पर नो प्रकारके पदार्थोंसे गर्भित दिव्यध्वनि सृजार्थका प्रतिपादन करती है । अर्थात् केवलज्ञान
हो जाने पर भगवान्की दिव्यध्वनि घिरती है ॥ ६० ॥

इसप्रकार भगवान् महारौर अर्थ-कृता हैं । इसप्रकार केवलज्ञानसे विभूयित उन भगवान्
महारौरके द्वारा कहे गये अर्थको, उसी कालमें ओर उसी क्षेत्रमें क्षयोपशमविशेषसे उत्पन्न हुए
चार प्रकारके निर्मल ज्ञानमें युक्त, वर्णसे ब्राह्मण, गोतमगोत्री, सपूर्ण दु धृतिमें पारगत, आर
जीव अजीवविषयक सदेहनों दूर करनेके लिये श्री वर्तमानके पादमूलमें उपस्थित हुए घेने
इन्द्रभूतिने अवधारण किया । कहा भी है—

१ एणो दमणमाइ चरित्ता^१ तहेन चारुणिए । सम्मतणानिरिया खइया त हाति कवणिया ॥ जयव
अ ५ ८ दमणमाइ णट्ठ घादिनिदण चरित्तमोहग्मि । सम्मतणानदमणवारियचरियाइ हाति खइयाइ ॥
नि ५ १ ७३,

२ जाद अणत्तणान ग^२ छदुमट्ठिदग्मि णाणग्मि । णवनिहपदधमारा दिव्व जणा कहेइ सुत्तथ ॥ अण्णहि
अणत्तहि गणेइ ज्वा विट्ठच्चारित्ता । ममयमजणदग्धा मूवीरो अत्थरचारे ॥ ति प १, ७४-७

३ मन्नाभासिषथो तस्मि खेत्तमि तथराल य । खायोत्तमविविट्ठिचउत्तमलमइ^३ पुण्णण ॥ लायात्तायाण
त्ता जवाजीवाण विविहावसएत्त । सत्तणामण व उत्तममिरिवीरचलणमूलण ॥ विमल गादमगात्ता जादण इदमदि
णामेण । चउत्तदपारगण मिस्सेण विट्ठमालेण ॥ ति प १, ७६-७८

४ निव्याट्ठवक्कपावानिद्रमूति सत्तणैवेदात्तपारग सप्तपि जीवास्ति वविषये सदिग्ध ण्वामीन् । इ—

गोक्षेण गोदमो' निष्पो चाउज्येय-सङ्गमि ।

णामेण इदभूदि ति सीलन बग्धुत्तमो ॥ ६१ ॥

पुणो तेणिंदभूदिणा भात्र-सुद-पज्जय-परिणदेण बारहगाण चौदस-पुव्वाणं च गथाणमेवेण चैत्र मुहुत्तेण कमेण रयणा कदा' । तदो भात्र-सुदस्स अत्य-पदार्णं च तित्थ-यरो कत्ता । तित्थयरादो सुद-पज्जाएण गोदमो परिणदो ति दव्व-सुदस्स गोदमो कत्ता । तत्तो गंथ-रयणा जादेत्ति । तेण गोदमेण दुग्धिहममि सुदणार्णं लोहज्जस्स संचारिदं । तेण नि जज्जसामिस्स संचारिदं । परिजाडिमस्सिदूण एदे तिणिण वि सयल-सुद-धारया भणिया । अपरिवाडीए पुण सयल सुद-पारगा मखेज्ज-सहस्सा ।

गौतमगोत्री, विप्रजर्णी, चारों वेद और पङ्गविद्याका पारगामी, शीलवान् और प्राप्ताणोम श्रेष्ठ ऐसा वर्द्धमानस्वामीना प्रथम गणधर इन्द्रभूति इस नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ६१ ॥

अनन्तर भात्रश्रुतरूप पर्यायसे परिणत उस इन्द्रभूतिने बारह अग और चौदह पूर्वरूप ग्रन्थकी एक ही मुहूर्तमे क्रमसे रचना की । अतः भात्रश्रुत ओर अर्थ पदोंके कर्ता तीर्थकर ह । तथा तीर्थकरके निमित्तसे गौतम गणधर श्रुतपर्यायसे परिणत हुए, इसलिये द्रव्यश्रुतके कर्ता गौतम गणधर ह । इसतरह गौतम गणधरसे ग्रन्थरचना हुई । उन गौतम गणधरने दोनों प्रकारका श्रुतज्ञान लोहाचार्यको दिया । लोहाचार्यने जम्बूस्वामीको दिया । परिपाटी-क्रमसे ये तीनों ही सकलश्रुतके धारण करनेवाले कहे गये हैं । और यदि परिपाटी क्रमकी अपेक्षा न की जाय तो उस समय सख्यात हजार सकल श्रुतके धारी हुए ।

प्रधानतः समवसरण समन्येय प्रवृत्त्य च आश्रयमानस्वामिना पप्रच्छ किं जीवास्ति नास्ति वा किंशुण त्रियान वा ? तदा जीवोऽन्यनातिनिधन उमागुमविभेदकमणां वता । XX इत्याद्यनेकभेदस्तथा स जीवादिवस्तु सद्रावम् । दिव्यधनिना स्फटिमिद्रभूतय समनिरिबोचन । इन्द्र धृता ४-१-६८ दवं नियमाणां समवसरणलक्षणं मणिमां दृष्ट्वाऽपि सतिन्द्रभूतिर्मणित-भा भो ब्राह्मणवरा 'मां मकवा तिमप नागरलोऽन्तस्य कस्यचित्पादमूल धारति ? ननु मन्वन्तुहल कथयतामनिधनमिति महाप्रत्यमेध इव गात्र वा समवसरण प्रविष्टो बादाधम् । पर च तत्र क्षीयर दृष्ट्वा हतमम इव सशङ्कित सत्र पुरत स्थित । तदा भगवता वारेणामापिन 'ति मने अधि जीवो वयाह्म नोय चि समआ तुञ्ज । वयपयाण य अथ ण याणमा तेतिमा जयो' (आ नि १५०) ततश्च नि सशय सप्तो प्रनञ्जित । नि मा २०१८-२०८३

१ गौतमा गा ग्रहणा स्यात् सा च सप्तसमरता । तां कस्मि तामभाष्टे च त्वमतो गात्रमां मत ॥ गानमादातो दत्र स्वर्गाभात्रोत्तमा मत । तेन प्रोतमधायानन्वयापानोतमश्रुति ॥ इन्द्रा प्राप्तपूजद्विरिद्रभूतिस्त्वमि यय । साक्षात्पुनस्त्वमाससत्तानकाण्डिक ॥ आ पु २, ५२ ५८

२ भावमदपञ्चर्हि परिणमद्गना य नासगाण । चादसपुव्वाण तं पुनमुहुत्तेण विरचना विदिदा ॥

गोदमेदो लोहज्जाइरियो' जमामी य एदे तिणिण वि सत्त विह लद्धि
सपण्णा सयल सुय मायर-मारया होऊण केवलणाणमुप्पाइय णिण्डु पत्ता' ।
तदो णिण्डु णदिमित्तो अमगइदो गोयद्वणो भद्वराहु ति एदे पुरिमोली-कमेण
पच' वि चोदस पुच्च हरा । तदो विमाहाइरियो पोद्धिलो छत्तिपो जयाइरियो
णामाइरियो मिद्धत्थदेवां विट्ठिमणां विजयाइरियो उद्धिलो मगदेवो
अम्मयेणो ति एदे' पुरिसोली-कमेण एकागम वि जाइरिया एणामण्डमगा
उप्पायपुत्रादि-दमण्ड पुच्चारणं च पारया जादा, सेगुअरिम-चदुण्ड पुच्चारणमेग-देम वा
य । तदो णमउत्ताइरियो जयपालो पाहुयामी धुरसेणो कमाइरियो ति एदे पुरिमोली
कमेण पच वि जाइरिया एकागम-धारया जादा, चोदमण्ड पुच्चारणमेग देम वारया
तदो सुभदो जममदो जमगा लोहज्जो ति एदे चचारि वि आइरिया आचारण थ

गानमस्वामी, लोहाचार्य और जम्बूस्वामी ये तीनों ही सात प्रकारकी ऋद्धियाये
शुक्र और सकल धनरूपी सागरके पारगामी होकर अन्तम केवलज्ञानको उत्पन्न कर
निर्वाणको प्राप्त हुए । इसके बाद तिण्ण, नन्दिमित्र, अपराजित, नेत्रधन, और भद्रबाहु ये
पाचों ही गचार्य परिपाटी क्रमसे चोदह पूर्वके धारी हुए ।

तदनन्तर जिशायाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थदेव, धृतिसन,
विजयाचार्य, बुद्धिल, गगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह ही महापुरुष परिपाटी क्रमसे ग्यारह अग
आर उत्पादपूर्व आदि दश पूर्वके धारक तथा शेष चार पूर्वोंके एकदेशके धारक हुए ।

इसके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, धुरसेन, कसाचार्य य पाचा ही आचार्य
परिपाटी क्रमसे सपूर्ण ग्यारह अगके और चोदह पूर्वके एकदेशके धारक हुए । तदनन्तर
सुभद्र, यशोमद्र, यशोमाहु और लोहार्थ ये चारों ही आचार्य सपूर्ण आचारागके धारक और

१ जयप्रतापमित्र-नदिश्रवावतार च लायस्य म्याने मधमावाययो-रेखा-ति । तद्यथा-तदा त
गोअमगात्तण इदमदिना अनेप्रहज्जावहारिवत्वालसगधन तेणव काणे कयदुआगमगयग्यणण गुणि सममगात्त
मनुमाइरियस्स गथा उक्काणिदा । जयध अ ७ ११ अनिपादित तत्तम्-त नमस्स मरामता तेन । प्रवितामीन
सकमो सुधमाविधानाय ॥ इ- धुता ६७

२ वामदि वरिसागो अणुरत्थि तिणिण वच्चणिण । म धु ६७

३ एदमि पचण्ड वि मदनलीण राना वस्तसद १०० । जयध अ ७ ११

४ तपि काला विट्ठिमदवस्सणि १८३ । जयध अ ७ ११

५ 'हुममेन' इति पाठ । इ- धुता ८१

६ एदमि काला वात्तगानमदवायमण २२० । जयध अ ७ ११

७ 'जमममद्र' इति पाठ । इ- धुता ८३

८ 'जहगाद' इति पाठ । जयध अ ७ ११ 'जयाहु' इति पाठ । इ- धुता ८३

९ एदमि २८ काला अणुरत्थि वात्तसद १९८ । जयध अ ७ ११

सेयंग-पुष्पाणमेग देम-धारया' । तदो सव्वेमिमंग पुष्पाणमेग-देमो आइरिय-परपराए आग-
च्छमाणो धरसेणाइरियं मपनो ।

तेण पि सोरट्ट-विमय-गिरिणयर-पट्टग-चदगुहा-टिएण' 'जट्टंग महाणिमित्त-पार-
एण गय-चोच्छेदो' होहदि त्ति जाद-भएण पयण-प-उलेण दक्खिणपराइरियाणं
महिमाए मिलियाण लेहो पेमिदो' । लेह ट्टिय-परसेण ययणमप्रधारिय तेहि पि आइरिणहि
वे साह गहण-धारण-समत्था धरलामल-चट्ट-विह-विणय-विट्ठमियंगा मील-माला-हरा गुरु-
पेगणासण तित्ता देम-कुल-जाट-सुद्धा सयल-कला-पारया तिकमुत्तापुच्छिपाइरिया अध-
विसय-वेण्णायडादो पेमिदा । तेसु आगच्छमाणेसु रयणीए पन्ठिमे भाण कुट्टेदु-मस-

शेष अग तथा पूर्वोक्त एकदेशने धारक हुए। इसके बाद सभी अग और पूर्वोक्त एकदेश आचार्य-
परपरासे आता हुआ धरसेन आचार्यको प्राप्त हुआ ।

सीराष्ट्र (गुजरात काठियावाड़) देशके गिरिनगर नामके नगरकी चन्द्रगुफामें रहने
वाले, अग्रज महानिमित्तके पारणामी, प्रवचन वत्सल और आगे अग श्रुतका विच्छेद हो
जायगा इसप्रकार उत्पन्न हो गया है भय जिनको ऐसे उन धरसेनाचार्यने किमी धर्मादत्तव जादि
निमित्तसे महिमा नामकी नगरीमें समिलित हुए दक्षिणापथ के (दक्षिणदेशके निवासी)
आचार्योंके पास एक लेख भेजा । लेखमें लिखे गये यत्सेनाचार्यके वचनोंको भलीभांति समझ
कर उन आचार्योंने शास्त्रके अर्थके ग्रहण और धारण करनेमें समर्थ, नानाप्रकारकी उत्पल
जोग निर्मल चित्तसे विभूषित अगवाले, शीलरूपी मालके धारक, गुरुओं द्वारा प्रेषण (भेजने)
रूपी भोजनसे तृप्त हुए, देश, कुल और जातिसे शुद्ध, अर्थात् उत्तम देश उत्तम कुल और उत्तम
जातिमें उत्पन्न हुए, समस्त व्रतार्थमें पारगन, और तीन बार पृथा है आचार्योंसे जिन्होंने,
(अर्थात् आचार्योंसे तीन बार आज्ञा लेकर) ऐसे दो साधुओंको जन्मदेशमें बहनेवाली
वेणानदीके तटसे भेजा ।

मार्गमें उन दोनों साधुओंके अति समय, जो कुन्दने पुष्प, चन्द्रमा और शम्भुके समान

१ षष्ठि सत्राय कालार्थं समानो उगद्वामागि तर्गादिवापममद्वियाणि ८३ बहुमानिनाणं नित्राण
शेदि । जयव अ पृ ११

२ दो तत सुदीर्घे गिरिनगरपुरातिशोचयन्तमिना । त्रिगदात्रिनिशर्मा महातया परममुनिगम्य ॥
अमापणायुर्गिरि रत्नपत्रमवस्तुगतचतुर्थमहाकमपावनकृत्त गुरिर्वरगेतनामाभूत् ॥ इत् शुभा १०३, १०४

३ प्रतिपु ' श्रद्धाच्छेदो ' इति पाठ ।

४ देशेन्द्रेणामानि वेणानदीपुरे गतामहिमा समुदितमुनीन् प्रति गतामिना प्रापयच्छेक्षम् ॥

इदं शुभा १०६

वृष्णा सञ्च-लम्पण-मपुष्णा अप्पणो रुय-तिप्पयाहिणा पाएसु णिसुडियं-पदियगा वे
 वमहा सुमिणं तरेण धरसेण-मडारण दिट्ठा । एउनिह-सुमिण दट्ठुण तुट्ठेण धरसेणाउरिण
 'जयउ सुय-देवता' ति सलपिय । तदिवमे चय ते दो पि जणा सपत्ता वरमेणाडरियं ।
 ततो धरसेण भयउदो' किदियम्म काऊण दोणिं दिनमे वोलापिय तदिय-दिनमे णिणएण
 वग्सेण-भडारओ तेहि णिणत्तो 'अण्ण कज्जेणमहा दो पि जणा तुम्ह पाटमलमुमया'
 ति । 'सुट्टु भद' ति भणिऊण धग्सेण-भडारण दो पि जामामिदा । तदो चित्तिद
 भयउदा—

मेळण-भगवद अडि चालणि महिसाडि चाह्य सुणहि ।

मग्गिय मसय समाण नत्ताणद जो सुद मोहा' ॥ ६२ ॥

धद गारर पडिउदो विसयामिस विस रसेण वुम्मतो ।

सो भउ रोहि लाहो भमइ चिग भउ-वणे मूने ॥ ६३ ॥

समेद वर्णवाले ह, जो समस्त लक्षणमे परिपूर्ण ह, जिन्होंने आचार्य (धरसेन) की तीन प्रदक्षिणा
 दी ह और जिनके अंग नक्षित होकर आचार्यसे चरणोंमे पड़ गये ह ऐसे दो बालोंको धरसेन
 भट्टाकने रात्रिके पिउले भागमें स्वप्नमें देखा । इसप्रकारके स्वप्नको देखकर सतुष्ट हुए धरसेना
 चार्यने 'श्रुतदेवता जयन्त हो' ऐसा वाक्य उच्चारण किया ।

उसी दिन दक्षिणापथमे भेजे हुए वे दोना साधु धरसेनाचार्यको प्राप्त हुए । उसके
 बाद धरसेनाचार्यकी पादवेन्दना जादि इतिर्म्म उनके और दो दिन जाताकर तीसरे दिन उन
 दोनाने धरसेनाचार्यसे निवेदन किया कि 'इस कार्यसे हम दोनों आपके पादमूलको प्राप्त हुए
 ह' । उन दोना साधुओंके इसप्रकार निवेदन करने पर 'अच्छ ह, उदयाण हो' इसप्रकार
 कहकर धरसेन भट्टाकने उन दोना साधुओंको आश्वामन दिया । इसके बाद भगवान धरसेनने
 विचार किया कि—

शैलघन, भग्नघट, जहि (सर्प) चारुनी, महिष, जवि (मेढ्रा), जाहक (जौक) शुक्र,
 माटी और मशक के समान श्रेणाओंको जो मोहसे श्रुतका व्याख्यान करता ह । वह मूढ रस
 गारबके आर्धान होकर विषयाकी लोभुपतारूपी विषके वशसे मन्त्रित हो, बोधि अर्थात्
 रत्नत्रयकी प्राप्तिसे भ्रष्ट होकर भय घनमें चिरकालतन परिभ्रमण करता ह ॥ ६२, ६३ ॥

१ 'मातामात नमागए' २-८, ४, १५८

२ जगमनदिनं च तयो दुग्ध धग्गवत्पुग्गि रात्रा । निजपादयो पठता वल्लभपारेक्षन रात्रे ॥

तत्त्वप्रज्ञानमात्राद्ययु आदरननि समुपलपन । उद्विग्नदत प्रात समस्ततात्रनत सुता ह ॥ इदं सुता ११२, ११३

३ इरात्र रुच निरि जम धग्ग पयत्तामया भगामिस्सया । त तेमिममामण्णा मनि चओ तेण भग्गय ॥

नि मा १०५३

४ सैलघन पुग्ग चालिण परिपूणग इमन्तिममे ये । भग्ग वद्ग विगला जातय गो सेरि आमीरी ॥

पृ ४ व २३४, जा नि १२९

विशेषार्थ—शूलनाम पापाणका हे ओर घन नाम मेघका है। जिसप्रकार पापाण, मेघके चिरकालतक वर्षा करने पर भी आर्द्र या मृदु नहीं होता है, उसीप्रकार कुछ ऐसे भी श्रोता होते हैं, जिन्हें गुरुजन चिरकाल तक भी वर्मामृतके वर्षण या सिंचन द्वारा कोमल-परिणामी नहीं बना सकते हैं ऐसे श्रोताओंको शूलघन श्रोता कहा है ॥ १ ॥ भग्नघट फटे घटेको कहते हैं। जिसप्रकार फटे घड़ेमें ऊपरसे भरा गया जल नीचेकी ओरसे निकल जाता है भीतर कुछ भी नहीं उठरता, इसीप्रकार जो उपदेशको एक कानसे सुनकर दूसरे कानसे निकाल देते हैं उन्हें भग्नघट श्रोता कहा है ॥ २ ॥ अहि नाम सापका है। जिसप्रकार मिथ्री मिश्रित दुग्धके पान करने पर भी सर्प विषका ही वमन करता है, उसीप्रकार जो सुन्दर, मधुर और हितकर उपदेशके सुनने पर भी विष वमन करते हैं अर्थात् प्रतिकूल आचरण करते हैं, उन्हें अहिसमान श्रोता समझना चाहिये ॥ ३ ॥ चालनी जैसे उत्तम आटेको नीचे गिरा देती है और भुसा या चोकरको अपने भीतर रखा लेती है, इसीप्रकार जो उत्तम सारयुक्त उपदेशको तो बाहर निकाल देते हैं ओर नि मार तत्वको धारण करते हैं वे चालनीसमान श्रोता हैं ॥ ४ ॥ महिषा अर्थात् भुसा जिसप्रकार जलाशयसे जल तो कम पीता है परन्तु बारबार डूबकी लगाकर उसे गदला कर देता है, उसीप्रकार जो श्रोता सभाम उपदेश तो अल्प ग्रहण करते हैं पर प्रसंग पाकर शोभ या उद्देश उत्पन्न कर देते हैं वे महिषासमान श्रोता हैं ॥ ५ ॥ अवि नाम मेघ (मँड़ा) न है। जैसे मँड़ा पालनेवालेको ही मारता है, उसीप्रकार जो उपदेशदाताकी ही निन्दा करते हैं ओर समय आनेपर घात कर देने को उद्यत रहने हैं उन्हें अवि के समान श्रोता समझना चाहिए ॥ ६ ॥ जाह्नव नाम सेही आदि अनेक जीवोंका है पर प्रवृत्तमें जोक अर्थ ग्रहण किया गया है। जैसे जोरको स्तनपर भी लगावे तो भी वह दूध न पीस सके ही पीती है, इसीप्रकार जो उत्तम आचार्य या गुरुके समीप रहकर भी उत्तम तत्त्वको तो ग्रहण नहीं करते, पर अधम तत्त्वको ही ग्रहण करते हैं वे जोरके समान श्रोता हैं ॥ ७ ॥ शुक्र नाम तोतेका है। तोतेको जो कुछ सिखाया जाता है वह सीखा तो जाता है पर उसे य प्रार्थ अर्थ प्रतिभासित नहीं होता, उसीप्रकार उपदेश स्मरणकर लेने पर भी जिनके हृदयमें भाव भासना नहीं होती है वे शुक्रसमान श्रोता हैं ॥ ८ ॥ मट्टी जैसे जलके सयोग मिलनेपर तो कोमल हो जाती है पर जलके अभावमें पुन कठोर हो जाती है, इसीप्रकार जो उपदेश मिलने तक तो मृदु परिणामी बने रहते हैं ओर बादमें पूर्ववत् ही कठोर-हृदय हो जाते हैं वे मट्टीके समान श्रोता हैं ॥ ९ ॥ मशक अर्थात् मच्छर पहले कानोंमें आकर गुन-गुनाता है चरणोंमें गिरता है किन्तु अचस्र पाते ही काट खाता है, उसीप्रकार जो श्रोता पहले तो गुन या उपदेश दाताकी प्रशंसा करेंगे, चरण-वन्दना भी करेंगे, पर अचस्र आते ही काटे बिना न रहेंगे उन्हें मशकके समान श्रोता समझना चाहिये ॥ १० ॥ उक्त सभी प्रकारके श्रोता अयोग्य हैं, उन्हें उपदेश देना व्यर्थ है।

किन्ती किसी शास्त्रमें उक्त नामोंम तथा अर्थमें भेद भी देखनेमें आता है, किन्तु श्रोताका भाव यद्वा पर अभीष्ट है।

इदि वयणादो जहाछदाईण विज्जा-दाणं समार-भय-चद्वणमिदि चित्तिऊण सुह
 सुमिण-दसणेण अगय पुरिमतरेण धरसेण-भयवदा पुणरवि ताण परिरुत्ता काउमादत्ता
 ' सुपरिरुत्ता हियय णिचुडकरेति ' । तदो ताण तेण दो विज्जाओ दिण्णाओ । तत्थ एया
 अहिय-वसरा, अरा मिहीण-क्खरा । एदाओ उट्ठेअणामेण माहेट्टु चि । तणे ते मिद
 विज्जा विज्जा-नेवदाओ पेच्छति, एया उत्तुरिया अवरेया काणिया । एसो देवणा
 महाओ ण होत्ति चित्तिऊण मत्त-आयरण-मत्त-उमलेहि हीणाहिय-क्खराण उट्ठणावण
 यण मिहाण काऊण पढतेहि दो वि देवदाओ महान-रूप द्वियाओ दिट्ठाओ । पुणा तदि
 धरमेण भयवत्तस्म जहावित्तेण विणण्ण णिमेदिदे सुट्टु तुट्ठेण धरमेण-भटारणण मोम विदि
 णक्खत्त-वारे गथो पागट्ठो । पुणो कमेण वक्खणाणतेण आमाड मास-सुक्क पक्क एक्कारमीए
 पुव्वण्हे गथो समाणिदो । विणण्ण गथो ममाणिदो चि तुट्ठेहि भूदेहि तत्थेयस्स महदी

इस घनके अनुसार यथाछन्द अर्थात् स्व-छन्दतापूर्वक आचरण करनेवाले भोता
 भोंको विद्या देना मसार और भयका ही यदनेवाला है, येमा विचारकर, शुभ स्वप्नके देखने
 मायसे ही यद्यपि धरसेन भटारकने उन भाये हुए दोनों साधुओंके अन्तर अर्थात् विशेषताके
 जान लिया था, तो भी फिरसे उनकी परीक्षा लेनेका निश्चय किया, क्योंकि, उत्तम प्रकारसे
 ली गई परीक्षा हृदयमें सतोषको उत्पन्न करनी है । इसके बाद धरसेनाचार्यने उन दोनों साधु
 ओंको दो गियाए दी । उनमेंसे एक अधिक अक्षरवाली थी और दूसरी हीन अक्षरवाली ।
 दोनोंको दो गियाए देकर कहा कि इनको पद्यमत्त उपवास अर्थात् दो दिनके उपवासमें मिला
 करो । इसके बाद जब उनको गियाए सिद्ध हुई, तो उन्होंने विद्याकी अधिष्ठात्री देवताओंको
 देखा कि एक देवकी दान बाहर निकले हुए हैं और दूसरी बानी है । ' विहृताग होता देवता
 ओंका सम्मान नहीं होता है ' इसप्रकार उन दोनोंने विचारकर मात्र-सयार्थी ध्याकरण-शास्त्रमें
 कुशा उन दोनोंने हीन अक्षरवाली गियामें अधिक अक्षर मिलाकर और अधिक अक्षरवाली
 गियामेंसे धनर निशालकर मात्रको पढ़ना, अर्थात् फिरसे सिद्ध करना प्रारम्भ किया । जिससे
 वे दोनों गियादेवताए अपने स्वभाव और अपने सुन्दर रूपमें स्थित दिखलाई पड़ीं । तदनन्तर
 भगवान् धरसेनके सम्मत्, योग्य विनय सहित उन दोनोंके विद्या-सिद्धिसम्बन्धी समस्त
 वृत्तान्तके निवेदन करने पर ' बहुत अच्छा ' इसप्रकार सन्तुष्ट हुए धरसेन भटारकने शुभ निदि,
 शुभमन्त्र और शुभप्रार्थने प्रथका पत्ता प्रारम्भ किया । इसतरह क्रमसे व्याख्यान करते
 हुए धरसेन भगवान्से उन दोनोंने आषाढ मासके शुक्लपक्षकी एकादशकी पूर्वाह्नकालमें प्रार्थ
 समान्त किया । विनयपूर्वक प्रार्थ समान्त किया, इसलिये सन्तुष्ट हुए भूत जातिके व्य-तर दोनोंने

१. शर्माभा इतिवृत्तिर्भाति यत्किं यं द्यागत् गतिः । साधयितुं निवे दे हीनाधिकवर्णतत्तुक् ॥

पूजा पुष्प बलि-संस्कार-तूर-रत्न-संकुला कदा । तं ददूण तस्म 'भूदबलि' ति भडारण
णामं कयं । अवरस्म पि भूदेहि पूजिदस्स अत्थ त्रियत्थ-द्विय-दंत-पंतिमोसारिय भूदेहि
समीकय-दतस्म 'पुष्पयतो' ति णाम कय

पुणो तद्विसे' चेव पेमिदा सतो 'गुरु-त्रयणमलंघाणिजं' इदि चित्तिजणागदेहि
अंकुलेसरे उरिसा कालो कओ । जोग समाणीय जिणपालियं' ददूण पुष्पयताडरियो रण-
नास-त्रिमय गदो । भूदबलि-भडारओ पि दमिल-देस गदो । तदो पुष्पयताडरिएण
जिणपालिदस्स दिक्ख दाऊण वीसदि-सुत्ताणि' करिय पढाविय पुणो सो भूदबलि-भयनं-
तस्म पामं पेसिदो । भूदबलि-भयनदा जिणपालिद-पासे दिट्ठ-वीमदि-सुत्तेण अप्पाउओ ति
अगगय-जिणपालिदेण महाकम्म-पयडि-पाहुटस्म वोच्छेदो होहदि ति ममुप्पण-शुद्धिणा
पुणो दद्वय-पमाणाणुगममादि काऊण गय-रचना कदा । तदो एय खंड-मिद्वत पडुच्च
भूदबलि-पुष्पयताडरिया पि कत्तागे उच्चंति ।

उन दोनोंमेंसे एकरी पुष्पावलीसे तथा शम्भ और तूर्य जातिके वाद्यविशेषके नादसे व्याप्त यही
भायी पूजा की । उसे देखकर धरसेन भट्टारकने उनका 'भूतबलि' यह नाम रक्खा । तथा
जिनकी भूतोंने पूजा की है, और अस्त व्यस्त दन्तपक्षिको दूर करके भूतोंने जिनके दात समान
कर दिये हैं ऐसे दूसरेका भी धरसेन भट्टारकने 'पुष्पदन्त' नाम रक्खा ।

तदनन्तर उसी दिन चहासे भेजे गये उन दोनोंने 'गुरुके वचन अर्थात् गुरुकी आज्ञा
अलघनीय होती है' ऐसा विचार कर आते हुए अरुलेडनर (गुजरात) में वर्षाकाल बिताया ।
वर्षायोगको समाप्तकर और जिनपालितको देखकर (उसके साथ) पुष्पदन्त आचार्य सो वन
वासको चले गये और भूतबलि भट्टारक भी द्रमिल देशको चले गये । तदनन्तर पुष्पदन्त
आचार्यने जिनपालितकी दीक्षा देकर, वीस प्ररूपणा गभित सत्प्ररूपणाके सूत्र बनाकर और
जिनपालितको पढाकर अनन्तर उन्हें भूतबलि आचार्यके पास भेजा । तदनन्तर जिन्होंने
जिनपालितके पास वीस प्ररूपणान्तर्गत सत्प्ररूपणाके सूत्र देखे हैं और पुष्पदन्त आचार्य
अल्पायु हैं इसप्रकार जिन्होंने जिनपालितसे जान लिया है, अतएव महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका
विच्छेद हो जायगा इसप्रकार उत्पन्न हुई है शुद्धि जिनको ऐसे भगवान् भूतबलिने द्रव्यप्रमाणा-
नुगमको आदि लेकर ग्रन्थ-रचना की । इसलिये इस खण्डसिद्धान्तकी अपेक्षा भूतबलि और
पुष्पदन्त आचार्य भी श्रुतके कर्ता कहे जाते हैं ।

१ ' द्वितीयदिवसे ' इति पाठ । इन्द्र शुक्ला १०९

२ ' स्वमागिनेय ' इति विशेष । इन्द्र शुक्ला १३४

३ वाच्यं गुणनावादिर्नवसतिविषयमन्यप्ररूपणया । युन जावस्थानापरिहार 'परचयमन्यम्' ॥

ततो मूल तत कृत्वा बहुमाण-भटारजो, अणुतत-कृत्वा गोदम-मामी, उपतत-कृत्वा भद्रलि पुष्पकंतादयो नीय राय-दोम-मोहा मुणिरा । किंयं कतो प्ररूप्यते ? शास्त्रम्य प्रामाण्यप्रदर्शनार्थम् ' वस्तुप्रामाण्याद् वचनप्रामाण्यम् ' इति न्यायात् ।

सपहि जीवदाणस्ते जयारो उच्ये । त जहा, सो वि चउच्चिहो, उपामो णिस्सवेजो णयो अणुगमो चेदि । तत्थ उपमम भणिम्मामो । उपक्रम इत्यर्थमात्मन उप समीप क्राम्यति करोतीत्युपक्रमः । सो वि उपक्रमो पंचविहो, आणुपुञ्ची णाम पमाण वत्तवदा अत्थाहियागे चेदि । उच्च च—

तिविहा य आणुपुञ्ची दमहा णाम च विह माण ।

वत्तवदा य तिविहा तिविहो अत्थाहियारो वि ॥ ६४ ॥ इति ।

इत्थनरह मूलग्रन्थकर्ता वर्द्धमान भट्टारक ह, अनुग्रथकर्ता गातमन्वामी है भार उपग्रन्थकर्ता राग, छेप और मोहसे रहित भूतबलि, पुष्पदन्त इत्यादि अनेक आचार्य है ।

शुक्रा—यहां पर कर्ताका प्ररूपण किसलिये किया गया है ?

सामवान—शास्त्रकी प्रमाणताके विधानके लिये यहां पर कर्ताका प्ररूपण किया गया है, क्योंकि, ' वक्तारी प्रमाणतासे ही वचनामें प्रमाणता जाती है ' ऐसा न्याय है ।

अथ जीवस्थानके अन्तारका प्रतिपादन करते हैं । अर्थात् पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यने जीवस्थान, शुद्धावध, वधस्वामित्व, चेदनाम्पण्ड, वर्गणापण्ड और महावध नामक जिस पञ्चगण्डागमकी रचना की । उनमेंसे, प्रथम यहां जीवस्थान नामके प्रथम ऋण्डकी उत्पत्तिका वचन कहते हैं । यह इसप्रकार है—

वह अवतार चार प्रकारका हो, उपक्रम, निक्षेप, नय और अनुगम । उन चारोंमें पहले उपक्रमका निरूपण करते हैं, जो अर्थको अपने समीप करता है उसे उपक्रम कहते हैं । उस उपक्रमके पांच भेद हैं, आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार । कहा भी है—

आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है, नामके दश भेद हैं, प्रमाणके छह भेद हैं, वक्तव्यताके तीन भेद हैं और अर्थाधिकारके भी तीन भेद समग्रता चाहिये ॥ ६५ ॥

१ इसमूलतन्त्रका विविचारी इन्द्रसूत्रि विष्णवे । उपतत कृत्वा अणुतत तस्य आहारिया ॥ विष्णुद्वाराय मन्त्रिणा दिव्यसुचनत्वात् । वि शाण पमणिदा बहिदु सुतस्य पामण ॥ नि प १, ८०, ८१

२ पुष्पदन्तभूतबलिन्यां प्रजातस्यागमस्य नाम 'पञ्चगण्डागम' तस्यमं यन् खण्ड — १ जीवस्थान २ महावध ३ वस्तुप्रामाण्यविचय ४ वक्तव्यता ५ वर्गणापण्ड ६ महावधविधि । एषा पण्णा खण्डाना मध्ये प्रथम खण्डा ११ ॥ निरूप्यते ।

प्रथमस्वाध्यायस्य श्रीनृन्दा समपण्ड । उपक्रमत्वात् विवक्ष्यन्तधायादान इत्यपि ॥ आ पु २ १०३
उपक्रमो तण तमि व तना वा । नन्ममावीरण आणयण नामदेममि ॥ वि सा ११४

पुञ्चाणुपुञ्ची पञ्चाणुपुञ्ची जत्थतत्थाणुपुञ्ची चेदि तिप्पिहा आणुपुञ्ची । जं
मल्लादो परिपाटीए उच्चदे सा पुञ्चाणुपुञ्ची । तिस्से उदाहरण—‘उसहमजिय च वदे’
इच्चेममादि । ज उजरीदो हेट्ठा परिपाटीए उच्चदि सा पञ्चाणुपुञ्ची । तिस्से उदाहरण—
एम करेमि^१ य पणम निणरर उमहस्स वड्डमाणस्स ।

समाण च जिणाण सिन सुह-रुखा निलोमेण ॥ ६५ ॥ इदि ।

जमणुलोम-निलोमेदि निणा जहा तहा उच्चदि सा जत्थतत्थाणुपुञ्ची^१ । तिस्से
उदाहरण—

गय-मायल-सजल-जलहर-परहुज-सिहि-माय-भमर-सकासो ।

हरिउल-उम-पर्दो सिन-माउज-वच्छओ जयऊ ॥ ६६ ॥ इच्चेममादि ।

पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वा और यथातथानुपूर्वा इसतरह आनुपूर्वीके तीन भेद हैं । जो
वस्तुका विवेचन मूलसे परिपाटीद्वारा किया जाता है उसे पूर्वानुपूर्वा कहते हैं । उसका उदा
हरण इसप्रकार है, ‘रूपभनायको वन्दना करता है, अजितनायको वन्दना करता है’ इत्यादि क्रमसे
रूपभनायको आदि लेकर महावीरस्वामी पर्यन्त क्रमवार वन्दना करना सो वन्दनासयन्वी
पूर्वानुपूर्वा उपक्रम है । जो वस्तुका विवेचन ऊपरसे अर्थात् अन्तसे लेकर आदितरु परिपाटी-
क्रमसे (प्रतिलोम पद्धतिसे) किया जाता है उसे पश्चादानुपूर्वी उपक्रम कहते हैं । जैसे—

मोक्ष-मुखको अभिलाषासे यह म जिनवरोंमें श्रेष्ठ ऐसे वर्द्धमानस्वामीको नमस्कार
करता है । और विलोमक्रमसे अर्थात् वर्द्धमानके बाद पार्श्वनाथको, पार्श्वनाथके बाद नेमिनाथको
इत्यादि क्रमसे शेष जिनेन्द्रोंको भी नमस्कार करता है ॥ ६५ ॥

जो कथन अनुलोम और प्रतिलोम क्रमके बिना जहा कहाँसे भी किया जाता है उसे
यथातथानुपूर्वी कहते हैं । जैसे—

ह्यायी, जल्पयभेसा, जलपरिपूर्ण ओर सघन मेघ, कोयल, मयूरका कण्ठ और भ्रमरके

१ ज जण वमण सुत्तवारि उट्ठसुप्पण मा तस्स तण वमण गणणा पुञ्चाणुपुञ्ची णाम । जयध अ पृ ३

२ उमहमजिय च वद सममममिणदण च सुमह च । पउमपण सुपाम निण च चदप्पह वदे ॥

गुरिणि च पुण्णद सीयलमय च वासुपु च च । विमलमण भयन धम्म सति च वदामि ॥ उधु च जिणरीद
अर च मारु च सुगिस्सव्य च । णमि उदामि अरिठ्ठ णमि तण पासवड्डमाण च ॥ एवमण अमिधुत्तिया विहुय-
ग्गमण पहीणनसरणा । चन्नाम नि जिणवरा निधयरा म पमायतु ॥ २ म पृ ४

३ तस्स विलोमेण गणणा पञ्चाणुपुञ्चा । जयध अ पृ ३

४ प्रणिपु ‘रुखमि’ इति पाठ ।

५ एम करेमि पणाम निणररवमस्स वड्डमाण च । समाण च जिणाण सणमणवरण च सज्जमि ॥

मूलाका १०५,

६ जंभ वा तंभ वा अप्पणा इच्छिदमादि वादूण गणणा जयनथाणुपुञ्ची । जयध अ पृ ३.

इह पुण जीवदाण मट-मिद्धस पदुच्च पुव्वाणुपुव्वीए ण्ठिह छण्ह मडाणं पढम-सड जीवदाणमिदि । वेदणा-कमिण-पाण्ड-मज्झादो अणुलोम-विलोम-कमेहि विणा जीवदाणम्म सताप्ति-अहियारा अहिणिग्गया चि जीवदाण जत्थतत्थाणुपुव्वीए वि मठिह । जीवदाणे ण पच्छाणुपुव्वी समउड ।

णामस्स ढम द्वाणाणि भवन्ति । त जहा, गोण्यपदे णोगोण्यपदे आदानपदे पडिपक्षपदे अणादियमिद्धतपदे पाण्यपदे णामपदे पमाणपदे अययपदे मजोगपदे चेदि

गुणाना भावो गौण्यम् । तद् गौण्य पदं म्यानमाश्रयो येषा नाम्ना तानि गौण्य पदानि^१ । यथा, आदित्यस्य तपनो भास्कर इत्यादीनि नामानि । नौगौण्यपदं ना गुणनिरपेक्षमनन्वर्थमिति यावत् । तद्यथा, चन्द्रस्वामी सूर्यस्वामी इन्द्रगोप इत्यादीनि

समान वर्णजाले, हरिप्रशके प्रदीप, आर क्षिप्रदेवी माताके लाल ऐसे नेमिनाथ भगवान् जयन्त हा ॥ ८ ॥ इत्यादि यथातथानुष्ठाना उदाहरण समझना चाहिये ।

यह जीवज्ञान नामक शास्त्र गण्टमिद्धान्तकी अपेक्षा पूर्वानुपूर्व्या प्रमसे लिखा गया है, क्योंकि, पटगण्टागमम जीवज्ञान प्रथम सण्ड है । वेदनाकृपायप्रभक्तके मध्यमे अनुलोम ओर विलोमक्रमके बिना जीवज्ञानके सत्, मरणा आदि अधिस्तर निम्नले ह, इसलिये जीवज्ञान यथातथानुपूर्व्यामें भी गमित ह । किंतु इन जीवज्ञान सण्टम केवल पञ्चादानुष्ठान समय नहा है ।

नाम उपक्रमके दश भेद होते हैं । वे इसप्रकार हैं—गोण्यपद, नौगोण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद अनादिमिद्धान्तपद, प्राधान्यपद, नामपद, प्रमाणपद, अययपद ओर सयोगपद ।

गुणाके भावको गौण्य कहते हैं । जो पदार्थ गुणाकी मुख्यतामें व्यचक्षुत होते हैं वे गौण्य पदार्थ हैं । वे गौण्य पदार्थ पद अर्थात् म्यान या आश्रय जिन नामके होते हैं उन्हें गोण्यपद नाम कहते हैं । अर्थात् जिस सत्ताके व्यवहारमें अपने विशेष गुणका आश्रय लिया जाता है उसे गोण्यपदनाम कहते हैं । जैसे, सूर्यकी तपन ओर भास गुणकी अपेक्षा तपन ओर भास्कर इत्यादि स्मरण है । जिन सत्ताजाम गुणोंकी अपेक्षा न हो, अर्थात् जो असार्थक नाम हैं उन्हें नौगौण्यपदनाम कहते हैं । जैसे, चन्द्रस्वामी, सूर्यस्वामी, इन्द्रगोप इत्यादि नाम ।

१ स किं दमनाम पणत्तं ? त जण, गाण्य नागाण्य जायाणपण्य पणित्स्वपण्य पमाणयाए अणादअ मिद्धतण नामा अउउण सपाण पमाण । अउ १, १२७

२ स किं त गाण्यं ? गाण रामं चि उमणा, तपइ चि तपणा, जल्ह चि पण्णा, पवइ चि पण्णो । ते स गाण । अउ १, १२८

३ ती गाण अउता सउता असुग्गा समग्गा जणा पणा अउभिया सउलिया अउगा समुगा नापल अपद चि पण्य, जमाति गहण माइराए, अयाय वावण वायावाय, ना इदमोइए नि इदाय ते स ना गाणे ।

अउ १, १२८

नामानि। आदानपद' नाम आत्तद्रव्यनिग्रन्धनम् । नैतद्गुणनाम्नोऽन्तर्भाति तत्रादानाद्व्येत्य-
विप्रक्षामात् । भावे वा न तद्गुणाश्रितमादानपदनाम्नोऽन्तर्भाति । पूर्णकलश इत्येत-
दादानपदम् । नादानपदम् । तद्यथा, घटस्य कलश इति संज्ञा नात्तद्रव्यादिमाश्रिता
तस्यास्तथाविधविप्रक्षामन्तरेण प्रवृत्ताया, ममुपलम्भात् । न पूर्णशब्दोऽपि तस्य
पर्याप्तवाचकत्वेन गुणनाम्नोऽन्तर्भाति । नोभयसमामोऽपि तस्य भावसयोगे-
न्तर्भातिदिति न, जलादिद्रव्याधारत्तविप्रक्षया पूर्णकलशशब्दस्यादानपदत्वाभ्युप-

विशेषार्थ—जिन मनुष्योंके चन्द्रखामी आदि नाम रखे जाते हैं। उनमें चन्द्र
आदिका न तो खामीपना पाया जाता है ओर न इन्द्रके वे रक्षक ही होते हैं। केवल ये नाम
रुद्धिसे रखे जाते हैं। इनमें गुणादि की कुछ भी प्रधानता नही पायी जाती है, इसलिये इन्हें
नोगोप्यपदनाम कहने ह।

ग्रहण किये गये द्रव्यके निमित्तसे जो नाम व्यवहारमें जाते ह, अर्थात् जिनमें
द्रव्यके निमित्तकी अपेक्षा होती है उन्हें आदानपदनाम कहते हैं।

विशेषार्थ—आदानपदनामोंमें, सयोगको प्राप्त हुए द्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न हुई अवस्था
विशेषकी वाचक संज्ञाएँ ली जाती ह। अर्थात् आदान आदेय भावकी मुख्यतासे जो नाम
प्रचलित होते हैं उन्हें आदानपदनाम कहते हैं।

इस आदानपदनामका गुणनाममें अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि, गुणनाममें
आदान आदेय भावकी विप्रक्षा नहीं रहती है। यदि गुणनामोंमें भी आदान आदेय भावकी
विप्रक्षा मान ली जाय तो गौण्यपदनाम गुणाश्रित नही रह सकते हैं, क्योंकि, आदान आदेय
भावकी मुख्यतासे उनका आदानपदनामोंमें अन्तर्भाव हो जायगा।

‘पूर्णकलश’ इस पदको आदानपदनाम समझना चाहिये।

शंका —‘पूर्णकलश’ यह आदानपदनाम नहीं हो सकता है। इसका ‘बुलासा’ इस
प्रकार है, घटकी ‘कलश’ यह संज्ञा ग्रहण किये गये किसी द्रव्यादिके आश्रयसे नहीं है,
क्योंकि, ‘कलश’ इस संज्ञाकी द्रव्यादिके निमित्तकी विप्रक्षाले बिना ही प्रवृत्ति देयी जाती
है। इसीतरह ‘पूर्ण’ यह शब्द भी आदानपदनाम नहीं हो सकता है, क्योंकि, ‘पूर्ण’ यह
शब्द पर्याप्तका वाचक होनेसे उसका गौण्यपदनाममें अन्तर्भाव हो जाता है। पूर्ण ओर कलश
इन दोनोंका समास भी आदानपदनाम नहीं हो सकता है, क्योंकि, उसका भावसयोगमें
अन्तर्भाव हो जाता है।

समाधान—ऐसी शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि, जलादि द्रव्यके आधारपनेकी
विप्रक्षामें ‘पूर्णकलश’ इस शब्दको आदानपदनाम माना गया है।

१ से किं त आधानपदार्थ ! धम्मा संगल, उल्लिया चाउगिज्ज अवसय आसता तवियं जइत्त
जण्णदज्ज पुरिमदज्ज पल्लदज्ज नीरय धम्मो मग्गो समोत्तरण गथो ज मदिथं स च आवाणवण्ण तु १, १०८

गमात् । एवमत्रियेत्यपि चालयित्वा व्यवस्थापनीयम् । अङ्घ्रिष्ठानि कानि पुनरादान-
पदनामानि ? वृन्तर्षनीत्यादीनि जातभर्तृधृतापत्यनिरन्तरत्वात् । प्रतिपक्षपदानि कुमारी
वन्ध्येत्येवमादीनि आदानपदप्रतिपक्षनिरन्तरत्वात् । अनादिमिद्धान्तपदानि धर्मास्तिर-
धर्मास्तिरित्येवमादीनि । अपोरूपेयत्ततोऽनादि मिद्धान्तः स पद स्यात् यस्य तदनादि-
मिद्धान्तपदम् । प्राधान्यपदानि आग्रयन निम्नग्रनमित्यादीनि । अनन्त सत्स्वप्यन्येय-

विशेषार्थ — जलादि द्रव्य आदान हे और उल्टा अर्पण है । इसलिये 'पूर्णकल्पा' इस
शब्दका आदानपदनामम अन्तर्भाव होता है । यह बात गौण्यपदनामम नहीं है, इसलिये उसमें
उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है । यदि गौण्यपदम इसप्रकारकी विवक्षा की जायगी तो यह
गौण्यपद न बहलकर आदानपदकी कोटिमें आ जायगा ।

इसीप्रकार 'अविना' इस पदका भी विचार कर आदानपदनाममें अन्तर्भाव कर
लेना चाहिये ।

शुक्रा—अकिल्ष्ट अर्थात् सरल आदानपदनाम कौनसे है ?

समाधान—यद्य् अर अन्तर्गती इत्यादि सरल आदानपदनाम समयना चाहिये,
फर्वाक, स्वीकृत पतिर्की अपेक्षा च अ ओ धागण किये गये गर्भस्थ पुत्रकी अपेक्षा 'अन्तर्गती'
महा प्रचलित है ।

कुमारी, वध्या इत्यादिक प्रतिपक्षपदनाम है, स्यात्कि, आदानपदनाम ग्रहण किये गये
दूसरे द्रव्यकी निमित्तता कारण पड़ती है और यहाँ पर अन्य द्रव्यका अभाव कारण पड़ता
है । इसलिये आदानपदनामोंके प्रतिपक्ष कारण होनेसे कुमारी या वध्या इत्यादि पद प्रतिपक्ष
पदनाम जानना चाहिये ।

अनादिकालसे प्रवाहरूपसे चले आये सिद्धान्तवाचक पदोंको अनादिसिद्धान्तपदनाम
कहते हैं । जैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय इत्यादि । अपोरूपेय होनेसे सिद्धान्त अनादि है ।
यह सिद्धान्त जिस नामरूप पदका आश्रय हो उसे अनादिसिद्धान्तपद कहते हैं ।

यहूतसे पदार्थोंके होने पर भी किसी एक पदार्थकी बहुलता आदि द्वारा प्राप्त हुई
प्रधानतासे जो नाम बोले जाते हैं उन्हें प्राधान्यपदनाम कहते हैं । जैसे, आग्रयन निम्नग्रन

१ स किं त पवित्रपण्ण ? पाञ्चसूत्रेण नरेण गामागत्यगृह्यन्मन्त्रं प्रदायमुहपट्याममवाह
सनिवसत्तु सन्निविमण्णं अमिता पिवा, जगा साज्जा, विम महुर, न गच्छन्तु अत्रि साज्ज जे ह्मण न
अन्तरे, न राउण स जग्गण, ज ह्मण ग वण्ण, जावते विज्जिमावण, स च पवित्रपण्ण ।

अनु १, १२८

२ जगादियमिद्धतेण अम्मविज्जा अम्मविज्जा जगामधिका ज्जिज्जिजा पुग्गतीचराण अन्नमम
स च जगादियमिद्धतेण । अनु १, १२८

३ पाण्णयाण अमीगण सत्तवण्ण चपण्ण धूअण नागण पुत्तागण उच्छवण वक्खवण साविण्णे से
ए पाण्णयाण । अनु १, १२८

विश्रितवृक्षेषु विश्रुताकृतप्रावान्यचृतपिचुमन्दनिम्बनत्वात् । नामपदं' नाम गौडोऽङ्गो
द्रमिल इति गौडान्द्रमिलभाषानामधामत्वात् । प्रमाणपदानि' इत सहस्र द्रोणः खारी
पल तुला कर्पादीनि प्रमाणनाम्ना प्रमेयेषूपलम्भात् ।

अययपदानि यथा । मोऽययो द्विविधः, उपचितोऽपचित इति । तत्रोप-
चिताययनिम्बनानि यथा, गलगण्ड शिलीपदः लम्बकर्ण इत्यादीनि नामानि ।
अययपचयनिम्बनानि यथा, छिन्नकर्णः छिन्ननामिक इत्यादीनि नामानि । सयोग-
पदानि' यथा । स संयोगश्चतुर्विधो द्रव्यक्षेत्रकालभासयोगमेदात् । द्रव्यमयोगपदानि
यथा, इभ्य गौथः दण्डी छत्री गर्भिणी इत्यादीनि द्रव्यमयोगनिम्बनत्वात् तेषा ।

इत्यादि । वनमे अन्य अधिवाक्षित वृक्षांके रहने पर भी चिक्कासे प्रधानताको प्राप्त आम ओर
नामके वृक्षांके कारण आभ्रजन और निम्बचन आदि नाम व्यवहारमें आते हैं ।

जो भाषाभेदसे नाम बोले जाते हैं उन्हें नामपदनाम कहते हैं । जैसे गोड, आन्ध्र,
द्रमिल इत्यादि । ये गोड आदि नाम गोडी, आन्धी और द्रमिल भाषाओंके नाम के
आधारमें हैं ।

गणना अथवा मापनी अपेक्षासे जो सङ्गण प्रचलित हैं उन्हें प्रमाणपदनाम कहते हैं ।
जैसे, सा, हजार, द्रोण, खारी, पल, तुला, कर्प इत्यादि । ये सब प्रमाणनाम प्रमेयामें पाये
जाते हैं, अर्थात् इन नामोंके द्वारा तत्प्रमाण वस्तुका बोध होता है ।

अथ अययपदनाम कहते हैं । अयय दो प्रकारके होते हैं, उपचितायय और अप-
चितायय । रोगादिके निमित्त मिलने पर किसी अययके बद जानेसे जो नाम बोले
जाते हैं उन्हें उपचिताययपदनाम कहते हैं । जैसे, गलगण्ड, शिलीपद, लम्बकर्ण इत्यादि ।
जो नाम अययोंके अपचय अर्थात् उनके छिन्न हो जानेके निमित्तसे व्यवहारमें आते हैं उन्हें
अपचिताययपदनाम कहते हैं । जैसे, छिन्नकर्ण, छिन्ननासिक इत्यादि नाम ।

अथ सयोगपदनामका कथन करते हैं । द्रव्यसयोग, क्षेत्रसयोग, कालसयोग और
भावसयोग के भेदसे सयोग चार प्रकारका है । इभ्य, गौथ, दण्डी, छत्री, गर्भिणी इत्यादि द्रव्य
सयोगपदनाम हैं, क्योंकि, धन, गूथ, दण्डा, छत्ता इत्यादि द्रव्यके सयोगसे ये नाम व्यवहारमें

१ नामण पिउविजामस्म नामण उज्जामिज्ज म च णामेण । अनु १, १२८

१ पमाणे चउत्तिह पणत्त । ते जहा, नामपमाण ठरणपमाण दव्वपमाण मारियमाण । अनु १, १३३

१ अययण, मिमा मिमी तिसाणा दापी पत्तरी खरी नग बाला । दुपय चउपय बटुपय लण्णी कमरी
पण्डी परियर बंधन मज्जाणि जा महिअ निबमणेण निणेण दाणमार बहिं च एउए गादाण । ते च अवयवेण ।

अनु १, १२८

४ म किं त सजोण ! सजाम चउत्तिह पणत्त, त जहा, दव्वमजाग, खिचमजोमे, ज्ञामजाम, भाव
सजाम । म किं त दव्वमजागे ! दव्वमजोगे तिविज पणत्ते, त जहा, सविचे अचिचे, मीसण । म किं च मारिसे !

नाक्षिपरश्रादयस्तेषामाठानपदेऽन्तर्भावात् । सहचरितत्वप्रिक्षाया भवन्तीति चेन्न, सहच-
रितन्वप्रिक्षाया तेषा नामपदनाम्नोऽन्तर्भावात् । क्षेत्रसयोगपदानि^१, मायुरः चालम
दाक्षिणात्य, औदीच्य इत्यादीनि, यदि नामत्वेनाविहितानि भवन्ति । कालमयोग-
पदानि^२ यथा, शरद् वामन्तक इत्यादीनि । न वमन्तशरद्वेमन्तादीनि तेषा नामपदेऽ-
न्तर्भावात् । भागमयोगपदानि^३, क्रोधो मानी मायायी लोभीत्यादीनि । न शीलमादय-

भाते ह । अस्ति, परशु इत्यादि द्रव्यसयोगपदनाम नही ह, क्योंकि, उनका आश्रयपदमें
अन्तर्भाव होता है ।

श्रुति—सहचारीपनेकी प्रिक्षामें जनि, परशु आदिका सयोगपदनाममें अन्तर्भाव
हो जायगा ?

समाधान—ऐसा नहीं ह, क्योंकि, सहचारीपनेकी प्रिक्षा होने पर उनका नामपद
अन्तर्भाव हो जाता है ।

मायुर, चालम, दाक्षिणात्य और औदीच्य इत्यादि क्षेत्रसयोगपदनाम ह, क्योंकि,
मायुर आदि क्षेत्रके सयोगसे मायुर आदि सहाय व्यवहारमें आती है । जब मायुर
आदि सहाय नामरूपसे प्रिक्खित न ह तभी उनका क्षेत्रसयोगपदमें अन्तर्भाव होता है,
अन्यथा नहीं ।

शरद्, वामन्तक इत्यादि कालसयोगपदनाम है, क्योंकि, शरद् और वसन्त ऋतुके
सयोगसे ये सहाय व्यवहारमें आती है । किन्तु वसन्त, शरद् हेमन्त इत्यादि सहायोंका काल
सयोगपदनाममें ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि, उनका नामपदमें अन्तर्भाव हो जाता है ।

क्रोधो, मानी, मायायी और लोभी इत्यादि नाम भागसयोगपद है, क्योंकि, क्रोध,
मान, माया और लोभ आदि भावोंके निमित्तसे ये नाम व्यवहारमें आते ह । किन्तु जितमें

सचित्ते गामि गामिण मद्रिणीं मद्रिमण, उर्णीणि उर्णीड, उर्णी उर्णावले, से तं सचित्ते । स हि तं सचित्ते ?
जित्तिसे उर्णी उर्णी, दण्ण दडी, पण्ण पणा, घण्ण घणी, कण्ण कणा से तं सचित्ते । स हि तं मीमण ? मीमण
इण्ण हाणि, सगण्ण, सामण्ण रवण रणि, नावण नाविण, से च दण्ण सजोणे । अनु १, १२१

१ से हि तं सेवसजोणे ? मारुडे, पण्ण, हमाण, पण्णवण, हारेणमाण, रम्भणमाण, दण्डुण, उत्तर
पुण्ण, पुत्रिणिरण अक्खिदिण । जणा मागइ, माण्ण, सारण, मरुण्डण, उज्जुण, से च सेवसजोणे ।

अन १, १२०

२ से हि तं सजोणोणे ? सुमण्णसुमण, सुमण, समण्डुमण, समणमण, समण, सुसमण्डुमण ।
अन्वा पावमण, वागारण, सरद ह्वमण, वमण, गिण्ण, से च सजोणोणे । अन १, १२१

३ से हि तं मावमजोणे ? दुविण्ण पण्णच, त जडा, पयसेअ अपम येअ । स हि तं पयसे ? नाणण पाणी,
दमणेण दमणी, खरिवणे खरिवी से तं पयसे । से इड तं अपम ये ? काहण काणी, माणण माणी, माणण माया, लाहेण
लाही से तं अपमये, से तं मावमजोणे । से च सजोण । अनु १, १२२,

निग्रन्धनयममिहाभिगवणादीनि नामानि तेषां नामपदेऽन्तर्भावात् । न चैतेभ्यो व्यतिरिक्तं नामास्त्यनुपलम्भात् ।

तथेदस्स जीवद्वाणस्म णाम किं पदं ? जीवाणं द्वाण-वणणादो जीवद्वाणमिदि गोणपदं । मग्गलदिसु छसु अहियारेसु वक्खसाणिज्जमाणेसु णामं वुत्तमेव । पुणो किमिदं

स्वभावात् सप्तशता कारण है ऐसी यम, सिद्ध, अग्नि और रावण आदि सङ्घात भावसंयोग पदरूप नहीं हो सकती है, क्योंकि, उनका नामपदम अन्तर्भाव होता है । उक्त दश प्रकारके नामासे भिन्न और कोई नामपद नहीं है, क्योंकि, व्यवहारमे इनके अतिरिक्त अन्य नाम नहीं पाये जाते हैं ।

त्रिप्रेषार्थ—यतिवृषभाचार्यने कषायप्राभृतमें नामके केवल छह भेद बताये हैं । वे ये हैं, गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, अपचयपद और उपचयपद । ऊपर जो नामके दश भेद कह आये हैं । उनमेंसे, यहाँ पर अनादिसिद्धान्तसंयन्धी गुणसापेक्ष नामाका गौण्यपद और आदानपदमें तथा गुणनिरपेक्ष नामाका नोगौण्यपदमें अन्तर्भाव किया है । प्रधान्यपदनामोंका गौण्यपद और आदानपदमें अन्तर्भाव किया है । प्रमाणपदनामोंका गौण्यपदमें नामपदनामोंका नोगौण्यपदमें और संयोगपदनामोंका आदानपदमें अन्तर्भाव किया है । अत्रयवपदनामोंका उपचितपदनाम और अपचितपदनामोंमें अन्तर्भाव हो ही जाता है ।

शुक्रा—उन पूर्वाक्त दश प्रकारके नामपदोंमें यह जीवस्थान कौनसा नामपद है ?

ममाधान - जीवोंके स्थानोंका वर्णन करनेसे 'जीवस्थान' यह गौण्य नामपद है ।

शुक्रा—पहले मग्गलदिक छह अधिकारोंका व्याख्यान करते समय नामपदका

१ णाम छविह ॥ ३ ॥ (वत्तायपाहुडउण्णिमुत्त) गोणपदे गोमोणपद आदाणपद पडिवक्खपद अत्रचयपदे उत्रचयपदे चदि । x x x पाधणपदणामाणं यत्तमासो ? बलात्ताणं च बहुसु वण्णेसु सत्तेसु यत्तला बलात्ता लोकाजो सि जो णामणिदसो सो गोणपद निरददि गुणमुत्तेण दब्बम्मि पउत्तिदमणादो । कयचणिवादि अण्णेसु म्मेसु तथ सत्तम जा एगेण स्वक्खणं निववणमिदि निदेसो सा आदाणपदे निरददि वणेणात्तहत्तममग्गधेणदस्स पउत्तिदमणादो । दब्बखेत्तलालमात्रसजोयपदाणि रायाणिधुहत्तलालाण्ययस्मात्तह्मअस्सरायसायरायनयकोदीमाणा इच्छाणि णामाणि वि आदाणपदे चैव निरददि इदमेदस्स अथ एत्थ वा इदमधि चि निरक्खणं एदेभि णामाणं पउत्तिदमणादो । अत्रयपदणामाणि अत्रचयउत्रचयपदणामेसु पविस्सति, नेहिता तस्स भेदाभावादो । सुअणामा वत्ताणामा कमलदलणयणा चदमुही विवोद्धो इच्छाणि ततो मात्रिराणि अथ चि च वेदाणि णामाणि समासतभूदइव सद्धमवधेण दब्बम्मि पउत्तादा । अणादियमिद्वत्तपदणामेसु जाणि अणादिगुणसत्रधममस्सिय पयट्ठाणि जीवो णाणी चयणात्तो चि ताणि गोणपदे आदाणपदे च निरददि । जाणि गोमोणपदाणि ताणि गोमोणपदणामेसु निरददि । पमापदणामाणि वि गोणपदे चैव निरददि ममाणस दब्बगुणत्ताणं अविदमधम्म अविदसणा णामपदा । सा च अणादियमिद्वत्तपदणामेसु पविट्ठा अणादिसत्त्वणं तस्म तत्थ पउत्तिदमणादो । अणादियमिद्वत्तपदणामाणं धम्मसालागाम जीवगुणालादाणं छपदत्तमावो पुब्ब पक्खिदो चि नदाणि पक्खिचदे । तदो णाम दमविह चैव होदि चि एयनमग्गं ण वत्तया, किनु छविह चि होदि चि वेत्तय । जयध अ पृ ४-५

गथावदारे णाम उच्चदि ति ? न, पृथोद्दिष्टस्य नाग्नोऽग्नेन पदान्वेषणात् ।

पमाण पचनिह दच्च सेत्त-काल भाव णय पमाण भेदेहि । तत्थ दच्च पमाण सरेज्जमत्तरेज्जमणतय चेदि । सेत्त पमाणं णय पदेसादि । काल-पमाण समयावलियादि । भाव पमाण पचनिह, आभिणित्रोहियणाण सुदणार्ण ओहिणाणं मणपज्जणाण केवलणाणं चेदि । णय पमाण सत्तनिह, णेगम-सगह-उपहारुज्जुमुद-सद्-ममभिरूढ एवभूद-भेदेहि । अह्मा णय पमाणमणेयनिह—

जावदिया वयण-वहा तावदिया चेव होंति णय वादा ।

जावदिया णय-वादा तावदिया चेव पर-समया ॥ ६७ ॥ इदि वयणादो ।

कथं नयाना प्रामाण्यं ? न, प्रमाणकार्याणा नयानामुपचारतः प्रामाण्याविरोधात् ।

व्याख्यान कर ही आये है, फिर यहाँ पर ग्रन्थके प्रारम्भमें नामपदका व्याख्यान किसलिये किया गया है ?

समाधान—ऐसा नहीं, क्योंकि, पूर्वमें कहे गये नामका दशप्रकारके नामपदामने किसम अन्तर्भाव होता है इसका इस कथनके द्वारा ही अन्वेषण किया है ।

द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कायप्रमाण, भावप्रमाण और नयप्रमाणके भेदसे प्रमाणके पांच भेद हैं । उनमें, सत्त्यात असत्त्यात और अनत यह द्रव्यप्रमाण है । एक प्रदेश आदि क्षेत्रप्रमाण है । एक समय, एक आवली आदि कालप्रमाण है । आभिनियोधिक (मति) ज्ञान, श्रुतज्ञान, अपरिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानके भेदसे भावप्रमाण पांच प्रकारका है । नगम, सप्रह, व्यवहार, ऋजुमन, शब्द, समभिरूढ और एवभूतनयके भेदसे नयप्रमाण सात प्रकारका है । जयना नयप्रमाण निम्न वचनके अनुसार अनेक प्रकारका भी समझना चाहिये ।

जितने भी वचन मार्ग हैं, उतने ही नयवाद, अर्थात् नयके भेद हैं । और जितने नयवाद हैं, उतने ही परस्परमय हैं ॥ ६७ ॥

शङ्का—नयोंमें प्रमाणता कैसे सम्भव है, अर्थात् उनमें प्रमाणता कैसे आ सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, नय प्रमाणके कार्य हैं, इसलिये उपचारमें नयोंमें प्रमाण ताके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

निशेषार्थ—शङ्काकारका अभिप्राय यह है कि जय नय वस्तुके एक अशमाजको ग्रहण करता है सर्वांशरूपसे वस्तुको नहीं जानता है तब उसे प्रमाण कैसे माना जाय । इसका समाधान इसप्रकार किया गया है कि, यद्यपि केवल एक नय नय है प्रमाण नहीं है । किन्तु उनमें दूसरे नयोंकी अपेक्षा रहनेसे वे प्रमाणका कार्य करते हैं, इसलिये उपचारमें उनमें प्रमाणता आ जाती है ।

एतत् इदं जीवद्वान् एतेषु पंचसु पमाणेषु रुद्रं पमाणं ? भावपमाणं । तं पि पंचविहं, तत् पंचविहसु भाव-पमाणसु सुद-भाव-पमाण । कर्तृनिरूपणया एतास्य प्रामाण्यनिरूपितमिति पुनरस्य प्रामाण्यनिरूपणमनर्थकमिति चेत्, सामान्येन जिनोक्तत्वात्प्राप्त्यनुपपत्तितोऽगगतजीवस्थानप्रामाण्यस्य शिष्यस्य बहुषु भावप्रमाणेष्विदं जीवस्थान श्रुतभाव-प्रमाणमिति ज्ञापनार्थत्वात् । अहं पमाणं छविहं, नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावप्रमाण-भेदात् । तत्थ नाम-पमाणं पमाण-मण्णा । द्रव्या-पमाणं दुविहं, सत्भाव-द्रव्या-पमाण-मसत्भाव द्रव्या-पमाणमिदि । आकृतिमिति मद्रास्थापना । अनाकृतिमत्यसद्भावस्थापना । द्रव्यपमाणं दुविहं आगमदो णोऽगमदो य । आगमदो पमाण-पाहुड-जाणओ अणुपुत्तो, संसेज्जामंसेज्जानंत-भेद भिण्ण-सद्भागमो या । णोऽगमो तिविहो, जाणुम-सीरं भविय तच्चदिरत्तिमिदि । जाणुमसीरं च भवियं च गय । तच्चदिरत्ति द्रव्य-पमाणं

शंका — उन पांच प्रकारके प्रमाणमेंसे ' जीवस्थान ' यह कौनसा प्रमाण है ?

समाधान — यह भावप्रमाण है ।

मतिबलान्नादिरूपसे भावप्रमाणके भी पांच भेद हैं । इसलिये उन पांच प्रकारके भाव-प्रमाणमेंसे इस जीवस्थान शास्त्रको श्रुतभावप्रमाणरूप जानना चाहिये ।

शंका — पहले कर्ताका निरूपण कर आये हैं इसलिये उसके निरूपण कर देनेसे ही इस शास्त्रकी प्रमाणताका निरूपण हो जाता है, अब फिरसे उसकी प्रमाणताका निरूपण करना निरर्थक है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि, यह जीवस्थान शास्त्र प्रमाण है, अन्यथा वह जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ नहीं हो सकता था । इसप्रकार सामान्यरूपसे इस जीवस्थान शास्त्रकी प्रमाणताका निश्चय करनेवाले शिष्यको बहुत प्रकारके भाव प्रमाणमेंसे यह जीवस्थान शास्त्र श्रुतभावप्रमाणरूप है, इसतरहसे विशेष ज्ञान कर्मानेके लिये यहाँ पर इसकी प्रमाणताका निरूपण किया ।

अथवा, नामप्रमाण, स्थापनाप्रमाण, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भाव-प्रमाणके भेदसे प्रमाण छह प्रकारका है ।

उनमें ' प्रमाण ' ऐसी सत्ताको नामप्रमाण कहते हैं । सद्भावस्थापनाप्रमाण और असद्भावस्थापनाप्रमाणके भेदसे स्थापनाप्रमाण दो प्रकारका है । तद्वाक्यवाले पदार्थोंमें सद्भावस्थापना होती है । और अतद्वाक्यवाले पदार्थोंमें असद्भावस्थापना होती है । आगमद्रव्य-प्रमाण और नोआगमद्रव्यप्रमाणके भेदसे द्रव्यप्रमाण दो प्रकारका है । प्रमाणविषयक शास्त्रको जाननेवाले परन्तु उर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगमद्रव्यप्रमाण कहते हैं । अथवा, शब्दोंकी अपेक्षा सत्त्वातमेदरूप वक्ताओंकी अपेक्षा असत्त्वातमेदरूप और तद्वाच्य अर्थकी अपेक्षा अनतमेदरूप ऐसे शब्दरूप आगमको आगमद्रव्यप्रमाण कहते हैं । प्रायकशरीर, भावि और तद्रूपतिरिक्तके भेदसे नोआगमद्रव्यके तीन भेद समझने चाहिये ।

तिरिहं, सखेजममरेजमणतमिदि । गेत्त-काल-पमाणाणि पुत्त य वत्तज्जाणि । भाय पमाण पच्चरिह, मदि-भाय पमाण सुद भाय पमाण जोहि-भाय पमाण मणपज्ज-भाय-पमाण केवल-भाय पमाण चेदि । एवेदं जीवहाण भायदो सुद-भाय पमाण । दव्वदो मत्तेज्जामरेज्जाणत्त सरूय-मद्-पमाण ।

वत्तव्वदा तिरिहा, मसमयवत्तव्वदा परसमयवत्तव्वदा तदुभयवत्तव्वदा चेदि । जम्हि सत्थम्हि स-ममयो चेत्त उण्णिज्जदि परस्सिज्जदि पण्णात्रिज्जदि त मत्त मममयवत्त-त्त, तस्स भावो मममयवत्तव्वदा । पर-ममयो मिज्जत्त जम्हि पाहुडे उण्णियोगे या उण्णिज्जदि परस्सिज्जदि पण्णात्रिज्जदि त पाहुडमणियोगा या परममयवत्तव्वत्त, तस्म मागो पर-समयवत्तव्वदा णाम । जत्थ दो नि परस्सेज्ज प-ममयो दूत्तिज्जदि स ममयो यात्रिज्जदि सा तदुभयवत्तव्वदा णाम भवदि । एत्थ पुण जीवहाणे ससमयवत्तव्वदा सममयस्सेत्त परस्सणादा । अत्थावियारो तिरिहो, पमाण पमेय तदुभय चेदि । एत्थ जीवहाणे एको चेत्त अत्थावियारो पमेय परस्सणादो । उक्कमो गदो ।

उनमें, जायकशरीर और भावि नोआगमद्रव्यका वर्णन पहले कर जाये। तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यप्रमाण सख्यान्तरूप, असख्यान्तरूप और अनन्तरूप भेदकी अपेक्षा तीन प्रकारका है। क्षेत्रप्रमाण और कायप्रमाणका वर्णन पहलेके समान ही करना चाहिये। मतिशास्त्रप्रमाण, श्रुतभाष्यप्रमाण, अग्रधिभाष्यप्रमाण, मन पर्ययभाष्यप्रमाण और केवलभावप्रमाणके भेदसे भाष्यप्रमाण पांच प्रकारका है। इनमेंसे यह 'जीवस्थान' नामका शास्त्र भाष्यप्रमाणकी अपेक्षा श्रुतभाष्यप्रमाणरूप है, जो द्रव्यकी अपेक्षा सख्यान्तरूप असख्यान्तरूप और अनन्तरूप शब्दप्रमाण है।

वक्तव्यता तीन प्रकारकी है, स्वसमयवक्तव्यता, परसमयवक्तव्यता और तदुभयवक्तव्यता। जिस शास्त्रमें स्वसमयका ही वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है अथवा विशेषरूपसे ज्ञान कराया जाता है उसे स्वसमयवक्तव्य कहते हैं, और उसके भाष्यमें अर्थात् उसमें रहनेवाली विशेषताको स्वसमयवक्तव्यता कहते हैं। परसमय मित्यात्यसे कहते हैं। उसका जिस प्राभृत या अनुयोगम वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है या विशेष ज्ञान कराया जाता है उस प्राभृत या अनुयोगमें परसमयवक्तव्य कहते हैं, और उसके भाष्यको अर्थात् उसमें होनेवाली विशेषताको परसमयवक्तव्यता कहते हैं। जहां पर स्वसमय और परसमय इन दोनोंका निरूपण करके परसमयको दोषयुक्त दिखलाया जाता है और स्वसमयकी स्थापना की जाती है उसे तदुभयवक्तव्य कहते हैं और उसके भाष्यको अर्थात् उसमें रहनेवाली विशेषताको तदुभयवक्तव्यता कहते हैं। इनमेंसे इस जीवस्थान शास्त्रमें स्वसमयवक्तव्यता ही समयकी चाहिये, क्योंकि, इसमें स्वसमयका ही निरूपण किया गया है।

प्रमाण, प्रमेय और तदुभयके भेदसे अर्थाधिकारके तीन भेद हैं। उनमेंसे इस जीवस्थान शास्त्रमें एक प्रमेय अर्थाधिकारका ही वर्णन है, क्योंकि, इसमें प्रमाणके विषयभूत प्रमेयका ही वर्णन किया गया है। इसतरह उपनमनामका प्रकरण समाप्त हुआ।

णिस्सेपो चउव्विहो णाम-द्वयणा-द्वय-भाज-जीवद्वान्-भेएण । णाम-जीवद्वान्
जीवद्वान्-सदे । द्वयण-जीवद्वान् पुट्ठीए ममारोपिज-जीवद्वान्-द्वय । द्वय-जीवद्वान्
दुप्पिह आगम-णो-आगम-भेएण । तत्थ जीवद्वान्-जाणओ अणुवजुत्तो आगम-द्वय-
जीवद्वान् । णो-आगम-द्वय जीवद्वान् तिप्पिह जाणुगमरीर-भविज तद्वादिस्सि-णो-आगम-
द्वय-जीवद्वान्-भेएण । आदिह-दुग सुगम । तद्वादिस्सि जीवद्वान्-आह-भृदागास-द्वयं ।
माज-जीवद्वान् दुप्पिह आगम गो-आगम-भेएण । आगम-भाज-जीवद्वान् जीवद्वान्-जाणओ
उजुत्तो । णो-आगम-भाज-जीवद्वान् मिच्छाडिट्ठियादि चोहस-जीव ममात्ता । एत्थ णो-
आगम भाज-जीवद्वान् पयद । णिस्सेपो गढे ।

नयैर्विना लोकरूपनहारानुपपत्तेर्नया उच्यन्ते । तद्यथा, प्रमाणपरिगृहीताथरुदेजे
उत्पन्नध्वजमयो नयः । म द्विविध, द्रव्यार्थिक पर्यायाधिकश्चेति ।
द्रोष्यत्यदुद्रुत्तास्तान्पर्यायानिति द्रव्यम्^१, द्रव्यमेवार्थः त्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः ।

नामजीवस्थान, स्थापनाजीवस्थान, द्रव्यजीवस्थान और भावजीवस्थानके भेदसे
निक्षेप चार प्रकारका है । 'जीवस्थान' इसप्रकारकी सज्ञाने नामजीवस्थान कहते हैं । जिस
द्रव्यम पुद्गले जीवस्थानकी आरोपणा की हो उसे स्थापनाजीवस्थान कहते हैं । आगम
जीवस्थान और नोआगमजीवस्थानके भेदसे द्रव्यजीवस्थान दो प्रकारका है । उनमें, जीवस्थान
शास्त्रके जाननेवाले किन्तु वर्तमानम उसके उपयोगसे रहित जीवको आगमद्रव्यजीवस्थान
कहते हैं । ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे नोआगमद्रव्यजीवस्थान तीन
प्रकारका है । इनमेंसे, आदिके दो जर्थात् ज्ञायकशरीर और भावि सुगम हैं । जीवस्थानके अथवा
जीवस्थान शास्त्रके आधारभूत आशयद्रव्यको तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यजीवस्थान कहते
हैं । आगम और नोआगमके भेदसे भाजजीवस्थान दो प्रकारका है । जीवस्थान शास्त्रके जानने
वाले और वर्तमानम उसके उपयोगसे युक्त जीवको आगमभावजीवस्थान कहते हैं । और
मिथ्यादृष्टि आदि चैदृष्ट जीवसमासोंको नोआगमभावजीवस्थान कहते हैं । इनमेंसे, इस जीव-
स्थान शास्त्रमें नोआगमभावजीवस्थान निक्षेप प्रकृत है । इसतरह निक्षेपका वर्णन हुआ ।

नयोंके बिना लोकव्यवहार नहीं चल सकता है, इसलिये यदा पर नयाका वर्णन करते
हैं । इन नयोंका खुलासा इसप्रकार है, प्रमाणके द्वारा ग्रहण की गई वस्तुके एक अंशमें वस्तुका
निश्चय करनेवाले ज्ञानको नय कहते हैं । वह नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे दो
प्रकारका है । जो भविष्यत् पर्यायोंको प्राप्त होगा और भूत पर्यायोंको प्राप्त हुआ या उसे द्रव्य

१ अनिरातरतनिपक्षा नरवेसमात्रा हातुरमिप्रागे नय । प व गा पृ २०५

२ द्रव्य सामानसमज्ञानव्य उमगात्ता विषया यथा त द्रव्यार्थिका । पयाया विधेया भदा व्यतिरेकाऽ
पतादीना विषया यथा त पयायार्थिका । लयाय पृ ५१

३ द्रव्यति गच्छति नरतत्ता पयायान् द्रव्यम गम्यते हेतु पयापरिति वा द्रव्यम् । जयव अ. पृ २६
विनिनयदसमग्रहणान् द्रव्या सामान्यमात्रपर्यायान् द्रव्यि द्वायपद्रुद्वयमिति द्रव्यम् । आ पृ ८७

परि भेदमेति गच्छतीति पर्यायः, पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायाधिकः । तत्र द्रव्यार्थिकस्त्रिभिः, नैगम मग्नहो व्यवहारयेति । त्रिधिव्यतिरिक्त-प्रतिषेधानुपलम्भाद्विधिमाम्रमेव तन्त्रमित्यध्ययमायः समस्तस्य प्रहणात्मकः । द्रव्यव्यतिरिक्तपर्यायानुपलम्भाद् द्रव्यमेव तन्त्रमित्ययमायो वा संग्रहः । मग्नहनयाधिष्ठाना-मर्थानां त्रिधिपूर्वकमग्रहणं भेदनं व्यवहारः, व्यवहारपञ्चान्त्रो व्यवहारनय इत्यर्थः । यदस्ति न तद् द्रव्यमात्रेण द्रव्यं वर्तते इति नैगमो नैगमः, मग्नहामग्नहस्वरूपद्रव्यार्थिको नैगमः इति यावत् । एते त्रयोऽपि नयाः नित्यत्वादिना स्वविषये पर्यायाभावात् सामान्य-

कहते हैं । द्रव्य ही जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन हो उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं । 'परि' अर्थात् भेदको जो प्राप्त होता है उसे पर्याय कहते हैं । यह पर्याय ही निम्न नयका प्रयोजन है । उसे पर्यायाधिकनय कहते हैं ।

द्रव्यार्थिक नयके तीन भेद हैं-नैगमनय, मग्नहनय और व्यवहारनय । विधि अर्थात् संज्ञाको छोड़कर प्रतिषेध अर्थात् असत्ताकी प्राप्ति नहीं होती है, इसलिये विधिमाम्र ही तत्त्व है । इसप्रकारके निश्चय करनेवाले नयको समस्तका प्रहण करनेवाला होनेसे मग्नहनय कहते हैं । अथवा, द्रव्यको छोड़कर पर्याय नहीं पाई जाती है, इसलिये द्रव्य ही तत्त्व है । इसप्रकारके निश्चय करनेवाले नयको मग्नहनय कहते हैं । मग्नहनयसे प्रहण किये गये पदार्थोंके विधिपूर्वक भेद करनेको व्यवहार कहते हैं । उस व्यवहारके आर्धान चलनेवाले नयका व्यवहारनय कहते हैं । जो है वह उक्त दोनों अर्थात् संग्रह और व्यवहारको छोड़कर नष्ट रहता है । इसनय ही केवल एकको ही प्राप्त नहीं होता है, अर्थात् अनेकको प्राप्त होता है उसे नैगमनय कहते हैं । अर्थात् संग्रह और असंग्रहरूप जो द्रव्यार्थिक नय है वह ही नैगमनय है । ये तीनों ही नय नित्यवादी हैं, क्योंकि, इन तीनों ही नयोंका विषय पर्याय न होनेके कारण इन तीनों नयोंके विषयम-

१ प्रतिपु 'समस्तस्य' इति पाठ ।

२ संप्रदानविधानांतरस्वरूपमात्रमिदं जगत् । सत्तारूपतया सर्वं तद्वद् संमत्तं मनः ॥ स त त टी पृ २११
स्वजातिविशेषैकसंयुक्तं पद्यानां वा तत्प्रदानविधयः समस्तप्रज्ञासमम् । त नि १, २३ स्वजातिविशेष-
भक्त्यापनयानमस्तद्वहणं समम् । त ग वा १, २३ पञ्चम विप्रदानं प्रज्ञा समं मनः । सजातिविशेष-
रूपेणाभ्यां कथंचन ॥ त ग वा १, २३, ४९

३ स नि १, २३ त ग वा १, २३ प्र ग मा पृ २०५ समर्थ एतावान्ध्यानां विधिपूर्वा ।
वाजहारा विमग्न स्याद्व्यवहारा नयं श्रुतं ॥ त ग वा १, २३ ८ व्यवहारस्तं तावत् प्रातश्चरं व्यवस्थिताम् ।
तपश्च ददयमानवान् । यन्मर्यादति दहिन ॥ त त टी पृ ३१

४ अनिमित्तवृत्ताधमकल्पमात्रमात्रं नैगमः । ग नि १, २३ अधमकल्पमात्रमात्रं नैगमः । त टी
वा १, २३ तत्र सङ्ख्यमात्रस्य ग्राह्यं नैगमः नयः । त ग वा १, २३ अनिमित्तवृत्ताधमकल्पमात्रमात्रं
नैगमः । प्र ग मा पृ २०५ अथद्वे हि साक्षात्तमभिलक्षणांतराणाम् । विज्ञातं यत् पञ्चमं मयत्तं निगमा
नयः ॥ स त टी पृ ३१ नैगमनैव मत्तमात्रान्यविशेषविशेषज्ञानाभिमतां सिनाति वा नैकम् । नैगमेषु वा

विशेषकालयोरभावात् ।

पर्यायार्थिको द्विविधः, अर्थनयो व्यञ्जननयश्चेति । द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोः किंकृतो भेदश्चेदुच्यते, ऋजुसूत्रवचनविच्छेदो मगधारे येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः । विच्छिद्यतेऽस्मिन् काल इति विच्छेदः । ऋजुसूत्रवचन नाम वर्तमानवचन, तस्य विच्छेदः ऋजुसूत्रवचनविच्छेदः । स कालो मूल आधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः । ऋजुसूत्रवचनविच्छेदादारभ्य आ एकरमयाद्वस्तुस्थित्यवयवसाम्यिनः पर्यायार्थिका इति यावत् ।

सामान्य ओर विशेषकालका अभाव ह ।

विशेषार्थ—एवभूतनयसे लेकर ऊपर ऋजुसूत्र नय तक पूर्व पूर्व नय सामान्य रूपसे ओर उत्तरोत्तर नय विशेषरूपसे वर्तमान कालवर्ती पर्यायको विषय करते ह । इसप्रकार सामान्य ओर विशेष दोनों ही काल द्रव्यार्थिक नयके विषय नहीं होते ह । इस विवक्षासे द्रव्यार्थिक नयके तीनों भेदोंको नित्यवर्ती कहा हे । अथवा, द्रव्यार्थिक नयमें कालभेदकी विवक्षा ही नहीं ह, इसलिये उसमें सामान्य ओर विशेषकालका अभाव कहा हे ।

अर्थनय ओर व्यञ्जन (शब्द) नयके भेदसे पर्यायार्थिक नय दो प्रकारका हे ।

शुद्धा—द्रव्यार्थिकनय ओर पर्यायार्थिकनयमें किसप्रकार भेद हे ?

समाधान—ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनका विच्छेद जिस कालमें होता है, वह (काल) जिन नयोंका मूल आधार है वे पर्यायार्थिकनय ह । विच्छेद अथवा अन्त जिस कालमें होता है उस कालको विच्छेद कहते ह । वर्तमानवचनको ऋजुसूत्रवचन कहते हैं, ओर उसके विच्छेदको ऋजुसूत्रवचनविच्छेद कहते ह । वह ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनका विच्छेद रूप काल जिन नयोंका मूल आधार है उन्हे पर्यायार्थिकनय कहते ह । अर्थात् ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंके विच्छेदरूप समयसे लेकर एक समय पर्यन्त वस्तुकी स्थितिका निश्चय करनेवाले पर्यायार्थिकनय ह । इन पर्यायार्थिक नयोंके अतिरिक्त शेष शुद्धाशुद्धरूप द्रव्यार्थिक

अथनोपधु कुशलो भया वा नगम । अथवा नर गमा पथाना यस्य स नरगम । तत्राय सवत्र सदि यवमनुगता कासारयोधेरनुभूता महामत्तामिच्छति अनुवृत्तवावृत्ताववावस्तुभूत च मामासविशेष द्रव्यान्वादि व्यावृत्ताववावस्तुभूतं च नियन्त्यशक्तिमय विशेषमिति । स्वा मृ पृ ३७ । मिद्धमनीया पुन षडेव तयानुपपन्नवत्, नेगमस्य संप्रहृत्यवहारपारतम्यविवक्षणात् । तथाहि, यदा नेगम सामान्यप्रतिपक्षपरस्तदा स सम्प्रेक्ष्यन्तमवति सामान्यानुपपन्न परवान्ति विस्मयानुपपन्नमिच्छन्त्यवशरे । आ मृ पृ ७

१ द्रव्यमर्थे प्रयोजनमस्यति द्रव्याधिरे तद्व्यवस्थितासामान्यनामिदमसाध्यलक्षणसामान्यन मिदममिदं च व्यत्यनुपपन्नं द्रव्याधिक इति यावत् । परि भेद ऋजुसूत्रवचनविच्छेद एति गच्छतीति पयाय । स पर्याय अथ प्रयोजनमस्यति पर्यायार्थिक सादृश्यलक्षणसामान्यन मिदममिदं च द्रव्याधिकानुपपन्नं ऋजुसूत्रवचनविच्छेदन पादयन् पयायाधिरे इक्षवगन्त्य । जयध अ पृ ३७

अपरे शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकाः । तत्रार्थव्यञ्जनपर्यायैविभिन्नलिङ्गसंयाकालकारकपुरुषो
पग्रहभेदैरभिन्न वर्तमानमात्रं वस्तुध्वन्यन्तोऽर्थनयाः, न शब्दभेदेनार्थभेद इत्यर्थः ।
व्यञ्जनभेदेन वस्तुभेदाध्यवसायिनां व्यञ्जननयाः । तत्रार्थनयः ऋजुमयः । कुतः ?
ऋजु प्रगुण मयति सूक्ष्मतीति तत्सिद्धे । नैगममग्रहव्यवहारार्थार्थनया इति चेत्,
सन्त्येतेऽर्थनयाः अर्थव्यापृतत्वात्, किंतु न ते पर्यायार्थिकाः द्रव्यार्थिकत्वात् ।

‘व्यञ्जननयस्त्रिविधः, शब्द ममभिरूढ एवभूत इति । शब्दप्रभृतोऽर्थग्रहणप्रमाण

नय ह । यही उनम भेद है ।

उनममे, अर्थपर्याय ओर व्यञ्जनपर्यायसे भेदरूप ओर लिंग, सत्ता, काल, कारण,
गुण और उपग्रहके भेदसे अभेदरूप केवल वर्तमान समयवर्ती वस्तुके निश्चय करनेवाले नयोंको
अर्थनय कहते हैं । यहा पर शब्दके भेदसे अर्थमें भेदकी विषयता नहीं है । व्यञ्जन (शब्द) के
भेदसे वस्तुमें भेदका निश्चय करनेवाले नय व्यञ्जननय कहलाते हैं । इनमें, ऋजुमय नयके
अर्थनय समझना चाहिये । क्योंकि, ऋजु सरल अर्थात् वर्तमान समयवर्ती पर्यायमयको जो
मग्रह करे अथवा सूचित करे उसे ऋजुमय नय कहते हैं । इसतरह वर्तमान पर्यायरूपसे
अर्थको ग्रहण करनेवाला होनेके कारण यह नय अर्थनय है, यह बात निश्च हो जाती है ।

शब्दा—नैगम, सग्रह ओर व्यवहारनय भी तो अर्थनय ह, फिर यहा पर अर्थनयोंमें
केवल ऋजुसूत्रनयका ही ग्रहण क्यों किया ?

समाधान—अर्थको विषय करनेवाले होनेके कारण ये भी अर्थनय ह, इसमें कोई
बाधा नहीं है । किंतु ये तीनों नय द्रव्यार्थिकरूप होनेके कारण पर्यायार्थिक नहीं है ।

व्यञ्जननय तीन प्रकारका है, शब्द, समभिरूढ और एवभूत । शब्दको ग्रहण करनेके

‘तत्र शुद्धाशुद्ध पदार्थवच्छास्त्रितं ब्रुभेदं तैमह । (अशुद्ध) द्रव्याधन पदार्थवच्छास्त्रित
द्रव्यविषय वस्तुह । यदस्ति न तदद्रव्यमनिलय वस्तु इति नरुणसो नगम शब्दशान्कमवायकारण धाराधेय
सूक्ष्मात्मनमवोसयभुनधाविषयजनमाभासिमाभित्य स्थितापचारविषय । जयध अ पृ २७

२ वस्तुन स्वरूप स्वयमभेदेन मिदालाभनय । जमका वा अभदरूपन सत्र वस्तु इयान एवि मच्छति
इत्यभनय । जयध अ पृ २७

३ ऋजुवचनविशेदापलभित्वं वस्तुन बाधरभेदेन भेदरी व्यञ्जननय । जयध अ पृ २७

४ ऋजु प्रगुण मयति तत्रयति इति ऋजुमय । स वि १, २३ सूत्रपात्ररुजुमय । यथा क्रम
सूत्रपात्रस्तथा ऋजु प्रगुण मयति तत्रयति ऋजुमय । त रा वा १, २३ ऋजुमय क्षण इवि वस्तु सत्त्ववेदह ।
प्रोधायेन गुणीमात्राद द्रव्यस्यापणासन ॥ त श्री वा १, २३ इति ऋजुमानल (यत्) वर्तमानक्षणमात्रं
गूत्रयतीषुजुमय । प्र क मा पृ २०५ तत्रैवमनतीति स्यादुद्धपरास्यथिता । नररस्वद भासस भावा स्थिति
विधीन ॥ अनालानागताकपरास्यस्यशरजितम् । धनमाननया सवभूजुमयै सूत्र्यते ॥ स त टी-पृ ३११ ३१२

शब्दनयः लिङ्गसंख्याकालकारकपुरुषोपग्रहव्यभिचारनिवृत्तिपरत्वात् । लिङ्गव्यभिचार-
न्तादुच्यते । स्त्रीलिङ्गे पुल्लिङ्गाभिधानं तारका स्वातिरिति । पुल्लिङ्गे स्त्र्यभिधानं
अवगमो विद्येति । स्त्रीत्वे नपुमकाभिधानं वीणा आतोद्यमिति । नपुसके स्त्र्यभिधानं
आयुधं शक्तिरिति । पुल्लिङ्गे नपुमकाभिधानं पटो वस्त्रमिति । नपुसके पुल्लिङ्गाभिधानं
आयुधं परशुरिति । सरयाव्यभिचारः, एकत्वे द्वित्यं नक्षत्रं पुनर्वसू इति । एकत्वे
बहुत्वं नक्षत्रं शतभिषज इति । द्वित्ये एकत्वं गोदौ ग्राम इति । द्वित्ये बहुत्वं पुनर्वसू

राद् अर्थके ग्रहण करनेमें समर्थ शब्दनय है, क्योंकि, यह नय लिंग, सरया, काल, कारक, पुरुष
और उपग्रहके व्यभिचारकी निवृत्ति करनेवाला है ।

स्त्रीलिंगके स्थानपर पुल्लिङ्गका कथन करना और पुल्लिङ्गके स्थानपर स्त्रीलिंगका कथन
करना आदि लिंगव्यभिचार है । जैसे, 'तारका स्वाति' स्वाति नक्षत्र तारका है । यहाँ पर
तारका शब्द स्त्रीलिंग और स्वाति शब्द पुल्लिङ्ग है । इसलिये स्त्रीलिंगके स्थानपर पुल्लिङ्ग
कहनेसे लिंगव्यभिचार है । 'अवगमो विद्या' ज्ञान विद्या है । यहाँ पर अवगम शब्द पुल्लिङ्ग
और विद्या शब्द स्त्रीलिंग है । इसलिये पुल्लिङ्गके स्थानपर स्त्रीलिंग कहनेसे लिंगव्यभिचार
है । 'वीणा आतोद्यम्' वीणावाजा आतोद्य कहा जाता है । यहाँ पर वीणा शब्द स्त्रीलिंग
और आतोद्य शब्द नपुसकलिंग है । इसलिये स्त्रीलिंगके स्थानपर नपुसकलिंगका कथन करनेसे
लिंगव्यभिचार है । 'आयुधं शक्ति' शक्ति आयुध है । यहाँ पर आयुध शब्द नपुसकलिंग
और शक्ति शब्द स्त्रीलिंग है । इसलिये नपुसकलिंगके स्थानपर स्त्रीलिंगका कथन करनेमें
लिंगव्यभिचार है । 'पटो वस्त्रम्' पट वस्त्र है । यहाँ पर पट शब्द पुल्लिङ्ग और वस्त्र शब्द नपु
सकलिंग है । इसलिये पुल्लिङ्गके स्थानपर नपुसकलिंगका कथन करनेसे लिंगव्यभिचार है ।
'आयुधं परशु' फरसा आयुध है । यहाँ पर आयुध शब्द नपुसकलिंग और परशु शब्द पुल्लिङ्ग
है । इसलिये नपुसकलिंगके स्थानपर पुल्लिङ्गका कथन करनेसे लिंगव्यभिचार है ।

एक वचनकी जगह द्विवचन आदिका कथन करना सरयाव्यभिचार है । जैसे, 'नक्षत्र
पुनर्वसू' पुनर्वसू नक्षत्र है । यहाँ पर नक्षत्र शब्द एक वचनान्त और पुनर्वसू शब्द द्विवचनान्त
है । इसलिये एकवचनके स्थानपर द्विवचनका कथन करनेसे सरयाव्यभिचार है । 'नक्षत्र
शतभिषज' शतभिषज नक्षत्र है । यहाँ पर नक्षत्र शब्द एकवचनान्त और शतभिषज शब्द
बहुवचनान्त है । इसलिये एकवचनके स्थानपर बहुवचनका कथन करनेसे सरयाव्यभिचार है ।

१ लिङ्गसंख्यासाधनाद्विषयभिचारनिवृत्तिपर शब्दनय । म मि १, ३३ शपथप्रमादयति प्रयावतानि
शब्द । त रा वा १, ३३ काजादिमेवतोऽर्भस्य मय प्रतिपादयेत् । सोऽन शब्दनय शब्दप्रधानत्वाद्बुदाहृत ॥
त श्री वा १, ३३, ६८ वाल्मार्कलिङ्गसंख्यामाधनोपमन्मदाद्विषयमथ शपतानि शब्दो नय । प्र क मा
पृ २०६ विरोधिलिङ्गसंख्यादिमदाद्विषयस्त्वभावात् । तस्यत्र मयमानोऽय शब्द प्रयवतिष्ठते ॥ य त टी पृ ३१३

पञ्चतारका इति । गुरुत्वे एकत्वं ज्ञायम्, अनमिति । गुरुत्वे द्वित्वं दृश्यमानत्वा उभौ गत्री इति । कालव्यभिचारः, विश्वदृश्यास्य पुत्रो जनिता, भविष्यदय भूतप्रयोगः । भावि कृत्यमासीदिति भूते भविष्यत्प्रयोग इत्यर्थः । साधनव्यभिचारः, ग्राममधिदेशेति इति । पुरुषव्यभिचारः, एहि मन्ये रथेन यास्यमि न हि यास्यमि यातस्ते पितेति । उपग्रह

‘गोत्रौ ग्राम’ गार्थोंको देनेवाले भाव हैं । यहा पर गोत्र शब्द द्विवचनान्त और ग्राम शब्द एकवचनान्त है । इसलिये द्विवचनके स्थानपर एकवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है । ‘पुनर्वसु पञ्च तारका’ पुनर्वसु पाच तारे हैं । यहा पर पुनर्वसु द्विवचनान्त और पंचतारका शब्द बहुवचनान्त है । इसलिये द्विवचनके स्थानपर बहुवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है । ‘आम्ना घनम्’ आमोंके घृष्ट घन हैं । यहा पर आम्न शब्द बहुवचनान्त और घन शब्द एकवचनान्त है । इसलिये बहुवचनके स्थानपर एकवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है । ‘देवमनुष्या उभौ राशी’ देव और मनुष्य ये दो राशि हैं । यहा पर देव मनुष्य शब्द बहुवचनान्त और राशि शब्द द्विवचनान्त है । इसलिये बहुवचनके स्थानपर द्विवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है ।

भविष्यत् आदि कालके स्थानपर भूत आदि कालका प्रयोग करना कालव्यभिचार है । जैसे, ‘विश्वदृश्यास्य पुत्रो जनिता’ जिसने भ्रमस्त विश्वको देख लिया वे मेरा इसके पुत्र होगा । यहा पर विश्वका देखना भविष्यत् कालका कार्य है, परन्तु उसका भूतकालके प्रयोगद्वारा कथन किया गया है । इसलिये यहा पर भविष्यत् कालका कार्य भूतकालम कहनेसे काल व्यभिचार है । इसीतरह ‘भाविदृत्यमासीत्’ आगे होनेवाला कार्य हो चुका । यहा पर भी भूतकालके स्थानपर भविष्यत् कालका कथन करनेसे कालव्यभिचार है ।

एक साधन अर्थात् एक कारकके स्थानपर दूसरे कारकके प्रयोग करनेको साधनव्यभिचार कहते हैं । जैसे, ‘ग्राममधिदेशेति’ यह ग्राममें शायन करता है । यहा पर स्वप्नसी कारकके स्थानपर द्वितीया कारकका प्रयोग किया गया है, इसलिये यह साधनव्यभिचार है ।

उत्तम पुरुषके स्थानपर मध्यम पुरुष और मध्यम पुरुषके स्थानपर उत्तम पुरुष आदिके

१ यं विधाकृत्य पञ्चतारकाव्याख्यानं ‘धानुमन्व २ प्रयथा’ इति सूत्रमात्रं यं विश्वं तास्य पुत्रो जनिता, भाविदृत्यमासीदिति यत्र कामदेववर्णाश्रमा ता या वि त दृशति सो वि पुत्रो जनितेति भविष्यकालना तावत्कालमासेदोमिमन्, उवाच पञ्चतारकादिनि । तत्र य परीक्षाया मन्वन्त कामदेववर्णाश्रमादेऽत्रेवमगात् रावणश्चक्रवर्तिनारयणानागतगतत्वेरस्तापत् । आमादाकथा राज्ञा, श्वचक्रवर्ती भवि यनानि शब्दप्राभवा निपयन्तु नैकाधतेति च । निश्चयता जनिनेयनयानि माभूत् तत एव । न हि विश्वं पञ्चतार इति विश्वं शि वेतिशब्दस्य याथाव्यक्ततास्य जनिनेति शब्दस्यानागतता पुनस्य भाविता त्रीतविरावात् । अतोतकालस्याप्यनागतत्वा यवरोपद्रवधामनिश्रुति चेत् तां न पालयन् कामदेवमिमिमां यवस्था । त स्मै वा ५ २०२-२०३

२ ‘एहि मयै रथेन यास्यमि, न हि यास्यमि, त यातस्म पिता’ इति साधनमदपि पदानुमन्निगमात्ता “ग्रहाम मय वाणि शुभममपने रस्मदकच” इति वचनात् । तदपि न मेय परोक्षार्थ, अर्थवचानि, न पचना

व्यभिचारः, रमते विरमति, तिष्ठति सतिष्ठते, निशति निविशते इति । एवमादयो व्यभि-
चारा न युक्ताः अन्यार्थस्यान्यार्थेन मन्मन्वाभावात् । ततो यथालिङ्गं यथासरय यथा-
साधनादि च न्याय्यमभिधानमिति ।

नानार्थमभिरोहणात्ममभिरूढः । इन्द्रनादिन्द्रः पूर्दारणात्पुरन्दरः शक्रनाच्छक्र
इति भिन्नार्थनाचक्रतावैते एकार्थवर्तिनः । न पर्यायशब्दाः सन्ति भिन्नपदानामेकार्थ-

कथन करनेको पुरुषव्यभिचार कहते हैं । जैसे, 'एहि मन्ये रयेन यास्यसि नहि याम्यसि यातस्ते
पिता' आओ, तुम समग्रते हो कि मैं रथसे जाऊंगा परंतु अथ न जाओगे, तुम्हारा पिता
चला गया । यहा पर 'मन्यसे' के स्थानपर 'मन्ये' यह उत्तमपुरुषका ओर 'यास्यामि' के
स्थानपर 'याम्यसि' यह मध्यमपुरुषका प्रयोग हुआ है । इसलिये पुरुषव्यभिचार है ।

उपसर्गके निमित्तसे परस्मैपदके स्थानपर आत्मनेपद और आत्मनेपदके स्थानपर
परस्मैपदके कथन कर देनेको उपग्रहव्यभिचार कहते हैं । जैसे, 'रमते' के स्थानपर 'विरमति'
'तिष्ठति' के स्थानपर 'सतिष्ठते' और निशतिके स्थानपर 'निविशते' का प्रयोग किया
जाता है ।

इसतरह जितने भी लिंग आदि व्यभिचार ऊपर दे आये हैं वे सभी अयुक्त हैं, क्योंकि,
अन्य अर्थका अन्य अर्थके साथ सबन्ध नहीं हो सकता है । इसलिये समान लिंग, समान
संज्ञा और समान साधन आदिका कथन करना ही उचित है ।

शब्दभेदसे जो नाना अर्थोंमें अभिरूढ होता है उसे समभिरूढ नय सहते हैं । जैसे,
'इन्द्रनात्' अर्थात् परम ऐश्वर्यशाली होनेके कारण इन्द्र 'पूर्दारणात्' अर्थात् नगरोंका विभाग
करनेवाला होनेके कारण पुरन्दर और 'शक्रनात्' अर्थात् सामर्थ्यवाला होनेके कारण शक्र । ये
तीनों शब्द भिन्नार्थवाचक होनेसे इन्हें एकार्थ्यता नहीं समझना चाहिये । इस नयकी दृष्टिमें
पर्यायवाची शब्द नहीं होते हैं, क्योंकि, भिन्न पदोंका एक पदार्थमें रहना स्वीकार कर लेनेमें

लक्षणमि जस्मन्नुक्तसाधनामदध्ययः ॥ ४ ॥ वप्रमगात् । त स्ते वा पृ २७२ तथा पुरुषभेदेऽपि नृनाम्नि तत् वस्तु
इति, 'एहि मय' इत्यादि । इति च प्रयोगो न युज्यते, अपि तु 'एहि मयम यथाद रयेन याम्यामि' इत्यननवं
परमावेनतनिदेष्टव्यम् । स त पृ ३१३ 'प्रहमे च मयापपद मयतरुतम एतच्च' पा १, ४, १०६ 'एहि
मय रयेन याम्यमि, नहि याम्यमि यातन्म पिता' इति प्रहमे यथाप्राप्तमव प्रतिपत्ति नात्र प्रसिद्धार्थविषयाम
त्रिभिन्नधनमस्ति, 'रयेन यास्यमि, इति मात्रगमनाभिधानात् प्रसक्तो गम्यते' । 'नहि यास्यमि' इति बहिगमन
प्रतिपिष्यते । जनेरस्मिन्नपि प्रहमितीरे च प्रयेरमत्र परिराम इति जमिधानयशात् 'मये' इति एतत्तवनमव ।
लसिन्नश्च प्रयागाज्जुनय इति न प्रयागतत्तरयनात् याता । 'याणि नाणि जय युमदस्मदि' हम ३, ३, १७

१ त मि १, ३३ त रा मा १, ३३ पर्यायशब्दमदन भिनार्थस्याधितोष्णत्वात् । नय समभिरूढ
स्यापुत्रवच्चास्य निश्चय ॥ त स्ते वा १, ३३, ७२ नानार्थात् ममयामिभिरुपेयैः समभिरूढ । प्र व मा
पृ २०६ तथाविधस्य तस्यापि वस्तुन धनवृत्तिन । तते समभिरूढस्तु मन्नामदन भिन्नताम् ॥ स त रा पृ ३१३,
२ प्रतिपु 'यन' इति पाठ ।

वृत्तिनिरोधात् । नाभिरोध पदानामेकत्वात्पेक्षेति । नानार्थस्य भावः नानार्थता ता समभिरुद्धत्वात्समभिरुद्धः ।

एव भेदे भवनादेवम्भूत । न पदाना समासोऽस्ति भिन्नकालवर्तिना भिन्नार्थवर्तिना चैकत्वात्पिरोधात् । न परम्परव्यपेक्षाप्यस्ति वर्णार्थमरयाकालादिभिन्नाना पदाना भिन्नपदापेक्षायागात् । ततो न वाच्यमप्यस्तीति सिद्धम् । तत्र पदमेकमेकार्थस्य वाचकमित्यव्ययमाय एवम्भूतनय । एतस्मिन्नेव एको गोगन्दो नानाथ न वर्तते एकस्यैकस्यभावस्य बहुषु वृत्तिनिरोधात् । पदगतवर्णभेदाद्वान्यभेदम्याध्यवसायकोऽप्येवम्भूत ।

विरोध आता हे । यदि भिन्न पदानी एक पदार्थम वृत्ति हो सकती हे इसम कोई विरोध नहीं हे, ऐसा मान लिया जाये तो समस्त पदानों एकत्वही आपत्ति आ जायेगी । इसमे यह तात्पर्य निकला कि जो नय शब्दभेदसे अर्थम भेद स्वीकार करता ह उसे समभिरुद्ध नय कहते ह । नाना पदार्थोंके भाव अर्थात् विशेषताओं नानार्थता कहते ह । अगर उस नानार्थताके प्रति जो अभिरुद्ध है उसे समभिरुद्ध नय कहते ह ।

एवमेव अर्थात् जिस शब्दम जो वाच्य ह वह तद्वय क्रियासे परिणत समयम ही पाया जाता है । उमे जो विषय करता है उसे एवम्भूत नय कहते ह । इस नयकी दृष्टिमे एकता समास नहीं हो सक्ता हे, क्योंकि, भिन्न भिन्न कालवर्ती और भिन्न भिन्न अर्थवाले शब्दोंम एकपदेका विरोध हे । इसीतरह शब्दम परस्पर सापेक्षता भी नहीं हे, क्योंकि, वर्ण, अर्थ, सत्त्वा और कालादिके भेदसे भेदको प्राप्त हुए पदोंके दूसरे पदोंकी अपेक्षा नहा उन सकती हे । जब कि एक पद दूसरे पदकी अपेक्षा नहा रखता हे तो इस नयकी दृष्टिमें वाच्य भी नहीं बन सक्ता

१ नानाधर्ममिहो नायमभिरुद्ध इति पाठमस्ति य नरूपे सङ्गतिरित्या ।

२ यनामना भूतस्तेनवा उवसाययतानि षष्ठ । स मि १, ३२ त रा वा १, ३३ तनियामपिणामाऽवन्त धवनिविनिधाय । एवमेव नयित विद्यातरपरात्पय । त १ वा १, ३३, ७५ एवमित्य विवक्षितनियामपरिणाम प्रकाश भूत परिणतस्य यो मिनेति स एवम्भूतो नय । (नियामयण भदयत्पणमिधमाराऽन । टिप्पणी) प्र क मा पृ २०६ एकस्यापि वन्नाय सदा ताववयने । नियामदन भिनवात्पदना मिमयत ॥ स त टी पृ ३१४

३ एवमवनादेवम्भूत । एतस्मिनय न पदाना समासोऽस्ति स्वरूपे कालसद्व च भिन्नानामन चविरोधात् । न पदानामेकत्वात् वृत्ति समास वसोपयाना क्षणभ्रमिणा तदनुपपत्त । नकाव वृत्ति समास मिपदानामेकार्थ वृत्तपदुपपत्त । न वणनमासीत्येति, तदापि पदसमामानदीवशस्यार् । तत्र एव एव एव एव एव एव इति पदगतवर्ण भावार्थ एकाव इत्येवभूतामिदायवात् एवम्भूतनय । जयव अ पृ २० यनियामिहोऽवन्तनाप्यत, तामेव क्रियां बुवदस्त्वेवम्भूतमुच्यते । एवम दत्तायने चेष्टानियादिक प्रकाश, तमवन्त प्राप्तमिति कृत्वा ततश्चवम्भूतवस्तुपतिपादनी नयोऽप्युपचारादेवम्भूत । जयवा एवम्भूतनापि चेष्टानियादिक प्रकाश तद्विशिष्टस्त्वेव वस्तुनाऽप्युपगमात्तमवन्त प्राप्त एवम्भूत इत्युपचारानन्तराणि व्याख्यायते स एवम्भूतो नय । अ रा वाप (एवम्भूत)

एवम्भूते ममुत्पन्नत्वात् । एवमेते मक्षेपेण नया समप्रतिधा, ज्ञानान्तरभेदेन पुनरमख्येया ।
एते च पुनर्यत्रहर्तृभिरपश्यमगन्तव्या अन्यथार्थप्रतिपादनागमानुपपत्ते । उक्तं च—

णत्वि णएहि विट्ठण सुत्त अत्थो व्व जिणरमदग्धि ।

तो णय दादे णिउणा मुणिणो सिद्धतिया होंति' ॥ ६८ ॥

तग्हा अहिगय-सुत्तेण अय-मपायणग्धि जइयय ।

अय गइ वि य णय दाद-गहण-लीणा दुरहियम्मो ॥ ६९ ॥

एव णय परमणा गदा । अणुगम उत्तडम्मामो—

एतो इमोसिं चोदसण्हं जीव समासाणं मग्गणट्टदाए तत्थ
इमाणि चोदस चेव ट्ठाणाणि णायव्वाणि भवंति ॥ २ ॥

हे यह घात सिद्ध हो जाती है । इसलिये एक पद एक ही अर्थका वाचक होता है । इसप्रकारके विषय करनेवाले नयको एवभूतनय कहते हैं । इस नयकी दृष्टिमें एक गो शब्द नाना अर्थोंमें नहा रहता है, क्योंकि, एकस्वभाववाले एक पदका अनेक अर्थोंमें रहना विरुद्ध है । अथवा, पदमें रहनेवाले वर्णोंके भेदसे वाच्यभेदना निश्चय करनेवाला भी एवभूतनय है, क्योंकि, यह नय इसी रूपमें उत्पन्न होता है । इसतरह ये नय सक्षेपसे सात प्रकारके और अज्ञानान्तर भेदोंसे असंख्य प्रकारके समझना चाहिये । व्यवहारानुसार लोगोंको इन नयोंका स्वरूप अवश्य समझ लेना चाहिये । अन्यथा, अर्थात् नयोंके स्वरूपको समझे बिना पदार्थोंके स्वरूपका प्रतिपादन और उसका ज्ञान अथवा पदार्थोंके स्वरूपके प्रतिपादनका ज्ञान नहीं हो सकता है । कहा भी है—

‘जिनेन्द्रभगवानके मतम नयवादके बिना सूत्र ओर अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है । इसलिये जो मुनि नयवादमें निपुण होते हैं वे सबसे सिद्धान्तके ज्ञाना समझने चाहिये । भूत जिम्मे सूत्र अर्थात् परमागमकी भलेप्रकार जान लिया है उसे ही अर्थसंपादनमें अर्थात् नय और प्रमाणके द्वारा पदार्थके परिज्ञान करनेमें प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि, पदार्थोंका परिज्ञान भी नयवादरूपी जगलमें अन्तर्निहित है अतएव दुर्धगिगम्य अर्थान् जाननेके लिये कठिन है ॥ ६८, ६९ ॥ इसतरह नयप्ररूपणाका वर्णन समाप्त हुआ ।

अब अनुगमका निरूपण करने हैं ।

इस द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप प्रमाणसे इन चोदह गुणस्थानोंके अन्येषणरूप प्रयो जनके होने पर ये चोदह ही मार्गणाख्यान जानने योग्य हैं ॥ २ ॥

१ मधि णएहि विट्ठण सुत्त अत्थो य निममए ऋत्ति । जानन उ साधार नप नयिमारो व्वा ॥

आ ति ६६१

१ एव अयमिदं न सुचनयेण अयमिदं । अभाद उय ययवायाहणया दुरमिगमा ॥
तग्हा अहिगयसुत्तेण अयसंवायणग्धि जइयय । आरियवारत्तथा इदि महाण विलत्ति ॥ स त ३, ६४, ६५

‘एतो’ एतस्मादित्यर्थ । कस्मात्, प्रमाणात् । कुत एतदवगम्यते? प्रमाणस्य जीवस्थानस्याप्रमाणादवतारविरोधात् । नाजलात्मकहिमवानो निपतजलात्मकगङ्गाया व्यभिचार अवयविनोऽवयस्याय नियोगापायस्य निरक्षित्यात् । नावयविनोऽवयवो भिन्नो विरोधात् । तदपि प्रमाणं द्विविधं द्रव्यभाजप्रमाणमेवात । द्रव्यप्रमाणात् मंग्येया-

‘एतो’ अर्थात् इससे ।

शुद्धा—यहा पर ‘एतद्’ पदसे किम्का ग्रहण किया है ?

सामवान—यहा पर ‘एतद्’ पदसे प्रमाणका ग्रहण किया है, इसलिये ‘इमसे’ अर्थात् ‘प्रमाणसे’ ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये ।

शुद्धा—यह कैसे जाना, कि यहा पर ‘एतो’ पदका ‘प्रमाणसे’ यह अर्थ लिया गया है ?

सामवान—क्योंकि, प्रमाणरूप जीवस्थानका अप्रमाणसे अवतार अर्थात् उत्पत्ति नहीं हो सकती है, इससे यह जाना जाता है कि यहा पर ‘एतो’ इस पदम स्थित ‘एतन्’ शब्दसे प्रमाणका ग्रहण किया गया है ।

यहा पर यदि कोई यह कहे कि कार्यम कारणानुद्भूत ही गुणधर्म पाये जाते हैं, क्योंकि, वह कार्य है । इस अनुमानमें जो कार्यस्वरूप हेतु है, वह प्रमाणरूप कारणसे उत्पन्न हुए प्रमाणात्मक जीवस्थानरूप साध्यम पाया जाता है, और अजलस्वरूप हिमवान्से उत्पन्न हुई जलात्मक गङ्गादीरूप विपक्षमें भी पाया जाता है । अतएव इस कार्यस्वरूप हेतुके पक्षमें रहते हुए भा विपक्षमें चले जानेके कारण व्यभिचार दोष आता है । अतः यह कहना कि प्रमाणरूप जीवस्थानकी उत्पत्ति प्रमाणसे ही हुई है, सगत नहीं है । इस शङ्काको मनमें निश्चय करने आचार्य आगे उत्तर देते हैं कि इसतरह अजलात्मक हिमवान्से निम्नली हुई जलात्मक गङ्गा नदीसे भी व्यभिचार दोष नहीं आता है, क्योंकि, यहा पर अवयवीसं वियोगापायरूप अर्थात् अवयवीसे संयोगकी प्राप्त हुआ अवयव विवक्षित है । इसका कारण यह है कि अवयवीसे अवयव भिन्न नहीं है, क्योंकि, अवयवीसे अवयवको संज्ञा भिन्न मान लेनेमें विरोध आता है ।

निशेषार्थ—यद्यपि हिमवान् पर्वत अजलात्मक है । परन्तु उस पर्वतके जिस भागसे गंगा नदी निकली है, वह भाग जलमय ही है । इसलिये यहा पर हिमवान् पर्वतसे उसका जलात्मक अवयव ग्रहण करना चाहिये । इससे, जो पहले व्यभिचार दोष दे आये है वह दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, यहा पर हिमवान् पर्वतका जलात्मक भाग ही ग्रहण किया गया है, और उससे गंगा नदी निकली है । अतएव इसे विपक्ष न समझकर सपक्ष ही समझना चाहिये । इसतरह सिद्ध हो जाता है कि प्रमाणस्वरूप जीवस्थानकी उत्पत्ति प्रमाणसे ही हुई है ।

द्रव्यप्रमाण और भाजप्रमाणके भेदसे यह प्रमाण दो प्रकारका है । द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा शब्द, प्रमादृ और प्रमेयके आलम्बनसे प्रमश, संख्यात, असंख्यात और अनन्तरूप द्रव्यजीव

मंत्रयेयानन्तात्मरुद्रव्यजीवस्थानस्यानन्तरं । भावप्रमाण पञ्चविधम्, आभिनिनोहियभाव-
पमाण, सुदभापमाण ओहिभापमाण मणपञ्चवभापमाण केउलभापमाणं चेदि ।

तत्थ आभिनिनोहियणाण गाम पच्चिन्दिय-गोडंदिण्हि मदिणाणावरण सययोवमणेण
य जणिणोउगहेहाणाय-वारणाओ मह-परित-रस-रूप गंध-दिट्ठ-सुदाणुभूद-विसयाओ बहु-
बहुविह-विप्पाणिस्सिदाणुत्त-धुवेदर भेदेण ति-सय छत्तीसाओ । सुदणाण गाम मदि-पुच्च
मदिणाण-पडिगहियमत्थ मोत्तणणत्थम्हि पाउदं सुदणाणावरणीय वसुयोवसम-जणिणं ।
ओहिणाण गाम दव्व क्खेत्त-काल भाप पियप्पिय पोग्गल-दव्व पच्चक्ख जाणदि ।
दव्वोदो जहण्णेण जाणतो एय जीउस्स ओरालिय-सरीर-मंचय लोगागाम-पदेम-मेत्ते
खडे कटे तत्थेय-खंडं जाणदि । उक्खेप्पेण परमाणु जाणदि । दोण्हमतारलमजहणमणु-
क्खस्मोही जाणदि । खेत्तदो लहण्णेणगुलस्म अमखेज्जदि-भाग जाणदि । उक्खेप्पेण अस-
खेज्ज-लोगमेत्त-खेत्त जाणदि । दोण्हमतारलमजहणमणुक्खस्मोही जाणदि । कालदो

स्थानका अन्तरा हुआ है । भावप्रमाणके पांच भेद हैं, आभिनिबोधिकाभावप्रमाण, श्रुतभाव
प्रमाण, अविभापप्रमाण, मन पर्ययभावप्रमाण और केउलभावप्रमाण ।

उनमें पांच द्रव्येन्द्रिय और द्रव्यमनके निमित्तसे तथा मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोप-
शमसे पैदा हुआ, अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध और
दृष्ट, श्रुत तथा अनुभूत पदार्थको विषय करनेवाला और बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनि खन अनुक्त,
ध्रुव, एक, एकविध, अक्षिप्र, नि खन, उक्त और अधुनके भेदसे तीनसौ छत्तीस भेदरूप
आभिनिबोधिक मतिज्ञान होता है ।

जिस ज्ञानमें मतिज्ञान कारण पड़ता है, जो मतिज्ञानसे ग्रहण किये गये पदार्थको
जोडकर तत्संबन्धित दूसरे पदार्थमें व्यापार करता है और श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे
उत्पन्न होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके विकल्पसे अनेक प्रकारके पुष्टलद्रव्यको जो प्रत्यक्ष
जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान द्रव्यकी अपेक्षा जघन्यरूपसे जानता हुआ एक
जीवके ओदारिक शरीरके सचयके लोकाकाशके प्रदेशप्रमाण खण्ड करने पर उनमेंसे एक खण्ड
तकको जानता है । उत्कृष्टरूपसे, अर्थात् उत्कृष्ट अवधिज्ञान एक परमाणुतकको जानता है ।
अजघन्य और अनुत्कृष्ट अर्थात् मध्यम अवधिज्ञान, जघन्य और उत्कृष्टके अन्तरालगत द्रव्य-
भेदोंको जानता है । क्षेत्रकी अपेक्षा अवधिज्ञान जघन्यसे अगुल, अर्थात् उत्सेधागुलके असख्या
तयें भागतक क्षेत्रको जानता है । उत्कृष्टसे असख्यात लोकप्रमाणतक क्षेत्रको जानता है ।
अजघन्य और अनुत्कृष्ट (मध्यम) अवधिज्ञान जघन्य और उत्कृष्टके अन्तरालगत क्षेत्रभेदोंको
जानता है । अवधिज्ञान कालकी अपेक्षा जघन्यसे जावलीके असख्यातयें भागप्रमाण भूत और
भाविष्यन् पर्यायोंको जानता है । उत्कृष्टसे असख्यात लोकप्रमाण समयोंमें स्थित अतीत और

जहण्णेण आपलियाए असखेज्जदि-भागे भूद मन्निस्म च जाणदि । उक्खस्मेण असखेज्ज लोगमेत्त-ममएसु अदीदमणागय च जाणदि । दोण्ह पि विद्यालमजहण्ण-अणुस्मोही जाणदि । भाउदो पुब्ब निरुत्ति-द-स्म मत्ति जाणत्ति ।

मणपज्जज्जणणाम पर-मणो-गयाड मुत्ति दग्गाडतेण मणेण सह पच्चकय जाणदि । दव्वदो जहण्णेण एग समय ओरालिय सर्गिर निज्जर जाणदि , उक्खस्मेण एग समय-पडिउद्वस्म कम्मदय-दव्वस्स अणतिम-भाग जाणदि । खेत्तदो जहण्णेण गाउन पुत्तं । उक्खस्मेण माणस-खेत्तस्मतो जाणदि, गो वहिद्धा । कालदो जहण्णेण दो तिण्णि भव-

अनगत पर्यायोंको जानता है । अजघन्य अंतर अनुत्पृष्ट (मध्यम) अवधिज्ञान, जघन्य भार उत्पृष्टके अंतरालगत काश्चेदोंको जानता है । भावकी अपेक्षा अविज्ञान द्रव्यप्रमाणसे पहले निरूपण किये गये द्रव्यकी शक्ति-को जानता है ।

जो हमराके मनोगत मूलात्त द्रव्योंको उस मनके साथ प्र पक्ष जानता है उसे मन पर्ययज्ञान कहते हैं । मन पर्ययज्ञान द्रव्यकी अपेक्षा जघ यस्वरसे एक समयमें होनेवाले भौतिकशरीरके निजैरारूप द्रव्यतकको जानता है । उत्पृष्टरूपसे कार्माणद्रव्यके अर्थात् आठ कर्मोंके एक समयमें बंधे हुए समयप्रवद्धरूप द्रव्यके अनन्त भागामसे एक भागतकको जानता है । क्षेत्रकी अपेक्षा जघ-यरूपसे ग घृतिपृथक्त्व, अर्थात् दो, तीन कोस तक क्षेत्रको जानता है, और उत्पृष्टरूपसे मनुष्यक्षेत्रके भीतर तक जानता है मनुष्यक्षेत्रके बाहिर नहीं जानता है । (यहापर मनुष्यक्षेत्रसे प्रयोजन निष्कर्मरूप मनुष्यक्षेत्रसे है, वृत्तरूप मनुष्यक्षेत्रसे नहीं है ।) कालकी अपेक्षा जघ-यरूपसे दो, तीन भवको ग्रहण करता है, और उत्पृष्टरूपसे अस्तरयान

१ पाणिपुरात्मनं भिक्षुनागाजिर सरिस्सवर्ण । रायनिमत्त जाणदि अरारा दव्वदा नियमा ॥ महुमगिगादअप जत्तयरम जज्जरम तद्धियममयिद्धि । अत्ताणाहणमाण जहणय आग्निस्स तु ॥ आपलिअमममाणी तीरमविस्सं च काश्श अरं । जोही जाणदि मान कालजमेस उमा तु ॥ सत्तावस्सि एको परमागू हादि गित्तिवय्यो सो । गगामहणइस्स पत्ताओ व्व उमा हर हारा ॥ परमोद्दिदव्वमदा चत्तिमववा हु तत्तिववा हंति । तस्सव सेवकालियिपा तिसवा अक्षयमणिद्वरमा ॥ आरलिअमसमागा जहणदव्वस्स हानि प चाया । कालस्स जण्णदो अमलणमणसेत्ता हु ॥ सत्तोहे पि कम्मा आविज्जिअसमागुणिद्वरमा । दव्वयाण भावण पदमत्ता सरिमाग हाति ॥ गा पी ३७७, ३७८, ३८२, ४११, ४१६, ४२२, ४२३ तथ दव्वओ ण जोहिनाणी जहण्ण अणठाइ रुद्धिद्वार जाणइ पानइ, उक्खमणं सत्ताइ रुद्धिद्वार जाणइ पासइ । खित्तजा ण जाहिनाणी जहण्ण अणुत्तअ असन्निज्जइमाग जाणइ पासइ, उक्खमण असन्निज्जइ अलोणे लोगममाणमिवाइ खत्ताइ जाणइ पानइ । कालओ ण जोहिनाणी जहण्ण आरलिआए अमणिज्जमाग जाणइ पासइ, उक्खमण असन्निज्जओ उत्तसिणिणीओ अवमणिणीओ अइयमणाग च काल जाणइ पानइ । सारआ ण जाणिनाणा जहणेण अणते भावे जाणइ पानइ, उक्खस्सेण वि अणत्त भाव जाणइ पानइ, मज्जमाणाणमणत्तमाग जाणइ पानइ । न गू १६

महणाणि । उक्तस्मेण अमरुज्जाणि भय-महणाणि जाणदि । केवलणाण णाम, मव्व-
द्वणाणि अदीढाणागय-वट्टमाणाणि मयज्जयाणि पच्चरुं जाणदि ।

एत्थ किमाभिनिरोहिय-पमाणादो, किं सुद-पमाणादो किमोहि पमाणादो, किं
मणपज्जय-पमाणादो, किं केवल-पमाणादो ? एवं पुच्छा सव्वेमिं । एवं पुच्छिदे णो
आभिनिरोहिय-पमाणादो, णो ओहि-पमाणादो, णो मणपज्जय-पमाणादो । गथ पटुच्च
सु-पमाणादो, अन्यदो केवल-पमाणादो ।

मर्यादों ग्रहण करता हूँ, अर्थान् जानता हूँ । भावकों अपेक्षा मन पर्यय ज्ञान द्रव्यप्रमाणसे पहले
निरूपण किये गये द्रव्यकी शक्तिको जानता हूँ ।

जो अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायसहित संपूर्ण द्रव्योंको प्रत्यक्ष जानता हूँ उसे
केवलमान कहते हैं ।

यदापर क्या आभिनिरोधिक प्रमाणसे प्रयोजन है, क्या श्रुतप्रमाणसे प्रयोजन है, क्या
अधिप्रमाणसे प्रयोजन है, क्या मन पर्ययप्रमाणसे प्रयोजन है, अथवा क्या केवलप्रमाणसे
प्रयोजन है ? इत्तरहू सबके प्रिययम पृच्छा करनी चाहिये, और इत्तरहू पूछे जानेपर,
यदापर न तो आभिनिरोधिकप्रमाणसे प्रयोजन है, न अधिप्रमाणसे प्रयोजन है, और न
मन पर्ययप्रमाणसे प्रयोजन है, किन्तु ग्रन्थकी अपेक्षा श्रुतप्रमाणसे और अर्थकी अपेक्षा केवल-

१ अत्र मासाप यथा मन पर्यायज्ञानस्य विषया नाप्यन्यत । अत्र दानमुद्रालियगराणिजिज्जणममयवद
तु । चत्तिदिगणिनिण्य उयस्स उतमदिम्म २२ ॥ मणदव्वणागाणमणनिममाणेय उवुणउव्वस्य । सत्तिमस ह्मादि
हु विउलमदिग्मावर दान ॥ अट्ठण कम्मण ममयवद विविस्समोवचर । धव्वाराणिगित्तर मविद विदिय दान दान ॥
विदियि कम्मणममय-जाण च समयगममम । इव्वारणवग्गिदि ह्मादि हु उक्कम्य दान ॥ गाउयपुचत्तमवर उव्वस्य
हादि जायणपुवत्त । विउन्मादिम्म य इव्व तस्स पुचत्त वग्गु गग्गोय ॥ परलोण वि य वयण विउत्तमणियामय ण
कम्म । जग्ग तग्गपपदर मणय जग्गत्तपुदिह ॥ दुगणिगममा हु अवर मत्तट्टममा इति उक्कसत् । अट्ठणवग्गो हु
जग्गत्तत्तत्त विउलउव्वस्य ॥ आविग्गमयममम अवर च वर च वरमममग्ग ॥ तत्ता जग्गत्तत्तत्त अममग्गोण तु
विउलमद ॥ गो जी ४११-४१८ तथ दानो ण उन्नुमद ण आत्त अणत्तपणमिण छपे जाण पाणद, त पेय
विउन्मद अममियतग्ग विउत्तग्ग विगत्तत्त विविमिग्गत्त जाण पाणद । खेत ॥ ण उन्नुमद अ जग्गेण
जग्गत्त अमम-जग्गमम, उक्कीणेण अहे जाण इमाम रयण्य माण पुट्ठीण उग्गमिहट्टिन् मद्दुगपपर उद्द जाव जाणत्त
उग्गमिग्गत्त, विवि जाव जग्गत्तत्तममिन् जग्गत्तत्त दानपुट्टन पणत्तत्त मग्गमिग्ग त्ताण अग्गमग्गमिग्ग जग्गत्त
अग्गत्तत्तत्त मग्गि दिग्गत्त पग्गत्तत्त मग्गात्त माण जाण पाणद । त पेय विउलमद अग्ग-जग्गमग्गत्तत्त
जग्गत्तत्त विउत्तत्त विगत्तत्त विविमिग्गत्तत्त तत्त जाण पाणद । कग्गत्तत्त उन्नुमद जग्गेण पग्गत्तत्त
जग्गत्तत्तत्त, उक्कीणेण वि पग्गत्तत्तत्त जग्गत्तत्तत्तत्त जग्गत्तत्तत्तत्त वा कग्ग जाण पाणद । त पेय
विउन्मद अममियतग्ग विउत्तत्त विगत्तत्त विविमिग्गत्तत्त जाण पाणद । माग्गत्तत्त उन्नुमद जग्गत्तत्त
मग्ग जाण पाणद, उग्गत्तत्तत्तत्त जग्गत्तत्तत्त जग्गत्तत्तत्त जाण पाणद । त पग्ग विउन्मद जग्गत्तत्त
विउत्तत्त विविमिग्गत्तत्त जाण पाणद । न ग २८

एतत् पुत्राणुपुत्रीण गणिज्जमाणे दूर-भार मुद पटुण मित्रियादो, अथ पत्न्य पचमादो केरलणाणाणे । पत्ताणुपुत्रीण गणिज्जमाणे पत्न्य भार मुद पटुण चउ-धादो मुद-पमाणादो । अथ पटुण पटमादो केरलदो । जत्यतथाणुपुत्रीण गणिज्जमाणे मुदणाणादो केरलणाणाणे य । मुदणाणमिदि गुणगामं, अकमर पत्त मघाट पटियाति-यादीहि मरेज्जम-यणे अणंत । एदम्म तदुमयपत्तव्यत्ता ।

अथाहियारो दुविहो, अगवाहिरो जगपट्टो चेदि । त-व अगवाहिस्स चोत्तम अथाहियारा । त जहा, मामाहय चउरीमत्थजो पत्ता पट्टिमण वेणहय किटियम्म दमयेयानिय उत्तरज्जयण उपपरारो रुपाकपिय महारपिय पुटरीय महापुटरीय णिमिहिय चेदि । तत्थ ज सामाहय त णाम-ट्टरागादव्य वरेत्त काल-भारेमु ममत-विहाणं वण्णेदि । चउरीम-यजो चउरीमण्ह तिथयसग पटुण विहाण तण्णम मटाणुम-ह-पच-महाकल्लाण-चोतीम-अइमय-मरुत्त नित्थयर-यदणाण महत्तम च वण्णेदि ।

प्रमाणसे प्रयोजन है, येना उत्तर देना चाहिये ।

यद्वापर पूर्वोक्तप्राप्ते गणना करीपर द्रव्यभूत और भावभूतकी अपेक्षा का दूसरा भूतप्रमाणसे प्रयोजन है और अर्थकी अपेक्षा पाचवे केवलप्रमाणसे प्रयोजन है । पदवादानु पूर्वोक्ते गणना करीपर द्रव्यभूत और भावभूतकी अपेक्षा चौथे भूतप्रमाणसे प्रयोजन है और अर्थकी अपेक्षा प्रथम केवलप्रमाणसे प्रयोजन है । यथातथापूर्वोक्ते गणना करनेपर भूतप्रमाण और केवलप्रमाण इन दोनोंसे प्रयोजन है ।

भूतज्ञान यह सार्थक नाम है । यह अक्षर, पद, स्वभाव और प्रतिपत्ति आदिकी अपेक्षा सम्पत्तिभेदरूप है और अर्थकी अपेक्षा अनन्त है ।

तीन वस्तुत्वताओंसे इस भूतप्रमाणकी तदुभयप्राप्त्यन्ता (समस्य परममयवस्तुत्वता) जानना चाहिये ।

अर्थाधिकार दो प्रकारका है, अगवाह और अगप्रिय । उन दोनोंमें, अगवाह अधिकार अधिकार है । ये इसप्रकार हैं, सामायिक, अनुविशतिस्तथ, चन्द्रता, प्रतिपन्न धनपिक, वृत्तिकर्म, दशयकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका । उनमेंसे, सामायिक नामका अगवाह अर्थाधिकार नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह भेदों द्वारा समताभावके विधानका वर्णन करता है । अनुविशतिस्तथ अर्थाधिकार उस उस कालसंघर्षी चौथास तीर्थकरोंकी चन्द्रता करनेकी विधि, उनसे नाम, सस्यत्न, उत्तरेष, पाच महाकल्याणक, चौथीम अतिशयोक्ते स्वरूप और तीर्थकरोंकी चन्द्रताकी सफलताका वर्णन करता है ।

त्रंणा एग-जिण-जिणालय-विसय-वन्दणाए गिरज्ज-भाण वण्णेड । पडिक्कमण काल पुरिम च अस्मिऊण मत्तनिह-पडिक्कमणाणि वण्णेइ' । वेणइयं णाण-टसण-वरित्त-तवोउयार-विणए उण्णेड । किदियम्म अरुहंत-सिद्ध-आडरिय-महुसुद साहूणं पूजा-विहाणं वण्णेइ' । दसवेयालियं आयार-नोयरे-निहिं वण्णेइ' । उत्तरज्झयण उत्तर-पदाणि वण्णेइ' । कप्प-

यन्दना नामका अर्थाधिकार एक जिनेन्द्रदेवसरन्धी ओर उन एक जिनेन्द्रदेवके अव-लम्बनसे जिनालयसरन्धी यन्दनाका निरवयवभावेसे अर्थात् प्रशस्तरूपसे सानोपाग वर्णन करता है । (प्रमादकृत दैवसिक आदि दोषोंका निराकरण जिसके द्वारा किया जाता है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं । यह देवसिक, रात्रिक, पाथिक, चातुर्मासिक, सायत्सरिक, येर्यापथिक और औत्त-मार्थिकके भेदसे सात प्रकारका है ।) इन सात प्रकारके प्रतिक्रमणोंका प्रतिक्रमण नामका अर्थाधिकार दु पमादि काल ओर छह सहननसे युक्त स्थिर तथा अस्थिर स्वभाववाले पुरुषोंका आश्रय लेकर वर्णन करता है । धैनियक नामका अर्थाधिकार हानविनय, दर्शनविनय चारित्रविनय, तपविनय और उपचारविनय इसतरह इन पांच प्रकारकी विनयोंका वर्णन करता है । कृतिकर्म नामका अर्थाधिकार अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुकी पूजाविधिका वर्णन करता है । विशिष्ट कालको विकाल कहते हैं । उसमें जो विशेषता होती है उसे वैकालिक कहते हैं । ये वैकालिक दश हैं । उन दश वैकालिकोंका दशवैकालिक नामका अर्थाधिकार वर्णन

१ प्रतिक्रम्यते प्रमादकृतदेवसिकादिदोषो निराक्रियते अनेनेति प्रतिक्रमणम् । तच्च दवमिक्काभिरुपासिक-चातुमागिरसावसरिक्केयापथिकोचमाथिन्नमेदानममिधम् । भरतादिज्ञेन ए पमादिकाल पदसहननममन्विताभिराभिरादि-पुरुषमेदांश आश्रय तत्प्रतिपादक शास्त्रमपि प्रतिक्रमणम् । गा जी, जा प्र, टी ३६७

२ हते क्रियाया वम विधा अस्मिन् वर्ण्यते इति हतिरम् । तच्च अस्मिद्धाचार्यवहुधुनसा-नादिनव देवनावदनानिमित्तमाभाधीनताभादक्षिण्यभिराभिराभिराचतु शिरोडादशानतादिलक्षणनित्यनमिचिरमियाविधान च वर्ण यति । गा जा, जा प्र, टी ३६७

३ आचरो मासार्थमनुष्ठानविशेषस्तस्य गोचरो विषय आचाराचर (जाचा० ७ अ १ उ) आचारश्च हानादिविषय पञ्चधा, गोचरश्च मिज्ञाचययाचागाचर हानाचारादिक मिज्ञाचर्यायां च (न) XXआचार भुत-हानादिविषयमनुष्ठान काला-ययनादि, गोचरा मिज्ञानम्, एतयो समाहारद्रव्य आचारागाचरम् (म २ श १ उ) अमि रा वा (आचारनोय)

४ विशिष्टा काला विरागान्नेयु भवानि वकालिकानि दश वरालिकानि वर्ण्यन्तेऽस्मिन्निति दशवकालिम् । तच्च धुनिजनानां आचरणगाचरविधे विष्णुशुद्धिलक्षण च वयायन । गा चा, जी प्र, १ ३६७ तदु दशाध्ययनेषु रिमि लाइ, पञ्च धम्मपममा सो य इहव जिणमागणहिं वि । रिदण विदण मका राउ ज एम धम्मो वि ॥ तदण आयारकता उ मुदिया आयमजमोवाओ । त ए जामनमा यि य हाइ चउयमि अ-अणण ॥ मिस्सुविसेहा तवमजमस्स गुणवरिया उ पवमण । छ ए आयारकहा महुई जग्गा मय्यगस्म ॥ वयणरिमवा गुण सचममि पणिदाणमट्टम मणिय । थवने विरा वा दहम समालिय एम मिक्क वि ॥ अमि रा को (दसवकालिय)

५ उत्तराणि अधीयत पण्यते अस्मिन्निति उत्तराध्ययनम् । तच्च चतुवधापमगाणां द्वाविंशतिपरीहानां च

महारो साहण जोगमाचरण अरुप सेरणाए पायच्छित्त च वण्णेइ । कप्पाकप्पिय साहण ज कप्पदि ज च ण कप्पदि त मज्ज वण्णेदि । महाकप्पिय 'काल-सघडणाणि अस्सिऊण साहु पाजोग दव्व सेत्तादीण वण्णण कुणइ । पुटरीय चउच्चिह-देवेमुज्जाट कारण अणुगणाणि वण्णेइ । महापुटरीय सयलिद-पडिउदे उत्पत्ति-कारण वण्णेइ । णिमि हिय घहुविह-पायच्छित्त-विहाण वण्णणं कृणइ' ।

करता है । तथा यह मुनियोंकी आचारविधि और मोक्षरविधिका भी वर्णन करता है । जिसमें अनेक प्रकारके उत्तरपढ़नेका मिलने व उसे उत्तरा यवन अर्थाधिकार कहते हैं । इसमें चार प्रकारके उपसर्गोंकी कैसे सहन करना चाहिये ? पाँच प्रकारके परीपहोंके सहन करनेकी विधि क्या है ? इत्यादि प्रश्नोंके उत्तरका वर्णन किया गया है । कल्याण-व्यवहार साधुओंके योग्य आचरणका और अयोग्य आचरणके होने पर प्रायश्चित्तविधिका वर्णन करता है । कल्याण नाम योग्यका है और व्यवहार नाम आचरणका है । कल्याणकल्याण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा मुनियाके लिये यह योग्य है और यह अयोग्य है, इसतरह इन सप्तका वर्णन करता है । महाकल्याण काल और सहननका आश्रयकर साधुओंके योग्य द्रव्य और क्षेत्रादिकका वर्णन करता है । [इसमें, उत्तृष्ट सहननादि विशिष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका आश्रय केर प्रवृत्ति करनेवाले जिनरूपी साधुओंके योग्य निमालयोग आदि अनुष्ठानका और स्थितिरूपी साधुओंकी दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना आदिका विशेष वर्णन है ।] पुण्डरीक भवनपासी, व्यतर, ज्योतिष्क और कल्पवासी इन चार प्रकारके देवोंमें उत्पत्तिके कारणरूप दान, पूजा, तपश्चरण, अकाम निर्जरा, सम्यग्दर्शन, और सयम आदि अनुष्ठानका वर्णन करना है । महापुण्डरीक समस्त इन्द्र और प्रतीन्द्रोंमें उत्पत्तिके कारणरूप तपोविशेष आदि आचरणका वर्णन करता है । प्रमादजन्य दोषोंके निराकरण करनेके निषिद्धि कहते हैं, और इस निषिद्धि अर्थात् बहुत प्रकारके प्रायश्चित्तके प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको निषिद्धि कहते हैं ।

सहनविधान तत्कल एव । पञ्चपुरमि मुत्तरविद्या च वययति । मां जा, जी प्र, दा ३६७ वम उत्तरण पणय आचारमव उरिमां तु । नमः उ उत्तरा न्व ज सयणा हाति णाय मा ॥ अमि रा मा (उत्तराशयण) कानि ता युत्तरपदाणि चट्टरत छयाव उत्तराशयणा पण्णत्ता, त जहा-१ निग्यसुप २ परामहो ३ चाउरगिख ४ अगयय ५ अराममरणेख ६ पुग्गिमात्रि ७ उरमिज ८ गतिनिग ९ नमिप १० १० दुमपयय ११ वट्टमुयपूजा १२ इतिगिज १३ विचसमय १४ उह्यातिज १५ माभिमज्ज १६ ममात्रिणाह १७ पावसमणिज १८ सज्ज १९ मिया चारिया २० अणाइपव्वजा २१ सपुण्णालि २२ रत्तमिज २३ मायमज्जिज २४ समितीआ २५ जगतिज २६ सामायासी २७ उरुत्तिज २८ मात्तमग्गाह २९ अपमाजा ३० तरोमग्गा ३१ चरणविही ३२ पमावट्टाणाह ३३ कम्मपय ३४ लेयसयण ३५ जणगारमग्गा ३६ वावाज्जविमत्ता य । सम गू ३६

१ नियमन प्रमाददोषनिराकरण निषिद्धि सत्तायां वयस्य निषिद्धिका । तच्च प्रमाददोषविपुलवर्धनं वट्टप्रकारां प्रायश्चित्तं वणयति । गो जी, जी प्र, दा ३६८

अगपविट्ठम्स अत्थाधिपारो चारसनिहो । तं जहा, आयारो सूदयदं ठाणं समवायो
विवाहपण्णत्ती णाहधम्मकहा उपासयञ्जयणं अतयडटसा अशुत्तरोपपादियटसा
पण्णायरण विनागसुत्त दिट्ठिपाटो चेदि । एत्थायारंगमट्टारह-यट-सहस्मेहि १८०००—

काय चरे कथं चिट्ठे कथमासे कथं सण ।

काय भुजेज्ज भासेज्ज काय पाय ण वत्तई ॥ ७० ॥

जद चरे जद चिट्ठे जदमासे जद सण ।

जद भुजेज्ज भासेज्ज एय पाय ण वत्तई ॥ ७१ ॥

एयमाटिय मुणीणमायारं वण्णेदि ।

सूदयदं णाम अग छत्तीम पय-सहस्मेहि ३६००० णाणाविणय-पण्णावणा-
कप्पाकप्प-छेदोपट्ठानण-वज्जहारधम्मकिरियाओ परूवेड मममय परसमय-मरूय च परूवेड ।

अगप्रविष्टके अर्थाधिकार चारह प्रकारके ह । वे ये ह, जाचार, सूत्रकृत, स्थान,
समवाय, व्यापारप्रवृत्ति, नाशवर्मकरा, उपासकाध्ययन, अत कृद्दशा, अनुत्तरोपपादिकद्दशा,
प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र ओर टट्टिपाट । इनमेंसे, आचाराग अठारह हजार पदोंके द्वारा—

किसप्रकार चलना चाहिये ? किसप्रकार खड़े रहना चाहिये ? किसप्रकार
बैठना चाहिये ? किसप्रकार शयन करना चाहिये ? किसप्रकार भोजन करना
चाहिये ? किसप्रकार सभापण करना चाहिये ओर किसप्रकार पापकर्म नह
बधता है ? (इसतरह गणधरके प्रश्नके अनुसार) यत्तमे चलना चाहिये, यत्तपूर्वक खड़े रहना
चाहिये, यत्तसे बैठना चाहिये, यत्तपूर्वक शयन करना चाहिये, यत्तपूर्वक भोजन करना चाहिये,
यत्तसे सभापण करना चाहिये । इसप्रकार आचरण करनेसे पापकर्मका धरा नहीं होता है
॥ ७० ७१ ॥ इत्यादि रूपसे मुनियोंके आचारका वर्णन करता है ।

सूत्रकृतग छत्तीस हजार पदोंके द्वारा शानचिन्तन, प्रज्ञापना, कल्प्याकरूप, छेदोपस्थापना
ओर व्यवहारधर्मश्रियाका प्ररूपण करता है । तथा यह सममय ओर परसमयका भी निरूपण

१ मूलात्ता १०१२, १०१३ दशर ४ ७, ८

२ आयारो णं समणाय जायग गोयार विणय णहय ट्ठान गमा चरवण-वमाण जोग जुजग मामा समिनि-
शुत्ती मेळोमहि मत्त-पाण उगम उपायण प्पमा विमोहि सुद्धासुद्ध गहण वय विणय तराव ण सुवम थमाणिज्ज । मम
पू १३६

३ सुअगडे णं सममया सूहजति, परसमया सूहजति, सममयपरसमया सूहजति X X । सुअगडे ण
विवाजीन उण्ण-पापामम-मवरणि-नरण वय मोक्खपावसाणा पयत्था सूहजति समणाय अचिरकाल पदइयाण कुममय
मोह मोहमइ मोहियाण सदेव जाय-सहजउद्धि परिणाम समइयाण पापकरमाग्ग मइ उण विसाहणय अमीअस्स विरि
यामाइयमयस चउरामीण अकिरियावाइण सत्तईण अण्णाणियसाईण वचोमाण वेणइयसाइण निण्ह तउट्ठोण अण
दिट्ठियमयाणं दूअं विच्चा ममसण टाविजति XXX । मम पू १३७

सुत्त पेरिसीसु तित्थयराण वम्म देसण गणहरदेनस्स जाद-ससयस्स संदेह-छिंदण विहाण,
 नुव्विह-कहाओ उव्वरुहाओ च वण्णेदि । उपासयज्झयण^१ णाम अग एकारम-लक्ख-
 मत्तरि-महस्स पदेहि ११७००००—

दसण उद सामादय-पोमह सच्चित्त राइमत्ते य ।

वध्दारम-परिगह-अणुमण उदिद-देसतिरदी यं ॥ ७४ ॥

इदि एकारस विह-उपासगाण लम्पण तेसिं चेय वदारोणण विहाण तेसिमाचरणं
 च वण्णेदि । अतयडदसा णाम अग तेनीस-लम्प-अट्टाणीस-सहस्स पदेहि २३२८०००

स्वाध्यायकी प्रस्थापना हो इसलिये, तीर्थकरोंकी धर्मदेशनाका, सन्देशको प्राप्त गणवरदेवके
 सन्देशको दूर करनेकी विधिका तथा अनेक प्रकारकी कथा और उपकथाओंका वर्णन करता है।
 उपासकाध्ययन नामका अग ग्यारह लाख सत्तर हजार पदोंके द्वारा दर्शनिक, प्रतिक,
 सामायिकी, प्रोपधोपवासी, सचित्तचिरत्त, राजभुक्तिचिरत्त, ब्रह्मचारी, आरम्भचिरत्त, परिग्रह
 चिरत्त, अनुमतिचिरत्त और उद्दिष्टचिरत्त इन ग्यारह प्रकारके श्रावकोंके लक्षण, उन्हींके व्रत
 धारण करनेकी विधि और उनके आचरणका वर्णन करता है। अतवृद्धा नामका अग तेचीस
 लाख अट्ठारिस हजार पदोंके द्वारा एक एक तीर्थस्त्रके तीर्थम नानाप्रकारके दारुण उपसर्गोंको
 सहनकर और प्रातिहार्य अर्थात् अतिशय विशेपोंको प्राप्तकर निर्वाणको प्राप्त हुये दश दश अ त

नतरैकल्लानमहापमतीवरत्तुपयानिशयविजमितमहिम् तावत्तस्य पूरादमयागगादावरात्त पदपट्टविका
 वास्पयंत द्वादसगणमान य ररमासतो दि य रलिकट्ठं णि ज यशालेऽपि गण रत्तनचक्रधरप्रभत्त ता चाट्टात्त ।
 एव समुद्रता दि य णि समन्तामगगातुगणावुदित्त उव्वत्तमादिग्गुण रत्तयामर वा धम कथयति । अथवा
 स्तारुगणधरदेवस्य जित्तमानसस्य प्र मुत्तसारेण तत्तत्तवावयुम्पा धमरवा तत्तुपान्तिरनामिन्नादिस्वरूपधनम् ।
 जम्मा स्तानुणा तीवकरगणधरत्तत्तधरात्तानो धमातुत्तविग्गोपत्तवात्तम् नाथवमकथा स्तानुधमरवा नाम वा पद
 मंगम् । गो जी, जी प्र, टा ३६६ वायाधम्मरत्तगुण णायान णगराह उजाणाह चैदयाह वणमत्त रायाणो
 अम्मापियरा समोमणाह धम्मायरिया धम्मरत्ताहा इत्थोदयपरत्तेऽवट्टिविसेत्ता मोगपरिच्छाया पव्वज्जाता
 सुवपरिगगतवत्तणाह परिक्का सल्लणाओ मवपचक्कणाह पाओवगमणाह देवतामगमणाह सुत्तलपचायाह पुण
 चाट्टिलामा अन्तिकियाओ य जापत्तिज्जति XX । सम त् १४१

१ सुवपारिमी सुत्तपायणी विद्धात्तात्तविसेत्ता स्वा यायमरगापनम् । अभि रा का

२ गो जी ४७७

३ उवातगदसाणं उवातपाणं सिद्धिविक्का पणिया । विभरधम्मसत्तणाणि चाट्टिलाम अभिमत सम्मत
 निहदया धित्तं मूलण उव्वगुणादयत्ता ठिद्विसेत्ता य बहुविसेत्ता पम्मानिगहग्गहण पालथा उव्वत्तगाहियापणा
 निहवमगा य तप्प य विविता सीलज्यगुणधरमणपचमखणपोमहोववाया अपत्तिममारणतिया य सेल्लेणालोमणा
 अम्माणं जइ य मावइत्ता XX कथवेरविमाणुत्तमत्त अणुमरति XX अणोवमाह तात्ताह । एते जने य एवमाद
 अम्मा विभरेण य XX आपत्तिज्जति । सम त् १४२

एवेकम्मिह य तित्थे दारुणे बहुविहोसग्गे सहिऊण पाडिहेर लद्धूण णिव्वाणं गदे दस दम वण्णेदि । उक्त च तत्त्वार्थभाष्ये—ससारस्यान्तः कृतो यैस्तेऽन्तकृतः नमि-मतङ्ग सोमिल-रामपुत्र सुदर्शन यमलीक-वलीक किष्किविल-पालम्माष्टपुत्रा इति एते दश वर्द्धमान-तीर्थकर तीर्थे । एवमृषभादीना त्रयोविंशतेस्तीर्थेऽप्यन्येऽन्ये, एव दश दशानगराः दारुणाणुपमर्गाभिजित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतो दशास्या वर्ण्यन्त इति अन्तकृद्दशा । अणुत्तरो-वनादियदमा णाम अग वाणउदि-लक्ख-चोयाल-सहस्स-पदेहि ९२४४००० एकेकम्मिह य तित्थे दारुणे बहुविहोसग्गे सहिऊण पाडिहेर लद्धूण अणुत्तर-विमाण गदे दम दम वण्णेदि । उक्त च तत्त्वार्थभाष्ये—उपपादो जन्म प्रयोजनमेवा त इमे औपपादिकाः,

कृतकेवलियोंका वर्णन करना है, तत्त्वार्थभाष्यमें भी कहा है—

जिन्होंने ससारका अन्त किया उन्हें अन्तकृतकेवली कहते हैं । वर्द्धमान तीर्थकरके तीर्थमं नमि, मतग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्किविल, पालम्भ, अष्टपुत्र ये दश अन्तकृतकेवली हुए हैं । इसीप्रकार ऋषभदेव आदि तेवीस तीर्थकरोंके तीर्थमं ओर दूसरे दश दश अनगर दारुण उपसर्गोंको जीतकर संपूर्ण कर्मोंके क्षयसे अन्तकृतकेवली हुए । इन सबकी दशाका जिसमें वर्णन किया जाता है उसे अन्तकृद्दशा नामका अग कहते हैं ।

अनुत्तरौपपादिकदशा नामका अग धानवे लाख चवालीस हजार पदोंद्वारा एक एक तीर्थमं नानाप्रकारके दारुण उपसर्गोंको सहकर ओर प्रातिहार्य अर्थात् अतिशयविशेषोंको प्राप्त करके पांच अनुत्तर विमानोंमें गये हुए दश दश अनुत्तरौपपादिकाका वर्णन करना है । तत्त्वार्थभाष्यमें भी कहा है—

उपपादजन्म ही जिनका प्रयोजन है उन्हें औपपादिक कहते हैं । विजय, वेजयन्त,

१ “ ससारस्यान्त कृतो येस्तेऽन्तकृत नमिमतगमोमिलरामपुत्रसुदर्शनयमवाल्मीकवलीककिष्किलपालम्माष्टपुत्रा इत्येते दश वर्द्धमानतीर्थकरतीर्थे । ” त रा वा पृ ५१ ‘ वलीक ’ स्थाने ‘ वलिक ’ पाठ ‘ किष्किल ’ स्थाने ‘ किक्किल ’ पाठ । गो जी, जी प्र, टा ३५७ “ अनगडदमाण दम अण्णयणा पण्णवा । त जहा, णमि १ मातगे २ सामिले ३ रामयुव ४ सुदण ५ चैव । जमाली ६ त भगाली त ७ किस्से ८ पड्ढेतिय ९ ॥ फल्लि अबडुत्त त १० एमते दस आदिता ॥ एतानि च नमीत्यादिका यन्तहत्तायुनामानि अत्तहत्ताह्वयमवगडण्य यनसग्गे नोपलभ्यन्ते, यन्तस्सामिधियते—” गोयम १ समुद २ सागर ३ गमार ४ चैव होइ थिमिपु ५ य । अण्णे ६ कपिडे ७ खट्ट अस्साम ८ पसणइ ९ विण्हू १० ॥ तता वाचनान्तरापेक्षाणि इमान्तीति समावयाम । न च जमान्तरनामापेक्षया एतानि भवि यतानि वाच्य, जमान्तराणा तत्र अनभिधीयमानत्वादिति । स्था सु ७५४ (दारा)

२ जतयद्दमाण ण अनगडाण नगराह XX समीयरणा धम्मययिया, धम्मवहा X X पण जाजा, XX जियपरामहाण चउविज्जम्मक्खययिमि जह वरलस्स लमो परियाजी, जविओ य जह पालिओ मुणिह पायोवगओ य जा जहि जवियाणि मत्ताणि छइत्ता अनगडो मुणिवरो X X मोक्खल्लुख च पत्ता एए अने य एवमाइअथा विधारण पम्बेह । सम सु १४३

त्रिचय त्रैचयन्त जयन्तापराजित मर्यादार्थमिदं द्वाग्यानि पचानुत्तराणि । अनुत्तरैर्घांपपादिकाः
 अनुत्तरौपपादिकाः, क्रपिदास-धन्य मुनभय-कार्तिकयानन्द नन्दन शालिभद्राभय-धारिणेण
 चिलातपुत्रा इत्येते दश वर्द्धमानतीर्थकरतीर्थ । एवमृषभदीना त्रयोविंशतेस्तीर्थध्वन्येऽन्ये
 एव दश दशानगराः दारुणानुपमगोत्रिजित्य त्रिजयाद्यनुत्तरैर्पूतपद्मा इत्येवमनुत्तरौपपा
 दिकाः दशास्या वर्ण्यन्त इत्यनुत्तरौपपादिकदशां । पण्डनायरण नाम अंग तेषां उदि
 लक्ष सोलह सहस्र पदेहि २३१६००० अक्षरेष्वणी णिखरेष्वणी सवेयणी निजयेष्वणी

अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पांच अनुत्तर विमान हैं । जो अनुत्तरोंमें उपपादक मने
 पैदा होते हैं, उन्हें अनुत्तरौपपादिक कहते हैं । क्रपिदाम, धन्य, मुनभय,
 कार्तिकेय, आनन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय धारिणेण और चिलातपुत्र ये दश
 अनुत्तरौपपादिक वर्द्धमान तीर्थकरके तीर्थमें हुए हैं । इसीतरह क्रमबद्ध
 आदि तैर्वास तीर्थकरके तीर्थमें अथ दश दश महासाधु दारुण उपमगोंको जीतकर त्रिजया
 दिक पांच अनुत्तरोंमें उत्पन्न हुए । इसतरह अनुत्तराम उत्पन्न होनेवाले दश साधुओंका जिसमें
 वर्णन किया जाने उसे अनुत्तरावपादिकदशा नामका अंग कहते हैं ।

प्रदत्तव्याकरण नामका अंग तैरानवे लाख सोलह हजार पदांके द्वारा आपेक्षणी, विशेष
 पणी, सवेदनी और निवेदनी इन चार भागों तथा (भूत, विगत आर वर्तमानकाल
 सबधी धन, धाय, लाभ, अलाभ, मरण, जप, तप, सवेदनी प्रश्नोंके
 पूछनेपर उनके) उपायका वर्णन करता

चेदि चउच्चिहाओ कहाओ वण्णेदि' । तत्थ अस्सेयणी' नाम उद्धव्व-णव-पयत्थाणं सरूणं दिगंतर समयातर गिराकरण सुद्धि करंती परूवेदि । मिस्सेयणी' नाम पर-समएण स समयं दूसंती पच्छा दिगतर सुद्धि करंती स-समय यावती छद्धव्व णव-पयत्थे परूवेदि । ससेयणी' नाम पुण्ण फल संकहा । काणि पुण्ण फलाणि ? तित्थयर गणहर-रिसि-चक्रजट्टि-मलदेव-वासुदेव-सुर विज्जाहरिद्वीओ । णिव्वेयणी नाम पाव-फल-मकहा । काणि पाव-फलाणि ? णिरय-तिरिय कुमाणुम-जोणीसु जाइ-जरा-मरण-माहि-धेयणा टालिदादीणि । ससार-सरीर-भोगेसु वेरगुप्पाइणी णिव्वेयणी नाम । उक्त च—

जो नाना प्रकारकी एकान्त दृष्टियोंका ओर दूसरे समयोंका निराकरणपूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्य ओर नौ प्रकारके पदार्थोंका प्ररूपण करती है उसे आधेपणी कथा कहते हैं । जिसमें पहले परसमयके द्वारा स्वसमयमें दोष बतलाये जाने हैं । अनन्तर परसमयकी आधारभूत अनेक एकान्त दृष्टियोंका शोधन करके स्वसमयकी स्थापना की जाती है ओर उह द्रव्य ना पदार्थका प्ररूपण किया जाता है उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं । पुण्यके फलका वर्णन करनेवाली कथाको ससेदनी कथा कहते हैं ।

शंका—पुण्यके फल कौनसे हैं ?

समाधान—तीथरु, गणर, ऋषि, चक्रजटा, मलदेव, वासुदेव, देव ओर त्रिद्या-वरोंकी रुद्धिया पुण्यके फल हैं ।

पापके फलका वर्णन करनेवाली कथाको निर्वेदनी कथा कहते हैं ।

शंका—पापके फल कौनसे हैं ?

समाधान—नरक, तियच ओर इमानुषकी योनियाम जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र्य आदिकी प्राप्ति पापके फल हैं ।

अज्ञान, समार, शरीर और भोगोंमें वराग्यकी उत्पन्न करनेवाली कथाको निर्वेदनी कथा कहते हैं । कहा भी है—

१ प्रश्नस्य त्वत्वावगमनदृष्टिर्गतितात्परिपरम्यान्निर्गललौचरा धनधायादिलालामल्लुपदु लज्जाभितमरणजय पराजयादिस्था व्याभियन व्याव्यायत यस्मिन्मत्तयत्तात्तणम् । जयरा गियप्रधातुरूपतया अवक्षेपपा विक्षपणी सज्जनी निवजनी चति वया चतुग्धा यानियते यस्मिन्प्रश्नव्याकरण नाम । गो जी, जा प्र, टी ३५७

२ प्रथमातुयापनरणातुयोगचरणानयोगद्व्यातुयोगपरमागमपदार्थाना तार्थिकरादितृचान्तलोकमस्थानदेश-सकस्यनिधमपचास्तिरायादाना परमतात्ताररिति वयनमानेपणी कथा । गा जा, जी प्र, टी ३५७

३ प्रमाणनया मरुणि युत तेनुवात्तिरेन सववेतादिपरममयाथनिराकरणरूपा विनेपणी कथा ।

गो जी, जी प्र, टी ३५७

४ रजयामरुधमातुयानकल्भूततीररसाधरयमभावतजात्रायज्ञानपुरादिवर्णनारूपा सज्जनी कथा ।

गो जी, जा प्र, टी ३५७

५ मसारसरारमोगरागननितदुर्गर्भलनागनादिदु खदुपुल्लिहपागदारिद्रापमानदु सादिवणनादारेण वेराय

आक्षेपणा तत्रप्रियानभूता विक्षेपणा' तत्रदिगन्तमुद्धिम् ।

सवेगिनीं धमरूपप्रपञ्चा निगमिनीं चाह कथा विरागाम् ॥ ७५ ॥

एतत् विस्मयेरणी णाम कृता विण-त्रयणमयाणतस्म ण कहेयव्या', अगहिद-स-
ममय मन्मात्रो परममय सकृहाहि वाउलिद चित्तो मा मिच्छत्त गच्छेज्ज त्ति तेण तस्म
विक्षेपणीं सोत्तण मेमाओ तिणिण वि कृहाओ कहेयव्याओ । तदो गहिद-समयम्
उल्लङ्घ पुण्ण-पायस्म विण-सामणे ण्डि मज्जाणुरत्तस्म विण त्रयण निगिदिगिच्छम्म भोग

तत्त्वाना निरुपण करनेवाली आक्षेपणी कथा है । तत्त्वसे दिशान्तरको प्राप्त हुई दृष्टि
यात्रा शोचन करनेवाली अर्थात् परमात्मी एकाग्र दृष्टियात्रा शोचन करने स्वसमयकी स्थापना
करनेवाली विक्षेपणी कथा है । विस्तारसे धर्मके फलना वर्णन करनेवाली सवेगिनी कथा है
आर घेराय उत्पन्न करनेवाली निगमिनी कथा है ।

इत कथाओंका प्रतिपादन करते समय जो निगमचक्रनका नहा जानता है, अर्थात् जिसका
जिनचक्रनमें प्रवेश नहा है, वैसे पुरस्को विक्षेपणी कथाका उपदेश नहीं करना चाहिये, क्योंकि,
जिसने स्वसमयके रहस्यको नहीं जानता है और परसमयकी प्रतिपादन करनेवाली कथाओंके
मुननेमें व्यापुलित चित्त होकर वह मिथ्यात्वको स्वीकार न कर लेवे, इसलिये स्वसमयके
रहस्यको नहीं जानेवाले पुष्पको विक्षेपणी कथाका उपदेश न देकर शेष तीन कथाओंका
उपदेश देना चाहिये । उक्त तीन कथा-वाह्यारा जिसने स्वसमयको भलीभाँति समझ लिया है,
जो पुण्य और पापके स्वरूपको जानता है, जिसमें वह मज्जा अर्थात् हृदयोंके मध्यमें रहनेवाला

वचनरूपा निगमिनी कथा । ता जा, वा प्र, य १७

१ प्रतिपन्न सात्त्विक प्रकाशित ज्ञानानुत्थापना । चतुर्था सा जायतव्यवणा, बहिरव्यवणा,
पण्णविस्मयेवी, दिष्टिवायस्यवणा । जायाता लावास्मानाति यत्तदा कथविदापनदोपन्वोय प्रायश्चित्तलक्षण ।
प्रतिपन्न सत्त्वयावन्त्य मयुरमन प्रज्ञापना, शिवादय मोक्षपाया ह्म मत्वादिमात्रवचनम् । विचारण च
तत्रो य पुरिमन्ता न समिह गच्छाता । त्वदस्य स जहि कदाह जस्यवणास्सो ॥ जमि रा को (अव्यवणा)

२ विविधत सम्मात्र कमाग कुमायाता सम्मात्र श्रान्तयति निगमणी । सा चउविहा पण्णत्ता । त तदा
(१) समय कहुवा परावय कहेद । (२) परमय कहुवा समय ठाविता मयद । (३) सम्मात्राय कहेद, सम्मात्राय
कहुना मिच्छावाय कहेद । (४) मिच्छावाय कहेता सम्मात्राय ठाविता मयद ॥ जा सममयत्ता उल्लु होद कहा
लोमवेमकुत्ता । परसमयाण च क्का एवा विस्मयेरणी णाम ॥ जमि रा का [विस्मयेरणी]

३ जायन्तणी क्का सा वि ताचरणमुनदिसस न र । सममयपरसमयवदा क्का दु विस्मयेरणी णाम ॥
सत्त्वया पुण क्का णाण चरित तत्त्वविमर्शित्वा । विवयणी पुण कहा सारामोमे मवाच य ॥ मूलारा ६५६, ६५७

४ उल्लङ्घस्म पन्मया क्का उ जस्यवणी कहुयत्ता । ता सममयवोय्यव जहि न विवयवणा पञ्च ॥
अव्यवणि जायेउत्ता ज जाया त लमनि मम्मच । विवयवणा पन्मया सात्त्वया च मिच्छत्त ॥ जमि रा को
[धममहा]

५ भावाणसत्त्वमात्रसम्मात्राणाम्भावा । सम्मात्राणाम्भावा य हाह विवयवणा निच ॥ मूलारा ७३७

रह निरदस्म तत्र-सील-नियम-जुत्तस्स पच्छा निक्खेपणी क्हा रुहेयन्वा । एसा अरुहा पि
पणायतस्स परायतस्स तदा क्हा होदि । तम्हा पुरिमतर पप्प समणेण क्हा रुहेयन्वा ।
पण्हादो हद णट्ठ मुट्ठि-चिता-लाहालाह-सुह-दुक्ख-जीविय मरण-जय-पराजय-णाम-द्वयायु-
मंसु च परेदि । विनागमुत्त णाम अग एग-कोडि-चउगसीदि-लम्प-पदेदि
१८४००००० पुण्ण-पाव कम्माण विनाय णणेदि । एवारमगाण मव्व-पद-समासो
चचारि कोडीओ पण्णारह लम्मा ये सहस्स च ४१५०२००० । दिट्ठिपादो णाम अंग
गारममं । तस्य दृष्टिपादस्य स्वरूप निरूप्यते । कौत्कल-काणेनिद्धि-कौशिक-हरिश्मथु-
माद्वपिक-रोमश-हारित-मुण्ड-अश्वलायनादीना क्रियापाद-दृष्टीनामशीतिगतम्, मरीचि-

रम इत्येते सप्तक होकर ही शरीरम रहता है, उर्मितम्ह जो जिनशासनमें अनुरक्त है, जिन-
वचनमें जिसको किसीप्रकारकी विचिन्तित्ता नहा रही है, जो भोग और रतिसे विरक्त है और
जो तप, शील और नियमसे युक्त है ऐसे पुरुषको ही पश्चात् विक्षेपणी कथाका उपदेश देना
चाहिये । प्ररूपण करके उत्तमरूपसे ज्ञान करानेवालेके लिये यह अकथा भी तब कथारूप हो
जाती है । इसलिये योग्य पुरुषको प्राप्त करके ही साधुको कथाका उपदेश देना चाहिये । यह
प्रश्नव्याकरण नामका अंग प्रश्नके अनुसार इत, नष्ट, मुष्टि, चिंता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख,
जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और सखाया भी प्ररूपण करता है । विनाय-
सूत्र नामका अंग एक करोड़ चौरासी लाख पदोंके द्वारा पुण्य और पापस्य कर्मोंके फलोंका
वर्णन करता है । ग्यारह अंगोंके कुल पदोंका जोड़ चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार पद है ।
दृष्टिपाद नामका बारहवा अंग है । अंगे उसके स्वरूपका निरूपण करते हैं । दृष्टिपाद नामके
अंगमें कौत्कल, काणेनिद्धि, कौशिक, हरिश्मथु, माद्वपिक, रोमश, हारित, मुण्ड और अश्वलायन
आदि क्रियावादिषोंके एकसो अस्सी मतोंका, मरीचि, कपिल, उत्क, गार्ग्य, व्यासभूति,

अरवानि च वीर्यानि भिन्ना च त म परतीं धातुदिवमिज्जारता प्रमादुरागेण सवन्प्रवचनयातिरूपकुसुमादिगणेण
रत्ना इव रत्ना येषां ते तथा । अवादिगमिज्जालु चिनगामनाउवेमानुगगण रत्ना य ते जट्टिमिजपम्मादुरागणा ।
मग २ ५ १०२ (टीका)

१ परममथो उभय वा मम्मदिट्ठिरम सत्तम म जेण ॥ तां सवन्प्रवचणाद् मयमयउत्तविययाद् ॥ मिष्टउत्त
मयममृद सम्मत्त ज च तदुपगाग्मि । बट्टह परमिद्धनो ता तम्म तथो समिद्धनो ॥ वि मा, ० २, ०७७

२ गुमाउमरुमणा तीनमदस्यमविक पत्तानिरूपानभागत्य द्रव्यनरकालमात्राव्यफलदानपरिवनिरूप उदयो
विचार , त मूनयनि वणयतावि विपावपून्म् । गो वा , ना प्र , डा ३०७ विनायसु ण मुक्कड्डकडान कम्माण
कडमिगागे आषविचत्ति । xx । मम सु १४६

३ दृष्टीनां निपटुवसविचनमन्थानां मिधादशनानां नादा नृपाद , तनिसारण च रम्भन नियते तन्त्रि-
पादं नाम । भा नी , जा प , डा ३२० निट्टिपाद् ण गत्तात्पन्नायया आषविचत्ति । ग ममात् गो पारिदे,

कपिलोत्क-गार्ग्य व्याघ्रभूति-वाङ्मलि माठर-मौहत्यायनादीनामक्रियावाङ्मल-चतुर-
शीति, आरुल्य उल्कल-कुशुमि सात्यमुग्रि-नारायण कण्ठ-माध्यदिन मोह-पंपल्लाद-वादरा-
यण-स्वेषकृद्वैतिकायन यमु जैमिन्यादीनामत्रानिकृद्वैतीना मत्तपष्टि, वशिष्ठ पाराशर-जनु-
कर्ण-वात्मीकि-रोमहर्षणी सत्यदत्त व्यामैलापुत्रोपमन्यु-पेन्द्रदत्तायसृणापीना वनयिक-
द्वैतीना द्वाविशन् । एषा दृष्टिमाना तयाणा त्रिपष्ट्युत्तराणा प्ररूपण निग्रहश्च दृष्टिरादे
क्रियते ।

एत्थ किमायारादो, एत्थ पुच्छा स-पेसिं । णो जायारादो, एत्थ पारणा मच्चेमि,
दिट्ठिवादादो । तस्स उव्वमो पंचनिहो, आणुपुब्बी णाम पमाण वत्तच्चटा जत्थाहियागे
चेदि । तथ आणुपुब्बी निनिहा, पुब्बाणुपुब्बी पच्छाणुपुब्बी जत्थतन्नाणुपुब्बी चेत्ति

चाद्वलि, माठर और मोहत्यायन आदि जत्रियावादिवाये चारसी मताका, शारुल्य, घल्कल,
कुशुमि, सात्यमुग्रि, नारायण, कण्ठ, मा यदिन, मोह, पंपल्लाद, वादरायण स्वेषकृत्, गेतिनायन
यमु आर जैमिनी आदि जज्ञानवादिवाये सरमठ मत्तोंका तथा वशिष्ठ, पाराशर, जनुकर्ण,
वात्मीकि, रोमहर्षणी, सत्यदत्त, व्यास, एगपुत्र, ओपमन्यु, पेन्द्रदत्त और जयन्धूण आदि
वेनयिकवादिवाये वत्तीस मताका वर्णन और निराकरण किया गया है । ऊपर कहे हुए त्रिया
वादी आदिके कुल भेद तीनसो प्येसठ होते हैं ।

इस शास्त्रम क्या जाचारागसे प्रयोजन है, क्या मन्त्रतागसे प्रयोजन है, इसनरह
चारह अगोंके त्रियममें पुच्छा कर्नी चाहिये । और इसनरह पूछे जाने पर यहा पर न तो
जाचारागसे प्रयोजन है, न मन्त्रताग आदिसे प्रयोजन है इसनरह सरका निषेध रखे यहा
पर दृष्टिवाद अगसे प्रयोजन है ऐसा उत्तर देना चाहिये । उसका उपक्रम पात्र प्रमाणा है,
आनुपूर्वा, नाम, प्रमाण, वत्तव्यता और अर्थाधिकार । इनमेंसे, पूर्वानुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी और
यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है । यहा पूर्वानुपूर्वाम गितने पर चारहव

परिचम सुत्ताइ पुत्तमय अण तेमो तुलिया । परिचमे सत्तवि ८०० । सुत्ताइ जत्तामति मवत्ताति मवत्तायइ २०० ।
पुत्तमय चउमयइ पत्त । अणु मा हाइहे पावे २०० । चण्ण जात्ताण चउण पुत्ताण तुलियाओ, मेत्ताइ
पुत्ताइ अचुलियाइ सत्त तुलियाओ । सम सू १४७

१ वात्ताजीविद्विवादिशस्त्रि मथुमांकिस्त्रोमसहारानमुत्तालायलादाना त्रियाराद्वैतीनामत्रानिवात ।
मरीचकुमारकिपि-गार्ग्य व्याघ्रभूति-वाङ्मलि माठर-मौहत्यायनादीनामक्रियावाङ्मल-चतुर-
शीतिपष्टिपाराशर-जनुकर्ण-वात्मीकि-रोमहर्षणी सत्यदत्त व्यामैलापुत्रोपमन्यु-पेन्द्रदत्तायसृणापीना वनयिक-
द्वैतीना द्वाविशन् । त रा वा पृ ५१ वाणावादि स्थान 'कन्तिदि', 'माद्वि' स्थान 'माविक', 'कण्ठ' स्थाने 'वट',
'स्वेषकृत्' स्थान 'स्त्रिचि', 'जनुकर्ण' स्थान 'जनुकरण', 'जयन्धूण' स्थाने 'जयन्ध' पात्र
उपलभ्यते । गो जी, जी प्र, टी ३६०

एत्थ पुष्पाणुपुष्पीए गणिज्जमाणे चारममादो, पच्छाणुपुष्पीए गणिज्जमाणे पढमादो, जत्थतत्थाणुपुष्पीए गणिज्जमाणे दिट्ठिमायादो । णाम, दिट्ठिओ उददीदि दिट्ठिवादं ति गुणणाम । पमाण, अकख-पढ-सघाद-पडिवत्ति-अणियोगद्वारेहि संखेज्ज अत्थदो अणत्तं । उत्तव्वदा, तदुभयउत्तव्वदा । तस्स पंच अत्थाहियारा हवति, परियम्म-सुत्तं पढमाणियोग-पुव्वगयं चूलियां चेदि । ज तं परियम्म तं पंचविह । त जहा, चदपण्णत्ती मुरपण्णत्ती जंमूदीपण्णत्ती दीपमायरपण्णत्ती त्रियाहपण्णत्ती चेदि । तत्थ चदपण्णत्ती णाम छत्तीम-लकख-पच-पढ-सहस्सेहि ३६०५००० चदायु-परिवारिद्धि-गइ-निनुस्सेह-वण्णणं कुण्ड ।

अगसे, पश्चाद्दानुपूर्वासे । गिनने पर पदलेने और यथानयानुपूर्वासे गिनने पर दृष्टिवाद अगसे प्रयोजन है ।

नाम—इसमें अनेक दृष्टियाका वर्णन किया गया है, इसलिये इसका 'दृष्टिवाद' यह गोप्यनाम है ।

प्रमाण—अक्षर, पद, सघात, प्रतिपत्ति और अनुयोग आदिकी अपेक्षा सत्यातप्रमाण और अर्थकी अपेक्षा अनन्तप्रमाण है ।

वक्तव्यता—इसमें तदुक्तव्यक्तव्यता है ।

उस दृष्टिवादके पांच अधिस्तर हैं, परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका । उनमेंसे, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्भूदीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति इन्तरह परिकर्मके पांच भेद हैं ।

चन्द्रप्रज्ञप्ति नामका परिकर्म उत्तीम लाख पांच हजार पदोंके द्वारा चन्द्रमाकी आयु,

१ पतिन मयन कर्माणि गणितरगणयुत्राणि यस्मिन् तत्परिचम । गो जी, जी प्र, या ३६१

२ युचयति कण्ठिस्तनानानि मूत्रम् । नीर अवधर जस्तां निर्गुण जमाता स्वप्रकाशक परप्रकाशक अस्तेन ज्ञान नारयेन जीव इत्यादित्रियात्रियाज्ञानत्रियत्रुत्पीना मित्रादसनानि पूर्वप रनया वययति । गो जी, जी प्र, या ३६२

३ प्रथम मित्रादष्टिमन्त्रिचम-पुषपा वा प्रतिपाद्यमाश्रित्य प्रवृत्तोऽनुयोगो-धिस्तर प्रथमानुयोग । चर्त्तव्यगतिती मन्त्रादसकचक्रनित्यरत्नदेननवाभुर्देनप्रतिनामदवस्त्वपिष्टिस्तराशुस्त्वपुराणानि वणयति । गो जी, जी प्र, या ३६३

४ इह तीर्थस्नानाथप्रवर्तनशाले गणयमान सप्तलभ्रुतायत्रिगाहनममधानविट्ठल पूर्वं पूर्वगत सूत्रार्थं मापत, सनस्नानि पुष्पाणुपुष्यत । गणयता पुन सूत्ररचनां त्रिदधत आचारादित्रयं त्रिदधति म्पापयति वा । अ ये तु व्यासस्मृते, त्व पूर्वगतमूत्रार्थमहन् मापते गणयता अपि पूर्वं पूर्वगतमूत्र निरचयति पश्चादाचारादिकम् ।

न सू पु २४०

५ मन्त्राध्याग त्रियमपमन्त्रिया द्रुष्टिया णाम । धनला अ पु ७३ दृष्टिवादे परिकर्ममूत्रपुष्पाश्रययोगेऽनुनाथ सप्रतपरा मन्त्रपद्धतय । न सू पु २४६

६ चन्द्रप्रज्ञप्ति चन्द्रस्य विमानायु परिवारकडिगमात्रानिगुडिसंज्ञाप्रवृत्त्यादीन् वणयति ।

गो जी, जी प्र, या ३६२

सुरपण्णत्ती पंच लसत्तिणिण सहस्सेहि ५०३००० सुरस्मायु भोगोपभोग पणिगिद्धि
 गइ निवुस्मेहदिण किण्णुओर-वण्णण कुण्ड । जवुत्तीपण्णत्ती निणिण-लसत्त-चचीम पद-
 सहस्सेहि ३२५००० जवुत्तीपे णाणाविह-मणुयाण भोग-कम्म-भूमियाण अण्णेमिं च
 पव्वद-दह णइ पेडयाण उस्मानामासद्धिम निगहरादीणं वण्णण कुण्ड । दीपमापरपण्णत्ती
 चावण्ण-लसत्त-छत्तीम पद-सहस्सेहि ५२३६००० उद्दार-पह्ण पमाणेण दीप सायर-पमाण
 अण्ण पि दीप-मापरत-भूदत्थ वहु भेय वण्णेदि । विपाहपण्णत्ती नाम चउरामीदि-लसत्त
 छत्तीस-पद सहस्सेहि ८४३६००० रुपि-अजीव दव्व अरुपि-अजीव-दव्व भवसिद्धिय-
 अभवसिद्धिय रांमिं च वण्णेदि । सुत्त जट्ठासीदि लसत्त पदेहि ८८००००० जयधओ
 जल्लेखओ अरुत्ता अभोत्ता णिग्गुणो मच्चराओ अणुमेत्तो णत्थि जीवो जीवो चेव
 अत्थि पुट्ठाविपादीण समुत्थण जीवो उत्पज्जइ विचेयणो णाणेण विणा मचेयणो

परिचार, ऋद्धि, गति और विम्वकी उच्चार आदिक वर्णन करता है । सूर्यप्रभान्ति नामका परि-
 कर्म पाच लाख तीन हजार पदोंके द्वारा सूर्यजी आयु, भोग उपभोग, परिभोग, ऋद्धि, गति,
 विम्वकी उच्चार, दिनकी हानि वृद्धि, किरणोंका प्रमाण और प्रकाश आदिका वर्णन करता
 है । जम्बूद्वीपप्रभान्ति नामका परिकर्म तीन लाख पचास हजार पदोंके द्वारा जम्बूद्वीपस्थ
 भोगभूमि और कर्मभूमिमें उत्पन्न हुए नानाप्रकारके मनुष्य तथा दूसरे नियंत्र आदिका और
 पर्वत, द्रव्य, नदी, वेदिका, धर्म, जागस, अराधित जिनालय आदिका वर्णन करता है । द्वीप
 सागरप्रभान्ति नामका परिकर्म चारन लाख छत्तीस हजार पदोंके द्वारा उद्धारपक्षमें द्वीप और
 समुद्रोंके प्रमाणका तथा द्वीपसागरके अन्तर्भूत नानाप्रकारके दूसरे पदार्थोंका वर्णन करता है ।
 व्याख्याप्रभान्ति नामका परिकर्म बीसती लाख छत्तीस हजार पदोंके द्वारा रूपी अर्जावद्रव्य
 अर्थात् पुटल, अरूपी अर्जावद्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल, भव्यासिद्ध और
 अभव्यासिद्ध जीव, इन सबका वर्णन करता है,

दृष्टिमात्र जगका सूत्र नामका अर्थाधिकार अष्टासी लाख पदोंके द्वारा जीव अथ-धर्म ही
 है, अवलेपक ही है, अकर्ता ही है, अभोक्ता ही है, निर्गुण ही है, भणप्रमाण ही है, जीव
 नास्तिस्वरूप ही है, जीव अस्तिस्वरूप ही है, प्रथिनी आदिक पाप भूतोंके समुद्रायत्तसे
 ऊपर उत्पन्न होता है, चेतना रहित है, ज्ञानके बिना भी सचेतन है, नित्य ही है, अनित्य ही है,

१ सूर्यप्रभान्ति सूर्यस्यायुर्मन्त्रपरिचारकादिगमनप्रमाणप्रवण्णत्ती वणयति । गो जी, 'गो प्र, टी ३६२

२ जम्बूद्वीपप्रभान्ति जम्बूद्वीपगतमेकपुल्लोहद्वयवहु-वदिगावनस-व्यतरावामप्रवण्णत्ती वणयति ।

गो जी, जा प्र, टी ३६२

३ द्वीपसागरप्रभान्ति द्वीपसागराणां स्वरूप नगरिपते-यौतिकानमानामायु विद्यमानाहविमित्र
 भवनादान् वणयति । गो जी, जी प्र, टी ३६२

४ व्याख्याप्रभान्ति व्याख्यायमेवप्रमाणलक्षणात् आतस्मिद्धिपरम्परानिदानां ज-पररूपी च
 वणने वगेति । गो जी, 'जी प्र, टी ६२

णिञो अणिञो अपेति उण्णेदि । तेरासिय' णियदिनादं' पिण्णाणनादं' सद्दनादं' पहाणनादं' दव्वनादं' पुरिसनादं' च उण्णेदि । उच्चं च—

इत्यादि रूपसे क्रियापदादी, अक्रियापदादी, ज्ञानपदादी आरे धिनयवादिवाक्ये तीनसो त्रेसठ मताका पूर्णपक्षरूपसे वर्णन करता है । इसमें त्रेराशिकपदाद, नियतिपदाद, विज्ञानपदाद, शब्दपदाद, प्रधानपदाद, द्रव्यपदाद, और पुरुषपदादका भी वर्णन है । कहा भी है—

१ तेराभिय (त्राशिक) गोपालप्रवर्तता आज्ञाविना पाण्डिउन्मराशिका उच्यत । तस्मादिति चदुच्यते, इह ते सर्वं वस्तु या मरमिच्छति । तथया, चारोडजीरो जाराजीमथ, लोरा अलोरा लोकालोराथ, मदनम दगन । नयचित्तायामपि निविध नयमिच्छति । तथया, द्रव्यास्तिन पर्यायान्तिरुपमयास्तिन च । ततश्चिभा राशिभि धरतानि वेराशिका । न स पृ २३०

२ णियतिनाद (दनपदा) जत्तु जदा जेण जग जस्स य णियमेण हादि तत्तु तदा । तण तद्दा तस्म हवे इदि नादा णियदिनादो दु ॥ गा १ ८८२ ये तु नियतिवादिनस्ते ह्यवमाहु, नियतिनाम तत्त्वातरमस्ति यदशादत भावा सवसि नियतेनन रूपेण प्रादुभावमस्तुवते, नायथा । तथाहि, यद्यदा यतो भवति तद्यदा तत एव नियतेनैव रूपेण भवदुपठ यते, अयथा कायमावयसथा प्रतिनियतन्यसथा च न भवत् नियामकाभावात् । तत एव गयनेयस्यत प्रतीयमानाभावा नायति को नाम प्रमाणपथदुशलो बाधितु क्षमते ? मा प्रापदयनापि प्रमाणपथ व्याघातप्रसङ्ग । अभि रा को (णियद्)

३ विण्णाणनाद (विज्ञानादित्वाद) प्रतिभासमानस्याशेषस्य वस्तुनो ज्ञानस्वरूपात् प्रविष्टमप्रमिद्ध सवेत्तमेव पारमाथिक तत्त्वम् । तथाहि, यदप्रभाजते तज्ज्ञानमेव यथा सुखादि, अप्रभाजते च भावा इति । × × × तथा यद्वच्छेते तद्वि ज्ञानादभिन्नम् यथा विज्ञानस्वरूपम्, वेद्यन्ते च नीलादय इत्यनेषु विज्ञानाद्वैतमिद्विरिति । या कु च पृ ११९ बाधार्थनिरपेक्ष ज्ञानाद्वैतमेव ये मोक्षविशेषा मन्वते ते विज्ञानपदादिन । तेषां राद्धातो विज्ञानपदाद । अभि रा का (विण्णाणनाद)

४ मदवादा (उद्भववादा) मरु योगनमयोगज वा प्रत्यक्ष शब्दप्रबोलेग्येवावभासते बाधा यातिमराधे पृथक्पमानस्यास्य शब्दानुविद्धत्वेनैवोपचे, तत्तत्सर्वप्रत्यये प्रययानां प्रशासनमताया दुर्बलत्वात् । नास्पृता हि शास्वता प्रयवमशिनो च, तदभावे तेषां नापर रूपमवशिष्यत । या कु च पृ १३९, १४०

५ पण्णाणनाद [प्रधानवादा] सत्त्वचरन्तमसा साम्यावस्था प्रधानम् । प्रधानस्य नाद प्रधाननाद साम्यनाद इत्यथ । साम्यानां हि पुमर्षपिषधप्रवृत्तिपरिणाम एव लोभ । अभि रा को [पहाणपदा]

६ दव्वनाद [द्रव्यैकातवादा नित्यवाद] यत्त्वापिल दशन मांयमत एतद् द्रव्यास्तिकनयस्य वक्तव्यम् । तद्वन्म, ज राविल दरिसेण एय दव्वडियस्य वचनम् । स त ३, ४८

७ पुरिसनाद [पुरुषवादा] आलसद्वौ गिरुच्छानो पल किं चि न भुजद । धनम्वारादिपाण वा पउरुसेण विणा ण हि ॥ गो क ८९० अथवा, पुरिसवादा पुण्याद्वैतवादा—एषो चैव मरुप्पा पुरिसा देवो य सत्त्वनावी य । सव्वगनिगदो वि य सचेयणो निग्गुणो परमा ॥ गो १ ८८१ पुण्यपुत्रेक सक्कलोरम्भितमिगप्रत्ययहेतु प्रत्येड्यदुत्त ज्ञानातिशयशक्तिगिनि । तथा चोणम्, उर्णनाम इरांगना चद्रनात नाम्ममात् । प्ररोहाणामिन पक्ष स हेतु समजमिनाम् ॥ इति । तथा ' पुरुष एव सर्वं यत् भूत यच्च भाव्यम् ' इत्यादि मन्वानानां वाद पुरुषवादा ।

अभि रा को [पुरिसवादा]

अष्टमी'-अहियारेसु चउण्हमहियाराणमथि णिदेसो ।
 पत्तो अत्रयाण त्रिदियो तेरासियाण बोद्धवो ॥ ७६ ॥
 तदियो य णियइ-यत्ते हजइ चउत्थो ससमयमि ॥

पढमाणियोगो पच सहस्स-पदेहि ५००० पुगण वण्णेदि । उच्च च—

बारसपिह पुराण जगदिह जिणरेहि सपेहि ।
 त सत्त वण्णेदि ह्म जिणसे रायसे य ॥ ७७ ॥
 पढमो अरहत्ताण त्रिदियो पुण चउत्थि वमो ह्म ।
 विज्जहराण तदियो चउत्थयो वासुदेवाण ॥ ७८ ॥
 चारण-यसो तह पचमो ह्म उटो य पण-समणाण ।
 सत्तमओ कुरसो अट्टमओ तह य हरिसो ॥ ७९ ॥
 णमो य इत्थयाण दसमो वि य कासियाण बोद्धो ।
 राईणेकारसमो बारमो णाह सो ह्म ॥ ८० ॥

पुत्रवध पचाणउदि-कोटि पण्णाम-लम्प-पच पदेहि ९५५००००५ उप्पाय

इस सूत्र नामक अर्थाधिकारके अष्टमी अधिकारमसे चार अधिकारका नामनिर्देश मिलता है । उनमें पहला अधिकार अर्थकोंका दूसरा त्रेराशिकवादियोंका, तीसरा नियतिवादका समझना चाहिये । तथा चौथा अधिकार स्वसमयका प्ररूपक है ॥ ७६ ॥

हाथिवाद अगका प्रथमानुयोग अर्थाधिकार पांच हजार पदोंके द्वारा पुराणाका वर्णन करता है । उहा भी है—

जिने उदेवने जगतम बारह प्रकारके पुराणोंका उपदेश दिया है । अत वे समस्त पुराण जिनवश ओर राजवशोंका वर्णन करते हैं । पहला अरिहत अर्थान् तीर्थंकरका, दूसरा चमत्तियाका, तीसरा विद्याधरोंका, चौथा नारायण, प्रतिनारायणका, पावना चारणका, छठवा प्रसन्नमणका वश है । इसीतरह सातवा कुरुनश, आठवा हरिवश, नववा इक्ष्वाकुवश, दशवा काश्यपवश, ग्यारहवा वादियाका वश और बारहवा नाथवश है ॥ ७७ ८० ॥

हाथिवाद अगका पूर्वगत नामका अर्थाधिकार पचास करोड पचास लाख और पांच

१ सुत्ताइ अठातीति भवति । त जहा, उज्जय परिणयापरिणय कृममिण विपचइय विनयचरिय अणतर परपर समाण सचूह [भामाण] समिन जहाचय [अहंताय नचा] सोवधि [वत्त य] णदावत्त बहुल एतापु विद्यावत्त एवमूय दुआवत्त वत्तमाणपय सममिरुट सत्त-जोमद पणाम [परसत्त नया] टपमिमाह दवेयाइ बावाय चाइ जिणजेअणइयाइ सत्तमयसुत्तपरिवाणए इच्चजाइ बावास सुत्ताइ अट्ठिमयनइयाइ आज्ञावियसुत्तपरिवाणए इच्चजाइ बावास सुत्ताइ विज्जइयाइ तेराणियसुत्तपरिवाणए, इच्चजाइ बाराम सुत्ताइ चउत्थइयाइ सत्तमयसुत्तपरिवाणए पवामव सपुत्तावरण अट्ठमाति सुत्ताइ भवति । सम म् १४७

२ 'ज दिह' इति पाठ प्रतिमाति ।

वय-धुरत्तादीण ण्णणं कुण्ह । चूलिया पच्चिहा, जलगया थलगया मायागया रूगया आगासगया चेदि । तत्थ जलगया दो-कोडि-णन-लक्ख-एऊण-णवुड-सहस्स-वे-सद-पदेहि २०९८९२०० जलगमण-जलत्थमण-कारण-मत तंत-तत्रच्छरणाणि वण्णेदि^१ । थलगया णाम तेत्तिएहि चेय पदेहि २०९८९२०० भूमि गमण-कारण-मत-तत-तत्रच्छर-णाणि वत्थु पिच्चं भूमि सन्नधमण पि सुहासुह-कारण वण्णेदि^२ । मायागया तेत्तिएहि चेय पदेहि २०९८९२०० इद-जाल ण्णेदि^३ । रूगया तेत्तिएहि चेय पदेहि २०९८९२०० सीह-हय-हरिणादि रूपायारेण परिणमण-हेदु-मत तत तत्रच्छरणाणि चित्त रुद्ध-लेप्प-लेण-कम्मदि-लम्पणं च वण्णेदि^४ । आयासगया णाम तेत्तिएहि चेय पदेहि २०९८९२०० आगाम-गमण णिमित्त मंत तत तत्रच्छरणाणि ण्णेदि^५ । चूलिया-सन्न-पद-समासो दस-

पदों द्वारा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आदिका वर्णन करता है ।

जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगताके भेदसे चूलिका पाच प्रकारकी है । उनमेंसे, जलगता चूलिका दो करोड नौ लाख नवासी हजार दोसौ पदोंद्वारा जलमं गमन और जलस्तम्भनके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चर्यारूप अतिशय आदिका वर्णन करती है । स्थलगता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोंद्वारा पृथिवीके भीतर गमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र, और तपश्चरणरूप आश्चर्य आदिका तथा वास्तुविद्या और भूमि-सम्बन्धी दूसरे शुभ अशुभ कारणोंका वर्णन करती है । मायागता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोंद्वारा (मायारूप) इन्द्रजाल आदिके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका वर्णन करती है । रूपगता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोंद्वारा सिद्ध, घोडा और हरिणादिके स्वरूपके आकाररूपसे परिणमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका तथा चित्र कर्म, काष्ठकर्म, लेप्पकर्म और लेनकर्म आदिके लक्षणका वर्णन करती है । आकाशगता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोंद्वारा आकाशमें गमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका वर्णन करती है । इन पांचों ही चूलिकाओंके पदोंका जोड दस करोड उनचास लाख

१ जलगता चूलिका जलस्तम्भनजलगमनाभिस्तम्भानिमग्नणा यामनाभिप्रवेशनादिराणमनततपधरणादान् वर्णयति । गो जी, जा प्र, टी ३६२

२ स्थलगता चूलिका भेदरूपलेभूम्यादिषु प्रवेशनशायगमनादिराणमनततपधरणादान् वर्णयति ।

गो जा, जी प्र, टी ३६२

३ मायागता चूलिका मायारूपेन्द्रजालविज्ञेयाराणमनततपधरणादान् वर्णयति ।

गो जा, जा प्र, टी ३६२

४ रूपगता चूलिका मिश्रितरूपरुद्रनरहरिणशररूपमयाद्यादिरूपपरवतनराणमनततपधरणादान् चित्रकाश्यागमनादिरूपधातुवादस्तवादसयावादादीन् वर्णयति । गो जा, जा प्र, टी ३६२

५ आकाशगता चूलिका आकाशगमनकारणमनततपधरणादान् वर्णयति । गो जा, जी प्र, टी ३६२.

कोडीओ एगूण पचाम लम्प छायाल महम्म पदाणि १०४९४६००० ।

एत्थ किं परियम्मादो, किं सुत्तादो ? एव पुच्छा सञ्चेसिं । णो परियम्मादो, णो सुत्तादो, एव मारणा सञ्चेमि । पुञ्जगयादो । तस्स उक्कमो पचविहो, आणुपुञ्जाणाम पमाण वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि । तत्थाणुपुञ्जी तिप्पिहा, पुञ्जाणुपुञ्जा पच्छाणुपुञ्जी जत्थतत्थाणुपुञ्जी चेदि । एत्थ पुञ्जाणुपुञ्जीए गणिज्जमाणे चउत्थादो, पच्छाणुपुञ्जीए गणिज्जमाणे विट्ठियादो, जत्थतत्थाणुपुञ्जीए गणिज्जमाणे पुञ्जगयादो । पुञ्जाणं गय पत्त पुञ्ज सरूप ना पुञ्जगयमिदि गुणणाम् । अक्खर पद मघाद पडिगति अणियोगहोरेहि मखेज्ज, अत्थदो पुण अणत्त । वत्तव्वदा समयवत्तव्वदा । अत्थाधियारा चोदमविहो । त जहा, उत्पादपूर्व अग्रायणीय वीर्यानुप्रसाद अस्तिनास्तिप्रसाद ज्ञानप्रसाद सत्त्वप्रसाद आत्मप्रसाद कर्मप्रसाद प्रत्यारयाननामधेय निधानुप्रसाद कल्याणनामधेय प्राणावाय कियाविशालं लोकविन्दुसारमिति ।

तत्थ उत्पादपुत्र दसण्ह वत्थुण १० रे मद-पाण्डुडण २०० कोडि-पणेहि

छयालीस हजार पद हे ।

इस जीवस्थान शास्त्रम क्या परिकर्मसे प्रयोजन है ? क्या सूत्रसे प्रयोजन है ? इसतत्त्व सरके त्रिपयमें पृच्छा करनी चाहिये । यहा पर परिकर्मसे प्रयोजन नहीं है, सूत्रसे प्रयोजन नहीं है इसतत्त्व सरका निषेध सरके यहा पर पूर्वगतसे प्रयोजन है ऐसा उत्तर देना चाहिये । उसका उपक्रम पांच प्रकारका है, अनुपूर्वा, नाम, प्रमाण, उत्तयता और अर्थाधिकार । उनमेंसे पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वासे भेदसे आनुपूर्वा तीन प्रकारकी है । यहा पूर्वा अनुपूर्वासे गिनने पर बोधे भेदसे, पश्चादानुपूर्वासे गिननेपर दूसरे भेदसे और यथातथानुपूर्वासे गिनने पर पूर्वगतसे प्रयोजन है । जो पूर्वोक्तो प्राप्त हो, अथवा जिसने पूर्वोक्तों स्वरूपको प्राप्त कर लिया हो उसे पूर्वगत कहते हैं । इसतरह 'पूर्वगत' यह गोण्यनाम है । वह अक्षर, पद, सङ्घात, प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वारकी अपेक्षा सरयात और अर्थकी अपेक्षा अनन्त प्रमाण है । तीनों वत्तयताओंमेंसे यहा स्वसमयवत्तयता समझना चाहिये । अर्थाधिकारके बोधह भेद हैं । वे ये हैं, उत्पादपूर्व, अग्रायणीयपूर्व, वीर्यानुप्रवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रसादपूर्व, ज्ञानप्रसादपूर्व, सत्त्वप्रसादपूर्व, आत्मप्रसादपूर्व, कर्मप्रसादपूर्व, प्रत्यारयानपूर्व, विद्यानुप्रसादपूर्व, कल्याणवादपूर्व, प्राणावायपूर्व, कियाविशालपूर्व और लोकविन्दुसारपूर्व ।

उनमेंसे, उत्पादपूर्व दश वस्तुगत दोनो प्राभूताने एक करोड पदोंद्वारा जीव, काल

१ वस्तुन द्रव्यस्यात्पादन्यध्यायमनेन वमशरमुपादपुत्रम् । तच्च, जीवादिव्याणां नानानवविधपञ्च यौगपद्यमवविता पादन्यध्यायानि त्रिसालगावराणि नवधमा भवन्ति । तपरिणत द्रव्यमपि नवविधम्, उत्पन्न उत्पन्नमान उत्पत्त्यमान नष्ट नश्यन् नश्यन् स्थित त्रिषन् रसात्यदिति नवप्रकारा भवन्ति । उत्पाददीनां प्रत्येक नवविधव्यमसवादोकोडीतिविकल्पवमपरिणतव्यवर्णन करोति । गा जी, जी प्र, दा ३६६

१००००००० जीव-काल-पोग्गलाणमुत्पादय धुत्तं ण्णेड । अग्गेणियं णाम पुब्बं
 चोदसण्ह वत्थूण १४ ते-सयासीदि-पाहुडाण २८० उण्णउड लक्ख-पदेहि ९६००००००
 अगाणमग्गं वण्णेड । वीरियाणुपवाद णाम पुब्ब अट्ठण वत्थूणं ८ सट्ठि-सय-पाहुडाणं
 १६० सत्तिर-लक्ख पदेहि ७००००००० अप्प विरिय पर विरिय उभय-विरिय खेत्त-
 विरिय भय-विरिय तत्र विरिय वण्णेड । अत्थिणत्थिपवाद णाम पुब्ब अट्ठारसण्ह वत्थूण १८
 सट्ठि-ति-सद-पाहुडाण ३६० सट्ठि लक्ख-पदेहि ६००००००० जीवाजीवाण अत्थि-णत्थिच
 वण्णेदि । त जहा, जीवः सट्ठव्यक्षेत्रकालभावे, स्यादस्ति, परट्ठव्यक्षेत्रकालभावे
 स्यान्नास्ति, ताभ्यामक्रमेणादिष्टः स्यादप्रकृत्य, प्रथमद्वितीयधर्माभ्या क्रमेणादिष्टः
 स्यादस्ति च नास्ति च, प्रथमतृतीयधर्माभ्या क्रमेणादिष्टः स्यादस्ति चाप्रकृत्यश्च,
 द्वितीयतृतीयधर्माभ्या क्रमेणादिष्टः स्यान्नास्ति चाप्रकृत्यश्च, प्रथमद्वितीयतृतीयधर्म

ओर पुद्गल द्रव्यके उत्पाद, व्यय ओर ओष्यका वर्णन करता है। (अत्र अर्थात् द्वादशांगोंमें
 प्रधानभूत वस्तुके अयन अर्थात् ज्ञानको अग्रायण कहते हैं, ओर उसका कथन करना जिसका
 प्रयोजन हो उसे अग्रायणीयपूर्व कहते हैं।) यह पूर्व चौदह वस्तुगत दोसौ अस्ती प्राभूतोंके
 छानवे लान् पदों द्वारा अंगोंके अत्र अर्थात् प्रधानभूत पदार्थोंका कथन करता है ।
 धीर्यनुप्रवादपूर्व आठ वस्तुगत एकसौ साठ प्राभूतोंके सत्तर लक्षण पदों द्वारा आत्मधीर्य,
 परधीर्य, उभयधीर्य, क्षेत्रधीर्य, भवधीर्य ओर तपधीर्यका वर्णन करता है । अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व
 अट्ठारह वस्तुगत तीनसौ साठ प्राभूतोंके साठ लक्षण पदोंद्वारा जीव ओर अजीवके अस्तित्व ओर
 नास्तित्वधर्मका वर्णन करता है । जैसे, जीव, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल ओर स्वभावकी अपेक्षा
 कथंचित् अस्तिरूप है । परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल ओर परभावकी अपेक्षा कथंचित् नास्तिरूप है ।
 जिससमय वह स्वद्रव्यचतुष्टय ओर परद्रव्यचतुष्टयद्वारा अन्मसे अर्थात् युगपत् विवक्षित होता
 है उससमय स्यादप्रकृत्यरूप है । स्वद्रव्यादिरूप प्रथमधर्म ओर परद्रव्यादिरूप द्वितीयधर्मसे
 जिससमय क्रमसे विवक्षित होता है उससमय कथंचित् अस्ति नास्तिरूप है । स्यादस्तिरूप
 प्रथम धर्म ओर स्यादप्रकृत्यरूप तृतीय धर्मसे जिससमय विवक्षित होता है उससमय कथंचित्
 अस्ति प्रकृत्यरूप है । स्यान्नास्तिरूप द्वितीय धर्म ओर स्यादप्रकृत्यरूप तृतीय धर्मसे जिस-
 समय क्रमसे विवक्षित होता है उससमय कथंचित् नास्ति अकृत्यरूप है । स्यादस्तिरूप प्रथम

१ अस्य द्वादशांगेषु प्रधानभूतस्य वस्तुन अयन ज्ञान अग्रायण, तत्रयोजनमग्रायणीयम् । तच्च सत्तत्तन-
 तुनयदुर्लभपदानिकायपञ्चव्यसत्ततत्वनपदायादीन् वर्णयति । अत्र परिमाण तस्यायन गमन परि-
 षेदनमित्यर्थः । तस्मै हिनमग्रायणीय, सवद्रव्यादिपरिमाणपरिषेदकत्वात्ति मायाध । न सू पृ २४१

२ धीर्यस्य जीवादिबन्धुमाभ्यस्यानुत्पन्नमनुत्पन्नमस्मिन्नि बायानुप्रवाद नाम तृताय पूर्वम् । तच्च
 आत्मधीर्यपरीतिमधीर्यक्षेत्रधीर्यकालधीर्यभावधीर्यतपधीर्यादिसमस्तद्रव्यगुणपदायवर्णयति ।

गो जी, जी प्र, टी ३६६

३ अस्ति नास्ति इत्यादिप्रमाणों प्रवाद प्ररूपमन्मिनिति अस्तिनास्तिप्रवाद नाम चतुर्थ पूर्वम् ।

- गा जी, जी प्र, टी ३६६.

क्रमेणादिष्टः स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च जीय इति । एवमजीयादयोऽपि वक्तव्याः ।
 पाणपवादं णाम पुव्व वारमण्ह वत्तूण १२ वि-मद-चालीस पाहुडाण २४० एगूण-
 कोडि-पदेहि १९९९९९९ पच णाणाणि तिणिण अण्णाणाणि वण्णेदि । द्व्वट्ठिय-पज-
 वट्ठिय-णयं पडुच्च अणाटिअणिहण-अणाटिसणिहण मादिअणिहण-सादिमणिहणाणि
 वण्णेदि, णाण णाणमरूव च वण्णेदि ।

सचपवादं पुव्व वारमण्ह वत्तूण १२ दु-सय-चालीस पाहुडाणं २४० छ
 अट्ठिय-एग-कोडि-पदेहि १००००००६ पागुप्तिं, वाक्कमस्कारकारण प्रयोगो द्वादशधा
 भाषा वक्तारश्च अनेकप्रकारं सृष्टाभिधानं दशप्रकारश्च मत्स्यमद्भाषो यत्र निरूपितस्तत्स-
 त्प्रवादम् । व्यलीकनिवृत्तिर्भाषा मयमत्तर वा पागुप्ति । वाक्कमस्कारकारणानि शिर-
 कण्ठादीन्यष्टौ भ्यानानि । वाक्प्रयोगः शुभेतरलक्षणं सुगम । अभ्याग्यानकलह-
 पैशुन्याबद्धप्रलापरत्यरत्युपाधिनिवृत्त्यप्रणतिमोपसम्पत्तिमप्यादर्शनात्मिका भाषा द्वादशधा ।
 अयमस्य कर्तेति अनिष्टकथनमभ्याग्यानम् । कलहं प्रतीति । पृष्टतो दोषातिप्रकरणं

धर्मः, स्यात्तास्तिरूपं द्वितीय धर्मं और स्यादवक्तव्यरूपं तृतीय धर्मसे जिससमय क्रमसे विवक्षित
 होता है उससमय कथचित् अस्ति नास्ति अवक्तव्यरूपं जीय है । इसीतरह अजीवादिकका भी
 कथन करना चाहिये । ज्ञानप्रवादपूर्व्य बारह वस्तुगत दोसौ चालीस प्राभूतोंके एकत्र एक
 करोड पदोंद्वारा पाच ज्ञान और तीन अज्ञानोंका वर्णन करता है । तथा द्रव्यार्थिकनय और
 पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा अनादि अनन्त, अनादि सान्त, सादि अनन्त और सादि सान्तरूप
 विकल्पोंका तथा इसीतरह ज्ञान और ज्ञानके स्वरूपका वर्णन करता है । सत्यप्रवादपूर्व्य बारह
 वस्तुगत दोसौ चालीस प्राभूतोंके एक करोड छह पदोंद्वारा वचनगुप्ति, वाक्कमस्कारके कारण,
 वचनप्रयोग, बारह प्रकारकी भाषा, अनेक प्रकारके वक्ता, अनेक प्रकारके अमत्यवचन और
 दश प्रकारके सत्यवचन इन सबका वर्णन करता है । असत्य नहीं बोलनेको अथवा वचन
 समय अर्थात् मौनके धारण करनेको वचनगुप्ति कहते हैं । मस्तक, कण्ठ, हृदय, जिह्वाका मूल,
 दात, नासिका, तालु और ओठ ये आठ वचनमस्कारके कारण हैं । शुभ और अशुभ लक्षणरूप
 वचनप्रयोगका स्वरूप सरल है । अभ्याग्यानवचन, कलहवचन, पैशुन्यवचन, अशुभप्रलापवचन,
 रसियवचन, अरतिवचन, उपधिवचन, निवृत्तिवचन, अप्रणतिवचन, मोपवचन, सम्पददर्शनवचन
 और मिथ्यादर्शनवचनके भेदसे भाषा बारह प्रकारकी है । यह इसका कर्ता है इसतरह अनिष्ट
 कथन करनेको अभ्याग्यानभाषा कहते हैं । कलहका अर्थ स्पष्ट ही है । (परस्पर विरोधके

१ ज्ञानानां प्रवादं प्ररूपामरिमिति ज्ञानप्रवादम् । तच्च मतिश्रुतावधिमानं पर्यायवदलानि पच
 सत्यज्ञानानि । वृत्तिवृत्तिधुनविमाग्यानि त्रीण्यज्ञानानि स्वरूपनग्याविषयफलानि आभित्य तथा प्रामाण्यापामाण्य
 विभागं च बोधयति । गो जी, जी प्र, टी २६६

२ इदं आरम्य सत्यप्रवादकानानां भाषां समप्रपाठा विकल्परूपं तत्त्वधारतत्वात्के पृ ५२ पत्ति ८ तः
 आरम्य २८ वनपतिपपत्तं शब्दस्य उपरम्यते ।

पेशुन्यम् । वर्मार्थकाममोक्षसम्पदा नामनद्रप्रलाप' । शब्दादिनिषेधेषु रत्युत्पादिका रतिनाम् । तेष्वेभारत्युत्पादिकारतिनाम् । या नाच श्रुत्या परिग्रहार्जनरन्धादिप्रामाण्यते मोषतिनाम् । वणिग्व्यवहारे यामवधार्य निवृत्तिप्रणः आत्मा भवति न निवृत्तिनाम् । या श्रुत्या तपोविज्ञानाभ्यां केपपि न प्रगमति माप्रणतिनाम् । या श्रुत्या स्तेये प्रवर्तते मा मोषनाम् । मय्यगमर्गोपदेष्टी मय्यदर्शननाम् । तद्विपरीता मिथ्यादर्शननाम् । उक्तारश्चापि कृतकतृपर्याया' द्वीन्द्रियादय । द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रयमनेकप्रकारमनृतम् । दशविध' सत्यमद्भावाः नाम-रूप-स्थापना-प्रतीत्य-सत्प्रति-संयोजना-जनपद-देश भाव-समय-सत्यभेदेन । तत्र सचेतनेतरद्रव्यस्यामत्यप्यर्थे मव्यवहारार्थं मजाकरण तन्नाममत्यम्, यथेन्द्र इत्यादि । यदर्थान्विधानेऽपि रूपमात्रेणोच्यते तद्रूपमत्यम्, यथा चित्रपुरुषादि-प्रमत्यपि चैतन्योपयोगाढात्रार्थपुरुष इत्यादि । असत्यप्यर्थे यत्कार्यार्थं स्थापित श्रुताक्षा-

वदानेवाले उचनको कलहवचन कहते हैं । पीउसे दोष प्रगट करनेको पेशुन्यवचन कहते हैं । धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके सत्यसे रहित वचनको अयद्वप्रलापवचन कहते हैं । इन्द्रियाके शब्दादि विषयोंमें राग उत्पन्न करनेवाले वचनको रतिवचन कहते हैं । इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें अरतिको उत्पन्न करनेवाले वचनको अरतिवचन कहते हैं । जिस वचनको सुनकर परिग्रहके अर्जन और रक्षण करनेमें आसक्ति उत्पन्न होती है उसे उपधिवचन कहते हैं । जिस वचनको अवधारण करके जीव प्राणिज्यमें उगनेरूपप्रवृत्ति करनेमें समर्थ होता है उसे निवृत्तिवचन कहते हैं । जिस वचनको सुनकर तप और ज्ञानसे अधिक गुणवाले पुरुषोंमें भी जीव नर्धाभूत नहीं होता है उसे अप्रणतिवचन कहते हैं । जिस वचनको सुनकर चौर्यकर्म प्रवृत्ति होती है उसे मोषवचन कहते हैं । समीचीन मार्गका उपदेश देनेवाले वचनको सम्प्रदर्शनवचन कहते हैं । मिथ्यामार्गका उपदेश देनेवाले वचनको मिथ्यादर्शन वचन कहते हैं । जिनमें वक्तृपर्याय प्रगट हो गई है ऐसे द्वीन्द्रियसे आदि लेकर सभी जीव वक्ता हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा असत्य अनेक प्रकारका है । नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतीत्यसत्य, सत्प्रतिसत्य, संयोजनासत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य और समयसत्यके भेदसे सत्यवचन दश प्रकारका है ।

मूल पदार्थके नहीं रहने पर भी मचेतन और अचेतन द्रव्यके व्यवहारके लिये जो सज्ञा की जाती है उसे नामसत्य कहते हैं । जैसे, ऐश्वर्यादि गुणोंके न होने पर भी किसीका नाम 'इन्द्र' ऐसा रखना नामसत्य है । पदार्थके नहीं होने पर भी रूपकी मुद्रापनासे जो वचन फट जाते हैं उसे रूपसत्य कहते हैं । जैसे, चित्रलिखित पुरुष आदिमें चेतन्य और उपयोगा दिकके नहीं रहने पर भी 'अर्थपुरुष' इत्यादि कहना रूपसत्य है । मूल पदार्थके नहीं रहने पर भी कार्यके लिये जो द्यूतसन्धी अक्ष (पामा) आदिम स्थापना की जाती है उसे स्थापनासत्य

द्विषु तत् स्थापनामत्यम् । साधनादीनां पञ्चमिकादीनां भावानां प्रतीत्य यद्वचस्त्वप्रतीत्य-
मत्यम् । यल्लोके मनुष्याभित उच्यते तत्सृष्टिमत्यम्, यथा शृण्व्यायेन स्मरणत्वेऽपि
मति पदे जात पद्वज्जमित्यादि । धूपचूर्णानामनुलेपनप्रघर्षादिषु पञ्चमररहममरतोभद्रांश-
व्यूहादिषु इतरेतद्द्रव्याणां यथारिमागविधिमन्त्रिभोगविमोक्तं यद्वचस्त्वमयोजना
मत्यम् । द्वाविंशजनपदेभ्यार्यानां र्थमदेष्टु धर्मार्यनाममोक्षाणां प्रापक यद्वचस्त्वजनपद-
सत्यम् । ग्रामनगरराजगणपारगण्टनातिगुलादिधर्माणां व्यपदेष्टु यद्वचस्त्वदेशमत्यम् ।
उत्पन्नज्ञानस्य द्रव्यसाधात्म्यादर्शनेऽपि सयतस्य मयतामयतस्य वा मयगुणपरिपालनार्थं
शासुरभित्मप्रासुकभित्तिमित्यादि यद्वचस्त्वज्ञानमत्यम् । प्रतिनियतपदतयद्रव्यपर्यायाणां
मागमगम्यानां याथान्म्याविष्करणं यद्वचस्त्वमयमत्यम् ।

जाडपनाद मोलमण्ड वस्तुग १६ वीसुत्तर ति सय पाट्टुडाण ३२० उत्पन्नम-सोदि-
पदहि २६००००००० जाद उण्णेदि वेदे ति वा विण्णु ति वा मोत्ते ति वा नुदे ति
वा उच्चाति मन्नेणे । उच्च च—

जीवो कत्ता य वत्ता य पाणा मोत्ता य योग्गणे ।

वसो विण्णु सयभू य सगरी उद गाणसे ॥ ८१ ॥

करते हैं । मादि और अनादिरूप औपनामिक जादि भावोंकी अपेक्षा जो वचन बोला जाता है
उसे प्रतीत्यमय कहते हैं । लोकमें जो वचन सगुनि अर्थात् स्वरूपनाके व्यभिन्न बोले जाते हैं
उन्हें सगुनिमत्य कहते हैं । जैसे, शृण्वी आदि अनेक कारणोंके रहने पर भी जो एक अर्थार्थ
कीचहमें उत्पन्न होता है उसे एकज कहते हैं इत्यादि । धूपके मुग-र्या चूर्णके अनुलेपन और
प्रघर्षणके समय, यथया पत्त, मकर, हंस, सर्पनेमिष्ठ और र्पात्र आदिरूप व्यूहरचनाके समय
सचनन अथवा अचेतन द्रव्यके विभागानुसार विधिपूर्वक रचनाविशेषके प्रकाशक जो वचन
हैं उन्हें सयोजनासय कहते हैं । आर्य और अनार्यके भेदसे वर्त्तमान देशोंमें धर्म, अर्थ, काम
और मोक्षके प्राप्त करनेवाले वचनको जनपदसत्य कहते हैं । ग्राम, नगर, राजा, गण,
पारमण्ड, जानि और कुल आदिके धर्मोंके उपदेश करनेवाले जो वचन हैं उन्हें देशसय कहते
हैं । उत्पन्नोका ज्ञान यद्यपि द्रव्यकी यथार्थताका निश्चय नहीं कर सकता है तो भी अपने गुण
धर्मोंके पालन करनेके लिये यह प्रासुक है, यह अप्रासुक है इत्यादि रूपमें जो सयन
वचन हैं उन्हें भावसत्य कहते हैं । आगमगम्य प्रतिनियत छद्म प्रकारकी द्रव्य
प्रगट करनेवाले जो वचन हैं उन्हें समयसत्य कहते हैं ।
सोलह वस्तुगत तीनसौ बीस प्राभ्रतोंके छव्यसि करोड पदोंद्वारा जीव
है, बुद्ध है, इत्यादि रूपसे आत्माका वर्णन करता है । कहा भी है—
यत्ता ह्य प्राणी है, मोत्ता ह्य पटलरूप है, वेत्ता ह्य विण्णु है, सयभू है,

सत्ता जन्तु य माणी य माई जोगी य सकडो ।

असकडो य खेतण्ह अतरणा तहेय य^३ ॥ ८२ ॥

एदेसिमत्थो उचडे । त जहा, जीमदि जीमिस्मदि पुव्व जीमिदो त्ति जीमो 'सुहम-
सुह करोदि त्ति रुत्ता' । सच्चमसच्च संतममत उददीदि उत्ता । पाणा एयस्म मत्ति त्ति
पाणी^१ । अमर-पर-तिरिय-पारय-भेण चउव्विहे समारे कुसलमकुसल शुजदि त्ति भोत्ता^२ ।
उव्विह सठाण ऱहुविह-देहेहि पूरदि गलदि त्ति पोमालो^३ । सुग्ग-दुग्ग उदेदि त्ति वेदो,
वेत्ति जानानीति मा वेदः । उपात्तदेह व्याप्पोतीति विष्णु^४ । स्वयमेव भूतवानिति

शरीरों है, मानव है, सत्ता है, जन्तु है, मानी है, मायायी है, योगमहित है, सकुट है, अमंकुट
है, क्षेत्रक्ष है और अन्तरात्मा है ॥ ८१ ८२ ॥

आगे इन्हीं दोनों गाथाओंका अर्थ रहने दें । वह इसप्रकार है, जीता है, जीवित
रहेगा और पदले जीवित या, इसलिये जीव है । शुभ और अशुभ कार्यको करता है, इसलिये कर्ता
है । सत्य असत्य और योग्य अयोग्य वचन बोलता है, इसलिये वक्ता है । इसके दश प्राण पाये
जाते हैं इसलिये प्राणी है । देव, मनुष्य तिर्यक्ष और नारकीके भेदसे चार प्रकारके ससारमें
पुण्य और पापका भोग करता है, इसलिये भोक्ता है । नानाप्रकारके शरीरोंके द्वारा छह प्रकारके
सम्मानको पूर्ण करता है और गलाना है, इसलिये पुटल है । सुख और दुःखका घेदन करता
है, इसलिये वेद है^१ । अथवा, जानता है, इसलिये वेद है । प्रातः पूरे शरीरको व्याप्त करता है,

१ 'वेदा' स्थानि 'वेदा', 'सकडो' स्थान 'सकडो', 'अमरुडा' स्थान 'अमरुडा' पाठ ।

गा जी, जा प्र, य ३६६

२ गाथाद्वयानुगतता 'च' शब्दा उक्तानुक्रममुच्यमाना वदितव्या । तत्र कारणान् व्यवहाराश्रयेण
उपनोक्तमपमूर्तत्वादिमन्त्रवन मर्त, निश्चयनयाश्रयेणामृत इत्यादयः कामधमा समन्वीयते । गा जी, जा प्र,
य ३६६

३ जावनि व्यवहारनयेन दशप्राणान् निश्चयनयन केवलज्ञानदर्शनगम्यकचरूपवि प्राणाश्च धारयति जाविष्यति
जावितपूर्वधेति जाय । गो जी, जा प्र, य ३६६

४ व्यवहारनयेन गुणास्त्रय कर्म, निश्चयेन चित्तयाप्राप्त वगताति कर्ता । गा जी, जा प्र, य ३६६

५ व्यवहारनयेन समयमत्तय च वनाति वक्ता, निश्चयेनावना । गा जी, जा प्र, य ३६६

६ नयद्वयोनप्राणा मन्यस्येति प्राणा । गो जी, जी प्र, य ३६६

७ व्यवहारेण गुणानुक्रमकर्मणः, निश्चयेन स्वस्वरूप च भुक्तं अनुभवतानि मोक्षा । गा जी, जा प्र,
य ३६६

८ व्यवहाराण कर्मणांमपुत्रान् धारयति गालयति चेति पुटल, निश्चयनानुत्तर । गा जी, जा प्र, य ३६६

९ नयद्वयन दोषालोनगत त्रिकाणोचर सर्वं वेत्ति जानानानि वेद । गा जी, जी प्र, य ३६६

१० व्यवहारेण स्वापात्तदेहं ममुद्धति सर्वलोक, निश्चयेन ज्ञानम मय वरमि व्याप्राप्ताति विष्णु । गा जी,
जी प्र, य ३६६

स्वयम्भूः । मरीरमेवस्व अतिथि ति सरीरी' । मनुः ज्ञान, तत्र भव इति मानव' । सज्जन-
मन्त्र-मित्त जग्गादिषु सज्जति ति मत्ता । चउग्गाड-ससारे जायति जणयति ति जतू ।
माणो एयस्म अतिथि ति माणी' । माया अतिथि ति मायी' । जोगो अतिथि ति जोगी ।
जडमण्ड देह-पमाणेण सज्जति ति सज्जो' । मन्त्र लोकागाम प्रियापति ति अमकुटो ।
क्षेत्र स्वस्वरूप जानातीति क्षेत्रज्ञ, । जड कम्मन्भरति ति अतरप्पा ।

इसलिये सिष्णु है । स्वत ही उत्पन्न हुआ है इसलिये स्वयम्भू है । समार अवस्थामें इसके
शरीर पाया जाता है, इसलिये शरीरी है । मनु ज्ञानको कहते हैं । उसमें यह उत्पन्न हुआ है,
इसलिये मानव है । स्वजनसमन्धी मित्र आदि वर्गमें आसक्त रहता है, इसलिये मत्ता है । चार
गतिरूप ससारमें उत्पन्न होता है, इसलिये जतु है । इसके मानकपाय पाई जाती है, इसलिये
मानी है । हमने मायारूपाय पाई जाती है इसलिये मायी है । इसके तीन योग होते हैं, इसलिये
योगी है । अतिमूर्ख देह मिलनेसे सज्जित होता है इसलिये सज्जु है । सपूर्ण लोकाकाशको
व्याप्त करता है इसलिये असज्जु है । लोकालोक रूप क्षेत्रको ओर अपने स्वरूपको जानता है,
इसलिये क्षेत्रज्ञ है । आठ कर्मोंके भीतर रहता है इसलिये अतरप्पा है ।

१ यद्यपि जगत्त्रय स्वयम्भू मने भव भवति परिणमति, तथापि निजयन स्वय स्वस्मिन्भव ज्ञानदर्शन
स्वरूपैव भवति परिणमति इति २१ । गा ३, जी ३, टी ३६६

गण जातिरिक्ता

आति समरी, निश्चिनासारा । गा जी, जी ३, टी ३६६

कम्मपपाद णाम पुञ्च बीमहं ण्ठ्ठण २० चत्तारि-सय-पाहुडाण ४०० एग-
कोडि-असीदि-लम्स-पदेहि १८-०००००० अट्ठमिह कम्मं वण्णेदि' । पच्चक्खाण-णामधेयं
तीसण्ह वत्थूणं ३० छस्सय-पाहुडाण ६०० चउरासीदि लम्स-पदेहि ८४००००० दव्व-
माय-परिमियापरिमिय-पच्चक्खाण उअरासमिहि पच समिदीओ तिणिण गुचीओ च परुपेदि' ।
विज्जाणुपाद णाम पुञ्च पण्हारमण्ह ण्ठ्ठण १५ तिणिण-सय-पाहुडाण ३०० एग-कोडि-
दम-लम्स-पदेहि ११०००००० अगुण्डप्रमेनादीना अल्पविद्याना सप्तशतानि रोहिण्यादीना
महाविद्याना पञ्चशतानि अन्तरिक्षभौमाङ्गस्वस्मलक्षणव्यञ्जनछिन्नान्यष्टौ महानिमि-
त्तानि च कथयति' । कंछाण णामयेय णाम पुञ्च दसण्हं वत्थूण १० वि-सद-पाहुडाणं
२०० छव्वीस-कोडि-पदेहि २६००००००० रविशशिनक्षत्रतारागणाना चारोपपादगति-
विपर्ययफलानि शकुनव्याहृतमर्हद्गलदेवरासुदेवचक्रधरादीना गर्भापतरणादिमहाकल्याणानि

कर्मप्रवादपूर्व धीस्त्रस्तुगत वारसो प्राभृतोंके एक करोड अस्सी लाख पदोंद्वारा
आठ प्रकारके कर्मोंका वर्णन करता है । प्रत्याख्यानपूर्व तीस वस्तुगत छहसौ प्राभृतोंके चौरासी
लाख पदोंद्वारा द्रव्य, भाव आदिकी अपेक्षा परिमितकालरूप और अपरिमितकालरूप
प्रत्याख्यान, उपवाससिद्धि, पाच समिति और तीन गुणितोका वर्णन करता है ।
विद्यानुवादपूर्व पन्द्रह वस्तुगत तीनसौ प्राभृतोंके एक करोड दश लाख पदोंद्वारा
अगुण्डप्रमेना आदि सातमौ अल्प विद्याजोका, रोहिणी आदि पाचसौ महाविद्याजोका,
और अन्तरिक्ष, भौम, अग, स्वर, ज्यम, लक्षण, व्यञ्जन, बिन्दु इन आठ महानिमित्तोका
वर्णन करता है । कल्याणवादपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभृतोंके छहसौ करोड पदोंद्वारा सूर्य,
चन्द्रमा, नक्षत्र और तारागणाके चारद्वेज, उपपादख्यान, गति, वक्रगति तथा उनके फलाका,
पक्षीके शब्दोंका और अरिहत अर्थात् नाथकर, बलदव, वासुदेव और चक्रवर्ता आदिके गर्भा-

१ कर्मण प्रवाद प्ररूपणमस्मिन्निति कर्मप्रवादमष्टम पूम् । तच्च भूलोत्तराचरमहतिमदमित बहुविस्त्वत्रधोदया
दारणमवाधवर्त्तमानानरणादिस्मत्स्वरूप समवधानेयायथनपम्याधामादि वणयति । गो जी, जी प्र, टी ३६६

२ प्रयागयाते निविष्यते सावचमभिनननेति प्रा प्रयागयान नम पूम् । तच्च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकाल
मायानात्रिष पुण्यसहननबलायुसारेण परिमितकाल अपरिमितकाल वा प्रयागयान सावचवस्तुनिवृत्ति उपवाताविधि तद्गा
वनाग पासमिभिन्नशु यादिश्च व वणयति । गो जी, जा प्र, टी ३६६

३ यथा विद्ययागुपे दनतावतार जियत सा अगुण्डप्रमना विधांच्यते । जमि रा नो (अगुण्डप्रमेणी)

४ विद्याना अनुवाद अनुक्रमण वणन यस्मिन् तद्विद्यानुवाद दसम पूर्वम् । गो जी, जा प्र, टी ३६६

५ तयाणानां वाद प्ररूपणमस्मिन्निति तयाणवादमेशदश पूम् । तच्च तीथररचमधरलदववाहदवप्रति
वाहदवादानां गमापतरणतयाणादिमशोसवान तत्तरणशायनरादिपुण्यविशेषेतुषोडशमायनातपविशेषायतुगनानि
चन्द्रसूयहनसचाराप्रणशकुनादिरहादि च वणयति । गो जी, जा प्र, टी ३६६ एकादशमत्राप्य, कप्य नाम
निष्फल न विद्यत वप्य यन तत्तन्ध्य, विद्युक्त भवति ? यन मनेजपि ज्ञानतप सयमादय शुभफला सर्वे च प्रमादयोऽ-
शुभफला वण्यत तदन्त्य नाम, तस्य पदपरिमाण पङ्क्तिरिति पदतोऽप्य । न सू, पृ २४१

च कथयति । पाणात्रय नाम पुंस्व दसण् वत्सृह १० त्रि-सद-पाहुटाण २०० तैरस-
कोटि-पदेहि १२००००००० कायचिकित्साद्यष्टाङ्गमायुर्वेद भूतिकर्म जाडुलिप्रक्रम प्राणा-
पाननिर्माण चरित्रेण कथयति । किरियाविताल नाम पुंस्व दसण् वत्सृह १० त्रि-सद-
पाहुटाण २०० त्रय कोटि-पदेहि ९०००००००० लेसादिका द्वासप्ततिकला त्रैणोऽवतु-
यष्टिगुणान् शिल्पानि काव्यगुणदोषक्रिया उन्दोत्रिचितिक्रिया च कथयति । लो-
न्दिमर नाम पुंस्व दसण् वत्सृह १० त्रि-सद-पाहुटाण चारह-कोटि-पण्णास लम्प-
पदेहि १२५००००००० अष्टौ व्यग्रहारान् चत्वारि बीजानि मोक्षगमनक्रिया मोक्षसुख
च कथयति । सयल-वत्सृह ममामो पचाणउदि-सद १०५ सयल-पाहुड-समासो तिण्णि-
सहस्मा त्रय सया ३९०० ।

वतार आदि महाकल्याणनाम वर्णन करता है । प्राणायामपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभृतोंके तेरह करोड़ पदाङ्गारा शरीररचिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद, भूतकर्म, अर्थात् शरीर आदिकी रक्षार्थे लिये किये गये भ्रमलेपन सूत्ररचनादि कर्म, जागुलिप्रथम (विपविद्या) आर प्राणायामके भेद प्रभेदोंका विस्तारसे वर्णन करता है । त्रियाजिशालपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभृतोंके नौ करोड़ पदाङ्गारा लेखनफला आदि बहत्तर कलाओंका, खीसनधी चोसठ गुणोंका, शिल्पकलाका काव्यसंग्रही गुणदोषविधिकी ओर छन्दनिर्माणफलाका वर्णन करता है । लोकविन्दु सारपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभृतोंके बारह करोड़ पचास लाख पदोंङ्गारा जाठ प्रसारके व्यवहारोंका, चार प्रकारके रीजोंका, मोक्षको ले जानेवाली त्रियाका आर मोक्षसुखका वर्णन करता है । इन चारदह पर्योमें सपूर्ण वस्तुओंका जोड़ एकसौ पञ्चानवे है, आर सपूर्ण प्राभृतोंका जोड़ तीन हजार नौसौ है ।

१ शारत्माङ्कताय भद्रमूखादिना यथारोप्यकरणं तं भूतिरम् । उक्तं च ' भद्रं मूर्ध्नि वाह व सत्पुत्रं व
 वाह मुहूर्त्तम् तु । वयं शारत्माङ्कता अभिजातमात्रा । म सा पु पु २८

२ प्रवर्णा अवाद् प्रत्ययगमनविहिते पागवाद्वादात् पूर्वम् । तच्च स्याद्विक्रियाघटानामप्युदभूतिसम्
जोषिप्रसन्न इत्येवमन्तुमुद्दिष्टप्रकाशप्रकाशविभाग दत्तपापाना उपहारपरपरस्परव्यति गत्याधनमरण
मयति । गो वा, जा प्र, दा २६६

३ नियादिमि वृथादिमि विनाश विमलण साममान वा नियाविनाल पवादस तूमन् । तस संगान
 शाल्यकदास्मत्तसमनिष्ठा चतुर्धाशुभाश्चि मादिविज्ञानानि चतुरश्रातिगमायानादिना अष्टित्थान मन्थ
 मदननादिषा पवावसनि दववदनादशा नियनमितिषा नियाध्र उगयति । गो जी, जी प्र, र ३६०

४ मित्राग्निद्वार इति पा । मितारत्ना मित्र अथवा सा च वषट्कारमिधिति मित्राग्निद्वार ।
तत्र मितारत्नरूप पदान्तरम् ॥ ३६३ ॥ अथ । परात्तत्त्वाग्नि राजानि मातृत्वरूप तन्मनःकरणिया मालम्ब्य
स्वरूप च वषट्कार ॥ ३६३ ॥ यः ३६३ वषट्काराद्वारे राजानि पश्चिमदिशि निविशति ॥
समर्थः ॥ ३६३ ॥

एतथ किमुप्पायपुञ्चादो, किमग्गेणियादो ? एत्त पुञ्छा सञ्चेत्ति । णो उप्पाय-
पुञ्चादो, एव पारणा मञ्चेमि । अग्गेणियादो । तम्म अग्गेणियस्म पचिहिो उअमो,
आणुपुञ्ची णाम पमाण उत्तच्चदा अत्थाहियारो चेदि । आणुपुञ्ची तिनिहा, पुञ्चाणुपुञ्ची
पच्छाणुपुञ्ची जत्थतत्थाणुपुञ्ची चेदि । एत्थ पुञ्चाणुपुञ्चीए गणिज्जमाणे विदियादो,
पञ्चाणुपुञ्चीए गणिज्जमाणे तेरसमादो, जत्थतत्थाणुपुञ्चीए गणिज्जमाणे अग्गेणियादो ।
अणाणमग्ग-पदं वण्णेदि त्ति अग्गेणिय गुणणाम । अक्खर-पढ मघाढ-पडिअत्ति-अणि-
योगदारेहि मखेज्जमत्थदो अणत्तं । उत्तच्चग्ग ससमयउत्तच्चदा ।

अत्थाधियारो चोहसनिहो । त जहा, पुच्चते अरस्ते धुने अद्भुवे चयणलद्धी अद्भुवमं
पणिप्रिरुप्पे अट्ठे सोम्मानयादीए सच्चट्ठे कप्पणिज्जाणे तीढे अणागय-काले मिज्झए
उज्झए त्ति चोहम वत्थुणि' । एत्थ किं पुच्चत्तादो, किं अरत्तादो ? एत्त पुञ्छा सञ्चेमि
कायच्चा । णो पुच्चत्तादो णो अरत्तादो, एत्त पारणा मञ्चेमि कायच्चा । चयणलद्धीदो ।

इस जीवस्थान शास्त्रम क्या उत्पादपूर्वसे प्रयोजन हे, क्या अग्रायणीयपूर्वसे प्रयोजन
हे? इस्तरह सबके विषयम पृच्छा करनी चाहिये । यहा पर न तो उत्पादपूर्वसे प्रयोजन हे, अर
न दूसरे पूर्वोसे प्रयोजन है इस्तरह सयका निषेध करके यहा पर अग्रायणीयपूर्वसे प्रयोजन हे,
इस्तरहका उत्तर देना चाहिये ।

उस अग्रायणीयपूर्वके पाच उपक्रम ह, आनुपूर्वो नाम, प्रमाण, वक्तव्यता ओर अर्था
धिकार । पूर्वानुपूर्वो, पश्चादानुपूर्वो और यथात गनुपूर्वके भेदसे आनुपूर्वो तीन प्रकारकी है ।
यहा पर पूर्वानुपूर्वोसे गिनती करने पर दूसरेसे, पश्चादानुपूर्वोसे गिनती करने पर तेरहवेंसे
आर यथातगनुपूर्वोसे गिनती करने पर अग्रायणीयपूर्वसे प्रयोजन हे । अगके अग्र अर्थात्
प्रधानभूत पदार्थोंका वर्णन करनेवाला होनेके कारण 'अग्रायणीय' यह गौण्यनाम हे । जक्षर,
पद, सघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वारोंकी अपेक्षा सख्यात और अर्थकी अपेक्षा अनन्तरूप
है । इसमें स्वसमयका ही कथन किया गया है, इसलिये स्वसमयवक्तव्यता हे ।

अग्रायणीयपूर्वके अर्थाधिकार चौदह प्रकारके ह । वे इसप्रकार हे, पूर्वान्त अपरान्त
ध्रुव, अध्रुव, चयनलत्ति, अर्धोपम, प्रणधिरूप अर्थ, भौम, वतादिक, सर्वार्थ, उत्पत्तिर्वाण,
अतीतकालमें सिद्ध और वद्ध, आगतकालमें सिद्ध और वद्ध । इनमेंसे यहा पर क्या पूर्वान्तसे
प्रयोजन हे, क्या अपरान्तसे प्रयोजन हे? इस्तरह सबके विषयम पृच्छा करनी चाहिये । यहा
पर पूर्वान्तसे प्रयोजन नहीं, अपरान्तसे प्रयोजन नहा, इत्यादि रूपसे सयका निषेध कर देना
चाहिये । किन्तु चयनलत्तिसे यहा पर प्रयोजन हे इसप्रकार उत्तर देना चाहिये । चयनलाधिका

१ परान्त कषणत्तं ध्रुवमध्रुवव्यवस्थानां धनानि । अध्रुवं सप्रतिभिं चावर्धं सामात्रयाय (१) च ॥
उर्ध्वधरायाय हानमतीतं लनात्तं रात्र्यु । सिद्धिमुपाय न तमा चतुर्दश वन्तूनि विवायस्य ॥ ६ म. पृ ८-९.

तस्म उरस्मो पचविहो, आणुपुन्नी णाम पमाण वत्तव्वदा अत्थाहिपारो चेदि । तत्थ आणुपुन्नी तिप्पिहा, पुन्नाणुपुन्नी पन्नाणुपुन्नी जत्थतत्थाणुपुन्नी चेदि । एत्थ पुन्नाणुपुन्नीए गणिज्जमाणे पचमादो, पच्चाणुपुन्नीए गणिज्जमाणे दममादो, जत्थ तत्थाणुपुन्नीए गणिज्जमाणे चयणलद्धोदो । णाम चयण-प्पिहिं लद्धि-प्पिहिं च वण्णेदि तेण चयणलद्धिं त्ति गुणणाम । पमाणमस्सर-पट सघाद पडिप्पत्ति-अणियोगहारोहि सखेज्जमन्थदो अणत्त । उत्त-पदा सममयत्त पदा । अत्थाविपारो वीमदिप्पिहो । एत्थ किं पडम-पाहुडादो, किं पिडिय-पाहुडादो ? एउ पुच्छा मव्वेप्पिं णेयव्वा । णो पटम-पाहुडादो णो पिडिय-पाहुडादो, एउ मारणा मव्वेप्पिं णेयव्वा । चउत्थ पाहुडादो । तस्म उरस्मो पचविहो, आणुपुन्नी णाम पमाण वत्तव्वदा अत्थाहिपारो चेदि । तत्थ आणुपुन्नी तिप्पिहा, पुन्नाणुपुन्नी पन्नाणुपुन्नी जत्थतत्थाणुपुन्नी चेदि । पुन्नाणुपुन्नीए गणिज्जमाणे चउत्थादो, पच्चाणुपुन्नीए गणिज्जमाणे मत्तामसमादो, जत्थतत्थाणुपुन्नीए गणिज्जमाणे कम्मपयडिपाहुडादो । णाम कम्मण पयडि मरुत्त वण्णेदि तेण कम्म पयडिपाहुडे त्ति गुणणाम । जेयणकमिणपाहुड त्ति पि तस्स पिडिय णाममत्थि ।

उपनम पांच प्रकारका है, आनुपूर्वा, नाम, प्रमाण, वत्तव्यता और अर्थाधिकार । पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वा और यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वा तीन प्रकारकी है । उन तीनोंमेंसे, यहाँ पर पूर्वानुपूर्वीसे गिनती करने पर पाचवें अर्थाधिकारसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिनती करने पर दशवें अर्थाधिकारसे और यथातथानुपूर्वीसे गिनती करने पर चयनलक्षि नामके अर्थाधिकारसे प्रयोजन है । यह अर्थाधिकार चयनविधि और लक्ष्यविधिना वर्णन करता है, इसलिए चयनविधि यह गण्यनाम है । अस्सर, पट, सघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूपधारकोंकी अपेक्षा सख्यात तथा अर्थकी अपेक्षा अनन्तप्रमाण है । स्वसमयका कथन करनेवाला होनेके कारण यहाँ पर स्वसमयवत्तव्यता है । चयनलक्षिके अर्थाधिकार वीम प्रकारके है । उनमेंसे यहाँ क्या प्रथम प्राभृतसे प्रयोजन है, क्या दूसरे प्राभृतसे प्रयोजन है ? इसतरह सबके विषयमें पूछा करनी चाहिये । यहाँ पर प्रथम प्राभृतसे प्रयोजन नहीं है, दूसरे प्राभृतसे प्रयोजन नहीं है, इसप्रकार सत्रका नियम कर देना चाहिये । किन्तु यहाँ पर चौथे प्राभृतसे प्रयोजन है, ऐसा उत्तर देना चाहिये ।

उसका उपनम पांच प्रकारका है, आनुपूर्वा, नाम, प्रमाण, वत्तव्यता और अर्थाधिकार । उनमेंसे, पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वा और यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वा तीन प्रकारकी है । यहाँ पर पूर्वानुपूर्वीसे गिनती करने पर चौथे प्राभृतसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिनती करने पर सत्रवें प्राभृतसे और यथातथानुपूर्वीसे गिनती करने पर कर्मप्रगतिप्राभृतसे प्रयोजन है । यह कर्मोंकी प्रगतिविधिसे सारूपका वर्णन करता है, इसलिए कर्मप्रगतिप्राभृत यह गण्यनाम है । इसका 'चेदनावृत्तप्राभृत' यह दूसरा नाम भी है । कर्मोंके उद्भूतिके चेदना कहते हैं । उसका यह

यणा कम्माणमुदयो त कसिण गिरसेम ण्णेदि, जदो वेयणकसिणपाहुडमिदि
 त्थमि गुणाममेव । पमाणमरुण-य सघाय पडिउत्ति अणियोगद्वारेहि सखेज-
 त्थदो अणत । वत्तव ससमयो । अत्थाहियारो चउरीसदिनिहो । तं जहा, कदी
 ण्णपाए फासे कम्मे पयडी सुवणे गिरवणे पक्कमे उव्वमे उदए मोक्खे सकम्मे लेस्सा
 केस्सायम्मे लेस्सापरिणामे मादममादे दीहे रहस्से भग्गारणीए पोग्गलत्ता गिवत्त-
 णिउत्त णिकाचिदमणिक्काचिद कम्मट्ठिदी पच्छिमक्खधे' ति । अप्पाउग्ग च सव्वत्थ,
 णेण चउरीसण्हमणियोगद्वाराण साहारणो तेण पुह अहियारो ण होदि ति । एत्थ किं
 कदीदो, किं वेयणादो ? एउ पुच्छा सव्वत्थ कायच्चा । णो कदीदो णो वेयणादो, एवं
 णारणा मच्चेत्ति णेयच्चा । वधणादो । तम्म उव्वमो पचविहो, आणुपुव्वी णाम पमाण
 तत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि । तत्थ आणुपुव्वी तिनिहा, पुव्वानुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी
 तत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि । तत्थ पुव्वानुपुव्वीए गणिज्जमाणे छट्ठादो, पच्छाणुपुव्वीए

नेरपशेपरूपसे वर्णन करता है, इसलिये वेदनादृक्प्रभृत यह भी गौण्यनाम है । यह अक्षर,
 मद, सघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वारोंकी अपेक्षा सत्त्यातप्रमाण और अर्थकी अपेक्षा
 अनतप्रमाण है । स्वसमयका ही कथन करनेवाला होनेके कारण इसमें स्वसमयवक्तव्यता है ।

कर्मप्रवृत्तिप्रभृतके अर्थाधिकार चौबीस प्रकारके हैं वे इसप्रकार हैं । कृति, वेदना,
 स्पर्श, कर्म, प्रकृति, सुबन्धन, निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम, उद्द्य, मोक्ष, सक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म
 लेश्यापरिणाम, सातअसात, दीर्घहम्म, भवधारणीय, पुद्गलत्व, निधत्त अनिधत्त, निकाचित
 अनिकाचित, कर्मस्थिति और पश्चिमम्भक्त । इन चौबीस अधिकारोंमें अल्पबहुत्व लगा लेना
 चाहिये, क्योंकि, चौबीस ही अधिकारोंमें अल्पबहुत्व साधारण अर्थात् समानरूपसे है । इसलिये
 अल्पबहुत्व नामका पृथक् अधिकार नहीं हो सकता है ।

यहां पर क्या कृतिसे प्रयोजन है, क्या वेदनासे प्रयोजन है ? इसतरह सत्र अधि-
 कारके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये । यहां पर न तो कृतिसे प्रयोजन है, न वेदनासे ही
 प्रयोजन है, इसतरह सत्रका निषेध कर देना चाहिये । किंतु बन्धन अधिकारसे प्रयोजन है,
 इसतरह उत्तर देना चाहिये । उस बन्धन नामके अधिकारका उपक्रम पांच प्रकारका है, आनु-
 पूया, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार । उनमेंसे, पूर्वानुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी और
 यथातयानुपूर्वके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है । उन तीनोंमेंसे, पूर्वानुपूर्वीसे गिननेपर

१ पचमवस्तुचतुषधाश्रयस्यानुयोगनामानि । इतिउदने तमे स्पर्शनम प्रवृत्तिमव ॥ मधननिबन्धन
 प्रमातुपचममाश्रयुदयमोहो ॥ सत्रमलेश्य च तथा लेश्याया वमपरिणामो ॥ सातममार्तं दार्ढ हृत्त मरधारणाय
 मत्त च । पुग्गुलामनाम च निधत्तमनिधत्तममिनोमि ॥ सनिक्काचितमनिक्काचितमथ वमस्थितिरपश्चिमम्भक्ता ।
 अन्वत्तव च यन तद्धारणां चतुविधम् ॥ द म पृ ९

गणिज्जमाणे एगूणजीमट्टिमादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीण गणिज्जमाणे वधणादो । णाम
 तत्र पण्णणाजो वधणो ति गुणणाम । पमाणमङ्गर-पय-सधाद-पडित्ति-अणियो
 गदरेहि मग्गेज्जमत्थदो जणत । वत्तव्वदा सममयवत्तव्वदा । अत्थाधियारो चउत्तिहो ।
 त जहा, उधो वधणो उधाणिज्ज उधनिमाण चेदि । एत्थ कि उधादो ? एव पुच्छा
 मग्गेसिं कायव्वा । णो वधादा णो वधणिज्जादो । वधगादो उधनिमाणदो च । एत्थ
 उधमे ति अहियारस्म एवाम् अणियोगदाराणि । त जहा, एगजीवेण मामित्त एगजी-
 वेण कालो एगजीवेण अतर णाणाजीवेहि मगनिचयो ठव्वपमाणाणुगमो सेत्ताणुगमो
 पोमणाणुगमो णाणाजीवेहि कालाणुगमो णाणाजीवहि अतराणुगमो भागाभागाणु-
 गमो अप्पाज्जुगणुगमो चेदि । एत्थ कि एगजीवेण सामित्तादो ? एव पुच्छा मग्गेसिं ।
 णो एगजीवेण सामित्तादो, एव शरणा मग्गेसिं । पचमादो । ठव्वपमाणादो ठव्वपमाणा-
 णुगमो णिग्गदो ।

छटे अधिकारसे, पञ्चदानुपूर्वसे गिननेपर उद्गीस्तव अधिकारसे और यथानयानुपूर्वसे
 गिननेपर बन्धन नामके अधिकारसे प्रयोजन है । यह बन्धन नामका अधिकार बन्धका वर्णन
 करता है, इसलिये इसका 'बन्धन' यह गोप्यनाम है । यह अक्षर, पद, सघन, प्रतिपत्ति
 और अनुयोगरूप द्वारोंकी अपेक्षा सत्प्रत्यक्षप्रमाण और अर्थकी अपेक्षा जन तत्प्रमाण है ।
 स्वसमयका वर्णन करनेवाला होनेसे इसमें स्वसमयवत्तयता है ।

इसके अर्थअधिकार चार प्रकारके हैं, बन्ध, बन्धक, उत्पत्तीय और बन्धविधान ।
 यद्वापर क्या बन्धसे प्रयोजन है ? इत्यादि रूपसे चारों अधिकारोंके विषयमें पूछा करनी
 चाहिये । यद्वापर बन्धसे प्रयोजन नहीं है और बन्धनीयसे भी प्रयोजन नहीं है, किन्तु बन्धक
 और बन्धविधानसे यद्वापर प्रयोजन है ।

इन बन्ध आदि चार अधिकारोंमेंसे बन्धक इस अधिकारके ग्यारह अनुयोगद्वारा है । वे
 इसप्रकार हैं, एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्वानुगम, एक जीवकी अपेक्षा कालानुगम, एक
 जीवकी अपेक्षा अतानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा भगविवधानुगम, द्रव्यप्रमाणानुगम,
 क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा कालानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तरानुगम,
 भागाभागाणुगम और अल्पगुह्यवानुगम । यद्वापर क्या एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्वानुगमसे
 प्रयोजन है ? इत्यादि रूपसे ग्यारह अनुयोगद्वारोंके विषयमें पूछा करनी चाहिये । यद्वापर
 एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्वानुगमसे प्रयोजन नहीं है, इत्यादि रूपसे सत्प्रमाण निषेध भी
 कर देना चाहिये । किन्तु यद्वा पाववे द्रव्यप्रमाणानुगमसे प्रयोजन है, इसप्रकार उत्तर देना
 चाहिये ।

इस जीवस्वान् शास्त्रमें जो द्रव्यप्रमाणानुगम नामका अधिकार है, वह इस बन्धक
 नामके अधिकारके द्रव्यप्रमाणानुगम नामके पाववे अधिकारसे निकला है ।

रधनिहाण चउन्निह । त जहा, पयडिन्धो द्विदिन्धो अणुभागन्धो पदेसन्धो चेदि । तत्थ जो सो पयडिन्धो सो दुन्निहो, मूलपयडिन्धो उत्तरपयडिन्धो चेदि । तत्थ जो सो मूलपयडिन्धो सो य्पो । जो सो उत्तरपयडिन्धो सो दुन्निहो, एगेगुत्तर-पयडिन्धो अन्नोगादुत्तरपयडिन्धो चेदि । तत्थ जो सो एगेगुत्तरपयडिन्धो तस्म चउन्निह अणियोगद्वाराणि णादन्नाणि भवति । त जहा, समुक्त्तिणा सन्धन्धो णोमन्धो उक्कम्भन्धो अणुक्कम्भन्धो जहणन्धो अजहणन्धो सादियन्धो अणादिय-न्धो पुनन्धो अट्ठन्धो रधसामित्तिचयो रधकालो वधतर वधसणियासो णाणा-जीवेहि भगन्निचयो भागाभागानुगमो परिमाणानुगमो खेत्तानुगमो पोसणानुगमो कालानुगमो अंतरानुगमो भावानुगमो अप्पापहुत्तानुगमो चेदि । एदेसु समुक्त्तिणादो पयडिसमुक्त्तिणा द्वाणममुक्त्तिणा तिणि महादडया णिग्गया । तेणीमदिमादो भाओ णिग्गदो । जो सो अन्नोगादुत्तरपयडिन्धो सो दुन्निहो, भुजगारन्धो पयडिद्वान्धो चेदि । जो सो भुजगारन्धो तस्म अट्ठ अणियोगद्वाराणि सो य्पो । जो सो पयडिद्वान्धो तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्वाराणि । त जहा, मत्तरूपाणा दन्धपमाणाणुगमो खेत्तानु-गमो पोसणानुगमो कालानुगमो अंतरानुगमो भावानुगमो अप्पापहुत्तानुगमो चेदि । एदेसु अट्ठसु अणियोगद्वारेसु छ अणियोगद्वाराणि णिग्गयाणि । त जहा, सत्तरूपाणा

बन्धनिधान चार प्रकारका ह, प्रकृतियन्ध, स्थितियन्ध, अनुभागवन्ध, और प्रदेशयन्ध । उन चार प्रकारके बन्धमेंसे मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्धके भेदसे प्रकृति य दो प्रकारका है । उनमेंसे, मूलप्रकृतियन्धका वर्णन स्थिति करके उत्तरप्रकृतियन्धके भेदोंका वर्णन करते हैं । वह उत्तरप्रकृतियन्ध दो प्रकारका है, एकैकोत्तरप्रकृतियन्ध और अन्नोगाद उत्तरप्रकृति यन्ध । उनमेंसे जो एकैकोत्तरप्रकृतियन्ध है उसके चौबीस अनुयोगद्वार होते हैं । वे इसप्रकार हैं, समुत्कीर्तन, सर्वयन्ध, नोसर्वयन्ध, उत्तरपृथग्, अनुत्तरपृथग्, जघन्ययन्ध, अजघन्ययन्ध, सादियन्ध, अनादियन्ध, सुवयन्ध, अधुवयन्ध, यन्धस्यामित्तिचय, यन्धकाल, बन्धात्तर, वधसन्धिरूप, नाना जीवोंकी अपेक्षा भगन्निचय, भागाभागानुगम, परिमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, कालानुगम, अंतरानुगम, भावानुगम, और अल्पबहुत्तानुगम । इन चौबीस अधिकारोंमें जो समुत्कीर्तन नामका अधिकार है उसमेंसे प्रकृतिसमुत्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना और तीन महादण्डक निकले हैं और तेवीसवें भावानुगमसे भावानुगम निकला है ।

जो अन्नोगाद उत्तरप्रकृतियन्ध है वह दो प्रकारका है, भुजगारयन्ध और प्रकृतिस्थान यन्ध । उनमेंसे, भुजगारयन्धके आठ अनुयोगद्वारोंके वर्णनको स्थिति करके प्रकृतिस्थानयन्धमें जो आठ अनुयोगद्वार होते हैं उनका वर्णन करते हैं । वे इसप्रकार हैं, सत्तरूपाणा नुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, कालानुगम, अंतरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्तानुगम । इन आठ अनुयोगद्वारोंमेंसे छह अनुयोगद्वार निकले हैं । वे इसप्रकार हैं, मत्तरूपाणा, क्षेत्रप्ररूपाणा,

चेत्तपरूपणा पोसणपरूपणा कालपरूपणा अतरपरूपणा अप्पावहगपरूपणा चेदि । एदाणि छ पुविह्ठाणि टोण्णि एकदो मेलिदे जीवद्वयणस्स जइ अणियोगदाराणि हरति । पयडिह्ठाणवधे उच्च सतादि-छ-अणियोगदाराणि पयडिह्ठाणवधस्म उच्चाणि । पुणो जीवद्वयणस्म सतादि-छ अणियोगदाराणि चोदमण्ह गुणद्वयणाण वुत्ताणि । कथ तेहितो एदाण-मवदारो ति ? ण एस दोमो, एदस्स पयडिह्ठाणस्स वधया मिच्छाइट्ठी अरिय । एदस्स पयडिह्ठाणस्स वधया मिच्छाइट्ठी एवदि खेत्ते । एदस्म पयडिह्ठाणस्स वधएहि मिच्छाइट्ठीहि एवदिय खेत्त पोसिद । एदस्म पयडिह्ठाणस्म वधया मिच्छाइट्ठी त मिच्छत्त गुणमउदता जहण्णेण एत्तिय कालमुवस्सेण एत्तिय कालमच्छति । ताणमतर-कालो जहण्णुवस्सेण एत्तिओ होदि । एउ नेमगुणद्वयण च भणिऊण पुणो ताणम प्पावहग उच्च । तेण नेहि पयडिह्ठाणस्मि उच्च-छहि अणियोगदारेहि सह एगत्त ण विरुज्जेदि ।

स्पर्शनप्ररूपणा, कालप्ररूपणा, अतरप्ररूपणा आर अल्पबहुत्वप्ररूपणा । ये छह और वधक अधिकार के ग्यारह अधिकार ह, उनमेंके द्रव्यप्रमाणानुगममेंसे निकला हुआ द्रव्यप्रमाणानुगम तथा एतेतरप्रवृत्तिबन्धके जो चारबीस अधिकार ह उनमेंके तीससवें भागानुगममेंसे निकला हुआ भावप्रमाणानुगम, इसतरह इन सबको एक जगह मिला देने पर जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वार हो जाते ह ।

प्रका—प्रवृत्तिस्थानबन्धम जो छह अनुयोगद्वार कहे गये हैं, ये प्रवृत्तिस्थानवध सबधी कहे गये हैं । और जीवस्थानके जो सत्प्ररूपणा आदि छह अनुयोगद्वार हैं वे गुणस्थानसबन्धी कहे गये ह । ऐसी हालतमें प्रवृत्तिस्थानबन्धसम्बन्धी छह अनुयोगद्वारोंमेंसे जीवस्थानसम्बन्धी छह अनुयोगद्वारोंका अन्तर कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, इस प्रवृत्तिस्थानके वधक मिथ्यादृष्टि जीव है । मिथ्यादृष्टि जीव इतने क्षेत्रम इस प्रवृत्तिस्थानके वधक होते हैं । इस प्रवृत्तिस्थानके वधक मिथ्यादृष्टि जीवोंने इतना क्षेत्र स्पर्श किया है । इस प्रवृत्तिस्थानके वधक मिथ्यादृष्टि जीव उस मिथ्यात्व गुणस्थानमें नहीं छोड़ने हुए जघन्यकी अपेक्षा इतने कालतर और उत्पष्टकी अपेक्षा इतने कालतर मिथ्यात्व गुणस्थानमें रहते हैं । इस प्रवृत्तिस्थानके वधक मिथ्यादृष्टि जीवोंका जघन्य अन्तराल इतना आर उत्पष्ट अन्तराल इतना होता है । इसीतरह शेष गुणस्थानोंका कथन करके फिर उनका अल्पबहुत्व कहा गया ह । इसलिये उन प्रवृत्तिस्थानमें कहे गये छह अनुयोगद्वारोंके साथ जीवस्थानमें कहे गये छह अनुयोगद्वारोंका एकत्व अर्थात् समानता विरोधको प्राप्त नहीं होती है ।

निशेषार्थ—प्रवृत्तिस्थानवधम सदादि छह अनुयोगाना प्रवृत्तिस्थानकी अपेक्षा कथन है और इस जीवस्थानमें प्रवृत्तिस्थानके वधक मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंकी अपेक्षा सदादि छह अनुयोगोंका कथन है । इसलिये प्रवृत्तिस्थानके छह अनुयोगोंमेंसे जीवस्थानके छह अनुयोगोंकी उत्पत्ति विरोधको प्राप्त नहीं होती है ।

एत्थतण-द्व्याणियोगस्म पि कि ण गहणं कीरदि त्ति उत्ते ण, मिच्छाइट्ठि-
आदि-गुणट्ठाणेहि पिणा एयस्स वधट्ठाणस्म ववया जीना एत्तिया इदि सामण्णेण वुत्त-
त्तादो । उधगे उत्त दव्याणियोगस्स गहण कीरदि, तत्थ वधगा मिच्छाइट्ठी एत्तिया
सासणादिया एत्तिया इदि उत्तत्तादो । कधमजोगि-गुणट्ठाणस्स अवधगस्स दव्व-सखा
परुविज्जदि त्ति ण एस दोमो, भूद-पुव्व-गडमस्सिऊण तस्स भण्ण-संभनादो । जीन-
पयडि-संत-बंधमस्मिऊग उत्तमिदि ण । एय भावस्स पि वत्तव्वं । एय जीवट्ठाणस्स
अट्ठ-अणियोगदार-परुण कदं ।

प्रकृतिस्थान अधिकारमें कहे गये द्रव्यानुयोगका ग्रहण इस जीवस्थानमें क्यों नहीं
किया है । अर्थात् प्रकृतिस्थान अधिकारके सदादि छह अनुयोगोंमेंसे जिसप्रकार जीवस्थानके
सदादि छह अनुयोगद्वारोंकी उत्पत्ति बतलाई है, उसीप्रकार प्रकृतिस्थानाधिकारके द्रव्यानु-
योगमेंसे जीवस्थानके द्रव्यानुयोगकी उत्पत्तिका कथन क्यों नहीं किया गया है । इसप्रकार की
शका करने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसी शका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रकृति-
स्थानके द्रव्यानुयोग अधिकारमें मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंकी अपेक्षाके बिना 'इस बन्ध-
स्थानके बन्धक जीव इतने हैं' ऐसा केवल सामान्यरूपसे कथन किया गया है । और बन्धक
अधिकारके द्रव्यानुयोग प्रकरणमें इस प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि जीव इतने हैं, सासादन
सम्यग्दृष्टि जीव इतने हैं ऐसा विशेषरूपसे कथन किया गया है । इसलिये बन्धक अधिकारमें
कहे गये द्रव्यानुयोगका ग्रहण इस जीवस्थानमें किया है । अर्थात् बन्धक अधिकारके द्रव्यानुगम
प्रकरणसे जीवस्थानका द्रव्यप्रमाणानुगम प्रकरण निकला है ।

शका — अयोगी गुणस्थानमें कर्मप्रवृत्तियोंका बन्ध नहा होता है, इसलिये उनके कर्म-
प्रकृतिबन्धकी अपेक्षा द्रव्यसत्त्वा कैसे कही जावेगी ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, भूतपूर्व न्यायका आश्रय लेकर अयोगी
गुणस्थानम भी द्रव्यसत्त्वाका कथन संभव है । अर्थात् जो जीव पहले मिथ्यादृष्टि आदि
गुणस्थानमें प्रकृतिस्थानोंके बन्धक थे वे ही अयोगी हैं । इसलिये अयोगी गुणस्थानमें भी
द्रव्यसत्त्वाका प्रतिपादन किया जा सकता है । अथवा, जीवके सत्त्वरूप प्रकृतिबन्धका आश्रय
लेकर अयोगी गुणस्थानमें द्रव्यसत्त्वाका प्ररूपण किया गया है ।

भावानुगमका कथन भी इसीप्रकार समझ लेना चाहिये ।

निशेपार्थ — जीवस्थानकी भावप्ररूपणा प्रकृतिस्थानके भावानुगममेंसे न निकल कर
एकेकोत्तरप्रकृतिबन्धके जो चौबीस अधिकार हैं उनके तेषीसव भावानुगममेंसे निकली है ।
इसका कारण यह है कि प्रकृतिस्थानके भावानुगममें भावोंका सामान्यरूपसे कथन है और
एकेकोत्तरप्रकृतिस्थानके भावानुगममें भावोंका विशेषरूपसे कथन है । इसतरह जीवस्थानके
आठ अनुयोगद्वारोंका निरूपण किया ।

जाहि व जामु न जीम मगि-जते जहा तहा दिडा ।

ताओ चोदम जाणे सुण्णाणे मगणा होंनि ॥ ८३ ॥

तं जहा ॥ ३ ॥

‘तच्छब्द पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शो’ इति न्यायात् ‘तत्’ मार्गणत्रिगान । ‘जहा’ यथेति यावत् । एव पृष्टवत्, शिष्यस्य सन्देशोपहानार्थमुत्तरसूत्रमाह —

गइ इंदिए काए जोगे वेदे कसाए णाणे संजमे दंसणे लेस्सा भविय सम्मत्त सण्णि आहारए चेदि ॥ ४ ॥

गताभिन्द्रिये काये योगे वेदे कपाये ज्ञाने मयमे दर्शने लेख्याया भव्ये सम्पत्ते सङ्गिनि आहारे च जीवसमाप्ता, मृग्यन्ते । ‘च’ शब्द प्रत्येक परिममाप्यते समुच्चयार्थ । ‘इति’ शब्दः समाप्तां वर्तते । सप्तमीनिदर्श, किमर्थ ? तेषामधिकरणत्वप्रतिपादनार्थ ।

श्रुतज्ञान अर्थान् द्रव्यश्रुतरूप परमाणुममें जीव पदार्थ जिसप्रकार देखे गये हैं उसी प्रकारसे वे जिन नारकत्वादि पर्यायोंके द्वारा ज्ञाना जिन नारक वादिरूप पर्यायोंमें खोजे जाते हैं उ हें मार्गणा कहते हैं । ओर वे चोदह होती हैं ऐसा जानो ॥ ८३ ॥

वे चोदह मार्गणास्थान कालसे हैं ? ॥ ३ ॥

‘तत्’ शब्द पूर्व प्रकरणम आये हुए अर्थका परामर्शक होता है । इस न्यायके अनुसार ‘तत्’ इस शब्दसे मार्गणाओंके भेदाका ग्रहण करना चाहिये । ‘जहा’ इस पदका अर्थ ‘जैसे’ होता है । वे जैसे ? इसतरह पृष्ठनेवाले शिष्यके सन्देशको दूर करनेके लिये आगेक सूत्र कहते हैं ।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कपाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेख्या, भव्य न, सम्पत्त्व सङ्गी और आहार ये चोदह मार्गणाए ह ओर इनमें जीव खोजे जाते हैं ॥ ४ ॥

गतिमें, इन्द्रियमें, कायमें, योगमें, वेदमें, कपायमें, ज्ञानमें, सयममें, दर्शनमें, लेख्यामें भव्यत्वमें, सम्पत्त्वमें, सङ्गीमें और आहारमें जीवसमाप्तोंका अन्वेषण किया जाता है । इस सूत्रमें ‘च’ शब्द समुच्चयार्थक है, इसलिये प्रत्येक पदके साथ उसका सवन्ध कर लेना चाहिये और ‘इति’ शब्द समाप्तिरूप अर्थमें है । जिससे यह तात्पर्य निकलता है कि मार्गणाए चोदह ही होती हैं ।

१ गो जी १४१ यथादिमागणा यदा एतज्जावस्य नारकत्वादिपर्यायरूपा विनिश्चितास्तदा ‘यामि इतीप्तिभूतलक्षण तृतीया विमति । यदा एतज्जाव प्रति पयापाणामभिरुक्ता विनश्यत तदा ‘यामि इत्यभिरण सप्तमी विमति । विवक्षाप्रका कारणप्रवृत्तिरिति यथरा सद्भावार् । नी प्र दा श्रुत क्षायते नन धुनज्ञान, वणपदद्वयिरूप द्रव्यश्रुत उद्विष्यवतिगवपस्तरा द पाणमस्य अतिविचित्रप्राहेण प्रवतमान्वा । त यथा दृष्टास्तथा जालीति’ इति वचनेन शास्त्रकारस्य कालदाया प्रमादादा यस्मात्तिन तन्मुक्त्वा परमाणुमात्रा यथापाता अन्वयता वाचिकमेव वस्तुस्वरूप गृह्णाति प्रदर्शितमाशय । म प्र दा

तृतीयानिर्देशोऽप्यनिरुद्धः स कथं लभ्यते ? न, देशामर्शकत्वान्निर्देशस्य । यत्र च गत्यादौ विभक्तिर्न श्रूयते तत्रापि ' आङ्-मज्झत-वण्ण-सर-लोपो ' इति लुप्ता विभक्तिरित्यभ्युह्यम् । अह्ना 'लेम्सा-भणिय सम्मत्त-सण्णि-आहारए' चेदि एरुपदत्वान्नावयवविभक्तयः श्रूयन्ते । अथे स्याज्जगति चतुर्भिर्मार्गणा निष्पाद्यमानोपलभ्यते । तद्यथा, मृगयिता मृग्य मार्गण मार्गणोपाय इति । नात्र ते सन्ति, ततो मार्गणमनुपपन्नमिति । नैष दोषः, तपामप्यत्रोपलम्भात् । तद्यथा, मृगयिता भव्यपुण्डरीकः तत्त्वार्थश्रद्धालुर्जीवः, चतुर्दशगुण-

शुका सूत्रमें गति आदि प्रत्येक पदके साथ सप्तमी विभक्तिका निर्देश क्यों किया गया है ?

समाधान—उन गति आदि मार्गणाओंको जीवोंका आधार बनानेके लिये सप्तमी विभक्तिका निर्देश किया है ।

इसीतरह सूत्रमें प्रत्येक पदके साथ तृतीया विभक्तिका निर्देश भी हो सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शुका—जब कि प्रत्येक पदके साथ सप्तमी विभक्ति पार्ज जानी है तो फिर तृतीया विभक्ति कैसे समझ है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, इस सूत्रमें प्रत्येक पदके साथ जो सप्तमी विभक्तिका निर्देश किया है वह देशामर्शक है, इसलिये तृतीया विभक्तिका भी ग्रहण हो जाता है ।

सूत्रोक्त गति आदि जिन पदोंमें विभक्ति नहीं पायी जाती है, वहा पर भी ' आङ्मज्झत-वण्णसरलोपो ' अर्थात् आदि, मध्य और अन्तके वर्ण और स्वरका लोप हो जाता है । इस प्रासङ्गिककरणके सूत्रके नियमानुसार विभक्तिका लोप हो गया है ऐसा समझना चाहिये । अथवा 'लेम्साभणियसम्मत्तसण्णिआहारए' यह एक पद समझना चाहिये । इसलिये लेदया आदि प्रत्येक पदमें विभक्तिया देखनेमें नहीं आती हैं ।

शुका—लोकमें अर्थात् व्यावहारिक पदार्थोंका विचार करते समय भी चार प्रकारसे अन्येषण देखा जाता है । ये चार प्रकार ये ह, मृगयिता, मृग्य, मार्गण और मार्गणोपाय । परंतु यहा लोकोत्तर पदार्थके विचारमें ये चारों प्रकार तो पाये नहीं जाते हैं, इसलिये मार्गणाका कथन करना नहीं बन सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, इस प्रकरणमें भी ये चारों प्रकार पाये जाते हैं । ये इसप्रकार हैं, जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करनेवाला भव्यपुण्डरीक मृगयिता

१ ननु लोके व्यावहारिकपदार्थस्य विचारे कश्चिमृगयिता किंचित् मृग्यं वापि मार्गणा कश्चिमार्गणोपाय इति चतुष्टयमस्ति । अत्र लोकोत्तरेऽपि तद् वाच्यमिति चेदुच्यते, मृगयिता भव्यवपुंडरीकं शुद्धं शिष्यो वा । मृग्या मृगयित्वादिशिक्षिता जीवा, मार्गणा तु शिष्ययोर्ज्ञानविविचारणा । मार्गणोपाया गन्तव्यादयः पञ्च भावविशेषा कणाधिक्यरूपा सन्ताति लोकव्यवहारानुसारं लोकोत्तरपदार्थाऽपि नन्ते । गो जी, म प्र, दी १४१

चीयत इति कायः । नेष्टकादिचयेन व्यभिचारः पृथिव्यादिकर्मभिरिति विशेषणात् । औदारिकादिकर्मभिः पुद्गलविपाकिभिश्चीयत इति चेन्न, पृथिव्यात्कर्मभा सहकारिणामभावे तत्रययनानुपपत्तेः । कर्मणशरीरस्थाना जीवाना पृथिव्यात्कर्मभिरित्ये नोक्तमपुद्गलाभावात्कायत्वं स्यादिति चेन्न, तत्रयनहेतुकर्मणस्तत्रापि मत्ततस्तद्व्यपगुम न्याय्यत्वात् । अथवा आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः कायः । अत्रापि स दोषो न निर्वात

विशेषभावासे रहित अपनेको मानते हुए एक एक होकर अर्थात् कोई किसीकी आज्ञा आदेश पराधीन न होते हुए स्वयं स्वामीपनेको प्राप्त होते हैं, उसीप्रकार इन्द्रिया भी अपने-अपने स्पर्शादिक विषयका ज्ञान उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं और दूसरी इन्द्रियोंकी अपेक्षासे रहित हैं, अतएव अहमिन्द्रिणी तरह इन्द्रिया जानना चाहिये ।

जो सचित किया जाता है उसे काय कहते हैं । यहाँ पर जो सचित किया जाता है उसे काय कहते हैं ऐसी व्याप्ति पाता लेने पर मायको छोड़कर ईद आदिके सप्रत्यक्ष विषय भी यह व्याप्ति घटित हो जाती है, अतएव व्यभिचार दोष आता है । ऐसी शक्त मनमें निश्चय करने आचार्य कहते हैं कि इसतरह ईद आदिके सचयके साथ व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, पृथिवी आदि कर्मोंके उदयसे इतना विशेषण जोड़कर ही 'जो सचित किया जाता है' उसे काय कहते हैं ऐसी व्याख्या की गई है ।

श्रुति—पुद्गलविपाकी औदारिक आदि कर्मोंके उदयसे जो सचित किया जाता है उसे काय कहते हैं, कायकी ऐसी व्याख्या स्यात् नह्य की गई है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सद्व्यवहाररूप पृथिवी आदि नामकर्मके अभाव रहने पर केवल औदारिक आदि नामकर्मके उदयसे नोक्तमर्गणाओंका सचय नहीं हो सकता है ।

श्रुति—कर्मणकाययोगम स्थित जीवके पृथिवी आदिके द्वारा सचित हुए नोक्त पुद्गलका अभाव होनेसे अकायपना प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—ऐसा नही समझना चाहिये, क्योंकि, नोक्तमर्गण पुद्गलोंके सचयका कारण पृथिवी आदि कर्ममहत्त्व औदारिकादि नामकर्मका उदय कर्मणकाययोगरूप अस्तित्व भी पाया जाता है, इसलिये उस अस्तित्व भी कायपनेका व्यवहार बन जाता है ।

अथवा, योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे सचित हुए औदारिकादिरूप पुद्गलपिण्डको काय कहते हैं ।

श्रुति—कायका इसप्रकारका लक्षण करने पर भी पहले जो दोष दे आये हैं, वह दूर नहीं होता है । अर्थात् इसतरह भी जीवके कर्मणकाययोगरूप अवस्थामें अकायपनेका प्राप्ति होती है ।

पक्ष मूला आज्ञादिमिष्यतया सत इक्षत प्रवृत्ति स्वामिभाव धरति, तथा स्वतन्त्रादीन्द्रियाण्यपि स्वतन्त्र स्वस्वविषयानु ज्ञानमुपासीतुमागते, यतः प्रवृत्त्या प्रवर्तन्ते, ता कात्यादहमिन्द्रा इव इन्द्रियाणि इति ।

देशः स्यादिति चेन्न, अत्रापि रुद्धिपञ्चाद्वेदनाम्ना कर्मणामुदयस्यैव वेदव्यपदेशात् । अथवा-
त्मप्रवृत्तेर्मथुनमम्मोहोत्पादो वेदेः । उक्तं च—

वेदस्तुदीरणाए वाल्लत्त पुण णियच्छेदे ण्हसो ।

धी-पु-णवुसए वि य वेण ति तओ हन्इ वेओ' ॥ ८९ ॥

सुखदुःखवदुःखस्यकर्मक्षेत्रं कृपन्तीति कपाया । 'कपन्तीति कपायाः' इति
किमिति न व्युत्पादितः कपायशब्दश्चेन्न, ततः मग्नयोत्पत्तेः प्रतिपत्तिगौरवभयाच्च ।
उक्तं च—

अथवा, आत्मप्रवृत्तिं अर्थात् आत्माकी चेतन्यरूप पर्यायमं सम्मोहं अर्थात् राग द्वेषरूप
चित्तविक्षेपके उत्पन्न होनेको मोह कहते हैं । यद्वापर मोह शब्द वेदका पर्यायवाची है ।

शंका—इसप्रकारके लक्षणके करने पर भी सपूर्ण मोहके उदयको वेद सज्ञा प्राप्त
हो जायेगी, क्योंकि, वेदकी तरह शेष मोह भी व्यामोहको उत्पन्न करता है ?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, रुद्धिके बलसे वेद नामके कर्मके
उदयको ही वेद सज्ञा प्राप्त है ।

अथवा, आत्मप्रवृत्तिं अर्थात् आत्माकी चेतन्यरूप पर्यायमें मेथुनरूप चित्तविक्षेपके
उत्पन्न होनेको वेद कहते हैं । कहा भी है—

वेदकर्मकी उद्दीरणासे यह जीव नाना प्रकारके बालभाव अर्थात् चाचल्यको प्राप्त
होता है और स्त्रीभाव, पुरुषभाव तथा नपुंसकभावका वेदन करता है, इसलिये उस वेदकर्मके
उदयसे प्राप्त होनेवाले भावको वेद कहते हैं ॥ ८९ ॥

सुख, दुःखरूपी नाना प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले कर्मरूपी क्षेत्रको जो कर्षण
करती है, अर्थात् फल उत्पन्न करनेके योग्य करती है, उन्हें कपाय कहते हैं ।

शंका—यहां पर कपाय शब्दकी, 'कपन्तीति कपाया' अर्थात् जो कसें उन्हें कपाय
कहते हैं, इसप्रकारकी व्युत्पत्ति क्यों नहीं की ?

समाधान—'जो कसें उन्हें कपाय कहते हैं' कपाय शब्दकी इसप्रकारकी व्युत्पत्ति
करने पर कपनेवाले किसी भी पदार्थको कपाय माना जायगा । जत कपायार्थके स्वरूप समयनेमें
मशय उत्पन्न हो सकता है, इसलिये जो कसें उन्हें कपाय कहते हैं इसप्रकारकी व्युत्पत्ति नहीं
की गई । तथा, उक्त व्युत्पत्तिसे कपायोंके स्वरूपके समझनेमें कठिनता जायगी, इस
भीतिसे भी 'जो कसें उन्हें कपाय कहते हैं' कपाय शब्दकी इसप्रकारकी व्युत्पत्ति नहीं की गई ।
कहा भी है—

१ पुरिसिञ्चित्तद्वन्द्वोदयेण पुरिमिञ्चित्तस्यो भावे । नामोदयेण दत्तं पाणं समा कृत्तिं तिसमा ॥ वेदस्तुदार
भाणं परिणामस्य य ह्येज्ज समोणे । समाहेण ण जाणदि जाओ हि गुणं व दोसं वा ॥ गो जा २७१, २७२

२ प्रतिपु 'मेओ' इति पाठ ।

कपायेण व्यभिचारस्तस्य कर्मादानहेतुत्वाभावात् । अथान्मप्रवृत्ते कर्मादाननिवन्तर्नात्
त्पादो योगः । अथान्मप्रदेशानां सङ्कोचनिर्मुक्तो योगः । उक्तं च—

मणमा वचमा काण्ण चापि जुत्तस्म विरियपरिणामो ।

जीरस्म प्पणियोजो जोगो ति विणेहि णिन्दो' ॥ ८८ ॥

वेद्यत इति वेदः । अष्टकर्मोदयस्य त्रेढव्यपदेशः, प्राप्नोति वेद्यत्वं प्रत्यविशेषादिति चेन्न, 'सामान्यचोदनाश्च विशेषेण्यनिष्ठन्ते' इति विशेषाप्रगते 'रूढितन्त्रा व्युत्पत्तिः' इति वा । अथान्मप्रवृत्ते सम्माहोत्पादो वेदः । अत्रापि मोहोदयस्य मरुलस्य त्रेढव्यप

आत्मधर्मकी मुख्यता होनेसे वद्यपि सयोगसे प्राप्त होनेवाले चर्यादिकका निराकरण हो जायगा फिर भी स्थायका निराकरण नही हो सकता है, क्योंकि, कपाय आत्माका धर्म है और सयोगको भी प्राप्त होता है । इसलिये जो जो सयोगसे प्राप्त हो उसे योग कहते हैं यद्यप्यान्ति कपायमें भी घटित होती है, अतएव स्थायके साथ व्यभिचार दोष आ जाता है । ऐसा शकाने मनम धारण करने आचार्य कहते हैं कि इसतरह कपायके साथ भी व्यभिचार दोष नहीं आता है, क्योंकि, कपाय कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण नहीं पड़ती है । अथवा, प्रदेष्टा परिस्पन्दरूप आत्माकी प्रवृत्तिके निमित्तने कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारणभूत धर्मकी उत्पत्तिके योग कहते हैं । अथवा, आत्माके प्रदेशोंके सकोच और निस्ताररूप होनेको योग कहते हैं । कहा भी है—

मन, चचन ओर कायके निमित्तने होनेवाली क्रियासे युक्त आत्माके जो धर्मविशेष उत्पन्न होता है उसे योग कहते हैं । अथवा, जीरके प्रणियोग अर्थात् परिस्पन्दरूप क्रियाका योग कहते हैं । ऐसा जिने प्रदेष्टेने कर्मन किया है ॥ ८८ ॥

जो वेदा जाय, अनुभूय किया जाय उसे वेद कहते हैं ।

शुक्रा—वेदका इसप्रकारका लक्षण करने पर आठ कर्मोंके उदयको भी वेद सङ्गा प्राप्त हो जायगी, क्योंकि, वेदनकी अपेक्षा वेद और आठ कर्म दोनों ही समान हैं । जिसतरह वेद वेदनरूप है, उसीतरह ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका उदय भी वेदनरूप है ।

ममाधान —ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि सामान्यरूपसे की गई कोई भी प्ररूपणा अपने विशेषार्थमें पाई जाती है, इसलिये विशेषरूप ज्ञान हो जाता है । अथवा, ऐच्छिक शब्दोंकी व्युत्पत्ति रूढिके आधीन होती है, इसलिये वेद शब्द पुरुषवेदादिमें रूढ होनेके कारण 'वेद्यते' अर्थात् जो वेदा जाय इस व्युत्पत्तिसे वेदका ही ग्रहण होता है, ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके उदयका नही ।

१ पुण्ड्रविकारादरादण मणयेणनायत्तस्म । तीव्रम जा हु सदा कर्मागमनारण जात । यो जी २१६ मणसा वचना पाण्य वाके जुत्तस्म विरियपरिणामा । जीरस्म अपणिया जा म जागममो जिणस्सो ॥ १ ॥ नवी जोगेण जहा रत्तचार्ह धम्म परिणामा । जीरक्खण्यपाणु विरियमपि तद्व्यपारणामो ॥ जग्गा विरिय धामा उज्जा परम्मो तहा वेदा । सदा सामय ति य जागस्म इवति पजाया ॥ रत्ता मू पृ १०२

विरोधः किन्न भवेदिति चेन्न, तत्र क्षयोपशमस्य प्राधान्यात् । विपर्ययः कथं भूतार्थ-
प्रकाशक इति चेन्न, चन्द्रमस्युपलम्बमानद्वित्वस्यान्यत्र सत्तत्त्वस्तस्य भूतत्वोपपत्तेः ।
अथवा सद्भावविनिश्चयोपलम्भक ज्ञानम् । एतेन सशयविपर्ययानध्ययसायायस्यासु
ज्ञानाभावः प्रतिपादितः स्यात्, शुद्धनयविज्ञाया तत्त्वार्थोपलम्भक ज्ञानम् । ततो
मिथ्यादृष्टयो न ज्ञानिन इति सिद्धं द्रव्यगुणपर्यायाननेन जानातीति ज्ञानम् । अभिन्नस्य
कथं करणत्वमिति चेन्न, सर्वथा भेदाभेदे च स्वरूपहानिप्रसङ्गादनेकान्ते स्वरूपोपलब्धेर्न तस्य

पड्ड अणादियो अपञ्जयसिद्धे' इत्यादि सूत्रके साथ विरोध क्या नहीं प्राप्त हो जायगा ?
अर्थात् कालानुयोगम ज्ञानका काल एक जीवकी अपेक्षा अनादि अनन्त आदि आया है । आर
यहा पर दर्शनोपयोगकी अस्थायी ज्ञानका अभाव प्रतीत होता है, इसलिये यह कथन परस्पर
विरोध है । अतः दर्शनोपयोगकी अस्थायी ज्ञानका अभाव कैसे माना जा सकता है, क्योंकि,
इस कथनका कालानुयोगके सूत्रसे विरोध आता है ?

समाधान — ऐसी शका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, कालानुयोगमें जो ज्ञानकी अपेक्षा
कालका कथन किया है, वहा क्षयोपशमकी प्रधानता है ।

शका — विपर्ययज्ञान (मिथ्याज्ञान) सत्यार्थका प्रकाशक कैसे हो सकता है ?

समाधान — ऐसी शका ठीक नहीं है, क्योंकि, चन्द्रमामें पाये जानेवाले द्वित्वका दूसरे
पदार्थमें सत्त्व पाया जाता है, इसलिये उस ज्ञानमें भूतार्थता घट जाती है ।

अथवा, सद्भाव अर्थात् वस्तु स्वरूपका निश्चय करानेवाले धर्मको ज्ञान कहते हैं ।
ज्ञानका इसप्रकारका लक्षण करनेसे सशय, विपर्यय और अनध्ययसायरूप अस्थायी ज्ञानका
(सम्मग्नज्ञानका) अभाव प्रतिपादित हो जाता है । कारण कि, शुद्ध निश्चयनयकी विचक्षमा
वस्तु स्वरूपका उपलम्भ करानेवाले धर्मको ही ज्ञान कहा है । इसलिये मिथ्यादृष्टी जीव ज्ञानी
हाँ हो सकते हैं । इसप्रकार जिसके द्वारा द्रव्य, गुण और पर्यायोंको जानते हैं उसे ज्ञान
कहते हैं यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शका — ज्ञान तो आत्मासे अभिन्न है, इसलिये वह पदार्थोंके जाननेके प्रति साधकतम
कारण कैसे हो सकता है ?

समाधान — ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, साधकतम कारणरूप ज्ञानको आत्मासे
सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न मान लेने पर आत्माके स्वरूपकी हानिका प्रसङ्ग आता है, और
कथंचित् भिन्न अथवा अभिन्नस्वरूप अनन्तान्तके मान लेने पर वस्तुस्वरूपकी उपलब्धि होती है,
इसलिये आत्मामें कथंचित् भेदरूप ज्ञानमें जाननेरूप क्रियाके प्रति साधकतम कारण मान

तत्र प्रतिपादितानि च सूत्राणि कालभूताणि ज्ञेयानि । प्रवृत्तं च ' गणायुवादेन यदिअणानिमुदअणानामु
मि गदिदो ओष (कालानु सू २६३) ओषण मिच्छादिदो केवपि रालो होति ? गणायुवा पड्ड सव्वदा
(कालानु सू २१०) एग्वीज पड्ड अणादिओ अपञ्जयमिदो, अणादिओ सपञ्जयमिदो, मादिओ सपञ्जयमिदो ।

(कालानु सू ३) ॥ जी वा सू

सुहृदुक्म सुनहृदु सस्रस कम्प-वधेत कसेदि जीवरम ।

समारद्वर मेर तेण कसायो ति ण वेति ॥ ९० ॥

भूतार्थप्रकाशक ज्ञानम् । मिथ्यादृष्टीना कथं भूतार्थप्रकाशकमिति चेत्, सम्यग्
मिथ्यादृष्टीना प्रकाशस्य समानतोपलम्भात् । कथं पुनस्तेऽज्ञानिन इति चेत्, मिथ्या
तोदयात्प्रतिभामितेऽपि वस्तुनि सशयनिर्पर्ययानध्यवसायानिष्ठचित्तस्तेषामवगतिज्ञाने ।
एव सति दर्शनाभ्यासा ज्ञानाभावाभ्यासिदिति चेन्नैष टोपः, दृष्टत्वाद् । कालमुपेक्षे न

सुख, दुःख आदि अनेक प्रकारके धार्यको उत्पन्न करनेवाले तत्ता जिसरी समारस
मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्रको जो कर्मण करती है उद्द कपाय कहते हैं ॥ ९० ॥
सत्यार्थका प्रकाश करनेवाली शक्तिविशेषको ज्ञान कहते हैं ।

शंका—मिथ्यादृष्टियावा प्रान भूतार्थका प्रकाशर कैसे हो सकता है ?

समाधान - ऐसा नहीं है, क्योंकि, सम्यग्दृष्टि अतः मिथ्यादृष्टियोंके प्रकाशमें समानता
पाई जाती है ।

शंका—यदि दोनोंके प्रकाशमें समानता पाई जाती है, तो फिर मिथ्यादृष्टि का
अज्ञानी कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, मिथ्यात्वकर्मके उदयसे वस्तुके प्रति
भासित होनेपर भी सशय, निर्पर्यय और अनययत्नायकी निष्ठिति नहीं होनेसे मिथ्यादृष्टियोंका
अज्ञानी कहा है ।

शंका—इसतरह मिथ्यादृष्टियोंको अज्ञानी मानने पर दर्शनोपयोगकी अत्रहमें प्रानता
अभाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—यह कोई दोष नष्टा है, क्योंकि, दर्शनोपयोगकी अत्रहमें ज्ञानोपयोगका
अभाव ही है ।

शंका—यदि ऐसा मान लिया जावे तो इस कथनका कालानुयोगमें आये हुए 'एवमत्र

१ गा जी २८२ अत्र निष्पादयनादिनामकसाधारणामपि वाज प्रवृत्तिस्त्वयमागप्रदशमद्वन्द्वका
छलने धने उन्नाका सद्विषयानामा नास्य मय पुनरपि गालादिसामानाधिकरण्यस्य सुखक्षणबुद्धिवासात्
ननाद्यनिधन्यमात्रागामानि यथा वृत्तिनामि भवति तथा उपर्युपरि स्थिति इति 'एवमिच्छते' इत्यत्र
धातुविलक्षणताया कर्तृत्वा निरुक्तिपूर्वक कथायत्तदन्वयान्निरूपण आचार्यण एतमिति । नी प्र टी, कालानुयोग
प्राणा पुन पुनराविद्यामनुभवति कथापलकयमात्रनिरुक्ति । कथं सत्ता तद्विषयानामतादयन्ते गच्छन्त्यस्य
गमन इति उपस्था । यदा कथाया इय कथाया, यथा पि पुनरिच्छादेवधायकपिते कामानि मज्जिद्यादिना स्थित
विर चावतिष्ठति त्वेककृत्यित आत्मनि यम सब यत विर स्थिति च जायते, नदायतावस्थित । अमि रा का

(कथा)

२ कालपरमात्र कालानुयोगात्ता वादस्य । तत्र चानाजीनपेक्षया ज्ञानादिमार्गानां काल प्रतिपादित ।

विरोधः किन्तु भवेदिति चेन्न, तत्र क्षयोपशमस्य प्राधान्यात् । विपर्ययः कथं भूतार्थ-
प्रकाशक इति चेन्न, चन्द्रमस्युपलभ्यमानद्वित्वस्यान्यत्र सत्तत्त्वस्तस्य भूतत्वोपपत्तेः ।
अथवा सद्भावमिनिश्चयोपलम्भक ज्ञानम् । एतेन मशयविपर्ययानध्ययसायायस्यासु
ज्ञानाभावः प्रतिपादितः स्यात्, शुद्धनयनिकाया तत्त्वार्थोपलम्भक ज्ञानम् । ततो
मिथ्यादृष्टयो न ज्ञानिन इति सिद्धं द्रव्यगुणपर्यायाननेन जानातीति ज्ञानम् । अभिन्नस्य
कथं कुर्यात्प्रमिति चेन्न, सर्वथा भेदाभेदे च स्वरूपहानिप्रसङ्गादनेकान्ते स्वरूपोपलब्धेर्न तस्य

पट्टञ्च अणादिओ अपञ्जमिदो ' इत्यादि सूत्रके साथ विरोध क्यों नहीं प्राप्त हो जायगा ?
अर्थात् कालानुयोगमें ज्ञानका काल एक जीवकी अपेक्षा अनादि अनन्त आदि आया है । और
यहां पर दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानका अभाव बतलाया है, इसलिये यह कथन परस्पर
निम्न है । जत दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानका अभाव कैसे माना जा सकता है, क्योंकि,
इस कथनका कालानुयोगके सूत्रसे विरोध आता है ?

समाधान — ऐसी शका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, कालानुयोगमें जो ज्ञानकी अपेक्षा
कालका कथन किया है, वहां क्षयोपशमकी प्रधानता है ।

शुक्रा — विपर्ययज्ञान (मिथ्याज्ञान) सत्यार्थका प्रकाशक कैसे हो सकता है ?

समाधान — ऐसी शका ठीक नहीं, क्योंकि, चन्द्रमामें पाये जानेवाले द्वित्वका दूसरे
पदार्थम सत्त्व पाया जाता है, इसलिये उस ज्ञानमें भूतार्थता घन जाती है ।

अथवा, सद्भाव अर्थात् वस्तु स्वरूपका निश्चय करानेवाले धर्मको ज्ञान कहते हैं ।
ज्ञानका इसप्रकारका लक्षण करनेसे सशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप अवस्थामें ज्ञानका
(सम्यग्ज्ञानका) अभाव प्रतिपादित हो जाता है । कारण कि, शुद्ध निश्चयनयकी विवक्षामें
वस्तु स्वरूपका उपलम्भ करनेवाले धर्मको ही ज्ञान कहा है । इसलिये मिथ्यादृष्टी जीव ब्रह्मी
नहीं हो सकते हैं । इसप्रकार जिसके द्वारा द्रव्य, गुण और पर्यायोंको जानते हैं उसे ज्ञान
कहते हैं यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शुक्रा — ज्ञान तो आत्मासे अभिन्न है, इसलिये वह पदार्थोंके जाननेके प्रति साधकतम
कारण कैसे हो सकता है ?

समाधान — ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, साधकतम कारणरूप ज्ञानको आत्मासे
सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न मान लेने पर आत्मासे स्वरूपकी हानिका प्रसंग आता है, और
कथंचित् भिन्न अथवा अभिन्नस्वरूप अनेकान्तके मान लेने पर वस्तुस्वरूपकी उपलब्धि होती है,
इसलिये आत्मासे कथंचित् भेदरूप ज्ञानको जाननेरूप क्रियाके प्रति साधकतम कारण मान

तत्र प्रतिपादितानि च सूत्राणि कालमूत्राणि हेयानि । प्रष्टुं च ' गणाधुरादेण मदअण्णाणिसुदअण्णाणाम्
मिच्छादिड्ढा ओष (कालानु सू २६३) ओषेण मिच्छादिड्ढी केचिचर मालदी हानि ' गणाजीव पट्टञ्च सत्त्वद्धा
(कालानु सू २१०) एगजान पट्टञ्च अणादिओ अपञ्जमिदो, अणादिओ सपञ्जमिदो, मादिओ सपञ्जमिदो ।
(कालानु सू ३) ॥ जी का सू

करणत्रयिगेव इति । उक्त च—

जाणद तिकाल सहिए द'य गुणे पज्जए य बहु-भेए ।

पच्चए च परोक्ख अणण णाण ति ण वेत्ति' ॥ ०१ ॥

सयमन सयमः । न द्रव्ययम सयमस्तस्य 'स' शब्देनापादितत्वात् । यमेन समितयः सन्ति, तास्यसतीषु सयमोऽनुपपन्न इति चेन्न, 'स' शब्देनात्ममात्कृताशेषममितित्वात् । अथवा त्रयसमितिरूपायदण्डेन्द्रियाणां धारणानुपालननिग्रहत्यागजयाः सयमः ।

उक्त च—

लेनेम कोई विरोध नहीं आता है ।

विशेषार्थ—यदि धर्मको यमासे सर्वथा भिन्न माना जाये तो दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध हो जानेके कारण यह धर्म ह और यह धर्म है अथवा यह धर्म इस धर्मका है, इसप्रकारका व्यवहार ही नहीं बन सकता है । इसलिये निश्चित धर्मके अभावमें वस्तुके विनाशका प्रसंग आता है । और यदि धर्मसे, धर्मसे सर्वथा अभिन्न माना जाये तो धर्म और धमा इसप्रकारका भेदरूप व्यवहार नहीं बन सकता है, क्योंकि, सर्वथा अभेद मानने पर इन दोनोंसे किसी एकका ही अस्तित्व सिद्ध होगा । उनमेंसे यदि केवल धर्मका ही अस्तित्व मान लिया जाये, तो उसके लिये आधार चाहिये, क्योंकि, कोई भी धर्म आधारके बिना नहीं रह सकता है । और यदि केवल धमाका अस्तित्व मान लिया जाये तो धर्मके बिना उसकी स्वतन्त्र सत्ता नही सिद्ध हो सकती है । इसलिये धर्मको धर्मसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न ही मानना चाहिये । इसतरह जेना-तरे मानने पर ही धर्म धमा व्यवस्था बन सकती है और धर्म धर्मा व्यवस्थाके सिद्ध हो जाने पर ज्ञानसे साधनतम कारण माननेमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं आता है । कहा भी है—

जिनके द्वारा जाव तिकालविषयक समस्त द्रव्य उनके गुण और उनकी अनेक प्रकारकी पर्यायोंसे प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे जाने उसको ज्ञान कहते हैं ॥ ९० ॥

सयमन करनेको सयम कहते हैं । सयमका इसप्रकारका लक्षण करने पर द्रव्ययम अर्थात् भावचारित्र्यद्रव्य द्रव्यचारित्र्य सयम नहीं हो सकता है, क्योंकि, सयम शब्दमें ग्रहण किये गये 'स' शब्दसे उसका निराकरण कर दिया है ।

अर्थात्—यहां पर यमसे समितियोंका ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, समितियोंके नहीं होने पर सयम नही बन सकता है ?

समाधान—ऐसी शयन ठीक नही है, क्योंकि, सयममें दिये गये 'स' शब्दसे संपूर्ण समितियांका ग्रहण हो जाता है ।

अथवा, पांच प्रतीकोंका धारण करना, पांच समितियोंका पालन करना, प्रोधादि कार्योंका निग्रह करना, मन चयन और वार्यरूप तीन दण्डोंका त्याग करना और पांच शिष्टियोंके विषयोंका जीतना सयम है । कहा भी है—

यं समिड-कमायाण दटाण तद्धिदियाण पचण्ह ।

धारण पालण-णिग्गह-चाग जया सज्जो भणिओ' ॥ ०२ ॥

दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम् । नाङ्गालोकेन चातिप्रसङ्गस्तयोरनात्मवर्मत्वात् । दृश्यते प्रायतेऽनेनेति दर्शनमित्युच्यमाने ज्ञानदर्शनयोगविशेषः स्यादिति चेन्न, अन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्दर्शनज्ञानव्यपदेशभाजोरैकत्वनिरोधात् । किं तच्चैतन्यमिति चेन्निकालगोचरानन्तपर्यायात्मकस्य जीवस्वरूपस्य स्वक्षयोपशमप्रशेन सपेदन चैतन्यम् । एततो व्यतिरिक्त-

अहिंसा, सत्य, अर्चय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पांच महाव्रतोंका धारण करना, ईर्ष्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप, उत्सर्ग इन पांच समितियोंका पालना, क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चार कषायोंका निग्रह करना, मन, घबराहट और कायरूप तीन दण्डोंका त्याग करना और पांच इन्द्रियाँका जय, इसको समय कहते हैं ॥ ९० ॥

जिसके द्वारा देखा जाय अर्थात् अवलोकन किया जाय उसे दर्शन कहते हैं । दर्शनका इसप्रकारका लक्षण करने पर चक्षु इन्द्रिय और आलोक भी देखनेमें सहकारी होनेसे उनमें दर्शनका लक्षण चला जाता है, इसलिये अतिप्रसङ्ग दोष जाता है । शङ्काकारकी इसप्रकारकी शङ्काको मनम निश्चय करके आचार्य कहते हैं कि इसतरह चक्षु इन्द्रिय और आलोकके साथ अतिप्रसङ्ग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, चक्षु इन्द्रिय और आलोक आत्माके धर्म नहीं हैं । यहा चक्षुसे द्रव्य चक्षुका ही ग्रहण करना चाहिये ।

शङ्का—जिसके द्वारा देखा जाय, जाना जाय उसे दर्शन कहते हैं । दर्शनका इसप्रकार लक्षण करने पर ज्ञान और दर्शनमें कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अर्थात् दोनों एक हो जाते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अन्तर्मुख चित्रकाशको दर्शन और बहिर्मुख चित्रकाशको ज्ञान माना है, इसलिये इन दोनोंके एक होनेमें निरोध आता है ।

शङ्का—बट चैतन्य क्या उस्तु है ?

समाधान—त्रिमालविषयक अनन्तपर्यायरूप जीवके स्वरूपका अपने अपने क्षयोपशमके अनुसार जो सपेदन होता है उसे चेतन्य कहते हैं ।

शङ्का—अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थोंके ज्ञानको प्रकाश कहते हैं, इसलिये अन्तर्मुख

१ गो जी ६६५

२ उत्तरज्ञानोपनिमित्त यत्रया तदूप यन्मत्स्यामन परिच्छेदनमवतरान् तदशन मण्यते । तदनंतर तद्बहिर्विषय विस्मरूपप पदावग्रहण तन्मानमिति ज्ञानम् । यथा कौंठि पुरया घग्निव्यमित्य कुत्रास्त, पगापटपिज्ञानाव धिते जाने सति घग्निस्पाय यात्रत्य वस्वरूप प्रथममवलोकन परिच्छेदन करोति तदशनमिति । तदनंतर पगाव्यमिति निधाय यद् बहिर्विषयरूपप पदावग्रहणविषय वगेति तद् ज्ञान मण्यते । वृ ङ स पृ ८१ ८२

वाच्यार्थगति' प्रकाश इत्यन्तर्बहिर्मुखयोश्चिन्प्रकाशयोजनानात्मेनात्मान वाच्यमर्थमिति च ज्ञानमिति सिद्धत्वादेकत्वम्, ततो न ज्ञानदर्शनयोर्भेद इति चेन्न, ज्ञानादिव दर्शनान् प्रतिकर्मव्यवस्थाभावात् । तर्ह्यस्तन्तर्वाप्तमामान्यग्रहण दर्शनम्, विशेषग्रहण ज्ञानमिति चेन्न, सामान्यविशेषात्मकस्य वस्तुनो विक्रमेणोपलम्भात् । सोऽप्यस्तु न रुचिद्विरोध इति चेन्न, 'हृदि दुर्गे णटिव उवजोगा' इत्यनेन महिरोधात् । अपि च न ज्ञानं प्रमाण सामान्यव्यतिरिक्तविशेषस्यार्थक्रियाकर्तृत्वं प्रत्यक्षमर्थत्वतोऽस्तुनो ग्रहणात् । न तस्य ग्रहणमपि सामान्यव्यतिरिक्ते विशेषे एवस्तुनि कर्तृकर्मस्थाभावात् । तत एव न दर्शनमपि

चेतन्य ओर बहिर्मुख प्रकाशके होने पर जिसके द्वारा यह जीव अपने स्वरूपको और पर पदार्थको जानता है उसे ज्ञान कहते हैं । इसप्रकारकी व्याख्याके सिद्ध हो जानेसे ज्ञान ओर दर्शनमें एकता आ जाती है, इसलिये उनमें भेद सिद्ध नही हो सकता है ?

सामान्य—ऐसा नहीं है, क्योंकि, जिसतरह ज्ञानके द्वारा यह घट है, यह पद है, इत्यादि विशेषरूपसे प्रतिनियत कर्मकी व्यवस्था होती है उसतरह दर्शनके द्वारा नहीं होती है, इसलिये इन दोनोंमें भेद है ।

शंका—यदि ऐसा है तो अन्तरंग सामान्य ओर बहिर्गंग सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन है तथा अन्तर्बाह्य विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है, ऐसा मान लेना चाहिये ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सामान्य ओर विशेषात्मक वस्तुना कर्मके बिना ही ग्रहण होता है ।

शंका—यदि सामान्यविशेषात्मक वस्तुका कर्मके बिना ही ग्रहण होता है तो यह भी रहा आओ, ऐसा मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि 'छद्मस्थोंके दोना उपयोग एक साथ नहीं होने है' इस कथनके साथ पूर्वोक्त कथनका विरोध आता है ।

दूसरी बात यह है कि सामान्यको छोड़कर केवल विशेष अर्थक्रिया करनेमें असमर्थ है । ओर जो अर्थक्रिया करनेमें असमर्थ होता है वह अवस्तुरूप पड़ता है, अतएव उसका ग्रहण करनेवाला होनेके कारण ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता है । तथा केवल विशेषका ग्रहण भी तो नहीं हो सकता है, क्योंकि, सामान्यरहित, अवस्तुरूप केवल विशेषमें कर्माकर्मरूप व्यवहार नहीं बन सकता है । इसतरह केवल विशेषको ग्रहण करनेवाले ज्ञानमें प्रमाणता सिद्ध नहीं होनेसे केवल सामान्यको ग्रहण करनेवाले दर्शनको भी प्रमाण नहीं मान सकते हैं । अर्थात्, जब कि सामान्यरहित विशेष ओर विशेषरहित सामान्य वस्तुरूपसे सिद्ध ही नहीं होते हैं तो केवल विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान ओर केवल सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन प्रमाण कैसे माने जा सकते हैं ?

प्रमाणम् । अस्तु प्रमाणाभावा इति चेन्न, प्रमाणाभावे सर्वस्याभावाग्रहणात् । अस्तु चेन्न, तथानुपलम्भात् । तत सामान्यविशेषात्मकवाह्यार्थग्रहणं ज्ञानं, तदात्मकरूपग्रहणं दर्शनमिति सिद्धम् । तथा च 'ज सामणं गहणं त दंमणं' इति उच्यते निरोधः स्यादिति चेन्न, तत्रात्मनः मरुलवाह्यार्थसाधारणत्वतः सामान्यव्यपदेशभाजो ग्रहणात् । तदपि कथमनुसीयत इति चेन्न, 'भावाण णेय कट्टु आयारं' इति वचनात् । तद्यथा, भावानां वाह्यार्थानामाकारं प्रतिकर्मव्यवस्थामकृत्वा यद् ग्रहणं तद्दर्शनम् । अस्यैवार्थस्य पुनरपि

शंका—यदि ऐसा है, तो प्रमाणका अभाव ही क्यों नहीं मान लिया जाय ?

समाधान—यह ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रमाणका अभाव मान लेने पर प्रमेय, प्रमाता आदि सभीका अभाव मानना पड़ेगा ।

शंका—यदि प्रमेयादि सभीका ही अभाव होता है तो होओ ?

समाधान—यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रमेयादिका अभाव देखनेमें नहीं आता है, किन्तु उनका सद्भाव ही दृष्टिगोचर होता है । अतः सामान्यविशेषात्मक वाह्य पदार्थकों ग्रहण करनेवाला ज्ञान है और सामान्यविशेषात्मक आत्मरूपको ग्रहण करनेवाला दर्शन है, यह सिद्ध हो जाता है ।

शंका—उक्त प्रकारसे दर्शन और ज्ञानका स्वरूप मान लेने पर 'वस्तुका जो सामान्य ग्रहण होता है उसको दर्शन कहते हैं' परमाण्वके इस वचनके साथ विरोध आता है ?

समाधान—ऐसा नही है, क्योंकि, आत्मा संपूर्ण वाह्य पदार्थोंमें साधारणरूपसे पाया जाता है, इसलिये उक्त वचनमें सामान्य सज्ञाको प्राप्त आत्माना ही सामान्य पदसे ग्रहण किया गया है ।

शंका—यह कैसे जाना जाय कि यहां पर सामान्य पदसे आत्माका ही ग्रहण किया है ?

समाधान—ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं है, क्योंकि, 'पदार्थोंके आकार अर्थात् भेदको नहीं करके' इस वचनसे उक्त कथनकी पुष्टि हो जाती है । इसीको स्पष्ट करते हैं, भावोंके, अर्थात् वाह्य पदार्थोंके, आकाररूप प्रतिकर्मव्यवस्थाको नहीं करके, अर्थात् भेदरूपसे प्रत्येक पदार्थको ग्रहण नही करके, जो (सामान्य) ग्रहण होता है उसको दर्शन कहते हैं । फिर भी इसी अर्थको दृढ़ करनेके लिये कहते हैं कि 'यह अमुक पदार्थ है, यह अमुक पदार्थ

१ यथासामान्य दर्शनं मण्यते तदि 'ज सामणं गहणं भावाण तदसण' इति वाक्यार्थं कथं घटते ?

उत्तर—सामान्यग्रहणमात्रमस्य तद्दर्शनम् । इत्यादिनि चेत्,

विशेषपक्षपातं न करोति, किन्तु सामान्येण यन्तु परिनिष्ठापि,

विशिष्टं कुतश्चिद जानामाद न जानामीति

भावश्चेत्यामा मण्यते ।

दृष्टीकरणार्थमाह, 'अविसेसिऊण जहे' इति, अर्थानविशेष यद् ग्रहण तदर्शनमिति । न राद्यार्थगतसामान्यग्रहण दर्शनमित्याशङ्कनीयं तस्यानस्तुनं कर्मत्वाभावात् । न च तदन्तरेण विशेषो ग्राह्यप्रमास्वरूपात्प्रसङ्गात् । सत्येवमनव्ययसायो दर्शनं स्यादिति चेन्न, स्वाध्यप्रमास्यानध्ययसितराद्यार्थस्य दर्शनत्वात् । दर्शनं प्रमाणमेव अविसेसादित्वात्, प्रतिभासः प्रमाणञ्चाप्रमाणञ्च विमतादाविमतादोभयरूपस्य तत्रोपलम्भात् । आलोकनं वृत्तिर्वा दर्शनम् । अस्य गमनिका, आलोकनं इत्यालोकनमात्मा, वर्तनं वृत्तिः, आल

है ' इत्यादि रूपसे पदार्थोंकी विशेषता न करने जो ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं । इस कथनसे यदि कोई ऐसी आशङ्का करे कि बाह्य पदार्थोंमें रहनेवाले सामान्यको ग्रहण करना दर्शन है, तो उसकी ऐसी आशङ्का करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, विशेषकी अपेक्षा रहने केवल सामान्य अवस्तुरूप है, इसलिये यह दर्शनको विषयभावको (कर्मपक्षको) नहीं मानें हों सन्तु है । उसीप्रकार सामान्यके बिना केवल विशेष भी ज्ञानके द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकता है, क्योंकि, अवस्तुरूप केवल विशेष अपना केवल सामान्यका ग्रहण मान लिया जाये तो अतिप्रसङ्ग दोष आता है ।

शंका—दर्शनके लक्षणको हमप्रसारका मान लेने पर अनध्यवसायको दर्शन मानना पड़ेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ग्राह्यार्थका निश्चय न करने हुए भी स्वरूपका निश्चय करने वाला दर्शन है, इसलिये यह अनध्यवसायरूप नहीं है । ऐसा दर्शन अविसेसाद्री होनेके कारण प्रमाण ही है । और अनध्यवसायरूप जो प्रतिभास है वह प्रमाण भी है और अप्रमाण भा है, क्योंकि, उसमें विमताद और अविमताद ये दोनो रूप पाये जाते हैं । (जैसे, मार्गमें चलते हुए तृणस्पर्शको होने पर 'कुछ है' यह ज्ञान निश्चयात्मक है, और 'क्या है' यह ज्ञान अनिश्चयात्मक है, इसलिये अनध्यवसायको उभयरूप कहा है ।)

अथवा, आलोकन अर्थात् आत्माके व्यापारको दर्शन कहते हैं । इसका अर्थ यह है, कि जो अलोकन करता है उसे आलोकन या आत्मा कहते हैं । और वर्तन अर्थात् व्यापारको वृत्ति कहते हैं । तथा आलोकन अर्थात् आत्माकी वृत्ति अर्थात् वेदनरूप व्यापारको

१ यथा कीचि परमया पुण्ड्रि तवागमे दशन ज्ञानं चिति गुणद्वय जाग्रत्य कथ्यत त कथ घटत इति । तदा तथामामयान दशनमिति उचितं सति त न जानन्ति । यथादात्राग्रतया प्रत्यावर्त्य स्थल-याग्यानन बर्त्तिष्व यमामायपण्डित तस्य सत्तायज्ञानदशनसत्ता स्थापिता, यच्च 'अविसेसि'यादिविषयपण्डितन तस्य ज्ञानसत्ता स्थापितेति दावा नास्ति । निष्ठात पुन रसमनयाग्यान सुगमरूपा । तेषु य मन्थान्यान नियमाय सलातापराग माह दशन याग्यानमिच्छासि एव नास्ति । वृ ड स पृ ८३

रूपायो लेश्या, नापि योगः, अपि तु कपायानुविद्धा योगप्रवृत्तिर्लेश्येति सिद्धम् । ततो न गीतरागाणां योगो लेश्येति न प्रत्यत्येष्य तन्त्रत्वाद्योगस्य, न रूपायस्तन्त्र विशेषण-
त्वतस्तस्य प्राशान्याभावात् । उक्तं च—

ल्लिपिदि अरीकौरिदि एदाए गियय-पुण्ण पाय च ।

जातो सि होइ लेस्मा लेस्मा गुण जाणय वखाणो ॥ ९४ ॥

निर्माणपुरस्कृतो भव्यः । उक्तं च—

सिद्धत्तणम्म जोगा जे जीवा ते हएनि भवमिद्धा ।

ण उ मल निगमे गियमो ताण कणगोत्रळाणमिरे ॥ ९५ ॥

कपाय और केवल योगको लेश्या नहीं कह सकते हैं कि तु कपायानुविद्ध योगप्रवृत्तिको ही लेश्या कहते हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है । इससे बारहवें आदि गुणस्थानवर्ती गीतरागियोंके केवल योगको लेश्या कहा कह सकते हैं ऐसा निश्चय नहीं कर लेना चाहिये, क्योंकि, लेश्यामें योगकी प्रधानता है । कपाय प्रयत्न नहीं है, क्योंकि, यह योगप्रवृत्तिका विशेषण है । अतएव उसकी प्रधानता नहीं हो सकती है । कहा भी है—

जिसके द्वारा जीव पुण्य और पापसे अपनेको लिप्त करता है, उनके आर्धान करता है उसको लेश्या कहते हैं, ऐसा लेश्याके स्वरूपको जाननेवाले गणधम्मेव आदिने कहा है ॥९४॥

जिसने निर्माणको पुरस्कृत किया है, अर्थात् जो सिद्धिपद प्राप्त करनेके योग्य है, उसको भव्य कहते हैं । कहा भी है—

जो जीव सिद्धत्व, अर्थात् सर्व कर्मसे रहित मुक्तिरूप अवस्था पानेके योग्य है उन्हें भव्यसिद्ध कहते हैं । किंतु उनके कर्मोपलब्धि अर्थात् स्वर्णपापाणके समान मलका नाश होनेमें नियम नहीं है ।

निशेपार्थ—सिद्धत्वकी योग्यता रखते हुए भी कोई जीव सिद्ध अवस्थाको प्राप्त कर लेते हैं और कोई जीव सिद्ध अवस्थाको नहीं प्राप्त कर सकते हैं । जो भव्य होते हुए भी सिद्ध अवस्थाको नहीं प्राप्त कर सकते हैं, उनके लिये यह कारण बतलाया है कि जिसप्रकार स्वर्णपापाणमें सेना रहने हुए भी उसका अलग किया जाना निश्चिन नहीं है, उसीप्रकार सिद्ध अवस्थाकी योग्यता रखते हुए भी तबनुकूल सामग्रीके नहीं मिलनेसे सिद्ध पदकी प्राप्ति नहीं होती है ।

१ गो जी ४८० । त्रिनु ' गिययपुण्णपार्व च ' इत्यत्र ' गिययपुण्णपुण्णं च ' पाठ ।

१ गो, जा ५५८ त्रिनु ' सिद्धत्तणम्म ' इति स्थाने ' भवत्तणम्म ' इति पाठ ।

३ मण्णद मंरो जोगो न य जोगेण सिद्ध सत्त्वा । जह जागमि वि वल्लिण सत्त्वय न कारण पाडेमा ॥
जह वा स ण पाठाणजणजोगो विजोगजोगादि । न रि जुइ स रोयिय म विजुइ जस सत्त्वा ॥ त्रि पुण
पा मववा मा जोगमन १ उ पाणमल । तह वो माग्मा नियमा सा भवण न ह्यरणि ॥

तद्विपरीतोऽभव्यः^१ । सुगममेतत् ।

प्रथमसंवेगानुकम्पास्तिस्र्याभिव्यक्तिलक्षणं भव्यक्त्वम्^२ । सत्येयममयतमम्य-
गृष्टिगुणम्याभासः स्यादिति चेत्सत्यमेतत् शुद्धनये ममाश्रयमाणे । अथवा तत्त्वार्थश्रद्धान
सम्यग्दर्शनम् । अस्य गमनिकोन्यते, आप्तागमपदार्थस्तत्त्वार्थस्तेषु श्रद्धानमनुरक्तता^३ सम्य-
ग्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः । कथं पौरस्त्येन लक्षणेनास्य लक्षणस्य न विरोधश्चैष दोषः,
शुद्धाशुद्धनयसमाश्रयणात् । अथवा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्व अशुद्धतरनयसमाश्रयणात् ।
उक्तं च—

जिन्होंने निर्माणको पुरस्कृत नहा किया है उन्हें अभय कहते हैं । इसका अर्थ सरल है ।

प्रथम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिस्यकी प्रगटता ही जिसका लक्षण है उसको सम्यक्त्व कहते हैं ।

शंका—इसप्रकार सम्यक्त्वका लक्षण मान लेने पर असत्यसम्यग्दर्ष्टि गुणस्थानका
अभाव हो जायगा ?

समाधान—यह कहना शुद्ध निश्चयनयके आश्रय करने पर ही सत्य कहा जा सकता है ।

अथवा, तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं । इसका अर्थ यह है कि आप्त आगम
आर पदार्थको तत्त्वार्थ कहते हैं । और उनके विषयमें श्रद्धान अर्थात् अनुरक्ति करनेको सम्यग्दर्शन
कहते हैं । यहा पर सम्यग्दर्शन लक्ष्य है । तथा आप्त, आगम और पदार्थका श्रद्धान लक्षण है ।

शंका—पहले कहे हुए सम्यक्त्वके लक्षणके साथ इस लक्षणका विरोध क्यों न माना
जाय ? अर्थात् पहले लक्षणमें प्रथमादि गुणांकी अभिव्यक्तिको सम्यक्त्व कह आये है और इस
लक्षणमें आप्त आदि के विषयमें श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है । इसलिये ये दोनों लक्षण भिन्न भिन्न
अर्थको प्रगट करते हैं, इन दोनोंमें अपिरोध कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, शुद्ध और अशुद्ध नयकी अपेक्षासे ये दोनों
लक्षण कहे गये हैं । अर्थात् पूर्वाक्त लक्षण शुद्धनय की अपेक्षासे है और तत्त्वार्थश्रद्धान रूप
लक्षण अशुद्धनयकी अपेक्षासे है, इसलिये इन दोनों लक्षणोंके कथनमें दृष्टिभेद होनेके कारण
कोई विरोध नहीं आता है ।

अथवा तत्त्वरुचिको सम्यक्त्व कहते हैं । यह लक्षण अशुद्धतर नयकी अपेक्षा जानना
चाहिये । कहा भी है—

१ प्रथमसंवेगानुत्पत्तिव्याप्तिरित्यल्लक्षणं प्रथम ॥ रागादानामनुद्रेक प्रथम । ससाराद्वागता सव्य ।

सर्वप्राणिषु मना अनुत्पत्ता । जीनादयोऽप्या यथास्वभावे सताति मतिराम्तिव्यम् । पुनरेभियनलक्षणं प्रथम सारा
सम्यक्त्वमित्युच्यते । त रा वा १, २, ३०

२ प्रतिशु ' श्रद्धानमुनता ' इति पाठ ।

उ प्वच णं विहाण अत्थाण जिणराउद्वाण ।

आणाए हिममेण न सदहण होइ सम्मत' ॥ ९६ ॥

मम्यं जानातीति सज्ञं मन , तदस्यास्तीति मनी । नैकेन्द्रियादिनानिप्रमदः
तस्य मनसोऽभावात् । अथवा शिक्षाक्रियोपदेशालापग्राही सज्ञी । उक्तं च—

सिक्खा किरियुदसात्तामगाही मणोमग्गेण ।

जो जीवो सो सण्णा तपिरीदो अमण्णा दू ॥ ९७ ॥

शरीरप्रायोग्यपुट्टलपिण्डग्रहणमाहार . । सुगममेतत् । उक्तं च—

आहरदि सरीराण तिण्ह एगदर वग्गणाओ ज ।

भासा मणस्म णियद तम्हा आहारआ भणिओ' ॥ ९८ ॥

जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा उपदेश दिये गये छह द्रव्य, पाच अस्तिशय आर न पदा
थाका आज्ञा अर्थात् आप्तवचनके आश्रयसे अथवा अविगम अर्थात् प्रमाण, नय, निक्षेप ओर
निरुक्तिरूप अनुयोगद्वारासे श्रद्धान करनेको सम्यस्त्य कहते ह ॥ ९६ ॥

जो भलीप्रकार जानता है उसको सज्ञ अर्थात् मन कहते ह । वह मन जिसके पाया
जाता है उसको सज्ञी कहते ह । यह लक्षण एकेन्द्रियादिकम चला जायगा, इसलिये अतिप्रसंग
दोष जाजायगा यह बात भी नहा ह, क्योंकि, एकेन्द्रियादिकके मन नहीं पाया जाता है ।
अथवा, जो शिक्षा, क्रिया उपदेश और आलापको ग्रहण करता है उसको सज्ञी कहते ह ।
कहा भी है—

जो जीव मनके अवलम्बनसे शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलापको ग्रहण करता है
उसे सज्ञी कहते ह । आर जो इन शिक्षा आदिको ग्रहण नहीं कर सक्ता है उसको असज्ञी
कहते ह ॥ ९७ ॥

आहारिणादि शरीरसे योग्य पुट्टलपिण्डके ग्रहण करनेको आहार कहते ह । इसका
अर्थ सरल है । कहा भा है—

ओदारिक, धक्रियक ओर आहारक इन तीन शरीरोंमसे उदयको प्राप्त हुए किसी

१ गा जो ५६१ आणा आज्ञया प्रमाणादिभावना इषणिणयल्लणया । अविगमण अविगमण
प्रमाणनय आप्तवचनाश्रयण निक्षेपनिस्तसुयोगद्वारे विषयनिणयल्लक्षणैः । जा प्र ता

२ दिनान्तिविधिनियमांसा शिष्या । करचरणचालनारूपया विद्या । चमपुत्रिणादिनापदित्यमानवध
विधानान्तिरूपदश । भावादिपा आलाप । तम्हा । मना बलवन यो मनुय उत्पन्नराजनीरादिना स सज्ञा नाम ।

गो जी , ता प्र , ता ६६२

३ गा जी ६६१ माममदि जो पुत्र वत्तमज च तथमिदर च । विवखदि णामणदि य समणा
अमणा य विवरादा ॥ गा जो ६६१

४ गा जी ६६५ तत्र च ' मासामणस्म ' स्थान ' मामामणा ' इति पाठ । उदयावध्यामरादण
तद्व्यवधिचिन्ताण । भास्ममवमाण गदण आहारय नाम ॥ गो जी ६६४

तद्विपरीतोऽनाहार । उक्त च—

विगृह-गदमानणा केवलिणो समुद्रा अजोगी य ।

सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जाना ॥ ९९ ॥

अन्विप्यमाणगुणस्थानानामनुयोगद्वारप्ररूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

एदेसि चेव चोदसहं जीवसमासाणं परूवणट्टदाए तत्थ इमाणि
अट्ठ अणियोगदाराणि णायव्वाणि भवंति ॥ ५ ॥

‘तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगदाराणि’ एतदेनाल शेषस्य नान्तरीयकत्वादिति चेन्नैष दोषः, मन्दबुद्धिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात् । अनुयोगो नियोगो भाषा विभाषा मार्तिकेत्यर्थः । उक्त च—

एक शरीरके योग्य तथा भाषा और मनके योग्य पुद्गलवर्गणाओंको जो नियमसे ग्रहण करता है उसको आहारक कहते हैं ॥ ९८ ॥

आहारिक आदि शरीरके योग्य पुद्गलपिण्डके ग्रहण नहीं करनेको अनाहार कहते हैं । कहा भी है—

विग्रहगतिको प्राप्त होनेवाले चारों गतिके जीव, प्रतर ओर लोकपूरण समुदायको प्राप्त हुए सयोगिकेपत्नी तथा अयोगिकेपत्नी और सिद्ध ये नियमसे अनाहारक होते हैं । शेष जीवोंको आहारक समझना चाहिये ॥ ९९ ॥

अन्वेषण किये जानेवाले गुणस्थानके आठ अनुयोगद्वारोंके प्ररूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

इन ही चौदह जीवसमासाके (गुणस्थानोंके) निरूपण करने रूप प्रयोजनके होनेपर कहा आगे कहे जानेवाले ये आठ अनुयोगद्वार समझना चाहिये ॥ ५ ॥

शुद्धा — ‘तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगदाराणि’ इतना सूत्र बनाना ही पर्याप्त था, क्योंकि, सूत्रका शेष भाग इसका अधिनभावी है । अतएव उसका स्वयं ग्रहण हो जाता है । उसे सूत्रमें निहित करनेकी कोई आवश्यकता नही थी ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, मन्दबुद्धि प्राणियोंके अनुग्रहके लिये शेष भागको सूत्रमें ग्रहण किया गया है ।

अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और मार्तिक ये पाँचों पर्यायवाची नाम हैं । कहा भी है—

१ प्रतरलोकपूरणसमुदायपणिनमयोगिनिना । गा वा, जा प्र, य ६६६

२ गा जी ६६६

३ तत्रानुयाजनमनयोग, निज तत्र श्रुते निजभिधेयमन्वयन, अथवा याग इति व्यापार उच्यते, तत्रानुरूपानुकूलो वा योगी, यथा धर्माच्चेन धर्मो मण्यते, अण्णा वा योगी अनुयोग इत्येवमादि । तथा निश्चितो योगी

अणियोगो य णियोगो भास-विभासा य त्रिधा भव ।

एते अणिओअस्स दु णामा एयट्ठा पच' ॥ १०० ॥

सूई मुदा पटिहो समवदल-त्रिधा चय ।

अणियोग णिरुचीए दिहता होति पचय ॥ १०१ ॥

एते अष्टाधिकारा, अत्रय ज्ञातव्याः भवन्त्यन्यथा जीवममामागमानुपपत्ते-

अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा अरु वार्त्तिक ये पाच अनुयोगके एकार्थवाची नाम जानना चाहिये ॥ १०० ॥

अनुयोगकी निरुक्तिमं सूची, मुद्रा, प्रतिघ, समवदल और वार्त्तिक ये पाच दृष्टान्त होते हैं ॥ १०१ ॥

विशेषार्थ—अनुयोगकी निरुक्तिमें जो पाच दृष्टान्त दिये हैं वे लकड़ी आदिमें कामको लक्ष्यमें रखकर दिये गये प्रतीत होते हैं। जैसे, लकड़ीसे किसी वस्तुको तैयार करनेके लिये पहले लकड़ीके निरूपयोगी भागको निकालनेके लिये उसके ऊपर एक रेखा में डोरा डाला जाता है, इसे सूचीकर्म कहते हैं। अनन्तर उस डोरासे लकड़ीके ऊपर चिन्ह कर दिया जाता है। इसे मुद्राकर्म कहते हैं। इसके बाद लकड़ीके निरूपयोगी भागको छाटकर निकाल दिया जाता है, इसे प्रतिघ या प्रतिघातकर्म कहते हैं। फिर उस लकड़ीके कामके लिये उपयोगी जितने भागकी आवश्यकता होती है उतने भाग कर लिये जाते हैं इसे समवदलकर्म कहते हैं। और अन्तमें वस्तु तैयार करके उसके ऊपर व्रश आदिमें पालिश कर दिया जाता है, यही वार्त्तिक कर्म है। इसतरह इन पाच कर्मोंसे जैसे विवक्षित वस्तु तैयार हो जाती है, उन्मीप्रकार अनुयोग शब्दसे भी आगमानुपल्ल सपूर्ण अर्थका ग्रहण होता है। नियोग, भाषा, विभाषा और वार्त्तिक ये चारों अनुयोग शब्दके द्वारा प्रगट होनेवाले अर्थको ही उत्तरोत्तर निदाद करते हैं, अतएव वे अनुयोगके ही पर्यायवाची नाम हैं ॥ १०१ ॥

ये आठ अधिकार अत्रय ही जानने योग्य हैं, क्योंकि, इनके परिज्ञानके बिना जीव

नियोगा यथा घटवनिता घट पत्रोपते माय इत्यममादि । भाषण भाषा, यथाकरणमियय, तदभा, घटनाद घट, वेष्टावानियय । शिविधा भाषा विभाषा, यथा घट कुं कुम्भ इत्येवमादि । 'वाचक' वृत्तो मत्र वार्त्तिक, अक्षयपयायकधनमियय । अनुयोगस्य पुनरुक्ति एकाधनानि पचति । वि मा, को वृ १३९२

१ आ नि १२५

२ कठ पाथ चित्ते निरिधारिण वा दमिण चैव । मामगविमामए वा विचारणे य आह्वय (नि १२९) पन्थो रूपागार श्रुतायवोवदस्य नाथा । ततो स ज्ञानयने निदामे सव्यग कुण्ड ॥ वट्टममाण सुत तदत्थरूपम मामण माणा । श्रुत्याण विमासा स तमि वचिय नय ॥ वि मा १४३३ १४३५ प्रथम पट्टि रूपमारा रूपमा विमावपति, 'वट्ट' चि मणिय हाइ । तथा द्वितीयस्तु श्रुतायववापदसन, 'वट्ट' चि मणिय हाइ । तृतीयस्तु सवथा सवानवयवातिदत्तात् कराति, चारयतायवमात्रुव भवतीति दणात्पावाय । वि मा, को वृ १४३४

रिति श्रुतवत् शिष्यस्य तन्निर्देशप्रियसंशयः समुत्पद्यत इति जातनिश्चयः पृच्छासूत्रमाह—

तं जहा ॥ ६ ॥

अव्यक्तत्वात्तदिति नपुसकलिङ्गनिर्देशः । 'तद्' अष्टानामनुयोगद्वाराणां निर्देशः ।
यथेति पृच्छा । एव पृष्ठमतः शिष्यस्य भवेदापोहनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

संतपरूपाणां द्रव्यप्रमाणानुगमो क्षेत्रानुगमो स्पर्शानुगमो
कालानुगमो अंतरानुगमो भावानुगमो अप्पावहुगानुगमो चेदि ॥७॥

अद्वुणमणियोगद्वाराणामाहमि किमिदि सतपरूपाणां चेय उच्चदे ? ण, सताणि-
योगो सेसाणियोगद्वाराण जेण जोणीभूदो तेण पढम सताणियोगो चेय भण्णदे ।

समासेका ज्ञान नहीं हो सकता है। एसा सुननेवाले शिष्यको उन आठ अनुयोगद्वारोंके नामके
प्रियम संशय उत्पन्न हो सकता है। इसप्रकारका निश्चय होने पर आचार्य पृच्छासूत्रको
कहते हैं—

वे आठ अधिकार कौनसे हैं ॥ ६ ॥

कहा जानेवाला प्रिय अव्यक्त होनेसे 'सामान्ये नपुसकम्' इस नियमको ध्यानमें
रखकर आचार्यने 'तद्' यह नपुसकलिङ्ग निर्देश किया है, जा कि आगे कहे जानेवाले उन
आठों ही अनुयोगद्वारोंका निर्देश करता है। 'यथा' यह पद पृच्छाको प्रगट करता है।
अर्थात् वे आठ अनुयोगद्वार कौनसे ह ? इसप्रकार पूछनेवाले शिष्यके सदेहको दूर करनेके
लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सत्परूपाणां, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, कालानुगम, अंतरानुगम,
भावानुगम और अप्पावहुत्वानुगम ये आठ अनुयोगद्वार होते हैं ॥ ७ ॥

शुद्धा—आठ अनुयोगद्वारोंके आदिमें सत्परूपाणां ही क्यों कही गई है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि, सत्परूपाणारूप अनुयोगद्वार जिस
कारणसे शेष अनुयोगद्वारोंका योनिभूत (मूलकारण) है, उसीकारण सत्रमे पहले सत्परूपा-
णाका ही निरूपण किया है ।

१ सत्र धर्मविचारि सर्वपदार्थविषयत्वान्, न हि कश्चिद् पदार्थं मया धर्मिवरति ×× सर्वेषां च विचा-
राहणामस्ति न मूल तेन हि निश्चितम् वस्तुन उत्तरा विना युज्यते अतस्तस्मात् वचनं क्रियते । सत पराणामोपलब्धे
मेग्योपदेश । निज्ञातमयस्य निज्ञातविषयित्वे क्षेत्रामिवानम् । अवस्थापयस्य यच्चियात्रिहालविषयाप-
रेषनिधयाय सगहनम् । स्थितिमनोऽविपरिच्छेदार्थं राशेवादानम् । अनुपन्तमायस्य यन्मात्र पुनर्ब्रूतिदशनात्तद्वचनम्
(अतस्त्वचनम्) । परिणामप्रकारानिगारं भाववचनम् । मग्याताय यतमनिधयेऽप्ययोयनिशेषप्रतिपक्ष्य मन्व्यरु-
वचाम् । त रा वा पृ ३०

सतपरूपाणांतर किमिति द्रव्यप्रमाणाणुगमो उच्यते ? न, नियमगा गुणिदोषाहण-
 सेत्त सेत्त' उच्यते दि । एत चेत् जटील-कुम्भेण सह कोमल उच्यते । ततो दो वि अहि-
 यारा सखा-जोणिणो । णाणेग-जीवे अस्सिउण उच्यमाण कालतर परूपाणा वि मग्गा चोणी ।
 इद योयमिदं च बहुममिदं भण्णमाण जप्पावद्दुग्गं पि सग्गा-जोणी । तेण एणणमाडम्हि
 द्रव्यप्रमाणाणुगमो भण्ण-जोगमो । एत्थ भावो किमिति ण उच्यते ? न, तस्म्य बहु-
 ण्णणादो । कथं भावो बहु-ण्णणीयो ? न, कम्म कम्मोत्थ परूपाणाहि विणा
 तस्स परूपाणाभावादो । छ वट्ठि हाणि द्विय-भात्त मग्गमत्तरेण भात्त ण्णणाणुवत्तीदो वा ।
 वट्ठमाण फास वण्णेदि सेत्त । फोत्तण पुण अत्तीद वट्ठमाण च वण्णेदि । अवग्गय वट्ठमाण-
 फामो सुहेण दो वि पच्छा जाणदु त्ति पोत्तगपरूपाणादो होदु णाम पुत्त सेत्तम्म

शंका—सत्परूपणाके बाद द्रव्यप्रमाणानुगमका कथन क्या किया गया है ?

समाधान—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि, अपनी अपनी संस्थापने गुणित
 अवगाहनारूप क्षेत्रको ही क्षेत्रानुगम कहते हैं । और अपनी अपनी संस्थापने गुणित अवगा-
 हनारूप क्षेत्र ही भूतकालीन स्पर्शानुगम कहते हैं । इसलिये इन दोनों ही अवधारणोंका सम्याधिकार (द्रव्यप्रमाणानुगम) यानिभूत है । उदाहरणार्थ नाना
 जीव और एक जीवकी अपेक्षा वर्णन की जानेवाली सत्परूपणा और अन्तरपरूपणाका
 भी सत्याधिकार योनिभूत है । तथा यह अल्प है, यह बहुत है, इसप्रकार कहे जानेवाले
 अल्पबहुत्वानुयोगकारका भी सत्याधिकार योनिभूत है । इसलिये इन सबका आदिमें द्रव्य
 प्रमाणानुगमका ही कथन करना योग्य है ।

शंका—यह भावप्ररूपणाका वर्णन क्यों नहीं किया गया है ?

समाधान—उसका वर्णन करना योग्य विषय बहुत है, इसलिये यहाँ भावप्ररूपणाका
 वर्णन नहीं किया गया है ।

शंका—यह कैसे जाना जावे कि भावप्ररूपणा बहुवर्णनीय है ?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, कर्म और कर्मद्वयके निरूपणके
 बिना भावानुयोगकारका निरूपण नहीं हो सकता है, इसलिये भाव बहुवर्णनीय है यह
 ममज्ञाना चाहिये । अथवा, पट्टगुणी हाथि और पट्टगुणी घृष्टमें स्थित भावकी सत्यताके बिना
 भावप्ररूपणाका वर्णन नहीं हो सकता है, इसलिये भी यहाँ भावप्ररूपणाका वर्णन नहीं किया
 गया है ।

शंका—क्षेत्रानुयोग वर्तमानकालीन स्पर्शका वर्णन करता है । और स्पर्शानुयोग
 अतीत और वर्तमानकालीन स्पर्शका वर्णन करता है । जिसने वर्तमानकालीन स्पर्शको जान
 लिया है वह अनन्तर सरलतापूर्वक अतीत और वर्तमानकालीन स्पर्शको जान लेवे, इसलिये

परूषणा, ण पुण कालंतरेहिंतो ? इदि ण, अणवगय सेच फोसणम्म तवालंतर जाणशुभाया-
भायादो । ण च सतमत्थमागमो ण परूषेड तम्म अत्थाययत्तप्पसंगादो । णेदाणि
तवालंतर पडिअज्झदीदि चेण्ण, तप्पदणे निरोहाभायादो । तद्वा भावप्पाअहुगाण पि
परूषणा सेच फोसणाशुगममत्तेण ण तव्विसया होंति ति पुच्चमेय सेच-फोसण-परूषणा
कायव्वा । सेमाहियारेसु सत्तेसु ते मोत्तुण किमद्द कालो पुच्चमेय उच्चदे ? ण ताअ
अतरपरूषणा एत्थ भणण-जोग्गा काल-जोणितादो । ण भायो मि तस्म तदो हेट्ठिम-
अहियार-जोणितादो । ण अप्पाअहुग पि तस्स मि सेमाणियोग-जोणितादो । परिमेसादो
कालो चेअ तत्थ परूषणा-जोगो ति । भावप्पाअहुगाणं जोणितादो पुच्चमेयतरपरूषणा

स्पर्शन प्ररूपणाके पहले क्षेत्रप्ररूपणाका वर्णन रह्य आवे इसम कोई आपत्ति नहीं, परन्तु काल
और अन्तरप्ररूपणाके पहले क्षेत्रप्ररूपणाका वर्णन समझ नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसने क्षेत्र और स्पर्शनको नहीं जाना है उसे
तत्त्वग्रन्थी काल और अन्तरके जाननेका कोई भी उपाय नहीं प्राप्त हो सकता है । और
आगम, जिस प्रकारसे वस्तु व्यवस्था है, उसीप्रकारसे प्ररूपण नहा करे यह हो नहीं सकता
है । यदि ऐसा नहीं माना जावे तो उस आगमको अर्थपदत्व अर्थात् अनर्थकपदत्वका प्रसंग
प्राप्त हो जायगा ।

शङ्का—तो भी क्षेत्र और स्पर्शनप्ररूपणाके पश्चात् काल और अन्तरप्ररूपणाका कथन
प्राप्त नहीं होता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, क्षेत्र और स्पर्शनके बाद काल और अन्तर
प्ररूपणाके कथन करनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

उसीप्रकार भाव और अल्पबहुत्वकी भी प्ररूपणा क्षेत्र और स्पर्शानुगमके बिना
क्षेत्र और स्पर्शनको विषय करनेवाली नहीं हो सकती है, इसलिये इन सबके पहले ही
क्षेत्र और स्पर्शानुगमका कथन करना चाहिये ।

शङ्का—अन्तरादि शेष अविकारोंके रहते हुए भी उन्ह जोहकर कालाधिकारका
कथन पहले क्यों किया गया है ?

समाधान—यद्वापर (स्पर्शनप्ररूपणाके पश्चात्) अन्तरप्ररूपणाका कथन तो किया
नहीं जा सकता है, क्योंकि, अन्तरप्ररूपणाका मूल आधार (योनि) कालप्ररूपणा ही है ।
स्पर्शनप्ररूपणाके बाद भावप्ररूपणाका भी वर्णन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि, कालप्ररूपणासे
नीचेका अधिकार (अन्तराधिकार) भावप्ररूपणाका योनिरूप है । उसीप्रकार स्पर्शनप्ररू-
पणाके बाद अल्पबहुत्वप्ररूपणाका भी कथन नहा किया जा सकता है, क्योंकि, शेषानुयोग
(भावानुयोग) अल्पबहुत्वप्ररूपणाका योनिरूप है । इसप्रकार जब स्पर्शनप्ररूपणाके पश्चात्
अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इनमेंसे किसीका भी प्ररूपण नहीं हो सकता या नव परिशेष
न्यायसे यद्वा पर काल ही प्ररूपणाके योग्य है यह बात निश्च हो जाती है ।

उत्ता । अप्पायद्गुग जोणितादो पुब्बमेव भावपरूपा उब्बे । सुत्ते तद्वा परूवणा किमिदि
 ण दिस्सदे ? ण, सुत्तस्सत्थं मयणमेत्तं तात्तादो । तद्वाहरिया किमिदि ण पक्खणोति ?
 ण, अत्तराणममत्थाणं सिस्साणं सपहि अभातादो तद्वाएमाभातादो वा । अत्थित्तं भणदि
 सत्ताणियोगो । सत्ताणियोगमिद्दं जमत्थित्तं उच्चं तस्मं पमाणं परूवेदि दन्त्ताणियोगो ।
 तेहिंत्तो अगगयं सत्तं पमाणं पट्टमाणोमाहणं परूवेदि सेत्ताणियोगो । पुणो तेहिंत्तो
 पलद्धं-सत्तं पमाणं-सेत्ताणं अदीदं-कालं निमिद्धं कामं परूवेदि फोसणाणुगमो । तेहिंत्तो
 अगगयं-मत्तं पमाणं सेत्तं फोसणाणं द्विदिं परूवेदि कालाणियोगो । तेहिंत्तं चेत्तं त्रिरहं
 परूवेदि अत्तराणियोगो । तेहिंत्तं चेत्तं भावं परूवेदि भावाणियोगो । तेहिंत्तं चेत्तं योत्तं-अत्तं
 उग्गादि अप्पायद्गुगमिदि । उच्चं च—

अत्थित्तं पुणं सत्तं अत्थित्तस्स यं तद्वा परिमाणं ।

पञ्चुण्णं खेत्तं अदीदं पदुण्णं पुसणं ॥ १०७ ॥

भावप्ररूपणा और अव्यवहुत्वप्ररूपणाकी योनि होनेसे इन दोनोंके पहले ही
 जन्मप्ररूपणाका उल्लेख किया है। तथा अव्यवहुत्वकी योनि होनेसे इसके पहले ही भावप्ररू-
 पणाका कथन किया है।

शुक्रा—सूत्रमें प्ररूपणाओंका वर्णन इसप्रकार क्यों नहीं दिखाई देता है ?

समाधान—यह कोई बात नहीं, क्योंकि, सूत्रका कार्य अर्थात् सूचना करना
 मात्र है।

शुक्रा—यदि ऐसा है तो दूसरे आचार्य उक्त प्रकारसे प्ररूपणाओंका व्याख्यान क्यों
 नहीं करते हैं ?

समाधान—ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि, एक तो आश्रय विस्तृत
 व्याख्यानरूप तत्त्वार्थके अवधारण करनेमें समर्थ शिष्योंका अभाव है, और दूसरे उक्तप्रकारके
 उपदेशका अभाव है। इसलिये आचार्योंने उक्त प्रकारसे प्ररूपणाओंका व्याख्यान नहीं किया।

सप्ररूपणा पदार्थोंके अस्तित्वका कथन करती है। सप्ररूपणा (म) जो पदार्थोंका अस्तित्व
 कहा गया है उनके प्रमाणका वर्णन द्रव्यानुयोग करता है। इन दोनों अनुयोगोंके द्वारा जाने
 हुए अस्तित्व और संख्या प्रमाणरूप द्रव्योंकी वर्तमान अवगाहनाका निरूपण क्षेत्रानुयोग
 करता है। उक्त तीनों अनुयोगोंके द्वारा जाने हुए सत्, संख्या और क्षेत्ररूप द्रव्योंके अतीत
 कालादिशिष्ट वर्तमान स्पर्शका स्पर्शानुयोग वर्णन करता है। पूर्वोक्त चारों अनुयोगोंके
 द्वारा जाने गये सत्, संख्या, क्षेत्र और स्पर्शरूप द्रव्योंकी स्थितिका वर्णन कालानुयोग
 करता है। जिन पदार्थोंने अस्तित्व, संख्या क्षेत्र, स्पर्श और स्थितिका ज्ञान हो गया है
 उनके अन्तरकालका वर्णन अन्तरानुयोग करता है, उन्हींके भावोंका वर्णन भावानुयोग
 करता है और उन्हींके अव्यवहुत्वका वर्णन अव्यवहुत्वानुयोग करता है। कहा भी है—

अस्तित्वका प्रतिपादन करनेवाली प्ररूपणाकी सप्ररूपणा कहते हैं। जिन पदार्थोंके

काळो द्विदि अग्रण अतर विरहो य सुण्य काळो य ।

मागो खलु परिणामो स-गाम सिद्ध रु अपग्रह ॥ १०३ ॥

प्रथमानुयोगस्वरूपनिरूपणार्थं सूत्रमाह—

संतपरुषणदाए' दुविहो णिहेसो ओघेण आदेसेण' य ॥ ८ ॥

चतुर्दशजीवसमामानामित्यनुवर्तते, तेनैवमामिममन्वः क्रियते चतुर्दशजीव-
समासाना सत्प्ररूपणायामिति । सत्प्रमत्तमित्यर्थः । कथम् ? अन्तर्भावितभावात् । प्ररूपणा
निरूपणा प्रज्ञापनेति यावत् । चतुर्दशजीवसमाससत्प्ररूपणायामित्यर्थः । सच्छब्दोऽस्ति
शोभनवाचकः, यथा सद्भिधान सत्यमित्यादि । अस्ति अस्तित्वाचकः, सति सत्ये

अस्तित्वका ज्ञान हो गया है ऐसे पदार्थोंके परिमाणका कथन करनेवाली सत्प्रारूपणा
है । वर्तमान क्षेत्रका वर्णन करनेवाली क्षेत्रप्ररूपणा है । अतीतस्पर्श और वर्तमानस्पर्शका
वर्णन करनेवाली स्पर्शनप्ररूपणा है । जिसमें पदार्थोंकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन
हो उसे कालप्ररूपणा कहते हैं । जिसमें विरहकाल अथवा शून्यकालका कथन हो उसे अन्तर-
प्ररूपणा कहते हैं । जो पदार्थोंके परिणामोंका वर्णन करे वह भावप्ररूपणा है । तथा अल्प
बहुत्वप्ररूपणा अपने नामसे ही सिद्ध है ॥ १०२-१०३ ॥

अब पहले सद्नुयोगके स्वरूपका निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सत्प्ररूपणामं ओघ अर्थात् सामान्यकी अपेक्षासे और आदेश अर्थात् विशेषकी
अपेक्षासे इसतरह दो प्रकारका कथन है ॥ ८ ॥

इस सूत्रमें 'चतुर्दशजीवसमामानाम्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिये उस
पदके साथ ऐसा सवन्ध कर देना चाहिये कि 'चौदह जीवसमासोंकी सत्प्ररूपणाम' ।
यहां पर सत्का अर्थ सत्त्व है ।

शब्दा—यहां सत्का अर्थ सत्त्व करनेका क्या कारण है ?

समाधान—क्योंकि, सत्तमें भावरूप अर्थ अन्तर्भूत है, इसलिये यहां पर सत्का अर्थ
सत्त्व लिया गया है ।

प्ररूपणा, निरूपणा और प्रज्ञापना ये सत्र पर्यायवाची नाम हैं । इसलिये 'सतपरुषण
दाए' इसपदका अर्थ यह हुआ कि चौदह जीवसमासोंके सत्त्वके निरूपण करनेमें । 'सत्'
शब्द शोभन अर्थात् सुन्दर अर्थका भी वाचक है । जैसे, सद्भिधान अर्थात् शोभनरूप कथनको

१ मतति विडभाण एवस्स पयस्स जा पक्खणया । इयाहएस्स बधुसु सतपयपरुषणा सा उ । जावस्स
च ज सत् जग्घा न तेहिं तेसु वा पयति । ता मतस्स पयाइ ताइ तेषु पक्खणया ॥ वि मा ४०७ ४०८

२ मखजा ओघो वि य गणमण्णा ना च मोत्तजगसवा । विघारादेयां ति य मणमण्णा सत्तम्ममवा ॥

गो जा ३

प्रतीत्यादि । जगत्स्तिव्याचको ग्राह्यः । निदेशः प्ररूपण निररण व्याख्यानमिति यावत् । न द्विविधो द्विप्रकारः, ओघेन आदेशेन च । ओघेन सामान्येनाभेदेन प्ररूपणमेकः । अपर आदेशेन भेदेन विशेषेण प्ररूपणमिति । न च प्ररूपणायास्तृतीयः प्रकारोऽस्ति सामान्यविशेषव्यतिरिक्तस्यानुपलम्भात् । विशेषव्यतिरिक्तसामान्याभावादादेशप्ररूपणाया एव ओघावगतिः स्यादिति न द्विविध व्याख्यानमिति चेन्न, सक्षेपविस्तररुचिद्रव्य पर्यायाधिकमत्त्वानुग्रहार्थत्वात् । जीवममम इति किम् ? जीवाः सम्यगासतेऽस्मिन्निति जीवमममः । कासते ? गुणेषु । के गुणाः ? औदयिकौपशमिकक्षाधिकक्षायोपशमिक-

सत्य रहते ह । रुहीं पर 'सत्' शब्द अस्तित्ववाचक भी पाया जाता है । जैसे, यह सत्यके अस्तित्व अर्थात् सद्भावमें प्रती है । इनमेंसे यहां पर 'सत्' शब्द अस्तित्ववाचक ही लेना चाहिये ।

निदेश, प्ररूपण, निररण और व्याख्यान ये सब पर्यायवाची नाम हैं । वह निदेश ओघ और आदेशकी अपेक्षा दो प्रकारका है । ओघ, सामान्य या अभेदसे निरूपण करना पहली ओघप्ररूपणा है, और आदेश, भेद या विशेषरूपसे निरूपण करना दूसरी आदेश प्ररूपणा है । इन दो प्रकारकी प्ररूपणाओंको छोड़कर वस्तुके विवेचनका और कोई तीसरा प्रकार संभव नहीं है, क्योंकि, वस्तुमें सामान्य और विशेष धर्मको छोड़कर और कोई तीसरा धर्म नहीं पाया जाता है ।

शंका — विशेषको छोड़कर सामान्य स्वतः न कहा पाया जाता है, इसलिये आदेशप्ररूपणासे ज्ञानसे ही सामान्यप्ररूपणाका ज्ञान हो जायगा । अतएव दो प्रकारका व्याख्यान करना आवश्यक नहीं है ?

समाधान — यह आशङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि, जो सक्षेप रुचिवाले शिष्य होते हैं वे द्रव्याधिक अर्थात् सामान्यप्ररूपणासे ही तत्त्वको जानना चाहते हैं । और जो विस्तार रुचिवाले होते हैं वे पर्यायाधिक अर्थात् विशेषप्ररूपणाके द्वारा तत्त्वको समझना चाहते हैं, इसलिये इन दोनों प्रकारके प्राणियोंके अनुग्रहके लिये यहां पर दोनों प्रकारकी प्ररूपणाओंका कथन किया है ।

शंका — जीवसमास किसे कहते हैं ?

समाधान — जिसमें जीव भलेप्रकार रहते हैं अर्थात् पाये जाते हैं उसे जीवसमास कहते हैं ?

शंका — जीव कहा रहते हैं ?

समाधान — गुणोंमें जीव रहते हैं ।

शंका — वे गुण कौनसे हैं ?

समाधान — औदयिक, औपशमिक, क्षायिक क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये पांच

पारिणामिका इति गुणाः । अस्य भग्निका, कर्मणामुदयादुत्पन्नो गुण औदायिकः, तेषामुपशमादौपशमिकः, क्षयात्क्षायिकः, तत्क्षयादुपशमाच्चोत्पन्नो गुण क्षायोपशमिकः । कर्मोदयोपशमक्षयक्षयोपशममन्तरेणोत्पन्न पारिणामिकः । गुणसहचरितत्वादात्मापि गुणसज्ञा प्रतिलभते । उक्तं च—

जेहि दु छिखन्ते उदयादिसु सभेहि भोपेहि ।

जात्र ते गुण सज्जा णिदिहा सबदरिसीहि' ॥ १०४ ॥

ओघनिर्देशार्थमुत्तरमत्रमाह—

ओघेण अत्थि मिच्छाहट्ठी' ॥ ९ ॥

यथोद्देशस्तथा निर्देश इति न्यायात् ओघाभिवानमन्तरेणापि ओघोऽगम्यते

प्रकारके गुण अर्थात् भाव ह । इनका गुलासा इस प्रकार हे । जो कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होता है उसे औदायिक भाव कहते ह । जो कर्मोंके उपशमसे उत्पन्न होता है उसे ओपशमिक भाव कहते ह । जो कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होता है उसे क्षायिक भाव कहते ह । जो वर्तमान समयमें सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभागी क्षयमें और अनागत भूलमें उदयमें आनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोंके सद्वस्त्वारूप उपशमसे उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशमिक भाव कहते ह । जो कर्माके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमकी अपेक्षाके बिना जीवके स्वभावमात्रसे उत्पन्न होता है उसे पारिणामिक भाव कहते ह । इन गुणोंके साहचर्यसे आत्मा भी गुणसज्ञाको प्राप्त होता है । कहा भी है—

दर्शनमोहनीय आदि कर्मोंके उदय, उपशम आदि अवस्थाओंके होने पर उत्पन्न हुए जिन परिणामोंमें युक्त जो जीव देखे जाते ह उन जीवोंको सर्वज्ञदेवने उसी गुणसज्ञानाला कहा है ॥ १०४ ॥

अथ ओघ अर्थात् गुणत्वान् प्ररूपणाका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं— सामान्यसे गुणस्थानकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव है ॥ ९ ॥

शुद्धा—‘उद्देशके अनुसार ही निर्देश होता है’ इस न्यायके अनुसार ‘ओघ’ इस शब्दके कहे बिना भी ‘ओघ’ का ज्ञान हो ही जाता है, इसलिये उसका सूत्रमें फिरसे

१ गां जा अ जन गुणान्दनिगुणिप्रधानमूत्रण मि यात्रादयोऽयामिग्वलितपयन्ता जावपरिणामविशया त एव गुणस्थानानाति प्रतिपादिताम् । जा प्र टी

२ ननु यदि मिथ्या दृष्टिमतं वयं तस्य गुणस्थानमभवत् । गुणा हि ज्ञानादिस्त्वान्तरस्य ते दृष्टा विषयस्तायां भवेद्युतिरिति ? उत्तरम्, इह यद्यपि सत्प्रतीतिप्रत्यभिधानमोहनीयादयादयः प्रतीतिनिवाचावादिस्तु प्रतिपत्तिरुपा दृष्टि रसमयो विषयस्ता भवति, तथापि वाचिसन्त्ययप्रवृत्तिप्रतिपत्तिरविषयस्ता, ततो निगोदानस्थायापि तयाभूता यत् स्पष्टमात्रप्रतिपत्तिरविषयस्ता भवति अथवा जाववप्रमणात् । भमि रा ने (मि अइट्टिगुणद्वान्)

तस्येह पुनरुच्चारणमनर्थकमिति न, तस्य दुमेवोजनानुग्रहार्थत्वात् । मरुसत्त्वानुग्रह-
कागिणो हि जिना' नीरागतात् । सन्ति मिथ्यादृष्टयः । मिथ्या वितथा व्यलीका असत्या
दृष्टिदर्शन विपरीतैकान्तविनयसशयाज्ञानरूपमिथ्यात्वकर्मोदयजनिता येषां ते मिथ्या-
दृष्टयः ।

जात्रिया वयण बहा तात्रदिया चेव होंति णय वादा ।

जात्रदिया णय वादा तात्रदिया चेव परममया' ॥ १०५ ॥

इति वचनान्न मिथ्यात्वपञ्चकनियमोऽस्ति किन्तुपलक्षणमात्रमेतदभिहित पञ्चविध
मिथ्यात्वमिति । जयना मिथ्या वितथ, तत्र दृष्टि' रुचिः श्रद्धा प्रत्ययो येषां ते मिथ्या-
दृष्टयः । उक्तं च—

मिथ्यं वेयतो जात्रो विर्रीय दसणो होइ ।

ण य धम्म रोचेदि हु मधुर सु रस जहा जरिदो ॥ १०६ ॥

उच्चारण करना निष्प्रयोजन है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, जल्पबुद्धि या मूढजनके अनुग्रह
के लिये सूत्रम 'ओष' शब्दका उल्लेख किया है । जिनदेव सपूर्ण प्राणियोंका अनुग्रह
करनेवाले होते हैं, क्योंकि, वे धीतराग ह ।

'मिथ्यादृष्टि जीव ह' यहा पर मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असत्य ये प्रकार्य
वाची नाम ह । दृष्टि शब्दका अर्थ दर्शन या श्रद्धान है । इससे यह तात्पर्य हुआ कि जिन
जीवोंमें विपरीत, एकांत, विनय, सशय और अज्ञानरूप मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई
मिथ्यारूप दृष्टि होती ह उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं ।

'जितने भी वचन मार्ग ह उतने ही नय वाद अर्थात् नय के भेद होते हैं और
जितने नय वाद ह उतने ही पर समय (अनेकान्त याद मत) होते हैं ॥ १०७ ॥

इस वचनके अनुसार मिथ्यात्वके पांच ही भेद ह यह कहा उपलक्षणमात्र है । अथवा, मिथ्या
शब्दका अर्थ वितथ और दृष्टि शब्दका अर्थ रुचि, श्रद्धा या प्रत्यय है । इसलिये जिन जीवोंकी
रुचि असत्यम होती ह उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते ह । कहा भी है—

मिथ्यात्व प्रवृत्तिके उदयसे उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वभाषना अनुभव करनेवाला जीव
विपरीत श्रद्धावाला होता है । जिसप्रकार पित्तज्वरसे युक्त जीवको मधुर रस भी अच्छा मालूम

१ गायय पूर्वमपि ६७ गाथाङ्गेन आगता ।

२ एवं दृष्टान्ताग्रेण मिथ्यात्वस्य पञ्चविधतरं कथितं सूत्रमांशाश्रयणामभ्यासलक्ष्मांशविज्ञानमभ्यास-
तय व्यवहारानुपपत्तेः । गा जी, जी प्र, टी १५

३ गा जी १७

त मि०उत्त जहमसदहण तच्चाण होइ अथाण ।

ससद्दमभिगहिय अणभिगहिद ति त तिगिह ॥ १०७ ॥

इदानीं द्वितीयगुणस्थाननिरूपणार्थं सूत्रमाह—

सासाधनसम्मादृष्टी' ॥ १० ॥

आसाधन सम्यक्त्वरिप्राधानम्, सह आसाधनेन वर्तते इति सासाधनो विनाशित-
सम्यग्दर्शनोऽप्राप्तमिव्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामो मिव्यात्वाभिमुखः सासाधन' इति
भण्यते । अथ स्वान्न मिव्यादृष्टिरय मिव्यात्वकर्मण उदयाभावात्, न सम्यग्दृष्टि' सम्यग्-
रुचेरभावात्, न सम्यग्मिव्यादृष्टिरुभयत्रिपयरुचेरभावात् । न च चतुर्थी दृष्टिरस्ति

नहीं होता है उसीप्रकार उसे यथार्थ धर्म अच्छा मालूम नही होता है ॥ १०६ ॥

जो मिव्यात्त्व कर्मके उदयसे तत्त्वार्थके विषयमे अश्रद्धान उत्पन्न होता है, अथवा
त्रिपरीत श्रद्धान होता है, उसको मिव्यात्त्व कहते हैं । उसके सहायित, अभिगृहीत और
अनभिगृहीत इसप्रकार तीन भेद ह ॥ १०७ ॥

अथ दूसरे गुणस्थानके कथन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे सासाधनसम्यग्दृष्टि जीव है ॥ १० ॥

सम्यक्त्वकी विराधनाकी आसाधन कहते हैं । जो इस आसाधनसे युक्त है उसे
सासाधन कहते हैं । अनन्तानुबन्धी किसी एक स्थायके उदयसे जिसका सम्यग्दर्शन
नष्ट हो गया है, किन्तु जो मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए मिव्यात्वरूप परिणामोंको नहीं
प्राप्त हुआ है फिर भी मिव्यात्व गुणस्थानके अभिमुख है उसे सासाधन कहते हैं ।

शंका—सासाधन गुणस्थानवाला जीव मिथ्यात्वकर्मका उदय नही होनेसे मिव्या
दृष्टि नहीं है, समीचीन रचिका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टि भी नही है, तथा इन दोनोंको त्रिपय
करनेवाली सम्यग्मिव्यात्वरूप रचिका अभाव होनेसे सम्यग्मिव्यादृष्टि भी नहीं है । इनके

१ अमन क्षेपण सम्यक्त्वविशेषनं, तन मन् वर्तते य स सामन इति मिरुनया सामन इयागया यस्मादी
सामनात् ॥ गा जी, म प्र, टी १९

२ आय ओपशमिकमम्यक्त्वलामलक्षण सादयति अपनेयतीयामादनम् अनन्तानुबन्धिकायवदनम् । पृषो
दशदितायसम्बलोष, कृन्वहुलमिति कर्तयन् । सनि क्षस्मिन् परमानदम्पानतस्तत्त्वलोपो नि त्रेयसतत्त्वोचभूत
आपशमिन्सम्यक्त्वलामो जघयत समयमात्रेण उत्कषत पम्भिरात्रलिकामिरपगच्छन्ति, तत सह आसाधनेन वर्तत इति
सामादन । XXX सास्वादनमिति वा पाठ । तत्र सह सम्यक्त्वलक्षणसास्वादानेन वर्तते इति सास्वादन । यथा हि,
श्रुतक्षीरातत्रिषयलाजिचि पुरुषस्तदमनत्राल क्षीरावरममासादयति तथोऽपि मिथ्यावामिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि
व्यापकविच सम्यक्त्वमद्वहन् तदममासादयति । तत स चापो सम्यग्दृष्टिश्च तस्य गुणस्थान सासाधनसम्यग्दृष्टि
गुणस्थानम् । अभि रा ती (गामण्यममादिदिगुणगणन)

सम्यग्गम्यगुभयदृष्ट्यालम्बनवस्तुव्यतिरिक्तस्त्वनुपलम्भान् । ततोऽमन् एष गुण इति न, विपरीताभिनिवेशतोऽमदृष्टिनात् । तर्हि मिथ्यादृष्टिर्भवत्यय नास्य सामादनव्यपदेश इति चेन्न, सम्यग्दर्शनचारित्रप्रतिबन्धनन्तानुबन्धुदयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र मत्ताङ्गाति मिथ्यादृष्टिरपि तु मिथ्यात्वकमेादयजनितविपरीताभिनिवेशाभावात् न तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेशः, किन्तु सामादन इति व्यपदिश्यते । किमिति मिथ्यादृष्टिरिति

अतिरिक्त और कोई चीज़ दृष्टि है नहीं, क्योंकि, समीचीन, असमीचीन और उभयरूप दृष्टि के जालम्बनभूत वस्तुके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु पाई नहीं जाती है । इसलिये सासादन गुणस्थान जस्तस्वरूप ही है । जहाँ सासादन नामका कोई स्वतन्त्र गुणस्थान नहीं मानना चाहिये ?

समाधान—ऐसा नही है, क्योंकि सासादन गुणस्थानमें विपरीत अभिप्राय रहता है, इसलिये उसे अमदृष्टि ही समझना चाहिये ।

शुद्धा—यदि ऐसा है तो इसे मिथ्यादृष्टि ही कहना चाहिये, सासादन सदा देना उचित नही है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्रका प्रतिबन्ध कर नेवाली अनन्तानुबन्धी रूपायके उदयसे उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश दूसरे गुणस्थानमें पाया जाता है, इसलिये द्वितीय गुणस्थानवर्ती जोय मिथ्यादृष्टि है । किन्तु मिथ्यात्वकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश वही नही पाया जाता है, इसलिये उसे मिथ्यादृष्टि नहीं कहते हैं, केवल सासादनमम्यग्दृष्टि कहते हैं ।

निशेपार्थ—विपरीताभिनिवेश दो प्रकारका होता है, अनन्तानुबन्धीजनित और मिथ्यात्वजनित । उनमेंसे दूसरे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धीजनित विपरीताभिनिवेश ही पाया जाता है, इसलिये इसे मिथ्यात्वगुणस्थानसे स्वतन्त्र गुणस्थान माना है ।

१ यदि तत्रव्यतिरिक्तस्य सम्प्रतिशेपायी ययनदग्धस्तरा मिथ्याविशेषायां, यगुभयग्विस्तदा सम्यग्मिथ्याविशेषायां, ययनुभयग्विस्तदा आमाभावात् स्यात् । ना ता, म प्र, टी १९

२ ननु सम्यग्दर्शनपातस्म्यार्नतानुबन्धिन क्व दग्धमात्रमाभावात् ? इति नृ न, तस्य चानिषातकृतात् तमात्रमात्रमिमा चानिषात बरयन यनयार् । तात् तस्मात् सम्यग्दर्शनविनाश ? इति च न अनन्तानुबन्धुदय सति पञ्चविरूपस्तानां यवधाने वि मिथ्यात्रमादयामिमुन्य सत्त्वं सम्यग्दर्शनविनाशममात्रात् । अतएव मिथ्यात्रादय निषेधनया सामादनतः भवनाति पारिणामिकमात्रमनन्तः । परिणाम स्मभार तस्माद्वा पारिणामिर् इति युक्त । नन्वत्र कथमेतानुबन्धयनमदियात्तसितमम्यन इत्युक्त ? इति नृ न मिथ्यात्रादयामिमुन्यमपितितस्य अनन्तानुबन्धुदयस्य सम्यग्दर्शनविनाशमभवन तदुदयावतिनाश इति उच्यते । किं वृत्ता अनन्तानुबन्धिन सम्यग्दर्शनविनाशसाम्यग्विनिगमव वि मिथ्यात्रादयामिमुन्य सयेन तयामय यनिशिनि मिद्धा न मिद्धात । गो जी, म प्र, टी १९

न व्यपदिश्यते चेन्न, अनन्तानुबन्धिना द्विस्वभावनप्रतिपादनफलत्वात् । न च दर्शन-
मोहनीयस्योदयादुपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाद्वा सासादनपरिणामः प्राणिनामुपजायते येन
मिव्याद्यष्टि सम्यग्दृष्टि सम्यग्मिव्याद्यष्टिरिति चोच्येत । यस्माच्च निपरीताभिनि-
वेशोऽभूदनन्तानुबन्धिनो, न तद्दर्शनमोहनीय तस्य चारित्रावरणत्वात् । तस्योभयप्रतिप-
त्तत्वादुभयव्यपदेशो न्याय्य इति चेन्न, श्रुत्वात् । सूत्रे तथाऽनुपदेशोऽप्यपित्तनयापेक्षः ।
निपक्षितदर्शनमोहोदयोपशमक्षयोपशममन्तरेणोत्पन्नत्वात्पारिणामिक सासादनगुणः ।

शुद्धा—ऊपरके कथनानुसार जब यह मिव्याद्यष्टि ही है तो फिर उसे मिव्याद्यष्टि
क्या क्यों नहा दी गई है ?

समाधान—पेक्षा नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र कहनेसे अनन्ता
नुबन्धी प्रकृतियोंकी द्विस्वभावताका कथन सिद्ध हो जाता है ।

निशेषार्थ—सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माननेका फल जो अनन्तानुबन्धीकी
द्विस्वभावता बतलाई गई है, वह द्विस्वभावता दो प्रकारसे हो सकती है। एक तो अनन्ता
नुबन्धी कथन सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंकी प्रतिबन्धक मानी गई है, और यही उसकी
द्विस्वभावता है। इसी कथनकी पुष्टि यहाँ पर सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र मानकर की
गई है। दूसरे, अनन्तानुबन्धी जिसप्रकार सम्यक्त्वके विघातमें मिव्याद्यष्टिप्रकृतिका काम करती
है, उसप्रकार वह मिव्याद्यष्टिके उत्पादमें मिव्याद्यष्टिप्रकृतिका काम नहा करती है। इसप्रकारकी
द्विस्वभावताको सिद्ध करनेके लिये सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माना है ।

दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे जीवोंके सामादनरूप परिणाम
नो उत्पन्न होता नहा है जिससे कि सासादन गुणस्थानको मिव्याद्यष्टि, सम्यग्दृष्टि अथवा
सम्यग्मिव्याद्यष्टि कहा जाता । तथा जिस अनन्तानुबन्धीके उदयसे दूसरे गुणस्थानमें जो
निपरीताभिनिवेश होता है, वह अनन्तानुबन्धी दर्शनमोहनीयका भेद न होकर चारित्रका
आवरण करनेवाला होनेसे चारित्रमोहनीयका भेद है। इसलिये दूसरे गुणस्थानको मिव्याद्यष्टि
न कहकर सासादनसम्यग्दृष्टि कहा है ।

शुद्धा—अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंका प्रतिबन्धक होनेसे उसे
उभयरूप (सम्यक्त्वचारित्रमोहनीय) कहा देना न्यायसंगत है ?

समाधान—यह आरोप ठीक नहा, क्योंकि, यह तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् अनन्तानु-
बन्धीको सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनोंका प्रतिबन्धक माना ही है। फिर भी परमागममें मुख्य
नयकी अपेक्षा इसतरहका उपदेश नहीं दिया है ।

सासादन गुणस्थान विपक्षित रमके अर्थात् दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय
और क्षयोपशमके बिना उत्पन्न होता है, इसलिये यह पारिणामिक है । और आत्मादनासहित

सासादन-वासी सम्पद्दृष्टिश्च सासादनसम्पद्दृष्टिः । विपरीताभिनिवेशदूषितस्य तस्य कथं सम्पद्दृष्टिरिति चेन्न, भूतपूर्वगत्या तस्य तद्वचनपदेशोपपत्तेरिति । उक्तं च—

ममत्तं त्यज्य प न्य सिहरादौ मिच्छ-भूमि समभिमुखो ।

णासिय सम्मतो सो सासण णाणो मुणेष ओ' ॥ १०८ ॥

व्यामिश्ररुचिगुणप्रतिपादनार्थं सूत्रमाह—

सम्पामिच्छादृष्टी' ॥ ११ ॥

दृष्टिः श्रद्धा रुचिः प्रत्यय इति यात्र । समीचीना च मिथ्या च दृष्टिर्न्यासात् सम्पग्मिथ्यादृष्टिः । अथ स्यादेकस्मिन् जीने नाक्रमेण समीचीनासमीचीनदृष्टयोरस्ति भेदो विरोधात् । न क्रमेणापि सम्पग्मिथ्यादृष्टिगुणयोरान्तर्भावादिति । अक्रमेण

सम्पद्दृष्टि होनेके कारण उसे सासादनसम्पद्दृष्टि कहते हैं ।

श्रुति—सासादन गुणस्थान विपरीत अभिप्रायसे दूषित है, इसलिये उसके सम्पद्दृष्टि पना कैसे बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पहले वह सम्पद्दृष्टि था, इसलिये भूतपूर्व न्यायका अपेक्षा उसके सम्पद्दृष्टि सदा बन जाती है । कहा भी है—

सम्पद्दर्शनरूपी रत्नागिरिके शिखरसे गिरकर जो जीव मिथ्यात्वरूपी भूमिमें अभिमुख है, जलपय जिसका सम्पद्दर्शन नष्ट हो चुका है परन्तु मिथ्यादर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई है, उसे सामन या सासादनगुणस्थानवर्ती समग्रता चाहिये ॥ १०८ ॥

जब सम्पग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे सम्पग्मिथ्यादृष्टि जीव हैं ॥ ११ ॥

दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय ये पर्यायवाची नाम हैं । जिस जीवके समीचीन ओर मिथ्या दोनों प्रकारकी दृष्टि होती है उसको सम्पग्मिथ्यादृष्टि कहते हैं ।

श्रुति—एक जीवमें एकसाथ सम्पद् और मिथ्यारूपदृष्टि समय नहीं है, क्योंकि, इन दोनों दृष्टियोंका एक जीवमें एकसाथ रहनेमें विरोध जाता है । यदि कहा जावे कि ये दोनों दृष्टियाँ क्रमसे एक जीवमें रहती हैं तो उनका सम्पद्दृष्टि ओर मिथ्यादृष्टि नामके स्वतन्त्र

१ गो जी २०

२ ४ धेनापक्षमिन्सम्पक्त्वेन औपधिदिशेषन्येन मदननादास्वानाय मिथ्यावमाश्रित्य कम बोधयिच विधा कराति, उदमधुपदमरितद्व चति । तत्र तयाणां पुजानो मय्य यदाधविगद पुन उदति तदा तदुदयाणन स्याधविपुद जिनप्रगततत्त्वश्रदान भवति, तेन तदाया सम्पग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमप्युदयत्वा स्मृति । अमि रा फे (सम्पामिच्छादिदृष्टिगुण)

सम्यग्मिथ्यारुच्यात्मको जीवः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति प्रतिजानीमहे । न विरोधोऽप्यनेकान्ते आत्मनि भूयसा वर्माणा सहानुग्रहानलक्षणविरोधमिद्वेः । नात्मनोऽनेकान्तत्वमसिद्धमनेकान्तमन्तरेण तस्यार्थक्रियाकर्तृत्वानुपपत्तेः । अस्त्वेकस्मिन्नात्मनि भूयसा सहानुग्रहान प्रत्यतिरुद्धानां सभयो नाशेषाणामिति चेत्क एवमाह समस्तानामप्यनुस्थितिरिति चैतन्याचैतन्यभय्याभय्यादिधर्माणामप्यक्रमेणैकान्तमन्यनुस्थितिप्रसङ्गात् । किन्तु येषां वर्माणां नात्यन्ताभासो यस्मिन्नात्मनि तत्र कदाचित्कचिदक्रमेण तेषामस्तित्र प्रतिजानीमहे । अस्ति चानयोः श्रद्धयोः क्रमेणैकस्मिन्नात्मनि सभयन्ततोऽक्रमेण तत्र कदाचित्तयोः सभयेन भवितव्यमिति । न चैतत्काल्पनिकं पूर्वास्वीकृतदेवतापरित्यागेनार्हन्नपि देव इत्यभिप्रायतः पुरुषस्योपलम्भात् । पचसु गुणेषु कोऽप्य गुण इति चेत्क्षायोपशमिकः ।

गुणस्थानोंमें ही अन्तर्भाव मानना चाहिये । इसलिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि नामका तीसरा गुण स्थान नहीं बनता है ?

समाधान—युगपत् समीचीन और असमीचीन श्रद्धावाला जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि हे ऐसा मानते हैं । और ऐसा माननेमें विरोध भी नहीं आता है, क्योंकि, आत्मा अनेक धर्मात्मक है, इसलिये उसमें अनेक धर्मोंका सहानुग्रहानलक्षण विरोध असिद्ध है । अर्थात् एक साथ अनेक धर्मोंके रहनेमें कोई बाधा नहीं आती है । यदि कहा जाय कि आत्मा अनेक धर्मात्मक है यह बात ही असिद्ध है । सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, अनेकान्तके बिना उसके अर्थक्रियाकारीपना नहीं बन सकता है ।

शुद्धा—जिन धर्मोंका एक आत्मा एकसाथ रहनेमें विरोध नहीं है, वे रह, परन्तु सपूर्ण धर्म तो एकसाथ एक आत्मा रह नहीं सकते हैं ?

समाधान—कौन ऐसा कहता है कि परस्पर विरोधी और अविरोधी समस्त धर्मोंका एकसाथ एक आत्मामें रहना संभव है ? यदि सपूर्ण धर्मोंका एकसाथ रहना मान लिया जाये तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य अचैतन्य, भव्यत्व अभव्यत्व आदि धर्मोंका एकसाथ एक आत्मामें रहनेका प्रसंग आ जायगा । इसलिये सपूर्ण परस्पर विरोधी धर्म एक आत्मामें रहते हैं, अनेकान्तका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये । किन्तु अनेकान्तका यह अर्थ समझना चाहिये कि जिन धर्मोंका जिस आत्मामें अत्यन्त अभाव नहीं है वे धर्म उस आत्मामें किसी काल और किसी क्षेत्रकी अपेक्षा युगपत् भी पाये जा सकते हैं, ऐसा हम मानते हैं । इसप्रकार जब कि समीचीन और असमीचीनरूप इन दोनों श्रद्धाओंका प्रमसे एक आत्मामें रहना संभव है, तो कदाचित् किसी आत्मामें एकसाथ भी उन दोनोंका रहना बन सकता है । यह सब कथन काल्पनिक नहीं है, क्योंकि, पूर्व स्वीकृत अन्य देवताके अपरित्यागके साथ साथ अरिहन्त भी देव हैं ऐसी सम्यग्मिथ्यारूप श्रद्धावाला पुरुष पाया जाता है ।

शुद्धा—पाच प्रकारके भावोंमेंसे तीसरे गुणस्थानमें कौनसा भाव है ?

१ यथा कस्यचित् मित्रं प्रति मित्रत्वं, च न प्रलमित्रं तस्मिन्मित्रमस्ति युष्मद्यामित्रमस्ति ह्येते इत्यन्ते तथा कस्य

कथं मिथ्यादृष्टे' सम्यग्मिथ्यात्वगुण प्रतिपद्यमानस्य तावदुच्यते । तद्यथा, मिथ्यात्व-
कर्मण सर्वातिस्पर्धकानामुदयनयात्तस्यैव मत उदयाभाजलक्षणोपशमान्मस्यग्मिथ्यात्व
कर्मण सर्वातिस्पर्धकोदयाच्चोत्पद्यत इति सम्यग्मिथ्यात्वगुण क्षायोपशमिकः । सतापि
सम्यग्मिथ्यात्वोदयेन औदयिक इति किमिति न व्यपत्तिश्च्यत इति चेन्न, मिथ्या
त्वोदयादिवात सम्यक्त्वस्य निरन्वयविनाशानुपलम्भात् । सम्यग्दृष्टेनिरन्वयविनाशाकारिण.
सम्यग्मिथ्यात्वस्य कथं सर्वातिस्पर्धकमिति चेन्न, सम्यग्दृष्टे साकृत्यप्रतिपत्तिवतामपेक्ष्य
तस्य तथोपदेशात् । मिथ्यात्वक्षयोपशमातिप्रानन्तानुपत्तिवतामपि सर्वातिस्पर्धकक्षयो-
पशमाजातमिति सम्यग्मिथ्यात्व किमिति नोच्यत इति चेन्न, तस्य चारित्रप्रतिबन्धक-

समाधान— तीसरे गुणस्थानमें क्षायोपशमिक भाव है ।

शुद्धा— मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेवाले जीवके
क्षायोपशमिक भाव कैसे सम्भव है ?

समाधान— यह इसप्रकार है, कि वर्तमान समयमें मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती स्पर्धका
या उदयाभाजी क्षय होनेसे, सत्तामें रहनेवाले उसी मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धका
उदयाभाजलक्षण उपशम होनेसे और सम्यग्मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती स्पर्धकाके उदय होनेसे
सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान पैदा होता है, इसलिये यह क्षायोपशमिक है ।

शुद्धा— तीसरे गुणस्थानमें सम्यग्मिथ्यात्व प्रवृत्तिसे उदय होनेसे यह औदयिक भाव
क्यों नहीं कहा है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मिथ्यात्वप्रवृत्तिसे उदयसे जिसप्रकार सम्यक्त्वका निरन्वय
नाश होता है, उसप्रकार सम्यग्मिथ्यात्वप्रवृत्तिसे उदयसे सम्यक्त्वका निरन्वय नाश कहा
पाया जाता है, इसलिये तीसरे गुणस्थानमें औदयिक भाव न कहकर क्षायोपशमिकभाव
कहा है ।

शुद्धा— सम्यग्मिथ्यात्वका उदय सम्यग्दर्शनका निरन्वय विनाश तो करता नहीं है,
किर उसे सर्वघाती क्यों कहा ?

समाधान— ऐसी शंका ठीक नहीं, क्योंकि, यह सम्यग्दर्शनकी पूर्णताका प्रतिबन्ध
करता है, इस अपेक्षासे सम्यग्मिथ्यात्वको सर्वघाती कहा है ।

शुद्धा— जिसतरह मिथ्यात्वके क्षयोपशमसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति
बनलाई है उसीप्रकार यह अनन्तानुपत्ती कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके क्षयोपशमसे होता है,
ऐसा क्यों नहीं कहा ?

त्रिपुरपद्म अहंदादि श्रद्धानापे तथा सम्यक्त्व, अनात्तादि श्रद्धानापे तथा मिथ्या व च गुणपदत्रयप्रयमदन सम्भवताति
सम्यग्मि वान्ति प्रमित्रद्वयेव दृश्यते । गा जा न प्र, टी २२

१ प्रतिपु ' दिन ' इति पाठ ।

त्पात् । ये त्वनन्तानुबन्धोपशमादुत्पत्तिं प्रतिजानते तेषां सासादनगुण औदायिकः स्यात्, न चैवमनभ्युपगमात् । अथवा, सम्यक्त्वकर्मणो देशघातिस्पर्धकानामुदयक्षयेण तेषामेव सतामुदयाभावलक्षणोपशमेन च सम्यग्मिथ्यात्वकर्मण सर्वघातिस्पर्धकोदयेन च सम्यग्मिथ्यात्वगुण उत्पद्यत इति क्षायोपशमिकः । सम्यग्मिथ्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमेवमुच्यते बालजनव्युत्पादनार्थम् । वस्तुतस्तु सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणो निरन्वयेनाप्तागमपदार्थविषयरुचिहननं प्रत्यममर्थस्योदयात्मदसद्विषयश्रद्धोत्पद्यत इति क्षायोपशमिकः सम्यग्मिथ्यात्वगुणः । अन्योपशमसम्यग्दृष्टौ सम्यग्मिथ्यात्वगुण प्रतिपन्ने सति सम्यग्मिथ्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमनुपपन्नं तत्र सम्यक्त्वमिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनामुदयक्षयाभावात् । तत्रोदयाभावलक्षण उपशमोऽस्तीति चेन्न, तस्यैवोपशमिकत्वप्रसङ्गात् ।

समाधान—नहीं, क्योंकि, अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्रिका प्रतिबन्ध करती है, इसलिये यहाँ उसके क्षयोपशमसे तृतीय गुणस्थान नहीं कहा गया है ।

जो आचार्य अनन्तानुबन्धी कर्मके क्षयोपशमसे तीसरे गुणस्थानकी उत्पत्ति मानते हैं, उनके मतसे सासादन गुणस्थानको औदायिक मानना पड़ेगा । पर ऐसा नहीं है, क्योंकि, दूसरे गुणस्थानको औदायिक नहीं माना गया है ।

अथवा, सम्यक्प्रकृतिकर्मके देशघाती स्पर्धकोंका उदयक्षय होनेसे, सत्तामें स्थित उन्हीं देशघाती स्पर्धकोंका उदयाभावलक्षण उपशम होनेसे और सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान उत्पन्न होता है, इसलिये वह क्षायोपशमिक है । यहाँ इसतरह जो सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको क्षायोपशमिक कहा है वह केवल सिद्धान्त के पाठका प्रारम्भ करनेवालोंके परिह्वान करानेके लिये ही कहा है । वास्तव में तो सम्यग्मिथ्यात्व कर्म निरन्वयरूपसे आप्त, आगम और पदार्थ विषयक श्रद्धाका नाश करनेके प्रति असमर्थ है, किंतु उसके उदयसे सत्समीचीन और असत् असमीचीन पदार्थको युगपत् विषय करनेवाली श्रद्धा उत्पन्न होती है, इसलिये सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान क्षायोपशमिक कहा जाता है । यदि इस गुणस्थानमें सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे सत् और असत् पदार्थको विषय करनेवाली मिश्र रुचिरूप क्षयोपशमता न मानी जावे तो उपशमसम्यग्दृष्टिके सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होने पर उस सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें क्षयोपशमपना नहीं बन सकता है, क्योंकि, उपशम सम्यक्त्वसे तृतीय गुणस्थानमें आये हुए जीवके ऐसी अवस्थामें सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका उदयाभावो क्षय नहीं पाया जाता है ।

शुद्धा—उपशम सम्यक्त्वसे आये हुए जीवके तृतीय गुणस्थानमें सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका उदयाभावरूप उपशम तो पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इसतरह तो तीसरे गुणस्थानमें ओपशमिक भाग मानना पड़ेगा ।

अस्तु चेन्न, तथाप्रतिपादकम्यार्पस्याभावात् । अपि च यद्येव क्षयोपशमं दृश्येत,
मिथ्यात्वमपि नायोपशमिकं सम्यक्त्वमस्यमिथ्यात्प्रयोरुभयप्राप्तस्पर्धकानां वयात्मता
मुदयाभावलक्षणोपशमान्मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकोदयाच्च मिथ्यात्वगुणस्य प्रादु-
र्भावोपलम्भादिति । उक्तं च—

दहि-गुडमित्रं वामिस्तं पुहमात्रेण कारिदुः सत्कम् ।

एव मिस्तयभावो सम्मामिथ्येति नाययो ॥ १०९ ॥

सम्यग्दृष्टिगुणनिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

असंजदसम्मादृष्टी ॥ १२ ॥

शंका—तो तीसरे गुणस्थानम अपशमिक भाव भी मान लिया जाये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तीसरे गुणस्थानम अपशमिक भावना प्रतिपादन करने
वाला कोई आर्षशास्त्र नहीं है । अर्थात् आगममें तीसरे गुणस्थानमें अपशमिक भाव नही
बताया है ।

दूसरे, यदि तीसरे गुणस्थानम मिथ्यात्व आदि कर्मोंके क्षयोपशमसे क्षयोपशम
भाव की उत्पत्ति मान ली जावे तो मिथ्यात्व गुणस्थानमें भी क्षायोपशमिक मानना पड़ेगा,
क्योंकि, सादि मिथ्यादृष्टिमें अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थानमें भी सम्यक्प्रवृत्ति और सम्यग्मि-
थ्यात्व कर्मके उदय अस्त्यासे प्राप्त हुए स्पर्धकोंका क्षय होनेसे, सत्ताम स्थित उन्हींका
उदयाभाव लक्षण उपशम होनेसे तथा मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेसे
मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति पाई जाती है । इतने कथनसे यह तात्पर्य समझना चाहिये
कि तीसरे गुणस्थानमें मिथ्यात्व सम्यक्प्रवृत्ति और अनन्तावधि के क्षयोपशमसे क्षायो-
पशमिक भाव न होकर केवल मिश्र प्रवृत्तिसे उदयसे मिश्रभाव होता है । कहा भी है—

जिसप्रकार दही और गुडको मिश्र देवे पर उनको अलग अलग नहीं किया जा
सकता है, किंतु मिले हुए उन दोनोंका रस मिश्रभावसे प्राप्त हो जाता है, उसीप्रकार एव
ही बालमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए परिणामको मिश्र गुणस्थान कहते हैं, ऐसा
समझना चाहिये ॥ १०९ ॥

अब सम्यग्दृष्टि गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे असंयतसम्यग्दृष्टि जीव होते हैं ॥ १२ ॥

१ गा जी २० यथा नालिन्तरद्रापवामिन धुधादितस्यापीहागतस्यादनात्किञ्चनेरन्विध दानित तस्यापरि-
न र्वि नापि नान्दा, यत्स्तेन स आदनादिन आहारा न कदाचित् दृष्टी नापि श्रुत, एव सम्यग्मिथ्यादृष्टि-
पीडादिपदायानामपि न च बीचनापि निन्दति । न सू पु १०६

२ बब अत्रिद्वेज जाततो रागदोसदुक्ता च । विरहसुहृद्व्यतो विरद काउ च जममथा ॥ एव असंयत

ममीची दृष्टिः श्रद्धा यस्यासौ सम्यग्दृष्टिः, अमयतश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च, अमयत-सम्यग्दृष्टिः । सोऽपि सम्माडट्टी तिपिहो, सडयसम्माडट्टी नेदयसम्माडट्टी उमम-सम्माडट्टी चेदि । दसण-चरण-गुण-वाट चत्तारि अणताणुनवि-पयडीओ, मिच्छत्त-सम्मत्त-सम्मामिच्छत्तमिदि तिणिण दसणमोह-पयडीओ च एदामिं सत्तण्ह णिररसेस-कसएण सडयसम्माडट्टी उचड । एदामिं सत्तण्ह पयटीणमुपसमेण उममसम्माडट्टी होड । सम्मत्त-मणिणद-दसणमोहणीय-भेय-कम्मस्स उदएण नेदयसम्माडट्टी णाम । तत्थ सडय-सम्माडट्टी ण कयाड पि मिच्छत्त गच्छड, ण कुणड सदेह पि, मिच्छत्तुअम दड्डुण णो पिम्हय जायदि' । एरिमो चेय उममसम्माडट्टी, किंतु परिणाम-पच्चएण मिच्छत्त गच्छड, सासणगुण पि पडिवज्जड, सम्मामिच्छत्तगुण पि दुक्कड, नेदगमम्मत्त पि सभिल्लि-यट । जो पुण नेदयसम्माडट्टी सो सियिल सद्धणो येरस्स लट्ठि-ग्गहण न मिथिलग्गाहो

जिसकी दृष्टि अर्थान् श्रद्धा समीचीन होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं, और सम्यग्दृष्टि सम्यग्दृष्टिको अस्यतसम्यग्दृष्टि कहते हैं । ये सम्यग्दृष्टि जीव तीन प्रकारके हैं, क्षायिक्सम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और औपशमिक्सम्यग्दृष्टि । सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र गुणका घात करनेवाला चार अनन्तानुबन्धी प्रवृत्तियाँ, और मिथ्यात्व, सम्प्रतिमिथ्यात्व तथा सम्प्रप्रतिमिथ्यात्व ये तीन दर्शनमोहनीयकी प्रवृत्तियाँ, इसप्रकार इन सात प्रवृत्तियोंके संस्था विनाशसे जीव क्षायिक्सम्यग्दृष्टि कहा जाता है । तथा पूर्वोक्त सात प्रवृत्तियोंके उपशमसे जीव उपशमसम्यग्दृष्टि होता है । तथा जिसकी सम्यक्त्व मग्ना है ऐसी दर्शनमोहनीय कर्मकी भेदरूप प्रवृत्तिके उद्भवे यद् जीव वेदकसम्यग्दृष्टि कहलाता है । उनमें क्षायिक्सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं होता है, किसी प्रकारके सदेहको भी नहीं करता है और मिथ्यात्वजन्य अतिशयोंको देखकर विस्मयको भी प्राप्त नहीं होता है । उपशम सम्यग्दृष्टि जीव भी इसीप्रकारका होता है, किंतु परिणामोंके निमित्तसे उपशम सम्यक्त्वको छोड़कर मिथ्यात्वको जाता है, कभी सासादन गुणस्थानको भी प्राप्त करता है, कभी सम्प्रतिमिथ्यात्व गुणस्थानको भी पहुँच जाता है और कभी वेदकसम्यक्त्वसे मेल कर लेता है । तथा जो वेदकसम्यग्दृष्टि जीव है वह शिथिलश्रद्धाली होता है इसलिये युद्ध पुंश्च जिसप्रकार अपने हाथमें लकड़ीको शिथिलतापूर्वक पकड़ता है, उसीप्रकार वह भी तत्त्वार्थके त्रिपयम शिथिलग्राही होता है,

एवमो निंदता पापरम्मन्तरण च । अदिगवचीवाजाया अवगियदिता वगियमाणे । जमि रा वा (अविश्यमम्मदिट्ठि)

१ वयणेहि वि देहदि पि इदियमयआणणि क्वेदि । वामाठगुणुदिदि य तेलोकेण पि ण पायेओ ॥

गो जा ६४७

२ दणमाणुसमदो उअज्जड ज पयथमदर्ण । उअसमग्गत्तमिणि पणणमलपक्करोयमम । गा जी ६५०

कुहेउ-कुदिदृतेहि शडिदि निराहो' । पन्सु गुणेसु के गुणे अस्सिऊण अमंजदसम्माट्टि-
गणस्सुप्पत्ती जाटेत्ति पुच्छिटे उच्चदे, मत्त पयट्ठि क्खण्णुप्पण्ण-सम्मत्त गइय । तेसिं
चेव सत्तण्ह पयड्ढीणुत्तमेणुप्पण्ण-सम्मत्तमुत्तमिय । सम्मत्त देमघाड-वेदयमम्मत्तदण्णु
प्पण्ण-वेदयसम्मत्त सओत्तममिय । मिच्छत्ताणताणुत्तधीण सच्चपाइ-फदयाण उदय सगण्ण
तेमिं चेव सतोत्तममेण अहवा सम्मामिच्छत्त मच्चघाट फदयाण उदय क्खण्ण तेमिं चेव
मतोवसमेण उहयत्थ सम्मत्त देसघाड फदयाणमुदण्णुप्पज्जट जटो तटो वेदयमम्मत्त
सओत्तममियमिदि केसिंचि आहरियाण वक्खणाण त किमिदि णेच्छिज्जदि, एदि चेत्तण्ण,
पुच्च उत्ततराटो । 'अमजद' इदि ज सम्मादिट्ठिस्म निमेमण उयण तमतदीउयत्ताटो

अत कुहेतु आर कुहथा तसे उसे सम्यक्त्वकी विराधना करनेम देर नहीं लगती है ।

पांच प्रकारके भागोंमेंसे किन किन भागोंमें आश्रयसे असयतमभ्यग्राष्टि गुणस्थानकी
उत्पत्ति होती है । इसप्रकार पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं, कि सात प्रवृत्तियोंके क्षयमें
जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह आश्रयिक है, उन्हीं सात प्रवृत्तियोंमें उपशममें उत्पन्न
हुआ सम्यक्त्व उपशमसम्यग्दर्शन होता है आर सम्यक्त्वका एकदेश धानरूपसे घेदन कराने
वाली सम्यक्प्रवृत्तिके उदयसे उत्पन्न होनेवाला वेदकमभ्यन्तर क्षयोपशमिक है ।

श्रुति—मिथ्यात्व और अनन्तानुध वीके उदयम अनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोंके
उदयाभावी क्षयमें तथा आगामी कालमें उदयमें अनेवाले उर्ध्वके मर्घघाती स्पर्धकोंके
सद्वस्त्वारूप उपशमसे अथवा सम्यग्मिथ्यात्वके उदयम अनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोंके उदया
भावी क्षयसे, आगामी कालमें उदयमें अनेवाले उर्ध्वके सद्वस्त्वारूप उपशममें तथा इन
दोनों ही अवस्थाओंमें सम्यक्प्रवृत्तिमिथ्यात्वके देशघाती स्पर्धकोंके उदयमें जब क्षयोपशमरूप
सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तब उसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं । ऐसा किन्तु ही आचार्योंका
मत है उसे यहाँ पर क्यों नहीं स्वीकार किया ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, इसका उत्तर पहले दे चुके हैं ।

विशेषार्थ—जिसप्रकार मित्र गुणस्थानकी उत्पत्ति सम्यग्मिथ्यात्व प्रवृत्तिके उदयकी
मुख्यतासे बतला आये हैं, उसीप्रकार यहाँ पर भी सम्यक्प्रवृत्तिके उदयकी मुख्यता समझना
चाहिये । यदि इस सम्यक्त्वमें सम्यक्प्रवृत्तिके उदयकी मुख्यता न मान कर केवल मिथ्या
त्वादिके क्षयोपशमसे ही इसकी उत्पत्ति मानी जाये तो सादि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा सम्यक्
प्रवृत्ति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रवृत्तिके उदयाभाव क्षय और सद्वस्त्वारूप उपशमसे तथा
मिथ्यात्वप्रवृत्तिके उदयसे मिथ्यात्व गुणस्थानकी भी क्षयोपशमिक मानना पड़ेगा । क्योंकि,
यहाँ पर भी क्षयोपशमका लक्षण घटित होता है । इसलिये इस सम्यक्त्वकी उत्पत्ति क्षयोप
शमकी प्रधानतासे न मानकर सम्यक्प्रवृत्तिके उदयकी प्रधानतासे समझना चाहिये ।

सूत्रमें सम्यग्दृष्टिसे लिये जो असयत विशेषण दिया गया है, यह अतदीयम् है, इस

१ दशमभाहुदयादो उयज्ज न पय अमदहण । वल्लमल्लिमगाट त उदयममममिदि जाण ॥ भा जा ६४९

हेट्टिल्लाणं सयल गुणद्वानुगममजदत्तं परस्सेदि । उवरि असंजमभावं किण्ण परस्सेदि त्ति
उत्ते ण परस्सेदि, उवरि सव्वत्थ संजमासजम-सजम तिसेमणोत्तलंभादो त्ति । उत्त च—

सम्माद्वी जीवो उअइ पयण तु सदहदि ।

सहदि असंभाय अज्ञाणमाणो गुरु-णियोगा' ॥ ११० ॥

णो इदिस्सु त्रिदो णो जीवे थाप्पे तसे चाप्पि ।

जो सदहदि जिणुत्त सम्माद्वी अत्रिदो सो' ॥ १११ ॥

एद मग्गाद्वि वयणं उअरिम सव्व गुणद्वानेसु अणुअइइ गंगा णई-पवाहो च ।
देमत्रिइ गुणद्वान परणइमुचर गुत्तमाह—

संजदासंजदा ॥ १३ ॥

संयताश्च ते असयताश्च संयतामयताः । यदि सयत , नासावसयतः । अयमंयतः,

लिये यह अपनेसे नीचेके भी समस्त गुणस्थानोंके असयतपनेका निरूपण करता है ।

यह असयत पद ऊपर अर्थात् पाचवें आदि गुणस्थानोंमें असयमभावका प्ररूपण क्यों नहीं करता है इसप्रकारकी शक्तीके होने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि पाचवें आदि गुणस्थानोंमें यह असयत पद असयमभावका प्ररूपण नहीं करता है, क्योंकि, ऊपर सब जगह सयमासयम और सयम विशेषण ही पाया जाता है । कहा भी है—

सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका तो श्रद्धान् करता ही है, किंतु किसी तत्वको नहीं जानता हुआ गुरुके उपदेशसे त्रिपरीत अर्थका भी श्रद्धान् कर लेता है ॥ ११० ॥

जो इन्द्रियोंके विषयोंसे तथा त्रस और स्थानर जीवोंकी हिंसासे विरक्त नहीं है, किंतु जिनेन्द्रदेवद्वारा कथित प्रवचनका श्रद्धान् करता है वह अविरतसम्यग्दृष्टि है ॥ १११ ॥

इस मूलमें जो सम्यग्दृष्टि पद है, यह गंगा नदीके प्रवाहके समान ऊपरके समस्त गुणस्थानोंमें अनुवृत्तिको प्राप्त होता है । अर्थात् पाचवें आदि समस्त गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शन पाया जाता है ।

अत्र देशविरति गुणस्थानके प्ररूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहने हैं—

मामान्यसे सयतासयत जीव होते हैं ॥ १३ ॥

जो सयत होते हुए भी असयत होते हैं उन्हें सयतासयत कहने ह ।

शक्ता—जो सयत होता है वह असयत नहीं हो सकता है, और जो असंयत

नामो मयत इति विरोधान्नाय गुणो घटत इति चेदस्तु गुणानां परस्परपरिहारलक्षणो विरोध इष्टस्यात्, अन्यथा तेषां स्वरूपहानिप्रसङ्गात् । न गुणानां सहानुगम्यालक्षणो विरोध सम्भवति, सम्भवेद्वा न उस्त्यस्मि तत्स्थानेरान्तनिश्चयनत्वात् । यदर्थक्रियाकारि तद्वस्तु । भाव च नैकान्ते एकानैकाभ्यां प्राप्तनिरपितानुगम्यामर्थक्रियाविरोधात् । न चैतन्या चैतन्याभ्यामनेकान्तस्तयोर्गुणत्वाभावात् । महभूयो हि गुणा, न चानयो महभूतिरस्ति असति निरन्तर्यनुपलम्भात् । भवति च विरोधः समाननिश्चयनत्वे मतिः । न चात्र विरोधः मयमामयमयोरेकद्रव्यवर्तिनोत्समस्यापरनिश्चयनत्वात् । जादयिकादिषु पचसु गुणेषु क गुणमाश्रित्य सयमासयमगुणः समुत्पन्न इति चेत्तायोपशमिकोऽयं गुणः अप्रत्याग्यानां

होता है वह मयत नहो हो सकता है, क्योंकि, मयमभाव और अमयमभावका परस्पर विरोध है । इसलिये यह गुणस्थान नहीं बनता है ।

समाधान—विरोध दो प्रकारका है, परस्परपरिहारलक्षण विरोध और सहानुगम्य लक्षण विरोध । इनमेंसे एक द्रव्यके अनन्त गुणोंमें परस्परपरिहारलक्षण विरोध इष्ट ही है, क्योंकि, यदि गुणका एक दूसरेका परिहार करके अस्तित्व नहीं माना जाये तो उनके स्वरूपकी हानिका प्रमग आता है । परन्तु इतने मात्रसे गुणोंमें सहानुगम्यलक्षण विरोध संभव नहो है । यदि नाता गुणोंका एकसाथ रहना ही विरोधस्वरूप मान लिया जाये तो वस्तुका अस्तित्व ही नहीं बन सकता है, क्योंकि, वस्तुका सद्भाव अनेकान्त निमित्त ही होता है । जो अर्थक्रिया करनेमें समर्थ है वह वस्तु है । परन्तु वह अर्थक्रिया एकान्तपक्षमें नहीं बन सकती है, क्योंकि, अर्थक्रियाको यदि एकरूप माना जाये तो पुनः पुनः उसी अर्थक्रियाकी प्राप्ति होनेसे, और यदि अनेकरूप माना जाये तो अनुरस्य दोष आनेसे एकान्तपक्षमें अर्थक्रियाके होनेमें विरोध आता है ।

ऊपरके कथनसे चेतन्य और अचेतन्यके साथ भी अनेकान्त दोष नहीं आता है, क्योंकि, चेतन्य और अचेतन्य ये दोनों गुण नहीं हैं । जो सहभावी होते हैं उन्हें गुण कहते हैं । परन्तु ये दोनों सहभावी नहो है क्योंकि वधेरूप अस्थायिके नहीं रहने पर चेतन्य और अचेतन्य ये दोनों एकसाथ नहीं पाये जाते हैं । दूसरे विरुद्ध दो धर्मोंकी उत्पत्ति का कारण यदि समान अर्थात् एक मान लिया जाये तो विरोध आता है, परन्तु सयमभाव और अमयमभाव इन दोनोंको एक आत्मामें स्वीकार कर लेने पर भी कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि, उन दोनोंकी उत्पत्तिके कारण भिन्न भिन्न हैं । सयमभावकी उत्पत्ति का कारण प्रसङ्गसे विरतिभाव है और अमयमभावकी उत्पत्ति का कारण स्थावरहिंसासे अविरतिभाव है । इसलिये सयतासयत नामका पाचवा गुणस्थान बन जाता है ।

शुद्धा—जादयिक आदि पाच भावोंमेंसे किस भावसे आश्रयसे सयमासयम भाव पैदा होता है ?

समाधान—सयमार्थयम भाव शायोपशमिक है, क्योंकि, अप्रत्याग्यानां चरणीय

परणीपस्य सर्वपातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात् सता चोपशमात् प्रत्याख्यानपरणीयोदया-
दप्रत्याख्यानोत्पत्तेः । सयमासयमधाराविकृतसम्यग्गतानि क्रियन्तीति चेत्क्षायिकशायोप-
शमिकोपशमिकानि त्रीण्यपि भवन्ति पर्यायेण नान्यन्तेरणाप्रत्याख्यानस्योत्पत्तिप्ररोधान् ।
सम्यग्गतमन्तरेणापि देशयतयो दृश्यन्त इति चेन्न, निर्गतमुक्तिकाङ्क्षानिदृत्तविषयविषा-
सस्याप्रत्याख्यानानुपपत्तेः । उक्तं च—

जो तस न्हाउ निरओ अनिरओ तह य यानर बहाओ ।

एक समवग्धि जीनो निरयानिरओ जिणेभमई ॥ ११२ ॥

मयतानामादिगुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरखण्डमाह—

प्रमत्तसंजदा ॥ १४ ॥

प्रकर्षेण मत्ताः प्रमत्ताः, मं सम्यग् यताः विरताः सयताः । प्रमत्ताश्च ते सयताश्च

कषायकं वर्तमान कालिक सर्वाती स्पर्द्धाकेंके उदयाभायी क्षय होनेसे, और आगामी कालम
उदयम आने योग्य उन्हींके सदवस्थारूप उपशम होनेसे तथा प्रत्याख्यानानुवर्णीय कषा
यके उदयसे सयमासयमरूप अप्रत्याख्यान चारित्र उपपन्न होता है ।

शङ्का—सयमासयमरूप देशचारित्रकी धारासे सय-य रखनेवाले कितने सम्यग्
दर्शन होते हैं ?

समाधान—क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक ये तीनोंमेंसे कोई एक
सम्यग्दर्शन निरूपसे होता है, क्योंकि, उनमेंसे किसी एकके बिना अप्रत्याख्यान चारित्रका
प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकता है ।

शङ्का—सम्यग्दर्शनके बिना भी देशसयमी देखनेमें आते हैं ?

समाधान—नहा, क्योंकि, जो जीव मोक्षकी आकांक्षासे रहित है और जिनकी
विषय विषासा दूर नहा हुई है, उनके अप्रत्याख्यानसयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।
रुद्धा भी है—

जो जीव जिनेन्द्रदेवमें अद्वितीय धृष्टाको रखता हुआ एक ही समयमें बसजीवोंकी
हिंसासे विरत और स्थावर जीवोंकी हिंसासे अनिरत होता है, उसको विरताविरत
कहते हैं ॥ ११७ ॥

अब सयतोंके प्रथम गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका खण्ड कहते हैं—

मामान्यसे प्रमत्तसयत जीव होते हैं ॥ १२ ॥

प्रकर्षसे मत्त जीवोंको प्रमत्त कहते हैं, और अच्छी तरहसे विरत या सयमको प्राप्त
जीवोंको सयत कहते हैं । जो प्रमत्त होते हुए भी मयत होते हैं उन्हें प्रमत्तमयत कहते हैं ।

प्रमत्तसयताः । यदि प्रमत्ता न सयता स्वरूपासवेदनात् । जथ सयताः न प्रमत्ताः सयमस्य प्रमादपरिहाररूपत्वादिति नैष दोषः, सयमो नाम हिंसानृतस्तेष्वपराधपरिग्रहेभ्यो विरति गुप्तिममित्यनुरक्त, नार्थः प्रमादेन विनाश्यते तत्र तस्मान्मलोत्पत्तेः । सयमस्य मलोत्पादक एवार्थः प्रमादो विरक्षितो न तद्विनाशक इति कुतोऽप्रसीयत इति चेत् सयमाविनाशन्यथानुपपत्तेः । न हि मन्दतम प्रमाद क्षणार्थी सयमविनाशकोऽसति विग्नवर्षनुपलब्धे । प्रमत्तमयमन्तदीपकत्वाच्चेपातीतमर्गगुणेषु प्रमादास्तित्व सूचयति । पञ्चसु गुणेषु क गुणमाश्रित्याय प्रमत्तमयत गुण उत्पन्नश्चेत्सयमापेक्षया क्षायोपशमिकः । कथम् ? प्रत्याख्यानावरणसर्वातिस्पर्षकोदयक्षयात्तेषामेव सतामुपभावालक्ष्णोपशमात्

शुक्रा—यदि छट्वे गुणस्थानवत् जीव प्रमत्त है तो सयत नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, प्रमत्त जीवोंको अपने स्वरूपका स्मरण नही हो सकता है । यदि वे सयत हैं तो प्रमत्त नही हो सकते हैं, क्योंकि, सयमभाव प्रमादके परिहारस्वरूप होता है ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, हिंसा, असत्य, स्तेय, अग्नह आर परिग्रह इन पांच पापोंसे विरतिभावसे सयम कहते हैं जो कि तीन गुप्ति और पांच सामि तियास अनुरक्षित है । वह सयम वास्तव्य प्रमादसे नष्ट नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सयममें प्रमादसे केवल मल ही उत्पत्ति होती है ।

शुक्रा—छट्व गुणस्थानमें सयम मल उत्पन्न करनेवाला ही प्रमाद विवक्षित है, सयमका नाश करनेवाला प्रमाद विरक्षित नहीं है, यह बात कैसे निश्चय की जाय ?

समाधान—छट्व गुणस्थानमें प्रमादके रहते हुए सयमका सद्भाव अन्यथा बन नही सकता है, इसलिये निश्चय होता है कि यहाँ पर मलको उत्पन्न करनेवाला प्रमाद ही अभीष्ट है । दूसरे छट्व गुणस्थानमें होनेवाला स्वल्पमालम्बी म दतम प्रमाद सयमका नाश भी नही कर सकता है, क्योंकि, सकलसयमका उत्कटरूपसे प्रतिषेध करनेवाले प्रत्याख्यानावरणके अभावमें सयमका नाश नहीं पाया जाता ।

यहाँ पर प्रमत्त शब्द अन्तर्दीपक है, इसलिये वह छट्व गुणस्थानमें पहलेके संपूर्ण गुणस्थानोंमें प्रमादके अस्तित्वको सूचित करता है ।

शुक्रा—पांच भागमेंसे किस भावका आश्रय लेकर यह प्रमत्तसयत गुणस्थान उत्पन्न होता है ?

समाधान—सयमकी अपेक्षा यह गुणस्थान क्षायोपशमिक है ।

शुक्रा—प्रमत्तमयत गुणस्थान क्षायोपशमिक किस प्रकार है ?

समाधान—क्योंकि, वर्तमानमें प्रत्याख्यानावरणके सर्वाती स्पर्शोंके उदयक्षय होनेसे और आगामी कालमें उदयमें आनेवाले सत्तामें स्थित उन्हींके उदयमें न आनेरूप उप शमसे तथा सञ्चलन कपायके उदयसे प्रत्याख्यान (सयम) उत्पन्न होता है, इसलिये

वत्प्राप्त पमाप जो वमइ पमत्तसयसो होइ ।

सयल गुण साल कलिजो मष्टवई चितलापरणो ॥ ११३ ॥

निरुद्धा तथा कमाया इदिय गिदा तेहेन पणघो य ।

चदु-चदु-पणगेगेग होंति पमादा य पणगरसा ॥ ११४ ॥

धायोपशमिक्रमयमेपु शुद्धसयमोपलभितगुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरस्यमाह—

अप्रमत्तसंजदा ॥ १५ ॥

प्रमत्तसयता प्रोक्तलक्षणा, न प्रमत्तमयता अप्रमत्तमयता पञ्चदशप्रमाद-
रहितसयता इति यावत् । शेषाशेषनयतानामन्तर्भावान्तर्यामिण्यसयतगुणस्थानानामभावा-
त्स्यादिति चेन्न, सयतानामुपरिष्ठात्प्रतिपद्यमानविशेषणाविशिष्टानामस्तप्रमादानामिह

जो व्यक्त अर्थात् स्वसवेद्य और अ यत् अर्थात् प्रपक्षज्ञानियोंके ज्ञानद्वारा जानने योग्य प्रमादम वास करता है, जो सम्पन्न न, ज्ञानादि सपूर्ण गुणोंमें और वृत्तोंके रक्षण करनेमें समर्थ ऐसे शीलते युक्त है, जो (देशसयतकी अपेक्षा) महान्तर्यामिण्यसयतगुणस्थानानामभावात् स्यादिति चेन्न, सयतानामुपरिष्ठात्प्रतिपद्यमानविशेषणाविशिष्टानामस्तप्रमादानामिह

संयमित अर्थात् अनेक प्रकारका है, अथवा, विसर्गमें प्रमादको उत्पन्न करनेवाला जिसका आचरण है उसे प्रमत्तसयत कहते हैं ॥ ११३ ॥

स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा और अन्ननिपालकथा ये चार विकल्पाः क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार रूपार्थ स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रिया, निद्रा और प्रणय इसप्रकार प्रमाद पट्टह प्रकारका होता है ॥ ११४ ॥

अथ धायोपशमिक्रमयमेपु शुद्धसयमसे उपलभित गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे अप्रमत्तसयत जीव होते हैं ॥ १५ ॥

प्रमत्तसयतोंका स्वरूप पहले कह आये हैं, जिनका सयम प्रमाद सहित नहीं होता है उह अप्रमत्तसयत कहते हैं, अर्थात् सयत होने हुए जिन जीवोंके पट्टह प्रकारका प्रमाद नहीं पाया जाता है, उह अप्रमत्तसयत समझना चाहिये ।

शक्रा—वाक्योंके सपूर्ण सयतोंका इसी अप्रमत्तसयत गुणस्थानमें अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिये शेष सयतगुणस्थानोंका अभाव हो जायगा ?

ममाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, जो आग चलकर प्राप्त होनेवाले अपूर्वकरणों

१ गो वा ३३ चित् प्रमादमिह लाताति चित्तं, चित्तं जाचरण यस्यासौ चित्ताचरण । अथवा चित्तं साक्षात् तद्वत् शब्दवन्ति आचरण यस्यासौ चित्ताचरण । अथवा चित् लाताति चित्तं, चित्तं आचरण यस्यासौ चित्ताचरण । वा प्र २१

२ गो वा ३४

ग्रहणान् । तत्कथमयमस्यत इति चेन्न, उपरिष्ठात्तनमयतगुणस्थाननिरूपणान्यथानुपपत्तितस्तदग्रगते । एषोऽपि गुणः क्षायोपशमिकः प्रत्याख्यानानरणीय-कर्मण मर्वपातिस्पर्द्धकोदयक्षयात्तेषामेव सता पूर्वउपशमात् सज्जलनोदयाच्च प्रत्याख्यानोत्पत्तेः । सयमनिबन्धनसम्पत्त्वापेक्षया सम्यक्त्वप्रतिबन्धकर्मणा क्षय-क्षयोपशमोपशमजगुणनिबन्धन । उक्तं च—

गटामेस पमाओ वय गुण सोलोलि मटिओ णाणी ।

अणुममओ अल्लओ शाण णिलीणो हु अपमत्तो ॥ ११५ ॥

चात्रिमोहोपशमकरूपकेषु प्रथमगुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

अपुव्वकरण-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥ १६ ॥

विशेषणोंसे विशेषता अर्थात् भेदको प्राप्त नहीं होते हैं और जिनका प्रमाद नष्ट हो गया है ऐसे सयत्तोंका ही यहाँ पर ग्रहण किया है । इसलिये आगेके समस्त सयतगुणस्थानोंका इन्में अन्तर्भाव नहीं होता है ।

शङ्का—यह कैसे जाना जाय कि यहाँ पर आगे प्राप्त होनेवाले अपूर्वकरण, आदि विशेषणोंसे भेदको प्राप्त होनेवाले सयत्तोंका ग्रहण नहीं किया गया है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यदि यह न माना जाय, तो आगेके सयतगुणस्थानोंका निरूपण बन नहीं सकृता है, इसलिये यह मालूम पड़ता है कि यहाँ पर अपूर्वकरणादि विशेषणोंसे रहित केवल अग्रमत्त सयतगुणस्थानका ही ग्रहण किया गया है ।

वर्तमान समयम प्रत्याख्यानानरणीय कर्मके सर्वाती स्पर्द्धाके उदयभय होनेसे और आगामी कालमें उदयमें आनेवाले उन्हींके उदयाभाजलक्षण उपशम होनेसे तथा सज्जलन कषायके मद् उदय होनेसे प्रत्याख्यानकी उत्पात्ति होती है, इसलिये यह गुणस्थान भी क्षायोपशमिक है । सयमके कारणभूत सम्पत्त्वकी अपेक्षा, सम्पत्त्वके प्रतिबन्धक कर्मोंके क्षय, क्षयोपशम और उपशमसे यह गुणस्थान उत्पन्न होता है, इसलिये क्षायिक, क्षायोपशमिक और ओपशमिक भी है । कहा भी है—

जिसके व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकारके प्रमाद नष्ट हो गये हैं, जो व्रत, गुण और शीलोंने मण्डित है, जो निरन्तर आत्मा और शरीरके भेद विज्ञानसे युक्त है, जो उपशम और क्षपक श्रेणीपर आरुढ़ नहीं हुआ है और जो ध्यानमें लगती है, उसे अग्रमत्तसयत कहते हैं ॥ ११५ ॥

अब आगे चात्रिमोहनीयका उपशम करनेवाले या क्षपण करनेवाले गुणस्थानोंमेंसे प्रथम गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं ।

अपूर्वकरणप्रतिष्ठशुद्धि सयत्तोंम सामान्यसे उपशमकर और क्षपक ये दोनों प्रकारके

करणा परिणामाः, न पूर्ण अपूर्ण । नानाजातिपेक्षया प्रतिममयमादित् क्रमप्रवृद्धास्तरेयलोकपरिणामस्यास्य गुणस्यान्तर्विबक्षितममयप्रतिप्राणिनो व्यतिगिच्यन्य समयवर्तिप्राणिभिर्प्राप्या अपूर्ण अततनपरिणामैरसमाना इति यावत् । अपूर्णाय ते करणाथापूर्वकरणे । एतेनापूर्वविशेषणेन जयःप्रवृत्तपरिणामव्युदाम कृत इति दृष्टव्यः, तत्रतनपरिणामानामपूर्वत्वाभावात् । अपूर्णशब्दः प्रागप्रतिपन्नार्थमाचक्रो नाममानार्थं वाचक इति चेन्न, पूर्वममानशब्दोरेकार्थवान् । तेषु प्रविष्टा शुद्धिर्वेषा ते अपूर्णकरण प्रविष्टशुद्धय । के ते ? सयता । तेषु सयतेषु 'जति' सन्ति । नदीस्रोतोन्प्रायेत

जीव होते हैं ॥ १६ ॥

करण शब्दका अर्थ परिणाम है, और जो पूर्ण ज्योंत पहले नहीं हुए उन्हें अपूर्ण कहते हैं । इसका तात्पर्य यह है, कि नाना जीवोंकी अपेक्षा आदिमे लेकर प्रत्येक समयमें प्रमसे बढ़ते हुए असत्प्रात लेक प्रमाण परिणामराले इस गुणस्थानके अन्तर्गत विभिन्न समयवर्ती जीवोंको छोड़कर अथ समयवर्ती जीवोंके द्वारा जगत्पर परिणाम अपूर्ण कह लते हैं । अर्थात् विवक्षित समयवर्ती जीवोंके परिणामासे भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम असमान अर्थात् विलक्षण होते हैं । इसतरह प्रत्येक समयमें होनेवाले अपूर्ण परिणामोंको अपूर्वकरण कहते हैं । इसमें दिये गये अपूर्व विशेषणसे जय प्रवृत्त परिणामाका निराकरण किया गया है ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि, जहा पर उपरितन समयवर्ती जीवोंके परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीवोंके परिणामोंक साथ सदृश भी होते हैं और विमदृश भी होते हैं ऐसे अथ प्रवृत्तमें होनेवाले परिणामोंमें अपूर्णता नहीं पाई जाती है ।

शका—अपूर्ण शब्द पहले कभी नहीं प्राप्त हुए ज्योंका वाचक है, असमान अर्थात् वाचक नहीं है, इसलिये यहा पर अपूर्ण शब्दका अर्थ असमान या विसदृश नहीं हो सकता है ।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि पूर्ण और समान ये दोनों शब्द एकार्थवाना है, इसलिये अपूर्व और असमान इन दोनों शब्दोंका अर्थ भी एक ही समझना चाहिये । ऐसे अपूर्व परिणामोंमें जिन जीवोंकी शुद्धि प्रविष्ट हो गई है, उन्हें अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि तार कहते हैं ।

शका—ये अपूर्वकरणरूप परिणामोंमें त्रिशुद्धिको प्राप्त करनेवाले कौन होते हैं ?

समाधान—ये सयत ही होते हैं, अर्थात् सयतोंमें ही अपूर्वकरण गुणस्थानमें जीवोंका सङ्घाव होता है । और उन सयतोंमें उपशमक और क्षपक जीव होते हैं ।

शका—नदीस्रोत प्रायसे 'सति' इस पदकी अनुवृत्ति चली आती है, इसलिये

१ अनुवृत्तिप्राप्ति विशेष गङ्गासूत्राखण्ड । तत्र च प्रथममय एव स्थितिप्रातःपञ्चातगुणश्रुतिगुणमयमय अथ स्थितिपञ्चा इत्येत पञ्चाप्यधिकारा यगपयन पूर्वमप्रवृत्ता प्रवत ते इयपूर्वखणम् । अभि रा वा (अनुवृत्तिप्राप्ति)

वर्षावृत्तिः, न विग्रहे निवृत्तियेषा तेऽनिवृत्तय । अपूर्णकरणाश्च तादृशाः केचित्सन्तीति
तेषामप्यप्य व्यपदेशं प्राप्नोतीति चेन्न, तेषां नियमाभावात् । समानसमयस्थितजीव-
परिणामानामिति कथमपिगम्यत इति चेन्न, ‘अपूर्णकरण’ इत्यनुवर्तनादेर द्वितीयादि-
समयवर्तिजीवर मह परिणामापेक्षया भेदमिद्वे । साम्प्रसादा, रूपाया, वादरा स्फुला,
वादराश्च ते साम्प्रगायाश्च वादरसाम्प्रसाया । अनिवृत्तयश्च ते वादरसाम्प्रसायाश्च अनिवृत्ति-
वादरसाम्प्रसाया । तेषु प्रविष्टा शुद्धियेषा सद्यताना तेऽनिवृत्तिवादरसाम्प्रसायप्रविष्ट-
शुद्धिमयता । तेषु सन्ति उपशमकाः क्षपकाश्च । ते सर्वे एको गुणोऽनिवृत्तिरिति ।
यानन्त परिणामान्तानन्त एव गुणाः किञ्च भवन्तीति चेन्न, तथा व्यवहारानुपपत्तौ

निवृत्ति शब्द का अर्थ व्यावृत्ति भी है। अतएव जिन परिणामार्थी निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं होती है उन्हें ही अनिवृत्ति कहते हैं।

शरणा—अपूर्वकरण गुणस्थानम भी तों कितने ही परिणाम इसप्रकारके होते हैं, अतएव उन परिणामोंको भी अनिवृत्ति सहा प्राप्त होनी चाहिये ?

समाधान - नहीं, क्योंकि, उसके नियुक्तिपत्रित होनेका कोई नियम नहीं है।

श्री—इस गुणस्थानम जो जीवोंके परिणामोंकी भेदरहित वृत्ति बतलाई है, यह समान समयवर्ती जीवाके परिणामोंकी ही विवक्षित है यह कैसे जाना ?

समाधान—‘अपूर्वकरण’ पदकी अनुवृत्तिसे ही यह सिद्ध होता है, कि इस गुण स्वानम प्रथमादि समयवर्ती जीवोंका द्वितीयादि समयवर्ती जीवोंके साथ परिणामोंकी अपेक्षा भेद है। (अतएव इससे यह तात्पर्य निकल आता है कि ‘अनिवृत्ति’ पदका सम्यक् एकसमयवर्ती परिणामोंके भाव ही है।)

सापराय शब्दका अर्थ कपाय है, जोर यादर स्थूलको कहते हैं, इसलिये स्थूल कपायको यादर सापराय कहते हैं। जोर अनिवृत्तिरूप यादर सापरायको अनिवृत्ति यादर सापराय कहते हैं। उन अनिवृत्ति यादर सापरायरूप परिणामोंमें जिन सयतोंकी विगुडि प्रसिद्ध हो गई है उन्हें अनिवृत्ति यादर सापराय प्रविष्टगुडिसयत कहते हैं। ऐसे सयतोंमें उपशमन जोर क्षमन दोनों प्रकारके जीव होते हैं। जोर उन सब सयतोंका मिलकर एक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है।

सका—जितने परिणाम होते ह, उतने ही गुणस्थान क्यों नह होते ह?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जितने परिणाम होते हैं, उतने ही गुणस्थान यदि माने

[illegible]

द्रव्यार्थिकनयसमाश्रयणात् । वादरग्रहणमन्तदीपकरुणाद् गताशेषगुणस्थानानि वादर-
कपायाणीति प्रज्ञापनार्थम्, 'सति सभने व्यभिचारे च विशेषणमर्थवद्भवति' इति
न्यायात् । सयतग्रहणमनर्थकमिति चेन्नैष दोषः, सयमस्य पञ्चस्यपि गुणेषु सम्भव एव न
व्यभिचार इत्यस्यान्यस्याविगमोपायस्याभावात्स्तदुक्ते । आद्य सयतग्रहणमनुवर्तते,
ततस्तदनुरूपीयत इति चेत्तर्हस्तु जडजनानुग्रहार्थमिति । यद्येवमुपशान्तरूपायादिष्वपि
सयतग्रहणमस्तिरिति चेन्न, सरूपायत्वेन सयतानाममयतैः साधर्म्यमस्तीति मन्दवियामव
सशयोत्पत्तिमम्भनात् । नोपशान्तरूपायादिषु मन्दवियामप्यारेकोत्पद्यते । क्षीणोपशान्त-
रूपायाः सयताः, भावतोऽमयतैस्मयताना साधर्म्याभावात् । काश्चित्प्रकृतीरुपशमयति,

जाय तो व्यग्रहार ही नहा चल सकृता हे, इसलिये द्रव्याधिक नयकी अपेक्षा नियत-सख्यागले
ही गुणस्थान कहे गये हैं ।

सूत्रमें जो 'वादर' पदका ग्रहण किया है, वह अन्तर्दापक होनेसे पूर्ववर्ती समस्त
गुणस्थान वादररूपाय है इस बातका ज्ञान करानेके लिये ग्रहण किया है, ऐसा समझना
चाहिये, क्योंकि, जहां पर विशेषण सभन हो अर्थात् लागू पड़ता हो और न देने पर व्यभि-
चार आता हो, ऐसी जगह दिया गया विशेषण सार्यक होता है, ऐसा न्याय है ।

शुक्रा—इस सूत्रमें सयत पदका ग्रहण करना व्यर्थ है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सयम पांच ही गुणस्थानोंमें सभव है,
इसमें कोई व्यभिचार दोष नहीं आता है, इसप्रकार जाननेका दूसरा कोई उपाय नहीं होनेसे
यहां सयम पदका ग्रहण किया है ।

शुक्रा—'पमत्तसजदा' इस सूत्रमें ग्रहण किये गये सयत पदकी यहां अनुवृत्ति
होती है, ओर उससे ही उक्त अर्थका ज्ञान भी हो जाता है, इसलिये फिरसे इस पदका ग्रहण
करना व्यर्थ है ?

समाधान—यदि ऐसा है, तो सयत पदका यहां पुन प्रयोग मन्दबुद्धि जनोंके
अनुग्रहके लिये समझना चाहिये ।

शुक्रा—यदि ऐसा है, तो उपशान्तरूपाय आदि गुणस्थानोंमें भी सयत पदका
ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान—नहां, क्योंकि, दशवें गुणस्थानतक सभी जीव कपायसहित होनेके
कारण, कपायकी अपेक्षा सयताकी असयताके साथ सदृशता पाई जाती है, इसलिये नीचेके
दशवें गुणस्थानतक मन्दबुद्धि जनोंको सशय उत्पन्न होनेकी सम्भावना है । अतः सशयके
निवारणके लिये सयत विशेषण देना आवश्यक है । किंतु ऊपरके उपशान्तरूपाय आदि गुण
स्थानोंमें मन्दबुद्धि जनोंको भी शका उत्पन्न नही हो सकती है, क्योंकि, वहां पर सयत क्षीण-
कपाय अथवा उपशान्तरूपायही होते हैं, इसलिये भावकी अपेक्षा भी सयतोंकी असयतोंसे
सदृशता नहीं पाई जाती है । अतएव वहां पर सयत विशेषण देना आवश्यक नहीं है ।

काश्चिदुपरिष्ठादुपशमयिष्यतीति औपशमिकोऽयं गुणः । काश्चित् प्रकृतीः क्षपयति
नाश्चिदुपरिष्ठान् क्षपयिष्यतीति क्षायिकश्च । सम्यक्त्वापेक्षया चारित्रमोहक्षपकस्य क्षायिक
एव गुणस्तत्रान्यस्यासम्भवात् । उपशमकस्योपशमिकः क्षायिकोभयोरपि तत्रातिरोधान् ।
क्षपकोपशमकयोर्द्वित्वं किमिति नेष्यत इति चेन्न, गुणनिबन्धनानिष्ठत्विपरिणामानां
साम्प्रदर्शनार्थं तदेकत्वोपपत्तेः । उक्तं च—

एषमि कालं समरं सटाणादाहिं जहं गिरति ।

ण गिरति तहं चिष परिणामेहिं मिहो जे हु ॥११५॥

होति अगियट्टिणो ते पटिसमय जेसिमेनरपरिणामा ।

निमलयर ज्ञाण-हुयट्ट सिहाहि गिन्द-काम नणा ॥ १२० ॥

इस गुणस्थानमें जीव मोहकी कितनी ही प्रतियोंका उपशमन करता है, और
कितनी ही प्रतियोंका जागे उपशम करेगा, इस अपेक्षासे यह गुणस्थान औपशमिक है । और
कितनी ही प्रतियोंका क्षय करता है, तथा कितनी ही प्रतियोंका जागे क्षय करेगा, इस
दृष्टिसे क्षायिक भी है । सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा चारित्रमोहका क्षय करनेवालेके यह गुणस्थान
आधिक्यभावरूप ही है, क्योंकि, क्षपकश्रेणीमें दूसरा भाव समान ही नहीं है । तथा चारित्र
मोहर्हायका उपशम करनेवालेके यह गुणस्थान औपशमिक और क्षायिक दोनों भावरूप
है, क्योंकि, उपशमश्रेणीकी अपेक्षा वहाँ पर दोनो भाव समान है ।

शुद्धा—क्षपकका स्वतंत्र गुणस्थान और उपशमकका स्वतंत्र गुणस्थान, इसतरह
अलग अलग दो गुणस्थान स्था नहीं कहे गये हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इस गुणस्थानके कारणभूत अनिवृत्तिरूप परिणामाकी
समानता दिखानेके लिये उन दोनोंमें एकता बन जाती है । अर्थात् उपशमक और क्षपक इन
दोनोंके अनिवृत्तिरूप परिणामाकी अपेक्षा समानता है । कहा भी है—

अन्तर्मुहूर्तमान अनिवृत्तिस्मरणके कालमेंसे किसी एक समयमें रहनेवाले अनेक जीव
जिनप्रकार शरीरके आकार, वर्ण आदि बाह्यरूपसे, और ज्ञानोपयोग आदि अन्तरंग रूपसे परस्पर
भेदको प्राप्त होते हैं, उसप्रकार जिन परिणामोंके द्वारा उनमें भेद नहीं पाया जाता है उनको
अनिवृत्तिस्मरण परिणामकाले कहते हैं । और उनके प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर अन्तर्गुणी
विशुद्धिसे बढ़ते हुए एकसे ही (समान विशुद्धिको लिये हुए) परिणाम पाये जाते हैं ।

१ नगरिक निषादिक मिरलनय रञ्जानवृद्धिप्रयुक्त आतप एकरिय साधारण मूत्रम श्वाक् चलि
पोन्त अययाग्नयवत्यायानप्रयाया अष्टा ज्जेण पन्वेद सावदो नात्तायपट्ट, पुवद सत्तलनकीव सत्तलन
माय सत्तलनभाया एता रत्ते अनेवत्तिज्ञान [सत्त्व] शुद्धिमा भवति । गो क, जी प्र, टी ३३८ ३३०

२ सत्त्वानवगात्राग्नलिंगादिमित्रहिरगेत्तानस्थानादिमित्रातरणं । गो जी, म प्र, टी ५६

३ गो जी ५७,

इदानीं कुशीलेषु पाश्चात्यगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

सुहृम-सांपराइय-पविट्ट-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥१८॥

सूक्ष्मश्चासौ साम्परायश्च सूक्ष्मसाम्परायः । त प्रविष्टा शुद्धिर्येषा सयताना ते सूक्ष्मसाम्परायप्रविष्टशुद्धिसयताः । तेषु सन्ति उपशमकाः क्षपकाश्च । मने त एको गुणः सूक्ष्मसाम्परायत्न प्रत्यभेदात् । अपूर्व इत्यनुवर्तते अनिवृत्तिरिति च । ततस्ताभ्या सूक्ष्मसाम्परायो विशेषयितव्यः । अन्यथातीतगुणेष्वस्तस्याधिक्यानुपपत्तेः । प्रकृतीः

तथा चे अत्यन्त निर्मल ध्यानरूप अग्रिकी शिक्षा-से कर्म बन्को भस्म करनेवाले होते हैं ॥ १८, १२० ॥

अब कुशील जातिके मुनियोंके अन्तिम गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूक्ष्म सांपराय प्रविष्ट शुद्धि सयतामें उपशमक और क्षपक दोनों होते हैं ॥ १८ ॥

सूक्ष्म कथायको सूक्ष्मसांपराय कहते हैं । उसमें जिन सयतांकी शुद्धिने प्रवेश किया है उन्हें सूक्ष्म सांपराय प्रविष्ट शुद्धि सयत कहते हैं । उनमें उपशमक और क्षपक दोनों होते हैं । ओर सूक्ष्मसांपरायकी अपेक्षा उनमें भेद नहीं होनेसे उपशमक और क्षपक इन दोनोंका एक ही गुणस्थान होता है । इस गुणस्थानमें अपूर्व और अनिवृत्ति इन दोनों विशेषणोंकी अनुवृत्ति होती है । इसलिये ये दोनों विशेषण भी सूक्ष्म सांपराय शुद्धि सयतके साथ जोड़ लेना चाहिये । अन्य या पूर्ववर्ती गुणस्थानोंसे इस गुणस्थानकी कोई भी विशेषता नहीं बन सकती है ।

निशेपार्थ—यदि दशवें गुणस्थानमें अपूर्व विशेषणकी अनुवृत्ति नहीं होगी तो उसमें प्रतिसमय अपूर्व अपूर्व परिणामोंकी सिद्धि नहीं हो सकेगी । ओर अनिवृत्ति विशेषणकी अनुवृत्ति नहीं मानने पर एक समयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें समानता और कर्मोंके क्षपण और उपशमनकी योग्यता सिद्ध नहीं होगी । इसलिये पूर्व गुणस्थानोंसे इसमें सर्वथा भिन्न जातिके ही परिणाम होते हैं इस बातके सिद्ध करनेके लिये अपूर्व और अनिवृत्ति इन दो विशेषणोंकी अनुवृत्ति कर लेना चाहिये । इसप्रकार इस गुणस्थानमें अपूर्वता, अनिवृत्तिपना और सूक्ष्मसांपरायपनारूप विशेषता सिद्ध हो जाती है ।

१ सत्त्वलनौमस्य अशूनसन्धेयतमस्य खण्डस्त्वान्मन्यानि सवडानि वेदयमानोऽनुमन् उपगमद क्षपरो या मयति । सोऽन्तमुडतं काल यावत्समपरागा भण्यत । ५५ सुहृमपराइय जा उचति सो सुहृमपरागो । सुहृम नाग धोव । वई धोव । आउयमोहगिण्डव चाओ उ नमपयडा मे मिडिडव ननबद्धाओ अप्पत्तट्टितिराओ महाउ मापाओ अपदेमगाओ सुहृमपरागस्य व शानि । एव धोव मपराइय नम त स रज्ञानि । सुहृमा मपरागा या जस्य गो सुहृमपरागा, सो य अमवे नममदओ अनोहृविआ भिन हपायपरिगामो वा पण्विसमपणपेणामो या मयति पि । ॥ १८ ॥ [सुहृमपराय]

रागद्वयस्याथ उपशान्तरूपायवीतरागद्वयस्याः । एतेनोपरितनगुणव्युदामोऽगन्तव्यः ।
एतस्योपशमितशेषरूपायत्वादौपशमिकः, सम्यक्त्वापेक्षया क्षायिक औपशमिको वा
गुणः । उक्तं च—

सकृदा हल जल वा सरए सराणिथ य णिमन्थ ।

सयलेयसन मोहो उजसत कसायओ होई ॥ १२२ ॥

निर्ग्रन्थगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

क्षीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था^१ ॥ २० ॥

क्षीणः कपायो येषां ते क्षीणरूपायाः । क्षीणरूपायाश्च ते वीतरागाश्च क्षीणरूपाय-

उपशान्त कपाय वीतराग द्वयस्थ कहते हैं । इससे (उपशान्तरूपाय विशेषणसे) अग्रेके गुण
स्थानोंका निराकरण समझना चाहिये ।

इस गुणस्थानमें संपूर्ण कपायें उपशान्त हो जाती हैं, इसलिये इसमें औपशमिक भाव
है । तथा सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक दोनों भाव ह । कहा भी है—

निर्मली फलसे युक्त निर्मल जलकी तरह, अथवा शरद् ऋतुमें होनेवाले सरोवरके
निर्मल जलकी तरह, संपूर्ण मोहनीय कर्मके उपशमसे उत्पन्न होनेवाले निर्मल परिणामोंको
उपशान्तरूपाय गुणस्थान कहते हैं ॥ २० ॥

अथ निर्ग्रन्थगुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये अग्रेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे क्षीण कपाया वीतराग उग्रस्थ जीव होते हैं ॥ २० ॥

जिनकी कपाय क्षीण हो गई है उन्हें क्षीणकपाय कहते हैं । जो क्षीणकपाय होने हुए

१ अहिंसा गुणस्थान द्वाविंशतिरपि मोहनायप्रवृत्तय उपशान्ता ज्ञातया । उपशान्तरूपायश्च जघन्यनेर
ममय भवति, उत्तरपण तत्तद्वृत्तं काल यावत् । तत उर्ध्वं नियमादमो प्रतिपतति । प्रतिपातश्च द्वेषा, भवक्षयेण अद्वा
क्षयेण च । तत भवक्षयो त्रियमाणस्य, अद्वाक्षय उपशान्ताद्वाया समाप्तायाम् । अद्वाक्षयण च प्रतिपतति यथेनास्त्यस्तथ
प्रतिपतति यत यत बन्धोदयोदाराणा व्यग्रच्छिन्नात्मन तत प्रतिपतता सता ते आरभ्यत इति यावत् । xx य पुनश्च
वक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमममय सवाण्यपि चचनादानि ररणानि प्रवतयताति विशेष । जमि रा को । (उवसत
कनायगीयरागच्छउमत्थुण्डाण)

२ गो जा ६१ पर च तत प्रथमचरणे ' कदक फल जल वा ' इति पाठ ।

३ क्षीणा जमावभापना कपाया यस्य स क्षीणकपाय । तच्चायेवपि गुणस्थानेषु क्षपणश्रेणिद्वारीतयुक्ता
कापि त्रियतामपि कपायाणां क्षीणरूपमभवान् क्षीणरूपाययवदेश समवति । ततस्तेऽप्यवच्छेदार्थं वीतरागप्रवण,
क्षीणकपायवानरागश्च च कवन्निर्भोऽप्यस्ताति तद्व्यवच्छेदार्थं उग्रस्थप्रवणम् । यद्वा उग्रस्थस्य रागोऽपि भवताति
तदपनादार्थं वीतरागप्रवण । वीतरागश्चातो उग्रस्थश्च वीतरागउग्रस्थ स औपशान्तरूपायोऽयन्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं
क्षीणरूपायप्रवणम् । जमि रा को [क्षीणकसायवीयरायछदुमच]

वीतरागाः । उग्रानि आचरणे तिष्ठन्तीति उग्रश्च
 क्षीणकृपायवीतरागछद्मस्थाः । छद्मस्थग्रहणमन्-
 सूचकमित्यगन्तव्यम् । क्षीणकृपाया हि वीतरा-
 मनर्थकमिति चेन्न, नामादिक्षीणकृपायमिनिर्गृहीत-
 प्रादुर्भावं इति चेद्द्रव्यमात्रैर्विध्यादुभयत्मरूपोहर्ता
 निबन्धनः । उक्तं च —

गिस्तेस खण-मोहो फलियामल भायणुत्थ

वीण कसायो भण्णइ गिगयो वीतराएत्ति ॥

स्नातकगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरमूत्रमाह—

सजोगकेवली ॥ २१ ॥

वीतराग होते हैं उहें क्षीणकृपायवीतराग कहते हैं । जो छद्म-अर्थात् धान।
 धरणमें रहते हैं उहें छद्मस्थ कहते हैं । जो क्षीणकृपाय वीतराग होने हुए
 उहें क्षीण कृपाय वीतराग छद्मस्थ कहते हैं । इस सूत्रमें आया हुआ छद्मस्थ पद
 इसलिये उसे पूर्ववर्ती समस्त गुणस्थानोंके सावरणपोसा सूचक समझना चाहिये

शुद्धा—क्षीणकृपाय जीव वीतराग ही होने हैं, इसमें किसी प्रकारका भी
 नहीं जाना, इसलिये सूत्रमें वीतराग पदका ग्रहण करना निष्फल है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, नाम, स्थापना आदि रूप क्षीणकृपायकी निवृत्ति
 यही इस सूत्रमें वीतराग पदके ग्रहण करनेका फल है । अर्थात् इस गुणस्थानमें न
 स्थापना और द्रव्यरूप क्षीणकृपायका ग्रहण नहीं है, किन्तु भावरूप क्षीणकृपायोंका ही ग्रहण
 है, इस बातके प्रगट करनेके लिये सूत्रमें वीतराग पद दिया है ।

शुद्धा—पांच प्रकारके भावामसे जिस भावसे इस गुणस्थानकी उत्पत्ति होती है ?

समाधान—मोहनीय कर्मके दो भेद हैं, द्रव्यमोहनीय और भावमोहनीय । इस
 गुणस्थानके पहले दोनों प्रकारके मोहनीय कर्मोंका निरन्वय (सर्वाथा) नाश हो जाता है, अतएव
 इस गुणस्थानकी उत्पत्ति क्षायिक गुणसे है । कहा भी है—

जिसने संपूर्ण अर्थात् प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश बन्धरूप मोहनीय कर्मको
 नष्ट कर दिया है, अतएव जिसका चित्त स्फटिकमणिके निर्मल भाजनर्म रखे हुए जलके
 समान निर्मल है, ऐसे निर्मल को वीतरागदेवने क्षीणकृपायगुणस्थानवर्ती कहा है ॥ २०३ ॥

अत्र स्नातकके गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—
 सामान्यसे सयोगकेवली जीव होते हैं ॥ २१ ॥

१ प्रसन्न चित्त समारमाण कर्मकायमिति यथा परिमृश मिथ्यात्वदादयः अंतराधनुदयः यदि
 स्वाध क्षमादयो च, तेनो निश्चान गवामना निवृत्तो निमय इति । गो जा, ग प्र, दी ६०

केवल केवलज्ञानम् । कथं नामैकदेशात्मकलनाज्ञा प्रतिपद्यमानस्यार्थस्यानगम इति चेन्न, उल्लेखशब्दान्यस्यार्थस्य तदेकदेशदेवशब्दादपि प्रतीयमानस्योपलम्भात् । न च दृष्टेऽनुपपन्नता अव्ययस्यापत्तेः । केवलममहायमिन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षम्, तदेवामस्तीति केवलिनः । मनोवाकायप्रवृत्तिर्योगः, योगेन सह वर्तन्ते इति सयोगाः । सयोगाश्च ते केवलिनश्च सयोगकेवलिनः । सयोगग्रहणमधस्तनसकलगुणानां सयोगत्वं प्रतिपादकमन्तर्दीपकत्वात् । क्षपिताशेषधातिरुर्मत्त्वान्निःशक्तीकृतवेदनीयत्वान्नष्टाटकर्मन्ययपटिर्कर्मत्वाद्वा नायिरुगुणः । उक्तं च—

केवलणाण दिनायर किरण-कअन-प्पणासि-अण्णाणो ।

णन-केवल-लहुगम-मुजणिय परमप यएसो ॥ १२४ ॥

केवल पदसे यहा पर केवलज्ञानका ग्रहण किया है ।

शंका—नामके एकदेशके कथन करनेसे संपूर्ण नामके द्वारा कहे जानेवाले अर्थका बोध कैसे सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बलदेव शब्दके वाच्यभूत अर्थका, उसके एकदेशरूप 'देव' शब्दसे भी बोध होना पाया जाता है । और इसतरह प्रतीति सिद्ध बातमें, 'यह नहीं धन सक्त है' इसप्रकार कहना निष्फल है, अन्यथा सब जगह अवयवस्था हो जायगी ।

जिसमें इन्द्रिय, आलोक और मनकी अपेक्षा नहीं होती है उसे केवल अथवा असहाय कहते हैं । वह केवल अथवा असहाय ज्ञान जिनके होता है, उन्हें केवली कहते हैं । मन, चक्षु और कायकी प्रवृत्तिको योग कहते हैं । जो योगके साथ रहते हैं उन्हें सयोग कहते हैं । इसतरह जो सयोग होते हुए केवली हैं उन्हें सयोगकेवली कहते हैं । इस सूत्रम जो सयोग पदका ग्रहण किया है वह अन्तर्दीपक होनेसे नीचके संपूर्ण गुणस्थानोंके सयोगपनेका प्रतिपादक है । चारों घातिया कर्मोंके क्षय कर देनेसे, वेदनीय कर्मके निश्चय कर देनेसे, अथवा आठों ही कर्मोंके अग्रयरूप साठ उत्तर कर्म प्रकृतियोंके नष्ट कर देनेसे इस गुणस्थानमें क्षायिक भाव होता है ।

विशेषार्थ—यद्यपि अरहत परमेष्ठीके चारों घातिया कर्मोंकी सेतालास, नामकर्मकी तेरह और आयुर्कर्मकी तीन, इसतरह त्रेसठ प्रकृतियोंका अभाव होता है । फिर भी यहा साठ कर्मप्रकृतियोंका अभाव बतलाया है । इसका पेसा अभिप्राय समझना चाहिये कि आयुर्की तीन प्रकृतियोंके नाशके लिये प्रयत्न नहा करना पड़ता है । मुक्तिको प्राप्त होनेवाले जीवके एक मनुष्यायुको छोड़कर अन्य आयुर्की सत्ता ही नहीं पाई जाती है, इसलिये यहा पर आयुर्कर्मकी तीन प्रकृतियोंकी अधिवक्षा करके साठ प्रकृतियोंका नाश बतलाया गया है । कहा भी है—

जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंके समूहसे अज्ञानरूपी अंधकार सर्वथा नष्ट

१ अनेन सयोगमद्वारवस्य मन्त्रलोकोपशारन्त्रवर्णपराधमपत्राता । गा जी, जा प्र, टी ६३

२ [अनेन पदेन] भगवद्परमेष्ठिनो न तत्त्वानादिलक्षणस्वाधनपत् प्रदक्षिता । गो जा, जी प्र, टी ६३

असहाय-गण दसण सहिओ इदि केनडी इ जोएण ।

जुओ ति सजोगो इति अणाइ गिहणारिसे उत्तो ॥ १२५ ॥

साम्प्रतमन्त्यस्य गुणस्य स्वरूपनिरूपणार्थमहन्मुखोद्गतार्थं गणधरदेवप्रति-
शब्दसन्दर्भं प्रवाहरूपतयानिधनतामापन्नमशेषदोषव्यतिरिक्तत्वादकलङ्कमुत्तरस्य पुष्प-
भट्टारक प्राह—

अयोगकेवली ॥ २२ ॥

न विद्यते योगो यस्य स भक्त्ययोग । केवलमस्यास्तीति केवली । अपोषणवाच्यं
केवली च अपोषणकेवली । केवलीत्यनुवर्तमाने पुनः केवलग्रहणं न कर्तव्यमिति चन्द-
दोष, ममनस्केषु ज्ञान सर्वत्र सर्वदा मनोनिबन्धनत्वेन प्रतिपन्नं प्रतीयते च । सति क-
नायोगिना केवलज्ञानमस्ति तत्र मनसोऽसत्त्वादिति विप्रतिपन्नस्पष्टिष्यस्य तदमि-
हो गथा है, आर जिसने नव केवल-लब्धियाँ के प्रगट होनेसे 'परमात्मा' इस सज्ञाको प्राप्त क-

लिया है, यह इन्द्रिय आदि की अपेक्षा न रखनेवाले ऐसे असहाय ज्ञान आर दर्शनसे यु-
होनेके कारण केवली, तीनों योगसे युक्त होनेके कारण सयोगी और धाति कर्मसे रहित
होनेके कारण जिन कहा जाता है, ऐसा अनादिनिधन आर्पण कहा है ॥ १२६, १२७ ॥

अथ पुष्पदन्त भट्टारक अन्तिम गुणस्थानके स्वरूपके निरूपण करनेके लिये, अ-
रूपसे भरहान परमेष्ठीके मुखसे निकले हुए, गणधरदेवके द्वारा गूँधे गये शङ्करवना-
प्रपादरूपसे कभी भी नाशको नही प्राप्त होनेवाले और सपूर्ण दोषोंसे रहित होनेके वा-
निर्वाप, ऐसे आगेके सूत्रको कहते हैं—

सामान्यसे अयोगकेवली जधि होते हैं ॥ २० ॥

जिसके योग विद्यमान नहीं है उसे अयोग कहते हैं । जिसके केवलज्ञान पाया ज-
है उसे केवली कहते हैं । जो योग रहित होते हुए केवली होता है उसे अयोगकेवली कहते

शंका—पूर्वसूत्रसे केवली पदकी अनुवृत्ति होने पर इस सूत्रमें फिरसे के-
पदका प्रहण नहीं करना चाहिये ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, समनस्स जीवोंके सर्वदेश
सर्वकालमें मनके निमित्तसे उत्पन्न होता हुआ ज्ञान प्रतीत होता है, इसप्रकारके नि-
मात्र लेने पर, अयोगियोंके केवलज्ञान नहीं होता है, क्योंकि, वही पर मन नहीं पाया
है । इसप्रकार विवादप्रस्त शिष्यको अयोगियोंमें केवलज्ञानके अस्तित्वके प्रतिपादनके

१७ जे १४

२४० अस्मात्ते वाता न वागी जयाता, अग्ना वाकलिजिन इत्यनुवन्ता अयोगी
केवाजिनइव वागीकरणजिन १७ जे, जे १७, १८

प्रतिपादनफलत्वात् । कथं उच्यते तदस्ति त्वमगम्यते इति चेच्चक्षुषा स्तम्भादेरस्तित्वं
 कथमगम्यते ? तत्प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेश्चक्षुषा समुपलब्धमस्तीति चेच्चक्षुषा
 वचनस्य प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेः समस्ति उच्यते वाच्यमिति समानमेतत् । वचनस्य
 प्रामाण्यमसिद्धं तस्य कचिद् निसिद्धादर्शनादिति चेन्न, चक्षुषोऽपि प्रामाण्यमसिद्धं तस्य
 कचिद्विसिद्धादर्शनत्वं प्रति ततोऽपि शेषात् । यदविसिद्धादि चक्षुस्तत्प्रमाणमिति चेन्न,
 सर्वेषामपि चक्षुषा सर्वत्र सर्वदा अविसिद्धस्यानुपलम्भात् । यत्र यदाविसिद्धाद् समुपलभ्यते
 चक्षुषस्तत्र तदा तस्य प्रामाण्यमिति चेद्यदि कचित्कदाचिदविसिद्धादिनश्चक्षुषोऽपि प्रामाण्य-
 मित्युच्यते दृष्टादृष्टनिषेधे सर्वत्र सर्वदाविसिद्धादिनो वचनस्य प्रामाण्यं किमिति नेष्यते ?

इस सूत्रमें फिरसे केजली पदका ग्रहण किया ।

शुका—इस सूत्रमें केजली इस वचनके ग्रहण करनेमात्रसे अयोगी जिनके केजल
 ज्ञानका अस्तित्व कैसे जाना जाता है ?

समाधान—यदि यह प्रछने हो तो हम भी पूछते हैं कि चक्षुसे स्तम्भ आदिके
 अस्तित्वका ज्ञान कैसे होता है ? यदि कहा जाय, कि चक्षु ज्ञानमें अन्यथा प्रमाणता नहीं आ
 सकती, इसलिये चक्षुद्वारा गृहीत स्तम्भादिकका अस्तित्व है, ऐसा मान लेते हैं ।
 तो हम भी कह सकते हैं, कि अन्यथा वचनमें प्रमाणता नहीं आ सकती है, इसलिये
 वचनके रहने पर उसका वाच्य भी विद्यमान है, ऐसा भी न्याय नही मान लेते हो, क्योंकि,
 दोनों बात समान हैं ।

शुका—वचनकी प्रमाणता असिद्ध है, क्योंकि, कहाँ पर वचनमें विसिद्धाद् देखा
 जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इस पर तो हम भी ऐसा कह सकते हैं, कि चक्षुकी
 प्रमाणता असिद्ध है, क्योंकि, वचनके समान चक्षुमें भी कहाँ पर विसिद्धाद् प्रतीत होता है ।

शुका—जो चक्षु अविसिद्धादी होता है उसे ही हम प्रमाण मानते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, किसी भी चक्षुका सर्व देश ओर सर्व कालमें अविसिद्धादी-
 पना नही पाया जाता है ।

शुका—जिस देश और जिस कालमें चक्षुके अविसिद्धाद् उपलब्ध होता है, उस देश
 ओर उस कालमें उस चक्षुमें प्रमाणता रहती है ?

समाधान—यदि किसी देश ओर किसी कालमें अविसिद्धादी चक्षुके प्रमाणता मानते
 हो तो प्रत्यक्ष ओर परोक्ष विषयमें सर्व देश ओर सर्व कालमें अविसिद्धादी ऐसे निश्चित
 वचनको प्रमाण क्या नही मानते हो ।

अद्वैतविषये क्वचिद्विभवादोपलम्भान्न तस्य। सर्वत्र सर्वदा ग्रामाण्यमिति चेन्न, तत्र उचनस्या पराधामानात्तत्स्वरूपानुगन्तुं पुरुषस्य तत्रापराधोपलम्भात् । न ह्यन्यदेषैतन्यः परिगृह्यते अव्ययव्यापत्तेः । उक्तुरेव तत्रापराधो न उचनस्येति कथमनुगम्यत इति चेन्न, तस्यान्यस्य ना तत एव प्रवृत्तस्य पश्चादर्थप्राप्त्युपलम्भात् । अप्रतिपन्ननिमित्तानि विस्मयादस्यास्य उचनस्य ग्रामाण्य कथमनुसीयत इति चेन्नैव दोषः, आर्पणययेन प्रतिपत्ता विस्मयादन सहार्पणययस्पाययनिद्वारेणापन्नेरुन्वतन्ममत्यत्यागते । इभुटण्डवच्चानासः।

शुक्रा—किन्नी परोक्ष विषयम विस्मयाद पाया जाता है, इसलिये सर्वदेश और सर्व कालम वचनमें प्रमाणता नहीं आ सकती है ?

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उसमें वचनका अपराध नहीं है, किन्तु परोक्ष विषयके स्वरूपको नहीं समझनेवाले पुरुषका ही उसमें अपराध पाया जाता है। कुछ दूसरेके दोषसे दूसरा तो पकड़ा नहीं जा सकता है, अथवा अवयवस्था प्राप्त हो जायगी।

शुक्रा—परोक्ष विषयम जो विस्मयाद उत्पन्न होता है, इसमें वचनका ही दोष है वचनका नहीं, यह कैसे जाना ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उसी वचनसे पुन अर्थके निर्णयमें प्रवृत्ति करनेवाले उसी अर्थम किसी दूसरे पुरुषके दूसरी बार अर्थकी प्राप्ति बराबर देखी जाती है। इससे ज्ञान होता है कि जहां पर तत्त्व निर्णयम विस्मयाद उत्पन्न होता है वहां पर वचनका ही दोष है, वचनका नहीं।

शुक्रा—जिस उचनकी विस्मयादिता या अधिस्मयादिताका निर्णय नहीं हुआ उसका प्रमाणताका निश्चय कैसे किया जाय ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जिसकी अधिस्मयादिताका निश्चय हो गया है ऐसे आर्पके अवयवरूप उचनके साथ विवक्षित आर्पके अवयवरूप वचनके भी अवयवीकी अपेक्षा एकपना बन जाता है, इसलिये विवक्षित अवयवरूप वचनकी सत्यताका ज्ञान हो जाता है।

विशेषार्थ—जितने भी आर्प उचन है वे सब आर्पके अवयव हैं, इसलिये आर्पम प्रमाणता, होनेसे उसके अवयवरूप सभी वचनमें प्रमाणता आ जाती है।

शुक्रा—विस्मयप्रकार गन्ना नाना रसवाला होता है, उसके ऊपरके भागमें भिन्न प्रकारका रस पाया जाता है, मध्यके भागमें भिन्न प्रकारका और नीचेके भागमें भिन्न प्रकारका रस पाया जाता है, उसीप्रकार अवयवरूप आर्प-वचनको भी अनेक प्रकारका मान

किन्ना स्यादिति चेन्न, नान्यत्राचक्रमेदेन तस्य नानात्वाभ्युपगमात् । तद्वत्सत्यामत्यकृत-
भेदोऽपि तस्यास्तिप्रति चेन्न, अत्रयत्रिद्वारेणैकस्य प्रवाहरूपेणापौरुषेयस्यागमस्यासत्यत्व-
निरोधात् । अथवा न तादृश्य वेदः स्वस्वार्थं स्वयमाचष्टे सर्वेषामपि तदवगमप्रसङ्गात् ।
अस्तु चेन्न चैव, तथानुपलम्भात् ।

अथान्ये व्याचक्षते, तेषां तदर्थविषयपरिज्ञानमस्ति वा नेति विकल्पद्वयानुत्तरः ?
न द्वितीयविकल्पस्तदर्थविषयमरहितस्य व्याख्यातृत्वविरोधात् । अविरोधे वा सर्वः सर्वस्य
व्याख्यातास्त्वज्ञत्व प्रत्यविशेषात् । प्रथमविकल्पेऽपि सर्वज्ञो वा स्यादसर्वज्ञो वा ? न
द्वितीयविकल्पः, ज्ञानविज्ञानविरहादप्राप्तप्रामाण्यस्य व्याख्यातृत्वचनस्य प्रामाण्यभावात् ।

लेना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वाच्य वाचकके भेदसे उसमें नानापना माना ही गया है ।

शंका—जिसप्रकार वाच्य वाचकके भेदसे आप वचनोंमें भेद माना जाता है, उसी
प्रकार वचनोंमें सत्य असत्यरूप भी भेद मान लेना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अवयवीरूपसे प्रवाहक्रमसे आये हुए अपौरुषेय
एव आगममें असत्यपना स्वीकार करनेमें विरोध आता है ।

अथवा, यह वेद (आगम) अपने वाच्यभूत अर्थको स्वयं नहीं कहता है । यदि वह
स्वयं कहने लगे तो सभीको उसका ज्ञान हो जानेका प्रसंग न आया, इसलिये भी वक्ताके
दोषसे वचनमें दोष मानना चाहिये ।

शंका—यदि सभीको वेदका ज्ञान स्वयं हो जाय तो इसमें क्या हानि है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इसप्रकारकी उपलब्धि नहीं होती है ।

कोई लोग ऐसा व्याख्यान करते हैं कि वक्ताओंको वेदके वाच्यभूत विषयका परि-
ज्ञान हो या नहीं ? इसतरह दो विकल्प उत्पन्न होते हैं । इनमेंसे दूसरा विकल्प तो बन
नहीं सकता है, क्योंकि जो वेदके अर्थज्ञानसे रहित है, उसको वेदका व्याख्याता माननेमें
विरोध आता है । यदि कहो कि इसमें कोई विरोध नहीं है, तो सबको संपूर्ण शास्त्रोंका
व्याख्याता हो जाना चाहिये, क्योंकि, अज्ञपना सभीके बराबर है । यदि प्रथम विकल्प लेते
हो कि वक्ताको वेदके अर्थका ज्ञान है, तो वह वक्ता सर्वज्ञ है कि असर्वज्ञ ? इनमेंसे दूसरा
विकल्प तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि, ज्ञान विज्ञानसे रहित होनेके कारण जिसने स्वयं
प्रमाणताको प्राप्त नहीं किया ऐसे व्याख्याताके वचन प्रमाणरूप नहीं हो सकते हैं ।

१ अष्टमिमात्रायां न स्वयं स्वार्थं प्रधापयितुमाशक्तद्वयप्रतिपत्त्यभावात्तुष्यगादिति तत्प्राख्यातानुमतय ।
त च यदि सर्वज्ञो वीरताग्नश्च स्वावदात्रायस्य तत्परतनया प्रवृत्ते निमग्ननिमग्नरात्रौ पोष्यते । तत्प्राख्यातात्
सर्वज्ञत्वे रात्रिन्वे वीरताग्नौ तत्प्रलस्य सूनस्य नन प्रमाणता युक्ता तस्य विप्रलम्भनात् । त भो वा पृ ७

२ स पुरुषोऽसर्वज्ञो रागादिमात्रं यदि तदा तद्व्याख्यानादर्थनिधयानुपपत्तिरयथाविधानसकनान् ।
सर्वज्ञो वीरताग्नश्च तौ वेदानामिष्टौ यत्तत्तद्विषय स्यादिति । त भो वा पृ ८

भनतु तस्य तद्वचनस्य चाग्रामाण्यम्, नागमस्य पुरुषाद्यापागनिर्गमेत्त्वादिति चेन्न, व्याख्यातारमन्तरेण स्वार्थप्रतिपादकस्य तस्य व्याख्यातृवीनयाच्ययाचक्रमागस्य पुरुषव्यापारनिरूपेत्त्वनिरोधात् । तस्मादागमः पुरुषेऽतोऽर्थप्रतिपादक इति प्रतिपत्तयम् । तथा च 'वचनप्रामाण्याद्वचनप्रामाण्यम्' इति न्यायादग्रमाणपुरुषव्याख्यातृव्यापारार्थे आगमोऽग्रमा णता कथं नास्मन्देन ? तस्माद् विगताशेषदोषाग्रगत्यान् प्राप्ताशेषस्तुविषयबोधनस्य व्याख्यातेति प्रतिपत्तयम्, अन्यथास्यापौरुषेयत्वस्यापि पौरुषेयपदप्रामाण्यप्रमद्वात् । अमर्षज्ञाना व्याख्यातृत्वाभावे आप्तसन्ततेर्विच्छेदस्यार्थन्याया उचनपद्वेतरापत्त्यामात्रा दिति चेन्न, इष्टत्वात् । नाप्यप्राप्तसन्ततेर्विच्छेदे विगतदोषापरणार्हद्व्यव्यापारार्थसार्पस्य चतुर्मलमुद्धत्यतिशयोपेतनिर्दिष्टगणभृत्प्राग्विज्ञानस्य ज्ञानविज्ञानमप्यनगुरुपर्वक्रमेणायान् स्वानिष्टप्राक्तनयाच्ययाचक्रमागस्य विगतदोषापरणनिष्प्रतिपक्षमत्यम्भापुरुषव्याख्यात

शंका—अमर्षज्ञाना और उसके उचनसे अग्रमाणता भले ही मान ली जाय, परन्तु आगम अग्रमाणता नही मानी जा सकती, क्योंकि, आगम पुरुषके व्यापारकी अपेक्षासे रहित है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, व्याख्याताके विना वेद स्वयं अपने विषयका प्रतिपादन नहीं करे, इसलिये उसका वाच्यवाचकभाव व्याख्याताके आधीन है । अतएव वेदम पुरुष व्यापारकी निरूपेयता नही वन सकती है । इसलिये आगम पुरुषकी इच्छासे अर्थका प्रतिपादन है, ऐसा समझना चाहिये । दूसरे 'वचनसे प्रमाणतासे वचनम प्रमाणता आती है' इस न्यायसे अनुसार अग्रमाणभूत पुरुषके द्वारा व्याख्यान किया गया आगम अग्रमाणताको कैसे प्राप्त नहीं होगा, अर्थात् अवश्य प्राप्त होगा ? इसलिये जिम्मे, संपूर्ण भावकर्म और उच्यकर्मकी दूर कर देनेसे संपूर्ण वस्तु विषयक ज्ञानको प्राप्त कर लिया है, वही आगमका व्याख्याता हो सकता है, ऐसा समझना चाहिये । अथवा पौरुषेयत्व रहित इस आगमकी भी पौरुषेय आगमके समान अग्रमाणताका प्रसंग आ जायगा ।

शंका—असर्वज्ञको व्याख्याता नही मानने पर भी आपे परपराके विच्छेदको या अर्थ वचन रचनाको आपेपना प्राप्त नहीं हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वसा तो हम मानते ही हैं । अर्थात् आपे परपराके विच्छेदको या अर्थवचन वचन रचनाको हमारे यहाँ आगमरूपसे प्रमाण नहीं माना है ।

दूसरे हमारे यहाँ आपे परपराका विच्छेद भी नहीं है, क्योंकि, जिसका दोष और अपरणसे रहित अद्वैत परमेष्ठिने अर्थरूपसे व्याख्यान किया है, जिसका चार निर्मल बुद्धिरूप अतिशयसे शुद्ध और निर्दिष्ट गणधरदेवने धारण किया है, जो ज्ञान विज्ञान मपन गुणपरपरासे चला आ रहा है, जिसका पहलेका वाच्यवाचकभाव अभीतक नष्ट नहीं हुआ है और जो दोषापरणसे रहित तथा निष्प्रतिपक्ष सत्य स्वभाववाले पुरुषके द्वारा व्याख्यान होनेसे शब्दको

त्वेन श्रद्धाप्यमानस्योपलम्भात् । अप्रमाणमिदानीन्तन आगमः आरातीयपुरुषव्याख्या-
तार्थत्वादिति चेन्न, ऐदंयुगीनज्ञानविज्ञानसम्पन्नाया प्राप्तप्रामाण्यैराचार्यार्यातार्थ-
त्वात् । कथं छद्मस्थाना सत्यवादित्वमिति चेन्न, यथाश्रुतव्याख्यातृणा तदनिरोधात् ।
प्रमाणीभूतगुरुपर्वक्रमेणायातोऽयमर्थ इति कथमसंसीयत इति चेन्न, दृष्टविषये सर्वत्राविसमा-
दात्, अदृष्टविषयेऽप्यविमयादिनागमभावेनैकत्वे मति सुनिश्चितामम्भयद्वाधकप्रमाणत्वात्,
ऐदंयुगीनज्ञानविज्ञानसम्पन्नभूयमाचार्याणामुपदेशाद्वा तदंगते । न च भूयासः
सावरो विसंगदन्ते तथान्यत्रानुपलम्भात् । प्रमाणपुरुषव्याख्यातार्थत्वात् स्थित वचनस्य
प्रामाण्यम् । ततो मनसोऽभावेऽप्यस्ति केवलज्ञानमिति सिद्धम् । अथवा न केवलज्ञानं

योग्य हे ऐसे जागमकी आज भी उपलब्धि होती है ।

श्रीका—आधुनिक आगम अप्रमाण है, क्योंकि, अर्थात् चीन पुरखोंने इसके अर्थका व्याख्यान किया है ?

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, इस कालखण्डी ज्ञान विज्ञानसे मन्त्रित होनेके कारण प्रमाणतासे प्राप्त आचार्योंके द्वारा इसके अर्थका व्याख्यान किया गया है, इसलिये आधुनिक जागम भी प्रमाण है ।

श्रीका—छद्मर्थोंके सत्यवादीपना कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, श्रुतके अनुसार व्याख्यान करनेवाले आचार्योंके प्रमाणता माननेमें कोई विरोध नहीं है ।

श्रीका—आगमका यह विपक्षित अर्थ प्रामाणिक गुरुपम्पराके क्रमसे आया हुआ है, यह कैसे निश्चय किया जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रत्यक्षभूत विषयमें जो सब जगह विसवाद उत्पन्न नहीं होनेसे निश्चय किया जा सकता है । और परेख विषयमें भी, जिसमें परेक्ष विषयका वर्णन किया गया है वह भाग अविसवादी आगमके दूसरे भागोंके साथ आगमकी अपेक्षा एकताको प्राप्त होने पर, अनुमानादि प्रमाणोंके द्वारा बाधक प्रमाणका अभाव सुनिश्चित होनेसे उसका निश्चय किया जा सकता है । अथवा, आधुनिक ज्ञान विज्ञानसे युक्त अनेक आचार्योंके उपदेशसे उसी प्रमाणता जानना चाहिये । और बहुतसे साधु इस विषयमें विसवाद नही करते हैं, क्योंकि, इसतरहका विसवाद कहीं पर भी नहीं पाया जाता है । अतएव आगमके अर्थके व्याख्याना प्रामाणिक पुरुष है इस बातके निश्चित हो जानेमें और वचनकी प्रमाणता भी सिद्ध हो जाती है । और और वचनकी प्रमाणताके सिद्ध हो जानेमें मनके अभावे भी केवलज्ञान होना है यह बात भी सिद्ध हो जाती है ।

अथवा, केवलज्ञान मनमें उत्पन्न होता हुआ न तो किसीने उपलब्ध किया और न

मनस' ममृत्पद्यमानमुपलब्ध श्रुत वा, येनपारेकोत्पद्येत । ध्यायोपशमिको हि बोध
क्षिन्मनस उत्पद्यते । मनसोऽभावाद्भवतु तस्यैवाभावात्, न केवलस्य तस्मात्तत्त्वोत्पत्ते
रभावात् । सयोगस्य केवलिनः केवल मनसः समुत्पद्यमान समुपलभ्यत इति चेन्न,
स्वावरणव्यादुत्पन्नम्याक्रमस्य पुनरुत्पत्तिविरोधात् । ज्ञानत्वा मत्यादिज्ञानप्रत्यारण
मपेक्षते केवलमिति चेन्न, ध्यायिकक्षापोषशमिकयो साधर्म्याभावात् । प्रतिक्षण विवर्त
मानानर्थानपरिणामि केवल कथं परिछिनत्तीति चेन्न, ज्ञेयसमविपरिवर्तनः केवलस्य
तद्विरोधात् । ज्ञेयपरतन्त्रतया विपरिवर्तमानस्य केवलस्य कथं पुननमोत्पत्तिरिति चेन्न,
केवलोपयोगसामान्यापेक्षया तस्योत्पत्तेरभावात् । विशेषापेक्षया च नेन्द्रियालोक
मनोभ्यस्तदुत्पत्तिर्विगतावरणस्य तद्विरोधात् । केवलममहायत्नान्न तत्तमहायमपेक्षते

किसीने सुना ही, जिससे कि यह शक्य उत्पन्न हो सके । ध्यायोपशमिक ज्ञान अथवा ही नहीं
पर (सञ्जी प्रवेन्द्रियोंमें) मनसे उत्पन्न होता है । इसलिये अयोगवेचलीके मनसा अभाव
होनेसे ध्यायोपशमिक ज्ञानका ही अभाव सिद्ध होगा, न कि केवलज्ञानसा, क्योंकि, अयोग
वेचलियोंके मनसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है ।

शङ्का—सयोगवेचलीके तो केवलज्ञान मनसे उत्पन्न होता हुआ उपलब्ध होता है ?

समाधान—यह कदा भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो ज्ञान ज्ञानावरण फर्मे
क्षयसे उत्पन्न है और जो अवमयता है, उसकी मनसे पुनः उत्पत्ति मानना विरुद्ध है ।

शङ्का—जिसप्रकार मति आदि ज्ञान, स्वयं ज्ञान होनेसे अपनी उत्पत्तिम कारककी
अपेक्षा करते हैं, उसीप्रकार केवलज्ञान भी ज्ञान है, अतएव उसे भी अपनी उत्पत्तिम कारककी
अपेक्षा करनी चाहिये ।

समाधान—नहीं, क्योंकि, ध्यायिक और ध्यायोपशमिक ज्ञानम साधर्म्य नहीं पाया
जाता है ।

शङ्का—अपरिवर्तनशील केवलज्ञान प्रत्येक समयम परिवर्तनशील पदार्थोंको कैसे
ज्ञानता है ?

समाधान—ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि, ज्ञेय पदार्थोंको जाननेके लिये तदनुकूल
परिवर्तन करनेवाले केवलज्ञानके ऐसे परिवर्तनके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शङ्का—ज्ञेयकी परतन्त्रतासे परिवर्तन करनेवाले केवलज्ञानकी फिरसे उत्पत्ति क्यों
नहीं भानी जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, केवलज्ञानरूप उपयोग सामान्यकी अपेक्षा केवलज्ञानकी
पुनः उत्पत्ति नहीं होती है । विशेषकी अपेक्षा उसकी उत्पत्ति होते हुए भी वह (उपयोग)
इन्द्रिय, मन और आलोकसे उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि, जिसके ज्ञानावरणादि कर्म नष्ट हो
गये वे ऐसे केवलज्ञानम इन्द्रियादिककी सहायता माननेम विरोध आता है ।

दूसरी बात यह है कि केवलज्ञान स्वयं अमहाय है, इसलिये यह इन्द्रियादिकोंकी

स्वरूपहानिप्रसङ्गात् । प्रमेयमपि मेरुमैक्षिष्टोत्सहायत्वादिति चेन्न, तस्य तत्स्वभावात् । न हि स्वभावा परपर्यनुयोगार्हाः अध्यवस्थापचेरिति । पञ्चसु गुणेषु कोऽत्र गुण इति चत्वीणाशेषपातिरुर्मत्त्वान्निरस्यमानाघातिरुर्मत्त्वाच्च क्षायिको गुणः । उक्तं च—

सेलेसि सप्तो गिरुद्ध-गिरसेस-आस्रो जीरो ।

कम्प रय-विणमुको गय-जेगो केउली हेई ॥ १२६ ॥

मोक्षस्य सोपानीभूतानि चतुर्दश गुणस्थानानि प्रतिपाद्य संमारातीतगुणप्रतिपादनार्थमाह—

सहायताकी अपेक्षा नहीं करता है, अन्यथा ज्ञानके स्वरूपकी हानिका प्रसंग आ जायगा ।

शुक्रा—यदि केवलज्ञान असहाय है तो वह प्रमेयकी भी मत जाने ?

समाधान—ऐसा नही है, क्योंकि, पदार्थोंको जानना उसका स्वभाव है । ओर वस्तुके स्वभाव दूसरके प्रश्नोंके योग्य नहीं हुआ करते हैं । यदि स्वभावात्म भी प्रश्न होने लग तो फिर वस्तुआकी व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी ।

शुक्रा—पाच प्रकारके भावोंमेंसे इस गुणस्थानमें कौनसा भाव है ?

समाधान—संपूर्ण घातिया कर्मोंके क्षीण हो जानेसे ओर थोड़े ही समयमें अघातिया कर्मोंके नाशको प्राप्त होनेवाले होनेसे इस गुणस्थानमें क्षायिक भाव है । कदा भी है—

जिन्होंने अठारह हजार शीलके स्वामीपनेको प्राप्त कर लिया है, अथवा जो मेरुके समान निष्कम्प अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं, जिन्होंने संपूर्ण आश्रयका निरोध कर दिया है, जो नूतन बंधनेवाले कर्म रजसे रहित हैं, ओर जो मन, वचन तथा काय योगसे रहित होते हुए केवलज्ञानसे चिम्बूषित हैं उन्हें अयोगकेउली परमात्मा कहते हैं ॥ १२६ ॥

मोक्षके सोपानीभूत चौदह गुणस्थानोंका प्रतिपादन करके अब ससारसे अतीत गुण ज्ञानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

१ विशेषनिज्ञासमि जटसत्त्वा पृ २३६ २३७ प्रमयज्जलमातण्ड पृ ११२ ११६ दृष्टय ।

२ नित्यु ' माक्षिष्ट ' इति पाठ ।

३ शिलाभिनिर्वृत शीलानां वाऽयमिति शैलपामाश ग्लेशा मन् शैलशम्येय, स्थिरता साम्यान् परमगुरुध्याने वतमान शैलीमानमिधीयते, अमेदोपचारान् स एव शैली, मेरुशिखराग्रस्थो यस्यामवस्थायां सा ग्लेश्यवस्था । अत्रा पृथगस्थिरताशैलीनां भूया पश्चात्स्थिरतायेव यस्यामवस्थायां शैलाजुकां भवति स सा । अत्रा सैलेमा हीई ५५ सोऽनिधिरताए मेलाय इमांसि स त्रिपि स्थिरतया शैल इव मन । अथवा सलेसी भण्णइ सैलेमा होइ मागवदेशीमापया से सा जलसामवति तस्यामवस्थायां, अत्रालोपात्र । अथवा सैलेमो-निधियत शील समाधान, स च सर्वतरस्तस्थेय, तस्य शैलेशस्य याऽवस्था मा ग्लेशा जवमोच्यते । नि मा वा वृ पृ ८६६

४ गो जा ६५ तत्र ' साळमि ' इति पाठ । शीलानां अष्टादशसंख्यमानानां अन्य द्वात्रिंशत् स्वामित्वं स्यात् । म प्र टी ।

सिद्धा चेदि ॥ २३ ॥

मिद्धाः निष्ठिताः निष्पन्नाः कृतकृत्या, मिद्धमा वा इति यावत् । निगमनाद्येप
कर्माणो बाह्यार्थनिर्गेषानन्तानुपममहजप्रतिपक्षगुण्य' निरूपलेपा' अविचलितस्वरूपा
सकलागुणातीता, नि शेषगुणनिवाना, चरमदेहात्किञ्चिन्पूनस्वदेहा' कोशविनिर्गत
सायकोपमा लोकशिसरनिनामिन सिद्धा । उक्तं च—

अद्विह कम्म विमुदा सीदाभूदां निगन्ना निगा ।

अट गुणा किदकिच्चा लेयग निगामिणो मिदा' ॥ १०७ ॥

सामर्थ्य जति चि सन्नयो कायव्यो । 'च' सद्दो मधुचयट्टो । 'उदि' मद्दो एतिया
णि चेत् गुणद्वयाणि चि गुणद्वयाणाम् समत्ति-वाचजा ।

सामान्यसे सिद्ध जीव द्वान ह ॥ २३ ॥

सिद्ध, निष्ठित, निष्पन्न, कृतकृत्य और सिद्धसाध्य थे परार्थवाच्यो नाम ह । जिह्वेन
समस्त कर्माणां निरक्षणं कर दिया है, जिह्वाने ग्राह्य पदार्थोंकी अपेक्षा रहित, जनन,
अनुपम, स्वाभाविक और प्रतिपक्षरहित मूलको प्राप्त कर लिया है, जो निरूप ह, अत्र
स्वरूपको प्राप्त ह, सपूर्ण अगुणोंसे रहित ह, सर्व गुणोंसे निधान है, जितना स्वदेह अर्थात्
आत्माका आकार चरम शरीरसे कुछ न्यून ह, जो कोशमे निकले हुए वाणसे समान विनि सग
है और लोकके अग्रभागमे निवास करते ह उन्हे सिद्ध कहते ह । उदा भी है—

जो ज्ञानावस्थादि आठ कर्मांसे सर्व ग मुक्त ह, मुनिवृत्त (सप्त प्रकारकी शातलतासे
युक्त) है, निरजन ह, नित्य ह, ज्ञान, दर्शन, सुख, जीव्य, अत्र्यायाध, अग्राह्य, मृदुमय और
अगुणरूप इन आठ गुणसे युक्त ह, वृत्तव्य ह और लोकके अग्रभागमे निवास करते ह
उन्हे सिद्ध कहते ह ॥ १०७ ॥

'अति मिन्नाइही' इस सूत्रसे लेकर 'सिद्धा चेदि' इस सूत्र पर्यन्त सप्त जगह
'अस्ति' पदका सन्ध कर लेना चाहिये । 'सिद्धा चेदि' इस सूत्रमे जाया हुआ 'च'
शब्द समुच्चयरूप अथवा वाचक ह जो 'इति' शब्द, गुणस्थान इतने ही होते ह इस्से
कम या अधिक नहै, इसप्रकार गुणस्थानाकी समसंज्ञा वाचक है ।

१ गा जा ६८ 'अद्विह कम्मविमुदा' जनन समाप्तिजस्य मुनिनास्तीति याजिमत, मन्दो कम्मस्य
रूपजन सदा मृत् एव सदस्वर इति सदाजनमेव च जरास्ति । 'सादाभूदा' जनन मुक्तो आमन सुषामा
वदन् सामान्यमनवाप्तम् । 'निगन्ना' जनेन मुक्तामन पुन कमाजनससगण सत्तास्तानि वदन् मरणादस्य
प्रत्यायात् । 'निगा' जनन प्रतिक्षण विनस्वराचपयाया पर परसत्ताववातन परमावर्त
नि पर य नति कृताणि बाह्यवरम्य प्रतिक्षण । 'अटगुणा' जनन तानाणि गुणानामयन्तो अविशामम
मुनिमिनि वदन्त्यायिकवदपिमिप्रिय प्रयुक्त । 'किदकिच्चा' जनन इत्थं सदा मृताणि जगामापण इत्
दरनाहतव्य इति वदन्त्यायिकवदपिमिप्रिय प्रयुक्त । 'कागुणाणिवाणि' जनेन आत्मन उच्चमनस्वराभा
सुतामस्याया कनिदमि विगामाभावात् उपपुपि गमनामिति उदन् मोदितमव प्रत्यक्ष । जा प्र दी

चौदमण्डं गुणद्व्याणाम् जोष-परूपण काऊण आदेस-परूपणद्व सुत्तमाह—

आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी
मणुसगदी देवगदी सिद्धगदी चेदि ॥ २४ ॥

आदेशग्रहण सामर्थ्यलभ्यमिति न वाच्यमिति चेन्न, स्पष्टीकरणार्थत्वात् । गति-
रुक्तलक्षणा, तस्याः उदन यादः । प्रमित्वाचार्यपरम्परामतस्यार्थस्य अनु पश्चाद् यादोऽनु-
यादः । गतेरनुयादो गत्यनुयादः, तेन गत्यनुवादेन । 'हिंसादिप्सदनुष्ठानेषु व्यापृताः
निरतास्तेषां गतिर्निरतगतिः । अथवा नरान् प्राणिनः कायति पातयति खलीकरोति इति
नरक कर्म, तस्य नरकस्यापत्यानि नारकास्तेषां गतिर्नारकगतिः । अथवा यस्या उदयः
मरुलाशुभकर्मणासुदयस्य महाकारिकारण भवति सा नरकगतिः । अथवा द्रव्यक्षेत्रकाल-

चौदह गुणस्थानोंका सामान्य प्ररूपण करके अत्र विशेष प्ररूपणके लिये आगेका सूत्र
कहते हैं—

आदेश प्ररूपणाकी अपेक्षा गत्यनुवादसे नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति, देवगति
और सिद्धगति है ॥ २४ ॥

शंका—आदेश पदका ग्रहण सामर्थ्य लभ्य है, इसलिये इस सूत्रमें उसका फिरसे
ग्रहण नहीं करना चाहिये ?

समाधान—नहा, क्योंकि, स्पष्टीकरण करनेके लिये आदेश पदका सूत्रमें ग्रहण
किया है ।

गतिका लक्षण पहले कह आये हैं । उसके कथन करनेको याद कहते हैं । आचार्य पर
परासे आये हुए प्रसिद्ध अर्थका तदनुसार कथन करना अनुवाद है । इसतरह गतिका
आचार्य परंपराके अनुसार कथन करना गत्यनुवाद है, उससे अर्थात् गत्यनुवादसे नरकगति
आदि गतियां होती हैं । जो हिंसादिक असमाचीन कार्योंमें व्यापृत हैं उन्हें निरत कहते हैं,
और उनकी गतिको निरतगति कहते हैं । अथवा, जो नर अर्थात् प्राणियोंको काता है
अर्थात् गिराता है, पीसता है उसे नरक कहते हैं । नरक यह एक कर्म है । इससे जिनकी
उत्पत्ति होती है उनको नारक कहते हैं, और उनकी गतिको नारकगति कहते हैं ।
अथवा, जिस गतिका उदय संपूर्ण अशुभ कर्मोंके उदयका सहकारी-कारण है उसे नरकगति
कहते हैं । अथवा, जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमें तथा परस्परमें रत नहीं है, अर्थात्

१ अधम्मनसादमण गा जाव्वराण्डम्य गा १४७ तमस्य चा प्र दासा प्रायण ममाना ।

२ प्रतिपु 'अपय' इति पाठ ।

सिद्धा चेदि ॥ २३ ॥

सिद्धाः निष्ठिताः निष्पन्नाः कृतकृत्याः सिद्धाः
 कर्माणो वात्सर्जनिरपेक्षानन्तानुपममहजाप्रतिपक्षयुगा
 यकृतानुगुणातीताः नि ज्ञेयगुणनिधानाः चरमदेहात्किं
 सापरोपमाः लोकाशिसरनिगमिन सिद्धा । उक्तं च—

अद्विदं कम्म विमुदा सोदाभूदो गिरत्तण

अट्ठगुणा किदकिंचा लोयग गिरत्तिणा

संन्य जत्थि च्चि संबधो कायव्वो । 'च' सट्ठो स
 णि चेत्त गुणट्ठाणाणि च्चि गुणट्ठाणाण ममत्ति-याचजो ।

उत्कटा इति या मनुष्याः, तेषां गतिः मनुष्यगतिः । उक्तं च —

मण्णति जदो णिच्च मणेण णिउणा मणुङ्कडा जम्हा ।

मणु-उ-भया य सग्गे तम्हा ते माणुसा मणिया' ॥ १३० ॥

अणिमाद्यष्टगुणाष्टम्भबलेन दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः । देवानां गतिर्देवगतिः ।

अथवा देवगतिनामकर्मोदयोऽणिमादिदेवाभिवानप्रत्ययव्यवहारनिबन्धनपर्यायोत्पादको देवगतिः । देवगतिनामकर्मोदयजनितपर्यायो या देवगतिः कार्यं कारणोपचारात् ।

उक्तं च —

दिव्यति जदो णिच्च गुणेहि अट्ठि य दव्व माणेहि ।

भामत-टिक्क-काया तम्हा ते वणििया देवा' ॥ १३१ ॥

मिद्धिः स्वरूपोपलब्धिः मकलगुणैः स्वरूपनिष्ठा सा एव गतिः मिद्धिगतिः ।

उत्कट अर्थात् सूक्ष्म विचार आदि सातिशय उपयोगसे युक्त है उन्हें मनुष्य कहते हैं, और उनकी गतिको मनुष्यगति कहते हैं । कहा भी है—

जिसकारण जो सदा हेय उपादेय आदिका विचार करते हैं, अथवा, जो मनसे गुण-दोषादिकका विचार करनेमें निपुण है, अथवा, जो मनसे उत्कट अर्थात् दूरदर्शन, सूक्ष्म विचार, चिरकाल धारण आदि रूप उपयोगसे युक्त है, अथवा, जो मनुकी सन्तान है, इसलिये उन्हें मनुष्य कहते हैं ॥ १३० ॥

जो अणिमा आदि आठ कब्जियोंकी प्राप्तिसे बलसे ऋषीडा करते हैं उन्हें देव कहते हैं, और देवोंकी गतिको देवगति कहते हैं । अथवा, जो अणिमादि कब्जियोंसे युक्त 'देव' इस प्रकारके शब्द, ज्ञान और व्यवहारमें कारणभूत पर्यायका उत्पादन है ऐसे देवगति नामकर्मके उदयको देवगति कहते हैं । अथवा, देवगति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई पर्यायको देवगति कहते हैं । यहा कार्यमें कारणके उपचारसे यह लक्षण किया गया है । कहा भी है—

क्योंकि ये द्रव्य और भावरूप अणिमादि आठ दिव्य गुणोंके द्वारा निरन्तर ऋषीडा करते हैं, और उनका शरीर प्रकाशमान तथा दिव्य है, इसलिये उन्हें देव कहते हैं ॥ १३१ ॥

आत्म स्वरूपकी प्राप्ति अर्थात् अपने संपूर्ण गुणोंसे आत्म स्वरूपमें स्थित होनेको सिद्धि कहते हैं । ऐसी सिद्धिस्वरूप गतिको सिद्धिगति कहते हैं । (यद्यपि सूत्रमें सिद्धिगति पाठ है

१ गो जी १४९ द्विताया यस्माज्जब्बो नयनं लं उपयासवमनु याणां पूर्वोत्तमनुयल्लङ्घनामात्रेणि मनुयगतिनामापु कमादयनितत्वमानेणव मनुयवमावायस्येष्ट चापयनि । अनवशानि वचनानि तिचिदिष्ट ज्ञाप यत्तावायस्य इति यायात् । म प्र टी

२ अणिमा मणिमा चैव गरिमा लविमा तथा । प्राप्तिं प्राप्तात्म्यमाश्रय वसिष्ठं चाष्ट मिद्धय ॥

३ प्रतितु 'कायराण' इति पाठ ।

४ गो जी ५५१ तत्र 'दव्वमाणेहि' इति स्थाने 'दिव्वमाणेहि' इति पाठ ।

भावेऽप्यन्योन्येषु च निरताः नरताः, तेषां गतिर्नरतगतिः^३ । उक्तं च—

ण रमति तदा णिच्च दग्धे खेत्ते य काल-भागे य ।

अण्णोण्हि य जग्हा तग्हा ते णारया भणिया ॥ १२८ ॥

सकलतिर्यक्पर्यायोत्पत्तिनिमित्ता तिर्यग्गतिः । अथवा तिर्यग्गतिरुमेदयापान्ति
तिर्यक्पर्यायकलापान्तिर्यग्गतिः । अथवा तिरो यक्र कुटिलमित्यर्थः, तदश्चान्ति प्रजन्तीति
तिर्यश्चः । तिरश्चा गति तिर्यग्गति । उक्त च—

तिरिचति कुडिल भान सुचियट सण्णा णिगिट्टमण्णाणा ।

अक्षत पात्रं बहुला तम्हा तेरि-छया णाम' ॥ १०९ ॥

अक्षेपमनुष्यपर्यायनिष्पादिका मनुष्यगतिः । अथवा मनुष्यगतिरुमेन्द्रियापाति
मनुष्यपर्यायकलाप काये कारणोपचारान्मनुष्यगतिः । अथवा मनमा निपुणा, मनमा

मीति नहा रखते ह ऊन्ह नरत कहते ह, ओर उनकी गतिको नरतगति म्हते ह।
कहा भी ह—

जिस कारणसे द्रव्य, क्षेत्र, काल जग भावमें जो स्वयं तथा परस्परमें कभी भी प्रातिको प्राप्त नहो होते, इसलिये उनको नारत कहते हैं ॥ १०८ ॥

समस्त जातिके तिर्यंचाम उपात्तिका जो कारण है उसे तिर्यंचगति कहते हैं। अथवा, तिर्यंगति कर्मके उदयसे प्राप्त हुए तिर्यंच पर्यायके समूहको तिर्यंगानि कहते हैं। अथवा, तिरस्, वष और कुटिल ये एकार्यवाची नाम हैं, इसलिये यह अर्थ हुआ कि जो कुटिलभावको प्राप्त होते हैं उन्हें तिर्यंच कहते हैं, और उनकी गतिसे तिर्यंचगति कहते हैं। कहा भी है—

जो मन, धचन ओर कायमी कुटिलताको प्राप्त ह, जिनकी आहारादि मन्त्राप सुव्यक्त है, जो निरुष्ट भ्रमानी हे ओर जिनके अत्यधिक पापकी बहुलता पाई जाये उनको तिर्यक कहते हैं ॥ २० ॥

जो मनुष्यकी सपूर्ण पर्यायोंम उत्पन्न करानी हे उसे मनुष्यगति कहते ह। अथवा, मनुष्यगति नामस्मर्त्के उद्द्यसे प्राप्त हुए मनुष्य पर्यायोंके समूहको मनुष्यगति कहते ह। यह लक्षण सत्यमें सारणके उपचारसे किया गया ह। अथवा, जो मनसे निपुण ह, या मनसे

१ नरकगतिमन्व-यापानादिद्वये तद्भूतरूपज्ञानमयादिस्त्रायुरसानकालचित्पयारूपभाव। गा जी।
जा प्र, य १४७

२. अथवा निगताज्य पुण्य ऋष्यस्ने निरगा तथा गति निरयगति । गा जी, जा प्र, टी १४७

३ गा जी १४७

४ गो वा १४८ यन्मासात्तां य जावा सविब्रतमजा अगदाहारादिपकटसन्नायता , प्रभातसुप्तदुष्टि

हस्यानिगूढादिभिरप्यारम्भानुसङ्गा, ह्यापादियनानादिभिर्गिनित्यादक्षाना, नित्यनिगादपिरक्षया अयतपावकुल
हस्मात् नापाते जाव। निरामाव कायमात्र भाषापरिणाम अचरि गच्छति इति नियमो मणित्वा भावित्वा। जा प्र दी

५ प्रतिपु 'कायसरा' इति पाठः ।

उत्कृष्टा इति वा मनुष्या', तेषां गतिः मनुष्यगतिः । उक्तं च —

मण्यति जदो णिच्च मणेण णिउणा मणुक्कडा जम्हा ।

मणु उभया य सत्थे तम्हा ते माणुसा मणिया' ॥ १३० ॥

अणिमाद्यष्टगुणापरम्परालेन दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः । देवानां गतिर्देवगतिः ।

अथवा देवगतिनामकर्मोदयोऽणिमादिदेवाभिधानप्रत्ययचपहरानिबन्धनपर्यायेत्पादको देवगतिः । देवगतिनामकर्मोदयजनितपर्यायो वा देवगतिः कार्ये कारणोपचारात् ।

उक्तं च —

दिव्यति जदो णिच्च गुणेहि अह्मि य दव्व भावेहि ।

मामन-त्विज-काया तम्हा ते मणिया देवा' ॥ १३१ ॥

मिद्धि' स्वरूपोपलब्धिः सकलगुणैः स्वरूपनिष्ठा मा एव गतिः मिद्धिगतिः ।

उत्कृष्ट अर्थात् सूक्ष्म विचार आदि सातिशय उपयोगमे युक्त हे उन्हें मनुष्य कहते हैं, ओर उनकी गतिको मनुष्यगति कहते हैं । कहा भी है—

जिसकारण जो सदा हेय उपादेय आदिना विचार करते हैं, अथवा, जो मनसे गुण-शोषादिकका विचार करनेमें निपुण है, अथवा, जो मनसे उत्कृष्ट अर्थात् दूरदर्शन, सूक्ष्म विचार, चिरकाल धारण आदि रूप उपयोगसे युक्त है, अथवा, जो मनुकी सन्तान है, इसलिये उन्हें मनुष्य कहते हैं ॥ १३० ॥

जो अणिमा आदि आठ ऋद्धियोंकी प्राप्तिके चलसे ग्रीडा करते हैं उन्हें देव कहते हैं, ओर देवानी गतिको देवगति कहते हैं । अथवा, जो अणिमादि ऋद्धियोंसे युक्त 'देव' इस प्रकारके शब्द, ज्ञान ओर व्यवहारमें कारणभूत पर्यायका उत्पादक है ऐसे देवगति नामकर्मके उदयको देवगति कहते हैं । अथवा, देवगति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई पर्यायको देवगति कहते हैं । यहा कार्यमें कारणके उपचारमें यह लक्षण किया गया है । कहा भी है—

क्योंकि ये द्रव्य ओर भावरूप अणिमादि आठ दिव्य गुणोंके द्वारा निरन्तर ग्रीडा करते हैं, ओर उनका शरीर प्रकाशमान तथा दिव्य है, इसलिये उन्हें देव कहते हैं ॥ १३१ ॥

आत्म स्वरूपकी प्राप्ति अर्थात् अपने संपूर्ण गुणोंसे आत्म स्वरूपमें स्थित होनेको सिद्धि कहते हैं । ऐसी सिद्धिस्वरूप गतिको सिद्धिगति कहते हैं । (यद्यपि सूत्रमें सिद्धिगति पाठ है

१ गो जी १४१ द्विताया यस्माच्छब्दो नयन ल यवपातरमनुपाणां पूवानमनुपल्लवणामात्रेणैव मनुष्यगतिनामापु कमादयजनितवसावेण मनुष्यवसावायस्येष्ट आपयति । जनयमानि वचनानि त्रिविदिष्ट ज्ञाप यत्पाचापस्य इति यायात् । म प्र दी

२ अणिमा मणिमा च व गरिमा लघिमा तथा । प्राप्ति प्राप्ताभ्यामात्मन गच्छिन् चष्ट सिद्धय ॥

३ मतिपु 'कायगारण' इति पाठ ।

४ गो जी १५१ तत्र 'दन्वमागहि' इति स्थाने 'दिन्वमागहि' इति पाठ ।

उक्त च—

जाइ-नरा-मरण भया सनेय त्रियोय दुख सण्णाओ' ।

गेगादिया य जिस्से ण सति सा होइ सिद्धगई' ॥ १३२ ॥

सर्वत्रास्तीत्यभिसम्बन्धः कर्तव्यः । प्रतिज्ञायाम्यत्वाद्वेतुप्रयोग कर्तव्य', प्रतिज्ञामात्रतः माध्यमिद्वयनुपपत्तेरिति चेत्तद प्रतिज्ञायास्य प्रमाणत्वात्, न हि प्रमाण प्रमाणान्तरमपेक्षतेऽन्यथापत्ते । नास्य ग्रामाण्यमसिद्धमुक्तोत्तरत्वात् ।

साम्प्रत मार्गणैकदेशगतेरस्मिन्ममभि राय तत्र जीवममासान्नेपणाय सूत्रमाह—

णेरइया चउट्टाणेषु अत्थि मिच्छाडट्टी सासणसम्माडट्टी
सम्माभिच्छाडट्टी असंजदसम्माइट्टि त्ति ॥ २५ ॥

फिर भी टीकाकारन सिद्धिगति पाठको लेकर निरन्ति की है ।) कहा भी है—

जिसमें जन्म, जरा, मरण, भय, संयोग, त्रियाग, दुख, जाहारादि सञ्ज्ञा ओर रोग दिक् नहीं पाये जाते व उसे सिद्धगति कहते हैं ॥ २० ॥

सूत्रमें आये हुए अस्ति पदका प्रत्येक गतिके साथ सन्न्य कर लेना चाहिये ।

शुद्धा—'नरकगति है, तियचगति है' इत्यादि प्रतिज्ञा वाक्य होनेसे इनके अस्तित्वकी सिद्धिके लिये हेतुका प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि, केवल प्रतिज्ञा वाक्यसे साध्यका सिद्धि नहीं हो सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, 'नरकगति है' इत्यादि वचन प्रतिज्ञावाक्य न होकर प्रमाणवाक्य (आगमप्रमाण) है । जो स्वयं प्रमाणस्वरूप होते हैं वे दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करते हैं । यदि स्वयं प्रमाण होते हुए भी दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा की जावे तो अनवस्थाक्षेप आ जाता है । ओर इन वचनोंकी स्वयं प्रमाणता भी अस्ति नहीं है, क्योंकि, इस विषयमें पहले ही उत्तर दिया जा चुका है कि यह उपदेश सर्वज्ञके मुख कमलसे प्रगट होकर आचार्यपरंपरासे चला आ रहा है, इसलिये प्रमाण ही है ।

मार्गणाके एकदेशरूप गतिका सङ्घाय बताकर अब उक्त जीवसमासोंके अन्वेषणके लिये सूत्र कहते हैं—

मि व्याहट्टि, सासादनसम्यग्गट्टि, सम्यग्मिध्याहट्टि और अमयतसम्यग्गट्टि इन चार शुणस्थानोंमें नारकी होते हैं ॥ २ ॥

१ कमवशात्तावस्य मम मां स्वशरीरपथापत्तिजानि । तावस्य तथाविधशरीरपर्यायस्य वयाहाया विहरा जरा । स्वायु क्षयात्तथाविधशरीरपथापत्तिजानि मरण । अनवाशकया अप्रकारस्य परावृत्तमव । ऐश्वर्यात्तावत्प्रवृत्तमव सयाग । सुखकारणप्रवृत्त्यापया विषाग । एत य समुपसति आमना निमग्गपाणि दु रागि । संशान्तिम आत्तादिनांजग्गपा सत्ता । ना जा, म प्र, टा १५२

२ या जी १५२

नारकग्रहण मनुष्यादिनिराकरणार्थम् । चतुर्ग्रहण पञ्चादिमरयापोहनार्थम् । अग्निग्रहण प्रतिपत्तिगौरवनिरासार्थम् । नारकाश्चतुर्षु स्थानेषु सन्तीत्यम्मात्सामान्यवचनात्मकयो मा जनीति तदुत्पत्तिनिराकरणार्थं मिथ्यादृष्ट्यादिगुणाना नामनिर्देशः । अतु मिथ्यादृष्टिगुणे तेषा सच्च मिथ्यादृष्टिषु तत्रोत्पत्तिनिमित्तमिव्यात्वस्य सच्चात् । नेतरेषु गुणेषु तेषा सच्च तत्रोत्पत्तिनिमित्तस्य मिथ्यात्वस्यामच्चादिति चेन्न, आयुषो बन्धमन्तरेण मिथ्यात्वान्निवृत्तिरूपायाणा तत्रोत्पादनसामर्थ्याभावात् । न च वद्धायायुषः सम्यक्त्वाच्चिरन्त्ययिनाशः आर्षिरोधात् । न हि वद्धायायुषः सम्यक्त्व सयममिव न प्रतिपद्यन्ते स्रग्निरोधात् । सम्यग्दृष्टीना वद्धायायुषा तत्रोत्पत्तिरस्तीति मन्ति तत्रासयतमस्यग्दृष्टयः, न सासादनगुणयता तत्रोत्पत्तिस्तद्गुणस्य तत्रोत्पत्त्या सह निरोधात् । तर्हि कथं तद्वत्ता

मनुष्यादिके निराकरण करनेके लिये सूत्रमें नारक पदका ग्रहण किया है । पांच आदि मरयाजाके निराकरण करनेके लिये 'चतुर्' पदका ग्रहण किया है । जाननेमें कठिनाई न पड़े इसलिये 'अस्ति' पदका ग्रहण किया है । नारकी चार गुणस्थानोंमें होते हैं, इस सामान्य वचनसे सशय न हो जाय कि वे चार गुणस्थान कौन कौनसे हैं, इसलिये इस सशयको दूर करनेके लिये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंका नाम निर्देश किया है ।

शंका—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नारकियोंका सत्त्व रहा आये, क्योंकि, वहां पर नार कियोंमें उत्पत्तिका निमित्त कारण मिथ्यादर्शन पाया जाता है । किंतु दूसरे गुणस्थानोंमें नार कियोंका सत्त्व नहीं पाया जाना चाहिये, क्योंकि, अन्य गुणस्थानसहित नारकियोंमें उत्पत्तिकारण निमित्त कारण मिथ्यात्व नहीं माना गया है ?

समाधान—पेसा नहीं है, क्योंकि, नरकायुके बन्ध विना मिथ्यादर्शन, अधिरति और कषायकी नरकमें उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य नहीं है । और पहले बंधी हुई आयुका पीछेसे उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शनसे निरन्तर नाश भी नहीं होता है, क्योंकि, पेसा मान लेने पर आर्षसे विरोध आता है । जिन्होंने नरकायुका बन्ध कर लिया है पेसे जीव जिसप्रकार सयमको प्राप्त नहीं हो सकते हैं उसीप्रकार सम्यक्त्वको प्राप्त नहीं होते हैं, यह बात भी नहीं है, क्योंकि, पेसा मान लेने पर भी सूत्रसे विरोध आता है ।

शंका—जिन जीवोंने पहले नरकायुका बन्ध किया और जिन्हें पीछेसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ पेसे वद्धायायुषः सम्यग्दृष्टियोंकी नरकमें उत्पत्ति होती है, इसलिये नरकमें असयतसम्यग्दृष्टि भ्रमे ही पाये जायें, परन्तु सासादन गुणस्थानवालोंकी (मरकर) नरकमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि सासादन गुणस्थानका नरकमें उत्पत्तिके साथ विरोध है । इसलिये सासादन गुणस्थानवालोंका नरकमें सद्भाव कैसे पाया जा सकता है ?

१ शंका नि खेवाह आउगत्रेण हाह सम्मत् । अशुबदमद्वेदाह ण त्वाह देवाउगं भोसु । गो क ३२४

२ य साम्णी पायायुणे । गो जी १२८ गिरा गाममग्गा ण गच्छदि सि । गो क २६२

तत्र सत्त्वमिति चेन्न, पर्याप्तनरकगत्या सहापर्याप्तया इय तस्य विरोधाभावात् । किमित्यपर्याप्तया विरोधेत्त्वभावाऽप्य, न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः । तर्ह्यन्यामपि गतिपर्याप्तकालेऽस्य सत्त्व मा भूतेन तस्य विरोधादिति चेन्न, नारकापर्याप्तकालेनैव शेषापर्याप्तपर्यायै मह विरोधामिद्वे^१ । सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्य पुन सर्वदा सर्वदा पर्याप्ताद्वाभिर्विरोधस्तत्र तस्य सत्त्वप्रतिपादकार्पाभावात् । किमित्यागमे तत्र तस्य सत्त्व नोक्तमिति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात् । कथं पुनस्तयोस्तत्र सत्त्वमिति चन, परिणामप्रत्ययेन तदुत्पत्तिरिति चेन्न । तर्हि सम्यग्दृष्टयोऽपि तथैव सन्तीति चेन्न, दृष्टत्वात् ।

समाधान—नह्य, क्योंकि, जिसप्रकार नरकगतिम अपर्याप्त अवस्थाके साथसासादन गुणस्थानका विरोध है, उसप्रकार पर्याप्त अवस्था सहित नरकगतिके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध नहीं है । अर्थात् नरकियोंके पर्याप्त अवस्थाम दूसरा गुणस्थान उत्पन्न हो सकता है । यदि कहो कि नरकगतिम अपर्याप्त अवस्थाके साथ दूसरे गुणस्थानका विरोध क्यों है ? तो उसका यह उत्तर है, कि यह नरकियोंका स्वभाव है, और स्वभाव दूसरे प्रदत्तके योग्य नह्य होते हैं ।

शुक्रा—यदि ऐसा है, तो अन्य गतियोंके अपर्याप्त कालमें भी सासादन गुणस्थानका सद्भावन मन होओ, क्याकि, अपर्याप्त कालक साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है ?

समाधान—यह कहना ठीक नह्य, क्योंकि, जिसतरह नरकियोंके अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है, उसतरह शेष गतियोंके अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध नह्य है । केवल सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानका तो सदा ही सभी गतियोंके अपर्याप्त कालके साथ विरोध है, क्योंकि, अपर्याप्त कालमें सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानका अस्तित्व बतानेवाले आगमका अभाव है ।

शुक्रा—आगममें अपर्याप्त कालम मिश्र गुणस्थानका सत्त्व क्या नह्य बताया ?

समाधान—नह्य, क्योंकि, आगम तर्कका विषय नह्य है ।

शुक्रा—तो फिर सासादन और मिश्र इन दोनों गुणस्थानोंका नरकगतिमें सत्त्व कैसे सम्भव है ?

समाधान—नह्य, क्योंकि, परिणामाके निमित्तसे नरकगतिकी पर्याप्त अवस्थाओं उनकी उत्पत्ति बन जाती है ।

शुक्रा—तो फिर सम्यग्दृष्टि भी उसीप्रकार होते हैं, ऐसा मानना चाहिये ? अर्थात्

१ [नेरस्या] सातणसम्माद्विपम्भाभिः आदिट्ठाण नियमा पत्रता । जी सं सं ८०

२ निरिच्छा XX मज्झिमा XX दवा विच्छाद्वि सामणसम्माद्वि जमजदग्माद्विट्ठाणे निमा पत्रता निमा अपजता । जी सं सं ८४, ८९, ९४

३ मण मणतगव्वादी वि य ण भिस्सग्मि । गो जा २४

सामादनस्येव सम्यग्दृष्टेरणि तत्रोत्पत्तिर्मा भूदिति चेन्न, प्रथमपृथिव्युत्पत्तिं प्रति निषेधाभावात् । प्रथमपृथिव्यामिव द्वितीयादिषु पृथिवीषु सम्यग्दृष्टय किन्नोत्पन्नन्त इति चेन्न, सम्यक्त्वस्य तत्रतन्यापर्याप्ताद्वया मह निरोधात् । नोपरिमगुणाना तत्र सम्भन स्तेषा सयमासंयमसंयमपर्यायेण सहात्र निरोधात् ।

तिर्यग्गतौ गुणस्थानान्वेषणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

तिरिक्त्वा पंचसु दृाणेषु अत्थि मिच्छाइट्टी सासणसम्माइट्टी
सम्माभिच्छाइट्टी असंजदसम्माइट्टी संजदासंजदा ति ॥ २६ ॥

तिर्यगग्रहण शेषमतिनिराकरणार्थम् । पञ्चसु गुणस्थानेषु सन्तीति उचन पडादिसत्याप्रतिषेधफलम् । मिथ्यादृष्ट्यादिगुणाना नामनिर्देशः मामान्यउचनत.

नरकगीतम पर्याप्त अवस्थामें सम्यग्दर्शनकी भी उत्पत्ति मानना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यह बात तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् सातों पृथिवियाँकी पर्याप्त अवस्थामें सम्यग्दृष्टियोंका सद्भाव माना गया है ।

शुक्रा—जिसप्रकार सासादनसम्यग्दृष्टि नरकमें उत्पन्न नहा होते हैं, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टियोंकी मरकर नरकम उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये ?

समाधान—सम्यग्दृष्टि मरकर प्रथम पृथिवीमें उत्पन्न होते हैं, इसका आगममें निषेध नहीं है ।

शुक्रा—जिसप्रकार प्रथम पृथिवीमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार द्वितीयादि पृथिवियाम सम्यग्दृष्टि जीव क्यों उत्पन्न नहीं होते हैं ?

समाधान—नहा, क्योंकि, द्वितीयादि पृथिवियोंकी अपर्याप्त अवस्थाके साथ सम्यग्दर्शनका विरोध है, इसलिये सम्यग्दृष्टि द्वितीयादि पृथिवियोंमें उत्पन्न नहा होते हैं ।

इन चार गुणस्थानोंके अतिरिक्त ऊपरके गुणस्थानोंका नरकमें सद्भाव नहीं है, क्योंकि, सयमासयम और सयम पर्यायके साथ नरकगीतमें उत्पत्ति होने का विरोध है ।

अतः तिर्यच गतिमें गुणस्थानोंके अन्वेषण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यागृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि और सयता सयत इन पांच गुणस्थानोंमें तिर्यच होते हैं ॥ २७ ॥

शेष गतियोंके निराकरण करनेके लिये 'तिर्यग्' पदका ग्रहण किया है । छह गुण स्थान आदिके निवारण करनेके लिये 'पांच गुणस्थानोंमें होते हैं' यह पद दिया है । 'तिर्यच

समुत्पद्यमानमक्षयनिराशयः । उदात्तमयतसम्यग्गणिमागन्तानामिह न सम्यग्मिथ्यादृष्टितयतासयतानां च तत्रापरीप्तकाले सम्भव गम्यन्ति तत्र न तयोर्विरोधात् । अथ स्यात्तिर्यञ्च पञ्चविधा, तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च पञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिर्यञ्च, पञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिर्यञ्च पञ्चेन्द्रियापर्याप्ततिर्यञ्च चेति तत्र न नायते केमानि पञ्च गुणस्थानानि सन्तीति ? उच्यते, न तादपर्याप्त पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च पञ्च गुणा मन्ति, लब्धपर्याप्तेषु मिथ्यादृष्टितिरिक्तगुण सम्भवान् । तत्त्वतोऽप्रगम्यत इति चेत् 'पञ्चेन्द्रिय तिरिस्म अपनत्त मि' आर्द्धं न्य पमाणेण रेगटिया, अमगेजा इदि, तर्हस्येन मिथ्यादृष्टिगुणस्य मग्याया प्रति

पाच गुणस्थानोंम हेते है' इस सामान्य उचनस मशय उत्पन्न हो सकना है कि पाच गुणस्थान कौन कौन है, इसलिये इस मशयको दूर करने के लिये मिथ्यादृष्टि आदि गुण स्थानाका नाम निदर्श किया है ।

जिसप्रकार घटायुक्त असयतसम्यग्गणि और सामादन गुणस्थानवागका तिर्यञ्च गतिके अपर्याप्तकालमें सङ्कार सम्भव है, उसप्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि और सयतासयतोद्य तिर्यञ्चगतिके अपर्याप्तकालमें सङ्कार सम्भव नहीं है, क्योंकि, तिर्यञ्चगतिके अपर्याप्त कालमें साय सम्यग्मिथ्यादृष्टि और सयतासयतका विरोध है ।

शङ्का — तिर्यञ्च पाच प्रकारके होते हैं, सामान्य तिर्यञ्च, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च, पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्च, पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्च और पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त तिर्यञ्च । परन्तु यह जानना नहीं आया कि इन पाच भेदोंमें किसे भेदम पूरा है पाच गुणस्थान होते हैं ?

समाधान — उक्त शङ्का पर उत्तर देने है कि अपर्याप्त पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंमें तो पाच गुणस्थान होते नहीं हैं, क्योंकि, लब्धपर्याप्तकोंमें पर मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोड़कर दो गुणस्थान ही सम्भव हैं ।

शङ्का — यह कैसे जाना कि लब्धपर्याप्त पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंमें पहला ही गुणस्थान होता है ?

समाधान — 'पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च अपर्याप्त मिथ्यादृष्टि औय द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा कितने है' इसप्रकारकी शङ्का होने पर द्रव्यप्रमाणानुगममें उत्तर दिया कि 'असंगत है' । इसतरह द्रव्यप्रमाणानुगममें लब्धपर्याप्त पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंके एक ही मिथ्यादृष्टि गुण स्थानकी मग्याका प्रतिपादन करनेवाला आपसमें मिलता है । इससे पता चलता है कि लब्धपर्याप्तकाके पर मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान ही होता है, और शेष चार प्रकारके तिर्यञ्चों पाचा ही गुणस्थान होते हैं । यदि शेषके चार भेदोंमें पाच गुणस्थान न माने जाय, तो उ चार प्रकारके तिर्यञ्चों पाच गुणस्थानोंकी सग्या आदिके प्रतिपादन करनेवाले द्रव्यानुव

पादकार्पात् । शेषेपु पञ्चापि गुणस्थानानि सन्ति, अन्यथा तत्र पञ्चाना गुणस्थानाना मग्यादिप्रतिपादकद्रव्याधारस्याग्रामाण्यप्रसङ्गात् । अत्र पञ्चविधास्तिर्यञ्च, किन्तु निरूपिता इति चेन्न, 'जाकृष्टाशेषप्रियेपप्रिय सामान्यम्' इति द्रव्यार्थिकनयानलम्बनात् । तिरश्चीपपर्याप्ताद्याया मिथ्यादृष्टिसासादना एव सन्ति, न शेषास्तत्र तन्निरूपकार्पाभावात् । भन्तु नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टिमयतासयताना तत्रासत्त्व पर्याप्ताद्यायामेति नियमोपलम्भात् । कथं पुनरमयतसम्यग्दृष्टीनामसत्त्वमिति न, तत्रासंयतसम्यग्दृष्टीनामुत्पत्तेरभावात् । तत्तुतोऽप्रगम्यत इति चेत्—

उसु हेडिमासु पुडगीसु जोदस गण-भगण-सञ्च-इथीसु ।

णेदेसु समुपपन्नद सम्माइही दु जो जीरो ॥ १६३ ॥ इत्यापात् ।

आदि आगमम अप्रमाणताका प्रसग आजायगा ।

शका—सूत्रमें तिर्यचसामान्यके स्थानपर पाच प्रकारके तिर्यचोंका निरूपण क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, 'अपनेमें सभ्य सपूर्ण विशेषाको विषय करनेवाला सामान्य होता है' इस न्यायके अनुसार द्रव्यार्थिक अर्थात् सामान्य नयके अत्रलम्बनसे सपूर्ण भेदोंका तिर्यच सामान्यमें अन्तर्भाव कर लिया है, अतएव पाचों भेदोंका अलग अलग निरूपण नहीं किया, किन्तु तिर्यच इतना सामान्य पद दिया है ।

तिर्यचनियोंके अपर्याप्तकालमें मिथ्यादृष्टि ओर सासादन ये दो गुणस्थानवाले ही होते हैं, शेष तीन गुणस्थानवाले नहीं होते हैं, क्योंकि, तिर्यचनियोंके अपर्याप्तकालमें शेष तीन गुणस्थानोंका निरूपण करनेवाले आगमका अभाव है ।

शका—तिर्यचनियोंके अपर्याप्तकालमें सम्यग्मिथ्यादृष्टि ओर सयतासयत इन दो गुणस्थानजालोंका अभाव रहा आवे, क्योंकि, ये दो गुणस्थान पर्याप्त कालमें ही पाये जाते हैं, ऐसा नियम मिलता है । परन्तु उनके अपर्याप्त कालमें असयतसम्यग्दृष्टि जीवाका अभाव कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तिर्यचनियोंमें असयतसम्यग्दृष्टियोंकी उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिये उनके अपर्याप्त कालमें चौथा गुणस्थान नहीं पाया जाता है ।

शका—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—'जो सम्यग्दृष्टि जीव होता है, वह प्रथम पृथिवीके बिना नीचेकी छह' पृथिवियोंमें, ज्योतिषी, व्यंत्तर और भजनवासी देवोंमें, ओर सर्व प्रकारकी स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होता है' ॥ १३३ ॥

१ पवित्रियनिरिक्रजणिगास मिथ्याइष्टिसासणसम्माइडिड्डाण सिया प जत्तियाओ सिया अपजत्तियाओ ना म सू ८७

२ सम्मामिच्छाइष्टिअमनदसम्माइष्टिमज्जासदद्वान्ण णियमा पत्तियाओ । जी स सू ८८

मनुष्यगतौ गुणस्थानान्नेपणार्थमुत्तमममाह —

मणुस्सा चोदससु गुणद्वानेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी, सासणसम्मा
इट्ठी, सम्मामिच्छाइट्ठी, असंजदसम्माइट्ठी, संजदासंजदा, पमत्तसंजदा,
अप्पमत्तसजदा, अपुब्बकरण-पविट्ठ-सुद्धि संजदेसु अत्थि उवसमा
खवा, अणियट्ठि-वादर सांपराइय पविट्ठ-सुद्धि-सजदेसु अत्थि उवसमा
खवा, सुहुम सांपराइय-पविट्ठ-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा,
उवसत कसाय वीयराय छदुमत्था, खीण कसाय-वीयराय-छदुमत्था,
सजोगिकेवली, असजोगिकेवलि त्ति ॥ २७ ॥

एयस्म सुत्तस्स जत्थो पृथ्व उत्तो त्ति णेदाणि उचंढं जाणिद-जाणारणे फला
भावादो । पुत्तमउत्तममामण एवम-विहिं णत्थ मरद्वमुरसाभग-रूपम मरुन नाणा
वण्ठ सखेयदो भणिस्सामो । त जहा, तत्थ ताव उवसामण-विहिं वत्तइस्सामा ।
अणताणुनवि क्रोध माण माया-लोभ मम्मत्त-सम्मामिच्छत्त मिच्छत्तमिदि एदाओ मत्त
पयडीओ असजदसम्माइट्ठि-पपट्ठि जाव अप्पमत्तमजदो त्ति ताव एदेसु जो वा सो वा

इम आर्प वचनसे जानते हैं कि असयतसम्यग्दृष्टि जीव तिर्यचनियोंम उत्पन्न नहीं
होते हैं ।

अत्र मनुष्यगतिम गुणस्थानोंके अन्नेपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिच्छादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिच्छादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, सयतासयत,
प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसयत, अपूर्वकरण प्रविष्ट विगुज्झि सयतोंमें उपशमक और क्षपक, अत्र
वृत्तिरादिरसापराय प्रविष्ट विगुद्धि-सयताम उपशमक और क्षपक, सूक्ष्मसापराय प्रविष्ट विगुद्धि
सयतोंमें उपशमक और क्षपक, उपशातगपाय धीतराग छन्नस्य, क्षीणगपाय धीतराग
छन्नस्य, स्यागिकेवली और अस्योगिकेवली इसतरह इन चोदह गुणस्थानोंमें मनुष्य पाए
जाते हैं ॥ २७ ॥

इस सूत्रका अर्थ पहले कहा जा चुका है इसलिये अब नहीं कहते हैं, क्योंकि
जिसका ज्ञान हो गया है उसका फिरसे ज्ञान करनेमें कोई विशेष फल नहीं है । पहले
उपशमन और क्षपणविधिका स्वरूप कहा रहा है, इसलिये उपशमक और क्षपकके स्वरूपका
ज्ञान करानेके लिये यहाँ पर सत्र-प्रपात उपशमन और क्षपणविधिको संक्षेपसे कहते
हैं । चंद इसप्रकार है । उसमें भी पहले उपशमनविधिको कहते हैं—

अन तानुवर्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, सम्यग्प्रकृति, सम्यग्मिच्छात्वं तथा

१ मनुष्यात्तो चतुदशाध सति । स मि २८

उत्तममेदि' । मरुत छट्टिय अण्ण पयडि-सस्सेणञ्जमणताणुत्तवीणमुत्तमो' । दसण-
तियस्म उटयाभाओ उत्तमो' तेसिमुत्तमताण पि ओकहुत्तहुत्त पर-पयडि-मरुमाणमत्तिव-
त्तादो । अपुत्तकरणे ण एक पि कम्ममुत्तममदि । किन्तु अपुत्तकरणो पडिसमय-
मणतगुण-विमोहीए वहुतो अतोमुत्तमगतोमुत्तमेण एक्के' द्विदि सडय घादतो सस्सेज-
महस्माणि द्विदि-सडयाणि घाददि, तत्तिथमेत्ताणि द्विदि-उत्तमरणाणि क्केदि । एक्के

मिव्यात्त इत्त सान प्रवृत्तियोका जसयत्तसम्पद्विसे अप्रमत्तसयत्त गुणस्थानतक इत्त चार
गुणस्थानोंमें रहनेवाला कोई भी जीव उपशम करनेवाला होता है । अपने स्वरूपको छोड़कर
जय प्रवृत्तिरूपसे रहना अनन्तानुबन्धीय उपशम है । जग उदयमें नहा आना ही दर्शन
मोहनीयकी तीव्र प्रवृत्तियाका उपशम है, स्वयं, उत्कर्षण, प्रकर्षण और परप्रवृत्तिरूपसे
सम्पन्न होने प्राप्त और उपशात हुई उन तीन प्रवृत्तियाका अस्तित्व पाया जाता है । अपूर्वकरण
गुणस्थानम एक भी कर्मका उपशम नहीं होता है । किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थानवाला जीव प्रत्येक
समयम अनन्तगुणी विशुद्धिसे वृत्ता हुआ एक एक अन्तर्मुहूर्तमें एक एक स्थिति स्पष्टका घात
करता हुआ सरयात हजार स्थिति स्पष्टोंका घात करता है । और उतने ही स्थिति अधापसर

१ वेदसम्मादिद्वी जाया XX जगताणुत्तमी विमजीय जतोमुत्तम जघापरत्तो हाण्ण पुणो पमत्तगुण पडि
वडिय जमादर दिमोणजममिच्छि तादाणि कम्मणि जतामुत्तम वडिय दमणमोत्तवीयमुत्तममेदि । धरला ज पृ ४३६
वदयमम्मादिद्वी जगताणुत्तमा आक्किमोत्तमूण कमाण उत्तममदु णो उत्तमादि । अविमोत्तमताणुत्तमविचउत्तम
वेदयमम्मादिद्वी कथायोजमामणाणिवणदमणमागेत्तमामणादिमिरियाण पउत्ताण जममादो । जयध अ पृ १००२
उत्तमचरियाभिगहा वेदमम्मा जग त्रिनादि । अतामुत्तमजा जघापरत्तो पमत्ता य ॥ छ भ २०५ णवि अण
उत्तमगे । गो १ ३९१ ' विरयतिरिया' वेणिण वि पमत्तमायाणि दमणतियाणि । गणा एदे णया मगे
एवेयगा हाति ॥ गो १ ३८४ ' इति वधेना उपशमयेण्या १४६ प्रवृत्तिमस्थानस्य सद्भावादन तातुत्तविचतुत्तम्य
मत्तापि विमायते, ततो ह्याय य द्वितीयापशमस्य रूपमन तातुत्तविच उपशमेणापि भवति । अतिरन्तम्य
मदिद्विभितप्रमत्तपयत्तानामयत्तमान तातुत्त पुपमना विचारुं XX यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरण च गच्छति ।
क प्र पृ २६७ वयगममदिद्वी चरित्तोत्तममाए चिद्वता । अजउ देवन या रित्तो या विमोहि
अद्वान् । १ प्र उप २७ चारित्तोत्तममायस्योपशमना क्षाणमपत्तस्य वमानिस्स वद्वामुत्तस्य
भवति । अजउयस्सु क्षपणयोगिमादोति । यस्तु वेदसम्पद्वि सत्तुपशमयोगि प्रतिपद्ये सोऽनियतो
वद्वामुत्तमवद्वामुत्तम वा । स च तेषां विमत्तमान तातुत्तविच विचयोत्त चतुर्विधमिस्समा सन्
प्रतिपद्यते । केषां विपुनर्भवेनोपशमयोगि, ततो विमयोत्तमान तातुत्तविच विचय उपशमितान तातुत्तविचयया वा
सन् दाननिवमुपशमयति । अवया > जादा दानमोत्तम भवयित्वा उपशमयोगि प्रतिपद्यते, अवया दानमोत्तवीय
गममुपशमयोगि प्रतिपद्यते । वयमुपशमयत्त जा-शामण्ये सग्गे भित्त्वा । प स पृ १०६

२ तत्त एमिस्सिमिरिपि करणधाममेणान तातुत्तविच कथायाणुत्तमयति । XX एवमर्थायमेतानन्तानु
वै विनापुत्तमांमिद्वि, जय न्यनतानविच विमयानामेतामिद्वि । जाचा पृ २७१

३ परणपरिणामदि निरुत्तायस्म दमणमोत्तमयस्म उदयपउत्तमणि तातुत्तगुणममा पि । जयध

द्विदि सटय-काल-भतरे सरोज-महस्माणि अणुभाग-सटयाणि घादेदि । पडिसमयम
 सरोजगुणाण सेढीए पडेस-णिज्जर करेदि । जे अप्पमत्त-कम्ममे ण उधत्ति तेसि पडेमग्ग
 मसरोज-गुणाण मेढीए अण्ण-पयटीसु उज्झमाणिवासु मक्कामेदि । पुणो अपुच्चकरण
 पोलेरुण अणियद्वि गुणद्वया पत्तिसिउणतोमुत्तमणेणेष विहाणेणत्थिय नारस कमाय
 णउ-णोक्कमायाणमतर अतोमुत्तरेण करेदि । अतरे क्कते पढम-ममयादो उअरि अतामुत्त
 गत्तण अमरोज गुणाण मेढीए णउमय वेदमुत्तमामेदि । उत्तममो णाम किं ? उदय
 उदीरण ओक्कदुक्कदुण-परपयाडिमक्कम द्विदि-अणुभाग-कडयघादेदि विगा अच्छणमुत्तमो ।
 तदो अतोमुत्त गत्तण णउमयवेदमुत्तमामिद विहाणेणित्थियवेदमुत्तमामेदि । तदो अतोमुत्त

णोंको करता है । तथा एक एक स्थिति सण्डके कालम सरयात हजार अनुभाग सण्डोंका नात
 करता है । और प्रतिसमय अमरयात गुणित श्रेणीरूपमे प्रदेशासी निर्जरा करता है । त या जिन
 अप्रशस्त प्रतियाया घ-व नहा होना है उनकी कर्ममार्गाको उस समय बधनेवाली अय
 प्रवृत्तियोंमें अमरयातगुणित श्रेणीरूपमे स्वयमण कर देता है । इसतरह अपूर्वकरण गुणस्थानको
 उल्लंघन करके और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानम प्रवेश करके, एक अन्तर्मुहूर्त पूर्वाक्त विधिसे
 रहता है । तत्पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा बारह कपाय आर मो नोकपाय इनका
 अन्तर (करण) करता है । (नीचेसे व ऊपरके निपेकाको छोटकर घीचके कितने ही निपेकोंके
 रूपको अय निपेकाके रूपमें निक्षेपण करके नीचेके निपेकाके अमाय करनेको अन्तरकरण
 कहते हैं ।) अन्तरकरण पर प्रथम समयमे लेकर ऊपर अन्तर्मुहूर्त जाकर
 अमरस्थानगुणी श्रेणीके पदशम करता है ।

गंतूण तेणेन त्रिहिणा ठण्णोरुमाए पुरिसवेद-चिराण-संत रुम्मेण सह जुगन उवसामेदि' ।
 तत्तो उपरि समऊण-दो-आवालेयाओ गंतूण पुरिसवेद-णवरु-बंधमुवसामेदि । तत्तो
 अतोमुटुत्तमुपरि गंतूण पडिममयममखेजाए गुणमेटीए अपचनखाण पचकखाणावरण-
 मणिण्डे दोणिण त्रि कोवे कोव-सजलण-चिराण-सतरुम्मेण सह जुगनमुवसामेदि । तत्तो
~~तत्तो उपरि समऊण-दो-आवालेयाओ गंतूण पुरिसवेद-णवरु-बंधमुवसामेदि । तत्तो~~
 गंतूण कोव-सजलण-णवरु-बंधमुवसामेदि । तदो

उत्तमामेदि । सुहृमकिट्टि मोत्तण अउमेमो नादरलोभो फट्ठय गदो सज्जो णवरु-
चधुञ्जिट्ठारलिय-उज्जो अणियट्ठि-चरिम-समए उवसतो । णवुमयपेदप्पहुडि जाय चादर-
लोभ-मज्जलणो चि ताज एदासि पयड्ढाणमणियट्ठि उत्तमामो होति । तदो णतर-ममए
सुहृमकिट्ठि-मरुज लोभ पेदतो णट्ठ-अणियट्ठि सण्णो सुहृममापराड्ढो होदि । तदो मो
अप्पणो चरिम ममए लोह-सज्जलण सुहृमकिट्ठि मरुज णिम्मेममुत्तमामिण उत्तत क्रमाय
वीट्ठाराग उदुमत्थो होदि । एसा मोहणीयस्म उत्तमामण णिही ।

हे । इमतरह सूक्ष्मदृष्टिगत लोभको छोड़कर और एक समय कम दो आवश्यकताय नयन समयप्रसन्न
तथा उच्छिष्टावली मात्रानिपेक्षकोंको छोड़कर नैय स्पष्टकगत सपूर्ण चादरलेभ अनिवृत्तिस्मरणके
चरम समयमें उपशान्त हो जाता है । इसप्रकार नपुंसकपेदेने लेख जब तब चादर मज्ज
लनलेभ रहता है तबतक अनिवृत्तिस्मरण गुणस्वानाया जीव इन पूर्वान्त प्रवृत्तियाँ उपशम
करनेवाला होता है । इसके अनंतर समयमें जो सूक्ष्मदृष्टिगत लोभका अनुभव करना है और
जिसने अनिवृत्ति इस सशको नष्ट कर दिया है, ऐसा जीव सूक्ष्मसापराय गुणज्ञानप्राप्ति
होता है । तदनंतर वह अपने कालके चरम समयमें सूक्ष्मदृष्टिगत सपूर्ण लोभमज्जलन
उपशम करके उपशान्तकपाय वीतराग छद्मस्थ होता है । इसप्रकार मोहनीयकी उपशमन
विधिमा वर्णन समाप्त हुआ ।

विशेषार्थ—लब्धिसार आदि ग्रन्थोंमें द्वितीयोपशम सम्प्रत्ययकी उत्पत्ति अप्रमत्तसयत
गुणस्थानमें ही बतलाई है, कि तु यहाँ पर उपशमन विधिके कथनमें उसकी उत्पत्ति असयत
सम्प्रगृह्यसे लेकर अप्रमत्तसयत गुणस्थानतक किमी भी एत गुणस्थानमें बतलाई गई है ।
अबलामें प्रतिपादित इस मतमा उल्लेख श्वेताम्बर संप्रदायमें प्रचलित कर्मप्रवृत्ति आदि ग्रन्थोंमें
देखनेमा आता है ।

तथा अनन्तानुबन्धके अर्थ प्रवृत्तिरूपसे सव्रमण होनेको ग्रन्थान्तरोंमें
विसयोजना कहा है, और यहाँ पर उसे उपशम कहा है । यद्यपि यह केवल शब्द भेद है,
और स्वयं धीरेसेन स्वामीको द्वितीयोपशम सम्प्रत्ययमें अनन्तानुबन्धका अभाव इष्ट है ।
फिर भी उसे विसयोजना शब्दसे न कहकर उपशम शब्दसे द्वारा कहनेसे उनका यह
अभिप्राय रहा हो कि द्वितीयोपशम सम्प्रगृह्य जीव कदाचिन्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त
होकर पुनः अनन्तानुबन्धका अर्थ करने लगता है, और जिन कर्मप्रदेशोंमा उसने अर्थ

१ (य) निमित्तमज्जावलिमात्रमवशिष्यते तद्विच्छिन्नमवशिष्यम् । ल ख ११३

२ ल ख २०५ स वरुनवाट्ठारलोभस्य प्रथमस्थितौ उच्छिष्टावलिमात्रमवशिष्टे उपशमनावलिचरमसमये
लोभनयन्य सवम यपसमित मयति । तत्र गुहमदृष्टिगतदय समयोनरगावलिमात्रसमयप्रवृद्धनयन्य य
अच्छिष्टावलिमात्रमवशिष्यदय च नोपशमयति । एतद्वयनय मुत्तवा लोभनयन्य सवमपि सवमयमुपशमितमिथ्य ।
म टी

३ विशयविज्ञाहमिधमास्थ चारिणोपशममविबिरललोफनीय । ल ख २०५ ३११

समण-विहिं उत्तइस्सामो । समण णाम किं ? अट्ठण्हं कम्माण मूलत्तर-भेय-

प्रकृतिरूपसे सक्रमण किया था उनका फिरसे अनन्तानुबन्धीरूपसे सक्रमण हो सकता है । इस प्रकार यद्यपि द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीकी सत्ता नहीं रहती है, फिर भी उसका पुनः सद्भाव होना संभव है । अतः द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीकी प्रियोजना न कह कर उपशम शब्दका प्रयोग किया है ।

अथवा, द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति कोई आचार्य तो अनन्तानुबन्धीकी प्रियोजनासे मानते हैं, और दूसरे आचार्य अनन्तानुबन्धीके उपशमसे मानते हैं । इस प्रकार दो मत हैं । अनन्तानुबन्धीके उपशमका उक्त प्रकारसे लक्षण गांधते समय संभव है कि धनलाकारकी दृष्टि उक्त दोनों मतों पर रही हो ।

उपशमन और क्षण विधिमें सर्वत्र एक समय कम दो आवलीमात्र नवक समय प्रगट्ठा उल्लेख आया है । और वहाँ पर यह भी बतलाया है कि इनका प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मोंके साथ उपशमन या क्षण न होकर अनन्तर उतने ही कालमें एक एक निपेकके क्रमसे उपशम या क्षय होता है । इसका यह अभिप्राय है कि जिन कर्मप्रकृतियोंकी गन्ध, उदय और सत्त्व-व्युच्छित्ति एकसाथ होती है, उनके बीच और उदय-व्युच्छित्ति के कालमें एक समय कम दो आवलीमात्र नवक समयप्रगट्ठा रह जाते हैं, जिनकी सत्त्व-व्युच्छित्ति अनन्तर होती है । वह इस प्रकार है कि विनाशित (पुरुषोद् आदि) प्रकृति के उपशमन या क्षण होनेके दो आवली काल अवशिष्ट रह जाने पर द्विचरमावलीके प्रथम समयमें बंधे हुए द्रव्यका, बन्धावलीको व्यतीत करके चरमावलीके प्रथम समयसे लेकर प्रत्येक समयमें एक एक फालिका उपशम या क्षय होता हुआ चरमावलीके अन्त समयमें संपूर्णरीतिसे उपशम या क्षय होता है । तथा द्विचर मावलीके द्वितीय समयमें जो द्रव्य बंधता है, उसका चरमावलीके द्वितीय समयसे लेकर अन्त समयतक उपशम या क्षय होता हुआ अन्तिम फालिका छोड़कर सरका उपशम या क्षय होता है । इसीप्रकार द्विचरमावलीके तृतीयादि समयमें बंधे हुए द्रव्यका बन्धावलीको व्यतीत करके चरमावलीके तृतीयादि समयसे लेकर एक एक फालिका उपशम या क्षय होता हुआ क्रमसे दो आठि फालिरूप द्रव्यको छोड़कर शेष सरका उपशम या क्षय होता है । तथा चरमावलीके प्रथमादि समयोंमें बंधे हुए द्रव्यका उपशम या क्षय नहीं होता है, क्योंकि, बंधे हुए द्रव्यका एक आवली तक उपशम नहीं होता, ऐसा नियम है । इसप्रकार चरमावलीका संपूर्ण द्रव्य और द्विचरमावलीका एक समयकम आवलीमात्र द्रव्य उपशम या क्षय रहित रहता है, जिसका प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मोंके उपशम या क्षय हो जानेके पश्चात् ही उपशम या क्षय होता है ।

अब क्षणविधिको कहते हैं—

शरा — क्षय किसे कहते हैं ?

समाधान—जिनके मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृति के भेदसे प्रकृतिगन्ध, स्थितिगन्ध, अनुभागगन्ध और प्रदेशगन्ध अनेक प्रकारके हो जाते हैं, ऐसे आठ कर्मोंका जीवसे जो अत्यन्त

भिण्ण पयडि-ट्टिदि-अणुभाग-पदेसाण जीवादेो जो णिस्सेम-विणासो त सउण णाम ।
 अणताणुपधि-क्रोध माग माया लोभ मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्त-मम्मत्तमिदि एदाओ सत्त
 पयडीओ असजदमम्माइटी सजदासजदो वा पमत्तसजदो वा जप्पमत्तसजदो वा
 सरेदि । किमक्खेण किं कमेण सरेदि ? ण, पुनमणताणुपवि चउव तिण्णि वि
 करणाणि काऊण अणियट्ठि करण चरिम समए अवमेण सरेदि । पच्छा पुणो वि तिण्णि
 करणाणि काऊण अधापत्त-अपुव्वकरणाणि दो वि घोलाविय अणियट्ठिकरणद्वाण
 मखेजे भागे भूतूण मिच्छत्त सरेदि । तदो अतोमुहुत्त गतूण सम्मामिच्छत्त सरेदि । तदो
 अतोमुहुत्त गतूण सम्मत्त सरेदि । तदो अधापवत्तकरण कमेण काऊणतोमुहुत्तेण
 अपुव्वकरणो होदि । सो ण एक पि कम्म कसरेदि, कितु समय पडि असरेज्ज गुण-
 मरूपेण पदेस णिज्जर करेदि । अतोमुहुत्तेण एवेक ट्टिदि कडय घादेतो अप्पणो कालव्भतरे
 सखेज्ज-सहस्माणि ट्टिदि कडयाणि घादेदि । तत्तियाणि चेव ट्टिदि नवेमरणाणि वि

विताश हो जाता है उसे क्षण (क्षय) कहते हैं । अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ,
 तथा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यग्प्रवृत्ति, इन सात प्रवृत्तियोंका असयतसम्यग्दृष्टि,
 सयतासयत, प्रमत्तसयत अथवा अप्रमत्तसयत जीव नाश करता है ।

शुक्रा—इन सात प्रवृत्तियोंका क्या युगपत् नाश करता है या क्रमसे ?

समाधान—नहो, क्योंकि, तीन करण करके अनिवृत्तिकरणके चरम समयमें पहले
 अनन्तानुबन्धी चारका एक साथ क्षय करता है । तत्पश्चात् फिरसे तीन करण करके, उनमें
 से अधाकरण और अपूर्वकरण इन दोनों को उलूघन करके अनिवृत्तिकरणके सख्यातभाग
 व्यतीत हो जाने पर मिथ्यात्वका क्षय करता है । इसके अनन्तर अन्तर्मुहूर्त व्यतीतकर
 सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय करता है । तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त व्यतीतकर सम्यग्प्रवृत्ति का क्षय
 करता है ।

इसतरह क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सातिशय अप्रमत्त गुणन्यानको प्राप्ति होकर जिस समय
 क्षणमिधिका प्रारम्भ करता है, उससमय अथ प्रवृत्तिकरणको करके क्रमसे अन्तर्मुहूर्तमें
 अपूर्वकरण गुणस्थानवाला होता है । वह एक भी कर्मका क्षय नहो करता है, किन्तु प्रत्येक
 समयमें असख्यातगुणितरूपसे कर्म प्रदेशोंकी निर्जरा करता है । एक एक अन्तर्मुहूर्तमें एक
 एक स्थितिकाण्टका घान करता हुआ अपने कालके भीतर सख्यात हजार स्थितिकाण्ट
 कोंका घान करता है । और उतने ही स्थितिविधापसरण करता है । तथा उनसे सख्यात हजार

१ मय आयतिश निवृत्ति । यथा तस्मिन्वाग्मसि श्रुतिमानना तस्मिन्वाग्मसि पङ्कस्यायतामान । स वि
 २ १ त रा वा २ १ २ त शो वा २ १ ३

२ परममायवउक् इवो मिच्छत्तासममत्त । अतिरयमम दसे पमति अपमति याजति । क म ६ ७८

३ जयदवउक् तु अण अणियट्ठिकरणचरिमिदि । जमाव सनोणिवा पुणो वि अणियट्ठिकरणवहुभाग ।।
 कोलिय कम्मो मिण्ण मिसल मम्म खवदि कम्म । गा ४ ३६५, ३६६

करेदि । तेहिंते संसेज्ज-सहस्स-गुणे अणुभाग-कडय-घादे करेदि ' एकाणुभाग-कंडय-उक्कीरण-कालादो एक द्विदि-कडय-उक्कीरण-कालो संसेज्ज-गुणो ' ति सुत्तादो । एव काळुण अणियट्ठि-गुणट्ठाण पमिमिय तत्थ नि अणियट्ठि-अट्ठाए सखेज्जे भागे अपुच्च-करण-विहाणेण गमिय अणियट्ठि-अट्ठाए सखेज्जवि-भागे सेसे धीणगिट्ठि-तियं णिरयगइ-तिरिस्सगइ-एइंदिय-वीइंदिय-तेइंदिय-चउररदियजादि-णिरयगइ-तिरिस्सगइपाओग्गाणु-पुच्चि-आदागुज्जोन-वारर-सुहुम-साहारणा ति एटाओ मोलम पयडोओ खवेदि । तदो अनोमुहुत्त गत्तण पच्चस्साणापच्चस्साणावरण-क्रोध-माण-माया-लोभे अक्खेण खवेदि' । एसा सत्त कम्म-पाहुड-उत्तएसो । क्कमाय-पाहुड-उत्तएसो पुण अट्ठ-क्कसाएसु सीणिसु पच्चा अतोमुहुत्त गत्तण सोलस-क्कम्माणि खमिज्जति' ति । एटे दो नि उत्तएसो सच्चमिदि के नि मण्णति, तण्ण घडटे, निरुद्धत्तादो सुत्तादो । दो नि पमाणाइं ति वयणमनि ण घडटे, 'पमाणेण पमाणाविरोहिणा होदच्चं' इदि णायादो । णाणा जीमाणं

गुणे अनुभागकाण्डकोंका घात करता है, क्योंकि, एक अनुभागकाण्डकके उत्कीरण कालसे एक स्थितिकाण्डकका उत्कीरण काल मख्यातगुणा है, ऐसा सूत्र उचन है । इसप्रकार अपूर्वकरण गुणस्थानसम्बन्धी क्रियाको करके और अनितृत्तिकरण गुणस्थानमें प्रविष्ट होकर, वहा पर भी अनितृत्तिकरण कालके सख्यात भागोंको अपूर्वकरणके समान स्थितिकाण्डक घात आदि विधिसे धिताकर अनितृत्तिकरणके कालम सख्यातभाग शेष रहने पर स्यान्मृद्धि, निद्रा निद्रा, प्रचला-प्रचला, नरकगति, निर्ध्वगति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, नरकगतिप्रायेत्यानुपूर्वी, निगचगतिप्रायेत्यानुपूर्वी, आताप, उद्योत, स्थारर, सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियोंका क्षय करता है । फिर अन्तर्मुहूर्त व्यतीतीकर प्रत्याख्यानावरण और अप्रत्याख्यानावरणसम्बन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन आठ प्रकृतियोंका एकसाथ क्षय करता है । यह सत्कर्मप्राभृतका उपदेश है । किन्तु कपायप्राभृतका उपदेश तो इसप्रकार है कि पहले आठ कपायोंके क्षय होजाने पर पीछेसे एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्वान्क सोलह कर्म प्रकृतिया क्षयको प्राप्त होती है । ये दोनों ही उपदेश सत्य हैं, ऐसा किन्तु ही आचार्योंका कहना है । किन्तु उनका ऐसा कहना घटित नही होता है, क्योंकि, उनका ऐसा कहना सूत्रसे विरुद्ध पडता है । तथा दोनों कथन प्रमाण हैं, यह वचन भी घटित नहीं होता है, क्योंकि, 'एक प्रमाणको दूसरे प्रमाणका विरोधी नहीं होना चाहिये' ऐसा न्याय है ।

१ णिरयतिरिस्सदु विथल धीणविज्जोन तार पइदा । सारणसुहुमधारर ताल मस कमायड्ढ ॥ गा व ३३८ अणियट्ठिमाथरे षण्णगिट्ठिगि निरयतिरियनामाजा । सखेज्जम सस तप्पाउग्गाओ सीअनि ॥ इत्तो हणइ कमायट्ठमपि XX व म ७८, ७९

२ तदो अट्ठकमायणिदिसडयपुधत्तेण सत्तामि' चति । जयध अ पृ १०७८ तदो द्विदिसडयपुधत्तेण अपच्छिमे द्विदिसडय उक्किणे एदमि सोलसण्ण कम्माण त्रिदिसत्तम्ममानलियमत्तर सम । जयध अ पृ १०७९ XX खगगा

णाणाविह-सत्ति-संभाराविरोहादो । केमिं चि जीवाण णट्टेसु अट्ठसु रुमाएसु पञ्चा सोलस-
कम्म-कट्ठण-सत्ती समुपज्जदि चि तेण पञ्चा सोलस कम्म कसयो होदि , ' कारण-
कम्माणुमारी कज्ज रुमो ' ति जायादो । केमिं चि जीवाण पुव्व सोलस-कम्म कट्ठण-
सत्ती समुपज्जदि, पञ्चा जह रुमाय कट्ठण-सत्ती उपपज्जदि ति णट्टेसु सोलस-कम्मेसु
पञ्चा अतोमुहुत्ते अदिक्खे अट्ठ रुपाया णम्मति । तणे ण दोण्ह उपपमाण विरोहो
त्ति के नि जाडरिया भणति, तण्ण उड्ढे । किं कारण ? जेण जणियट्ठिणो णाम जे
के वि एय समए उट्ठमाणा ते सव्वे वि अदीदाणागट उट्ठमाण कालेसु ममाण-परिणामा,
तदो चेय ते ममाण-गुणवेदि निज्जरा वि । जह भिण्ण-परिणामा उच्चति तो क्वहि
ण ते अणियट्ठिणो, भिण्ण परिणामत्तादो अपूव्वकरणा इव । ण च कम्म सम्बधान

शुद्धा—नाना जीवके नाना प्रकारकी शक्तिया समय ह, इसमें कोई विरोध नहीं
जाता है । इसलिये जितने ही जीवके आठ कषायोंके नष्ट हो जानेपर तदनन्तर सोलह
कर्मोंके क्षय करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है । अत उनके आठ कषायोंके क्षय हो जानेके
पश्चात्, सोलह कर्मोंका क्षय होता है । क्योंकि, 'जिस क्रमसे कारण मिलते हैं उसी क्रमसे कार्य
होना है' ऐसा न्याय है । तथा किन्ने ही जीवके पहले सोलह कर्मोंके क्षयकी शक्ति उत्पन्न
होती है, और तदनन्तर आठ कषायोंके क्षयकी शक्ति उत्पन्न होती है । इसलिये पहले सोलह
कर्म प्रवृत्तिया नष्ट होती है, और इससे पीछे एक अन्तर्मुक्तिके व्यतीत होने पर आठ कषायें
नष्ट होती हैं । इसलिये पूर्वोक्त दोनों उपदेशोंमें कोई विरोध नहीं आता है, ऐसा किन्ने ही
आचार्य कहते हैं ?

समाधान—परन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, अनिवृत्तिकरण
गुणस्थानवाले जितने भी जीव हैं, वे सब जतीत, वर्तमान और भविष्य का सम्बन्धी किसी
एक समयमें नियमान होते हुए भी समान परिणामवाले ही होते हैं, जो इसीलिये उन
जीवोंकी गुणधेणी निर्जरा भी समानरूपसे ही पाई जाती है । और यदि एक
समयस्थित अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवालोंको विमृश परिणाममाना कहा जाता है, तो जिस
प्रकार एक समयस्थित अपूर्व्वकरण गुणस्थानवालोंके परिणाम विसदृश होते हैं, अतएव उन्हें
अनिवृत्ति यह सहा प्राप्त नहीं हो सकती है, उसीप्रकार इन परिणामोंको भी अनिवृत्तिकरण
यह सहा प्राप्त नहीं हो सकेगी । और असंख्यानगुणी धेणीके द्वारा कर्मस्वभावके क्षणके कारण

पुत्र सवितु अहं य । पञ्च सागदान स्रग इदि कहि निजि । भा व, ३९१ प्रत्यायानप्रत्यायानाप्रमन्तय
गुणे नवम । तत्तमनवमपिन क्षयदिने पोत्त प्रस्ता ॥ XXX जगद्वेचना वन्दिप्राय घनातरत् । क्षयका वि
तथायात क्षयप्रस्ता परा ॥ स्थापारक्षय च क्षयविवा-न्तेवर् नमोर् । कामानन्दमादिपट्टरूपोदसार ॥ प
युधदेव । जय पुनराहु, पाञ्च कमाण्वर पूर क्षयविगारमत, केवलमपान्तरां या कषायान् क्षययति, पश्चात्
वाञ्छा समाणाने समप्रयत्नो ॥ छा प्र, प्र सा पृ ६८,

अमग्येन गुणमेदीण स्वयण-हेतु-परिणामे उज्जिऊणणे परिणामा द्विदि-अणुभाग-
 न्वटय वादस्म कारणभूदा अत्थि, तेसि निरूपय-सुत्ताभावादो । ' रुज्ज-गाणत्तादो
 काण-णाणत्तमणुमाणिज्जदि ' इदि एदमपि ण वडदे, एयादो मोगगरादो नहु-कोटि-
 रुजालोपलभा । तत्थ पि होदु णाम मोगगरो एओ, ण तस्स सत्तीणमेयत्त, तदो एय-
 क्वप्पप्पवत्ति-प्पमगादो इदि चे तो रुग्गहि एत्थ पि भयदु णाम द्विदि-कटयवाद-अणुभाग-
 रुडयवाद-द्विदिउधोमरण-गुणसरुम गुणसेदी-द्विदि-अणुभागउध-परिणामाण णाणत्त तो
 पि एग-समय-सठिय-णाणा-जीवाणं सरिमा चेय, अण्णहा अणियदि-विसेमणाणु-
 यत्तीदो । जट ण, तो मव्वेमिमणियदीणमेय-समयन्दि वट्टमाणाण द्विदि-अणुभाग-
 वादाण मग्गिच्च पावेदि त्ति चे ण एम दोमो, इट्ठादो । पढम-द्विदि अणुभाग न्वडयाणं

भूत परिणामाको छोडकर अब कोई भी परिणाम स्थितिकाण्टकघात और अनुभागकाण्टकघातके
 कारणभूत नहीं ह, क्योंकि, उन परिणामाका निरूपण करनेवाला सूत्र (आगम) नहा
 पाया जाता है ।

शुद्धा—अनेक प्रकारके कार्य होनेसे उनके साधनभूत अनेक प्रकारके कारणोंका अनु-
 मान किया जाता ह ? अर्थात् तत्र गुणस्थानम प्रतिसमय असत्पानगुणी कर्मनिर्जरा, स्थिति-
 काण्टकघात जादि अनेक कार्य देगे जाते ह, इसलिये उनके साधनभूत परिणाम भी अनेक
 प्रकारके होने चाहिये ।

समाधान—यह रहना भी नहा बनता ह, क्योंकि, एक मुद्रसे अनेक प्रकारके
 कपालरूप कार्यकी उपलब्धि होती ह ।

शुद्धा—यहा पर मुद्र एक भले ही रहा आवे, परन्तु उसकी शक्तियोंमें एकपना नहा
 न सकता है । यदि मुद्रकी शक्तियोंम भी एकपना मान लिया जावे तो उसमे एक कपालरूप
 कार्यकी ही उत्पत्ति होगी ?

समाधान—यदि ऐसा हे तो यहा पर भी स्थितिकाण्टकघात, अनुभागकाण्टकघात,
 स्थितिवन्धापरमण, गुणसममण, गुणश्रेणीनिर्जरा, शुभप्रतियोगके स्थितिवन्ध और अनुभाग
 वन्धके कारणभूत परिणामोंमें नानापना रहा आवे, तो भी एक समयमे स्थित नाना जीवोंके
 परिणाम सदृश ही होने ह, अन्यथा उन परिणामोंके 'अनिवृत्ति' यह विशेषण नहीं बन
 सकता है ।

शुद्धा—यदि ऐसा हे, तो पर समयमें स्थित सपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवालोंके
 स्थितिकाण्टकघात और अनुभागकाण्टकघातकी समानता प्राप्त हो जायगी ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं ह, क्योंकि, यह बात तो हम इष्ट ही ह ।

शुद्धा—प्रथम स्थितिकाण्टक और प्रथम-अनुभागकाण्टकोंकी समानताका नियम तो
 नहीं पाया जाता ह, इसलिये उक्त न उन घटित नहीं होता ह ?

समिसत्त-णियमो णत्थि, तदो णेद घडदि ति चे म दोमो ण दोमो, हट्ठ सेम-द्विदि-
अणुभागाण एय-पमाण णियम-दसणादो । ण च योऽद्विदि-अणुभाग विगेहि परिणामो
तदो जम्भहिय द्विदि अणुभागाणमपिरोहितमल्लियद् अणत्थ तह अदसणादो ।
ण च अणियद्विदि पदेस नथो एय-ममयम्हि णट्ठमाण-सव्व जीवाण सरिमो तस्स
जोग कारणत्तादो । ण च तेहि सव्वेहि जोगस्स सरिसत्तणे णियमो जत्थि लोग-
पूरणम्हि द्विदि केवलीण व तहा पटिग्रायय-सुत्ताभागादो । तदो सरिस-परिमाणत्तादो
सव्वेसिमणियद्विदि समान समय साट्ठियाण द्विदि-अणुभागत्तादत्त वधोमरण-गुणसेट्ठि-

समाधान—यह भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि, प्रथमस्थितिके अवशिष्ट रहे हुए
खण्डका और उसके अनुभागखण्डका अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले प्रथम समयमें ही घान कर
देते हैं, अतएव उनके द्वितीयादि समयोंमें स्थितिकण्डकाका और अनुभागकाण्डकोंका एक
प्रमाण नियम देखा जाता है। दूसरे, अल्प स्थिति और अल्प अनुभागरूप विरोधी परिणाम
उससे अधिक स्थिति और अधिक अनुभागोंके अविवेकीकरणके प्राप्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि,
प्रथमस्थितिके अतिरिक्त द्वितीयादि स्थितियोंमें घेसा विरोध देगनेमें नहीं आता है। परन्तु इस
रूपसे अनिवृत्तिकरणके एक समयमें स्थित सपूर्ण जीवोंके प्रदेशवन्ध सत्त्व होता है ऐसा
तहीं समझ लेना चाहिये, क्योंकि, प्रदेशवन्ध योगक निमित्तसे होता है। परन्तु अनिवृत्तिकरणके
एक समयवर्ती सपूर्ण जीवोंके योगकी सत्त्वताका कोई नियम नहीं पाया जाता है। जिसप्रकार
लोकपूरण समुदायमें स्थित केवलियाके योगकी समानताका प्रतिपादक परमाणम है, उस
प्रकार अनिवृत्तिकरणमें योगकी समानताका प्रतिपादक परमाणमका अभाव है। इसलिये
समान (एक) समयमें स्थित सपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले जीवोंके सत्त्व परिणाम
होनेके कारण स्थितिकण्डकाघात, अनुभागकाण्डकाघात, वत्तापसरण, गुणधेनीनिर्जरा और

१ निशालगायराण सव्वमिगिया ण्णाणं सदाणममं ण्णाणं सरिमपरिणामत्तादो पञ्चद्विदि-
वि तेहि सरिमवत्ति णारहियेव विंत्तु तव जण्णस्मरियपममादा। जयव अ प्र १०७४ वादस्समे
पञ्च द्विदि-विसरिं तु विदिपादि। विदिपय समान सत्त्व समानताम्हि। पञ्च सव्वभाग अत्र त
त्र तु मयमाणिय। पादादिमद्विदिपय समान सत्त्व सरिमा हु। ल क्ष ४१२, ४१३

२ ' उपमपरिदि ' ह्य ८, ४, १३९

३ ल क्ष ६२६ लगे पुण्य एका रगणा जागरम ति सव्वीगो वि णाय यो। लानपूणममुत्तादे
षट्ठमाणमेदस्स सत्त्वो लानसेसामनानपदमं नैगाविमामवत्तिउदा वि-
ण्णाहि विना सरिमा जय होरूण
परिममि तण स वे जायपेमा अण्णाण सानेधमियमव्वण परिणदा सना एया वगणा जाय तत्र समजोगा
वि एयो तदवथाय णपदमं। जोगमत्ता सव्वीगपदसत्त्व सरिममा माचूय निमरिममागव्वल्लमा वि पुय
हाह। जयव अ पृ १२३९

जिज्ञासा मरुमाण सस्मिन्मरण मिद्व । ममाण समय मटिय-मच्छाणियट्टीणं द्विट्ठि-अणुभाग-
पट्टाण्णु मरिचं जिगदत्तेसु घाटिटावमेम-द्विट्ठि-अणुभागेषु मस्मिन्मरणेण चिट्ठमाणेषु
अप्यणो पमत्थापमन्थत्तण पयटीसु अ उद्दमाणेषु कय पयटि पिणामस्म पिरज्जातो ?
तम्हा टोण्ह पयणाण मज्जे एक्कमेव सुत्त होदि, जडो ' जिणा ण अण्णहा-वाइणो ' तदो
तव्वयणाण पिप्पडिमेहो इदि चे मच्चमेय, किंतु ण तव्वयणाणि एयाइ जाइल्लु-
जाइयि पयणाइ, तदो एयाण विरोहम्मतिव मभवो इदि । आइरिय कहियाण मत्तकम्म-
कमायपाट्टाण कय सुत्तत्तणमिदि चे ण, तित्थयर-रहियत्थाण गणहरदेव-कय-गय-
रयणाण बारहणाण आइरिय परंपराण णित्तरमागयाण जुग-सहावेग वुद्धीसु जोहट्टनीसु
भायणामावेण पुणो ओहट्टिय आगयाण पुणो सुट्ठु-वुद्धीण गय दट्ठण तित्थ योच्छेद-
भएण वज्र-भीरुहि गहिरवेहि जाटिरिणहि पोत्थण्णु चटापियाण असुत्तत्तण विरोहाटो ।

समयममें भी समानता सिद्ध हो जाती है ।

शुद्धा—इसतरह समान समयमें स्थित संपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणध्यानवालोंके
स्मृतिगुण और अनुभागपट्टोंके समानताको प्राप्त होने पर, ज्ञान करनेके पश्चात् शेष रहे हुए
स्थिति और अनुभागोंके समानरूपसे विद्यमान रहने पर और प्रतियोंके अपात अपना प्रशस्त
और अप्रशस्तपनाके छोड़ देने पर अर्थात् सभी कार्योंके समानरूपसे रहने पर व्युत्पन्न
होनेवाली प्रतियोंके बिनाशमें विपर्यास कैसे हो सकता है ? अर्थात् किन्हीं जीवोंके पहले
आठ कार्यायके नष्ट हो जाने पर सोलह प्रतियोंका नाश होता है, और किन्हीं जीवोंके पहले
सोलह प्रतियोंके नष्ट हो जाने पर पञ्चाश आठ कार्योंका नाश होता है, यह बात कैसे सम्भव
हो सकती है ? इसलिये दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे कोई एक वचन ही स्वरूप हो सकता है,
क्योंकि, जिन अन्य-वात्ताओं नष्ट होने । अतः उनके वचनोंमें विरोध नहीं होना चाहिये ।

समाधान—यह कहना सत्य है कि उनके वचनोंमें विरोध नहीं होना चाहिये, परन्तु
ये चिन्तेन्द्रियके वचन न होकर उनके पश्चात् आचार्योंके वचन हैं, इसलिये उन वचनोंमें
विरोध होना सम्भव है ।

शुद्धा—तो फिर आचार्योंके द्वारा यह गये मत्तर्मप्राप्त और कथाप्राप्तको सूत्र
पता कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिनका अर्थरूपसे तीर्थचरने प्रतिपादन किया है, और
गणधरदेवने जिनकी प्रत्येक रचना की ऐसे बारह अग आचार्य परंपरासे निरन्तर चले आ रहे
हैं । परन्तु कालके प्रमाद्यमें उत्तरोत्तर शुद्धिके क्षीण होने पर और उन अर्थोंको धारण करनेवाले
योग्य पात्रके अभावमें ये उत्तरोत्तर क्षीण होने हुए आ रहे हैं । इसलिये जिन आचार्योंने आगे
धेरु शुद्धियाले पुराणाका अभाव देखा, जो अन्यत्र पापभीरु थे और जिन्होंने गुणपरपरासे
धुनार्थ प्रहण किया था उन आचार्योंने तीर्थचरनेके भयसे उस समय अशिक्षित रहे हुए
अग सदस्यों अर्थको मोधियामें लिपिबद्ध किया, अतएव उक्त अनुपपत्ता नहीं आ सकता है ।

अथ साद्यासु यामिमां जीरा' मृग्यन्ते ता' मार्गणा इति प्राद् मार्गणाग्रदम्
 निरुक्तिरुक्ता, आपे चेतसु गुणस्थानेषु नारका मन्ति, तिर्यञ्च सन्ति, मनुष्या मन्ति
 देवा' मन्तीति गुणस्थानेषु अन्येष्वन्ते, अतस्तद्व्याख्यानमप्येवमिति नैव दोषः
 ' गिरय गर्तेण गेरर्तसु मिच्छादृष्टी द्रव्यप्रमाणेण केन्द्रियां ' इत्यादिभगवद्-भूतत्रयलि
 भट्टारकमुपक्रमलपिनिर्गतगुणमन्त्यादिप्रतिपादकश्रवणेषु तन्निरुक्तेरुत्तरात् । कथम
 नयोर्भूतत्रयलिपुष्पदन्तत्रययोर्न विरोध इति चेन्न विरोधः । कथमिदं तावत् ? निरूप्यते
 न तावदनिद्वेन अमिद्वे तातिद्वयस्यान्वेषण सम्भवति विरोधात् । नापि मिद्वे मिद्वयस्यान्व
 षण तत्र तस्यान्वेषणे फलमायात् । तत सामान्याकारेण मिद्वाना जीवाना गुणसन्त
 द्रव्यमन्त्यादिप्रतिशेषरूपेणामिद्वाना त्रिकोटिपरिणामात्मकानादिग्रन्थनद्वयज्ञानदर्शनलक्षणा
 त्मास्तित्वाव्यानुपपत्तिः सामान्याकारेणारगताना गत्यादीना मार्गणाना च विशेष
 तोऽनरगतानामिच्छात्, आधारात्रयभागे भवतीति नोभयत्रास्ययोर्विरोधः ।

शङ्का — जिनम अथवा जिनके द्वारा जीवाका अन्वेषण किया जाता है उह मार्ग
 कहते हैं, इसप्रकार पहले मार्गणा शब्दकी निरुक्ति कह आये ह। और आर्यम तो इत
 गुणस्थानोंमें नारकी होते ह, इनोम तिर्यच होते ह, इतनेम मनुष्य होते हैं और इतनेमें दे
 होते है, इसप्रकार गुणस्थानोंम मार्गणाओंका अन्वेषण किया जा रहा है। इसलिये उ
 प्रकारसे मार्गणाकी निरुक्ति करना आर्यविरुद्ध है ?

समाधान—यह कोई दोष नह है, क्योंकि, 'नरकगतिम नारक्यामं मिथ्यादा
 द्रव्यप्रमाणमे किने है', इत्यादि रूपसे भगवान् भूतत्रयि भट्टारकने मुखरूपसे निरुद्ध ह
 गुणस्थानोका अवलम्बन लेकर सरया आदिके प्रतिपादक श्रुतोंमें आश्रयसे उक्त निरुक्ति
 अवतार हुआ है ।

शङ्का — तो भूतत्रयि और पुष्पदन्तके इन वचनोंम विरोध क्यों न माना जाय ?

समाधान—उनके वचनम विरोध नह है। यदि पूछे किसप्रकार, तो आगे इ
 धातका निरूपण करते हैं। असिद्धके द्वारा अथवा असिद्धम असिद्धका अन्वेषण करना त
 समय नहीं है, क्योंकि, इसतरह अन्वेषण करनेम तो विरोध आता है। उसीप्रकार सिद्ध
 सिद्धका अन्वेषण करना भी उचित नहै । सिद्धम सिद्धका अन्वेषण करने पर ही

अतीतसूत्रोक्तार्थविशेषप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रचतुष्टयमाह —

तिरिक्त्वा शुद्धा एइंदियप्पहुडि जाव असण्णि-पंचिंदिया
ति ॥ २९ ॥

एकमिन्द्रियं येषां त एकेन्द्रियाः । प्रभृतिरादि', एकेन्द्रियान् प्रभृति कृत्वा, अध्याहतेन कृतेत्यनेनाभिमन्वन्धादस्य नपुसकता । असजिनश्च ते पञ्चेन्द्रियाश्च अमङ्गि-पञ्चेन्द्रिया' । यत्परिमणामस्येति यावत् । यावदसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः शुद्धास्तिर्यञ्चः । किमित्येतदुच्यत इति चेन्न, अन्ययामुण्या गतापेकेन्द्रियादयोऽमङ्गिपञ्चेन्द्रियपर्यन्ताः वर्तन्त इत्यत्रगमोपायाभावात्तदत्रजिगमयिष्यै एतत्प्रतिपादनान् ।

अमावारणतिरश्चः प्रतिपाद्य सावारणतिरश्च प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

ओंका इच्छासे आधार आधेयभाव बन जाता है। अर्थात् जब सामान्यरूपसे जाने गये गुणस्थान विवक्षित होते हैं तब ये आधार भावको प्राप्त हो जाते हैं और मार्गणाए आधेयपनेको प्राप्त होती हैं। उसीप्रकार जब सामान्यरूपसे जानी गई मार्गणाए विवक्षित होती हैं तब ये आधारभावको प्राप्त हो जाती हैं और गुणस्थान आधेयपनेको प्राप्त होते हैं। इसलिये भूतबलि ओग पुप्पदन्त आचार्योंके घबनोम कोई विरोध नहै समझना चाहिये।

अब पूर्व सूत्रोंमें कहे गये अर्के विशेष प्रतिपादन करनेके लिये आगेके चार सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रियसे लेकर असङ्गी पचेन्द्रिय तकके जीव शुद्ध तिर्यच होते हैं ॥ २९ ॥

जिनके एक ही इन्द्रिय होती है उन्हें एकेन्द्रिय कहते हैं । प्रभृतिका अर्थ आदि है । 'एकेन्द्रियको आदि करके' इसप्रकारके अर्थमें, अध्याहृत 'इत्था' इस पदके साथ 'एकेन्द्रिय प्रभृति' इस पदका सवन्ध होनेसे इस पदको नपुसक लिंग कहा है । जो असङ्गी होते हुए पचेन्द्रिय होते हैं उन्हें असङ्गी पचेन्द्रिय कहते हैं । जिसका जितना परिमाण होता है, उसके उस परिमाणको प्रगट करनेके लिये 'यावत्' शब्दका प्रयोग होता है । इसप्रकार असङ्गी पचेन्द्रिय तकके जीव शुद्ध तिर्यच होते हैं ।

शुद्धा—इसप्रकारका सूत्र क्यों कहा ?

समाधान—नहै, क्योंकि, यदि उक्त सूत्र नहीं कहते तो 'इमं (तिर्यच) गतिमें ही एकेन्द्रियको भावि लेकर असङ्गी पचेन्द्रियतकके जीव होते हैं' इस बातके जाननेके लिये कोई दूसरा उपाय नहीं था। अतः उक्त बातको जाननेके लिये ही उक्त सूत्रका प्रतिपादन किया गया है ।

असाधारण (शुद्ध) तिर्यचोंका प्रतिपादन कर अन साधारण (मिश्र) तिर्यचोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

तिरिक्खा मिस्सा सण्णि-मिच्छाद्विट्ठि-प्पहुडि जाव संजदासंजदा
त्ति ॥ ३० ॥

सङ्गिमिध्याद्विट्ठिप्रभृति यावत्सयतामयतास्तावत्तिर्यञ्चो मिश्राः । न तिरश्चामन्ये, सह मिश्रणमत्रगम्यते, कथं ? न तावत्सयोगोऽस्यार्थं तस्योपरितनगुणेनपि सत्त्वान् । नैकत्वापत्तिरर्थः, द्वयेरेकस्याभावतो द्वित्रादिनिनन्धनमिश्रतानुपपत्तेरिति । न प्रथमत्रिकल्पोऽनभ्युपगमात् । न द्वितीयत्रिकल्पोक्तदोषोऽपि गुणकृतसादृश्यमाश्रित्य तिरश्चा मनुष्यगतिजीवैर्मिश्रभावाभ्युपगमात् । तद्यथा, मिध्याद्विट्ठिमासादनसम्यग्द्विट्ठिसम्यग्मिध्याद्विट्ठिमयतमसम्यग्द्विट्ठिगुणैर्गतित्रयगतजीवमाभ्यासैस्ते मिश्राः, सयमासयमगुणेन मनुष्यैः सह साम्यात्तिर्यञ्चो मनुष्ये सहैकत्वमापन्ना इति ततो न दोषः । स्यान्मत, गतिनिरूपणायामियन्तो गुणा अस्या गतो सन्ति न सन्तीति निरूपणैर्यत्रमवसीयतेऽस्याः

सङ्गी पचेन्द्रिय मिध्याद्विट्ठिसे लेकर सयतासयत गुणस्थानतक तिर्यच मिश्र होते हे ॥३०॥

सङ्गी मिध्याद्विट्ठिसे लेकर सयतासयत तत्र तिर्यच मिश्र हे ।

श्रुति—तिर्यचोंका किसी भी गतिवाले जीवोंके साथ मिश्रण समझमें नहीं आता, क्योंकि, इस मिश्रणका अर्थ सयोग तो हो नहीं सकता है ? यदि मिश्रणका अर्थ अय गतिवाले जीवोंके साथ सयोग ही लिया जाय, तो ऐसा सयोग तो छटव आदि ऊपरके गुणस्थानोंमें भी पाया जाता है । और दो वस्तुओंका एकरूप हो जाना भी इस मिश्रणका अर्थ नहीं हो सकता है ? यदि मिश्रणका अर्थ दो वस्तुओंका एकरूप हो जाना ही माना जाय, तो जब भिन्न भिन्न सत्तावाले दो पदार्थ एकरूप हाने, तब दोमेंसे किसी एकका अभाव हो जानेसे द्वित्वादिके निमित्तसे पैदा होनेवाली मिश्रता नहीं बन सकती है ?

समाधान—प्रथम विकल्पसंबन्धी दोष तो यहाँ पर लागू हो नहा सकता, क्योंकि, पदा पर मिश्र शब्दका अर्थ दो पदार्थोंके, सयोगरूप स्वीकार नहीं किया है । उसीतरह दूसरे विकल्पमें दिया गया दोष भी यहाँ पर लागू नहीं होता है, क्योंकि, यहाँ पर गुणरत सामन ताकी अपेक्षा तिर्यचोंका मनुष्यगतिके जीवोंके साथ मिश्रभाव स्वीकार किया है । आगे इसीको स्पष्ट करते हैं—

तिर्यचोंकी मिध्याद्विट्ठि, सासादनसम्यग्द्विट्ठि, सम्यग्मिध्याद्विट्ठि, और असयतसम्यग्द्विट्ठि रूप गुणोंकी अपेक्षा तो तीन गतिमें रहनेवाले जीवोंके साथ समानता है, इसलिये तीन गति वाले जीवोंके साथ तिर्यच जीव चोंगे गुणस्थानतक मिश्र कहलाते हैं । और सयमासयमगुणकी अपेक्षा तिर्यचोंकी मनुष्योंके साथ समानता होनेसे तिर्यच मनुष्योंके साथ एकत्वको प्राप्त हुए । इसलिये पाचवें गुणस्थानतक मनुष्योंके साथ तिर्यचोंको मिश्र कहनेमें पूर्वाक्त दोष नहीं आता है ।

श्रुति—गति मार्गणारी प्ररूपणा करने पर 'इस गतिमें इनने गुणरतन होते हैं, और

गत्याः अनया गत्या सह गुणद्वारेण योगोऽस्ति नास्तीति, ततः पुनरिदं निरूपणमनर्थक-
मिति न, तस्य दुमेवसामपि स्पष्टीकरणार्थत्वात् । 'प्रतिपाद्यस्य नुष्ठितसितार्थनिपय-
निर्णयोत्पादनं वक्तृपक्षः फलम्' इति न्यायात् । अयम् न तिरश्चा मिथ्यात्वादि-
र्भनुष्यादिमिथ्यात्वादिभिः समानं तिर्यङ्मनुष्यादिव्यतिरिक्तमिथ्यात्वादेरभावात् ।
नापि तिर्यगादीनामेकत्र चतुर्गतेरभावात्प्रसङ्गात् । न चाभावो मनुष्येभ्यो व्यतिरिक्त-
तिरश्चापुलम्भादिति पर्यायनयैकान्तापष्टम्भलेन केचिद् निप्रतिपन्ना । न मिथ्यात्वादयः
पर्याया जीवद्रव्यादिभिः कोपादमेव तेषां तस्मात्पृथगनुपलम्भादस्येति सम्बन्धा-
नुपपत्तेश्च । ततस्तस्मात्तेषामभेदः । तथा च न गतिभेदो नापि गुणभेदः इति द्रव्यनयै-
कान्तापष्टम्भलेन केचिद्विप्रतिपन्नास्तदभिप्रायकदर्थनार्थं नास्य स्रगस्यान्तारः । नाभि-

इतने नहीं' इसप्रकारके निरूपण करनेसे ही यह जाना जाता है कि इस गतिकी इस गतिके
साथ गुणस्थानोंकी अपेक्षा समानता है इसकी इसके साथ नहीं । इसलिये फिरसे इसका कान
करना निष्फल है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अल्पबुद्धिवाले शिष्योंको भी विषयका स्पष्टीकरण हो
जाये, इसलिये इस कथनका यहाँ पर निरूपण किया है, क्योंकि, शिष्योंको जिज्ञासित अर्थ
समझी निर्णय उत्पन्न करा देना ही वक्ताके वचनोंका फल है, ऐसा न्याय है ।

अथवा, तिर्यचोंके मिथ्यात्वादि भाव मनुष्यादि तीन गतिसवन्धी जीवोंके मिथ्यात्वादि
भावोंके समान नही है, क्योंकि, तिर्यच और मनुष्यादिको छोड़कर मिथ्यात्वादि
भावोंका स्वतन्त्र सङ्ग्राह नहीं पाया जाता है । इसलिये जब कि तिर्यचादिकोंमें परस्पर
भेद है, तो तदाश्रित भावोंमें भी भेद होना संभव है । यदि कहा जाय कि
तिर्यचादिकोंमें परस्पर एकता अर्थात् अभेद है, सो भी कहना नहीं बन सकता
है, क्योंकि, तिर्यचादिकोंमें परस्पर अभेद माननेपर चारों गतियोंके अभावका
प्रसंग आजायगा । परंतु चारों गतियोंका अभाव माना नहीं जा सकता है, क्योंकि, मनुष्योंसे
अतिरिक्त तिर्यचोंकी उपलब्धि होती है । इसप्रकार पर्यायार्थिकनयको ही एकान्तसे आश्रय
करके कितने ही लोग विवादप्रस्त हैं । इसीप्रकार मिथ्यात्वादि पर्याय जीवद्रव्यसे भिन्न नहीं
है, क्योंकि, जिसप्रकार तरवार म्यानसे भिन्न उपलब्ध होती है, उसप्रकार मिथ्यात्वादिकी
जीवद्रव्यसे पृथक् उपलब्धि नहीं होती है । और यदि भिन्न मान ली जायें तो ये मिथ्यात्वादिक
पर्याय इस जीव द्रव्यकी है, इसप्रकार सबन्ध भी नही बनता है । इसलिये इन मिथ्यात्वादिक
पर्यायोंका जीव द्रव्यसे अभेद है । इसप्रकार जब मिथ्यात्वादिक पर्यायका जीवसे भेद सिद्ध
नहीं होता है, तो गतियोंका भेद भी सिद्ध नहीं हो सकता है और न गुणस्थानोंका भेद ही
सिद्ध होता है । इसप्रकार केवल द्रव्यार्थिक नयको ही एकान्तसे आश्रय करके कितने ही लोग
विवादमें पड़े हुए हैं । इसलिये इन दोनों एकान्तियोंके अभिप्रायके स्पष्टन करनेके लिये

प्रायद्वय घटते तथाप्रतिभामनात् । न च प्रमाणानुमत्यभिप्राय मायुरव्यवस्थापत्तेः । न च जीवद्वैते द्वैते वा प्रमाणमस्ति कृत्स्नस्यैकत्वादेशादेरपि सत्तातोऽप्यन्यतो भेदात् । न प्रमेयस्यापि स्वयमपक्षितप्रमाणव्यापारस्य तस्य प्रमाणाभावे मत्त्रायोगात् । प्रमाण वस्तुनां न काङ्क्षमतो न तद्विनाशाद्वस्तुविनाश इति चेन्न, प्रमाणाभावे पचनाभावात् । मरुलव्यपहरोच्छित्तिप्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न, वस्तुविषयविधिविप्रतिषेधयोरप्यभावात्सङ्गनात् । अस्तु चेन्न, तथानुपलम्भात् । ततो विधिविप्रतिषेधात्मकं वस्तुव्यङ्गीकर्तव्यम्, अन्ययोक्त दोषानुपङ्गात् । तत सिद्ध गुणद्वारेण जीवानां सादृश्य विशेषरूपेणामादृश्यमिति । गुण-
स्थानमार्गणासु जीवसमामान्येणार्थं वा ।

तिरिक्त्वा भिस्सा' इत्यादि घटत सूत्रका अवतार हुआ है । उक्त दोनों प्रकारके एकान्तरूप, अभिप्राय घटित नहो होते हैं, क्योंकि, सर्वथा एका तत्त्वमे वस्तु-स्वरूपकी प्रतीति नहीं होती है । और प्रमाणसे प्रतिकूल अभिप्राय ठीक नहो माना जा सकता, अन्यथा सब जगद अयवस्था प्राप्त हो जावेगी । तथा जीवावत (जीव और मनुष्यादि पर्यायके सर्वथा अभेद), या जीव द्वैत (जीव और मनुष्यादि पर्यायके सर्वथा भेद) के माननेमें कोई प्रमाण नहीं है । यदि जीवा द्वैतवादमें प्रमाण मानते हैं तो नरक तिथिच जादि सभी पर्यायोंको एकताकी आपत्ति आजाती है । और यदि जीव द्वैतवादमें प्रमाण मानते हैं तो देशभेद आदिकी तरह वस्तुका सत्ताकी अपेक्षा पर पदार्थसे भी भेद सिद्ध हो जाता है । इसप्रकार द्वैतवाद या अद्वैतवादमें प्रमाण नहो मिलनेसे प्रमेयका भी मत्त्व सिद्ध नहो होता है, क्योंकि, प्रमाणके व्यापारकी अपेक्षा रखनेवाले प्रमेयका प्रमाणके अभावमें सङ्गाथ नहो बन सकता है ।

शङ्का—प्रमाण वस्तुका कारण (उत्पादक) नहो है, इसलिये प्रमाणसे विनाशसे वस्तुका विनाश नहो माना जा सकता है ?

समाधान—नहो, क्योंकि, प्रमाणके अभाव होने पर वचनकी प्रवृत्ति नहो हो सकती है, और उसके विना संपूर्ण लोकव्यवहारके विनाशका प्रसंग आता है ।

शङ्का—यदि लोकव्यवहार विनाशमें प्राप्न होता है, तो हो जाओ ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर वस्तु विषयक विधि प्रतिषेधका भी अभाव । प्राप्त हो जायगा ।

शङ्का—यह भी हो जाओ ?

समाधान—ऐसा भी नहो है, क्योंकि, वस्तुका विधि प्रतिषेधरूप व्यवहार देखा जाता है । इसलिये विधि प्रतिषेधात्मक वस्तु स्वीकार कर लेना चाहिये । अन्यथा ऊपर कहे हुए संपूर्ण दोष प्राप्त हो जावेगे । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि गुणोंकी मुख्यतासे जीवोंके परस्पर समानता है, और विशेष (पर्याय) की मुख्यतासे परस्पर भिन्नता है ।

अतः, गुणस्थानों और मार्गणाओंमें जीवसमामान्येण कर्मके लिये यह सूत्र

' स प्रती ' वाक्ता ' इति पाठ । २ । १ प्रतीः ' वाक्जननात् ' इति पाठ ।

इदानीं मनुष्याणां गुणद्वारेण सादृश्यामादृश्यप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा मिस्सा मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव संजदासंजदा । ति ॥ ३१ ॥

आदितश्चतुर्षु गुणस्थानेषु ये मनुष्यास्ते मिथ्यात्वादिभिश्चतुर्भिर्गुणैर्विगतजिज्ञैः

समानाः सयमासयमेन तिर्यग्भिः ।

तेण परं सुद्धा मणुस्सा ॥ ३२ ॥

त्रेषुगुणानां मनुष्यगतिव्यतिरिक्तगतिप्रमम्भप्राच्छेपगुणा मनुष्येष्वेव सम्भवन्ति उपरितनगुणैर्मनुष्या, न कैश्चित्समाना इति यावत् । देवनररुगत्योः सादृश्यममादृश्यानां किमिति नोक्तमिति चेन्न, आभ्यामेव प्ररूपणाभ्यां मन्दमेधमामपि तदवगमोत्पत्तेरिति ।

इन्द्रियमार्गणायां गुणस्थानान्नेपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

इंदियाणुवादेण अत्थि एंडंदिया वींडंदिया तीइंदिया चदुरिदिया पंचिदिया अणिदिया चेदि ॥ ३३ ॥

रचा गया है ।

अत्र मनुष्योंकी गुणस्थानोंके द्वारा समानता और असमानताके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयतासयततरुके मनुष्य मिथ्य है ॥ ३१ ॥

प्रथम गुणस्थानसे लेकर चार गुणस्थानोंमें जितने मनुष्य हैं वे मिथ्यात्वादि चार गुणस्थानकी अपेक्षा तीन गतिके जीवोंके साथ समान हैं और सयमामयमगुणस्थानकी अपेक्षा तिर्यचोंके साथ समान हैं ।

पाचवें गुणस्थानसे आगे शुद्ध (केवल) मनुष्य है ॥ ३२ ॥

प्रारम्भके पांच गुणस्थानोंको छोड़कर शेष गुणस्थान मनुष्यगतिके जिना अन्य तीन गतियोंमें नहीं पाये जाते हैं, इसलिये शेष गुणस्थान मनुष्योंमें ही समभव हैं । अतः छटवें आदि ऊपरके गुणस्थानोंकी अपेक्षा मनुष्य अन्य तीन गतिके जिन्हीं जीवोंके साथ समानता नहीं रखते हैं । यह इस सूत्रका तात्पर्य समझना चाहिये ।

शुद्धा—देव और नररुगतिके जीवोंकी अन्य गतिके जीवोंके साथ समानता और असमानताका कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान—अलग कथन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि, तिर्यच और मनुष्यसम्बन्धी प्ररूपणाओंके द्वारा ही मन्दबुद्धि जनोंको भी देव और नारकियोंकी दूसरी गति वाले जीवोंके साथ सदृशता और असदृशताका ध्यान हो जाता है ।

अत्र इन्द्रियमार्गणमें गुणस्थानोंके अन्वेषणके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

इन्द्रियमार्गणां अपेक्षा ण्केन्द्रिय, ठीन्द्रिय, तीन्द्रिय, चतुर्गिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय जीव होते हैं ॥ ३३ ॥

चेन्न, तद्धमणाप्याया तन्ममरायाभावात् । शरीरेण ममरायाभावे भ्रमणमाह्वयत इति चेन्न, आयुष एवस्य मरणहेतुत्वात् । पुन कथं गघटत इति चेन्नानामेदोपमहततीव्रप्रदेशानां पुन सघटनोपलम्भात्, द्वयोर्गतयो मघटने विरोधाभावात्, तन्मघटनहेतुर्मादयस्य कार्यवैचित्र्यादगतरैचि यस्य मत्तान्त्र । द्रव्येन्द्रियप्रमितजीवप्रदेशानां न भ्रमणमिति किन्नेष्यत इति चेन्न, तद्धमणमन्तरेणाशुभ्रमर्जात्मानां भ्रमद्वय्यादिदर्शनानुपपत्तेः इति । तेषाम्प्रदेशेषु इन्द्रियव्यपदेशभाक्षु य प्रतिनियतमस्थाने नामरुमादयापादितान्यापिशेष पुद्गलप्रचय स ग्राह्या निर्गृत्तिः । मसुरिकाकारा जङ्गलस्थामरूपेयभागप्रमिता चक्षुर्गिन्द्रियस्य बाह्यनिर्गृत्तिः । यन्नालिकाकारा जङ्गलस्थामरूपेयभागप्रमिता श्रोत्रस्य ग्राह्या निर्गृत्तिः ।

समवायसम्बन्धको प्राप्त शरीरका भी जीवप्रदेशके समान भ्रमण होता चाहिये ?

समाधान—ऐसा नहो, क्योंकि, जीवप्रदेशकी भ्रमणरूप अवस्था में शरीरका उनसे समवायसम्बन्ध नहीं रहता है ।

शुद्धा—भ्रमणके समय शरीरके साथ जीवप्रदेशका समवायसम्बन्ध नहो मानने पर भ्रमण प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—नहो, क्योंकि, आयु कर्मसे क्षयको मरणका कारण माना है ।

शुद्धा—तो जीवप्रदेशका शरीरके साथ फिरसे समवायसम्बन्ध कैसे बन जाता है ?

समाधान—इसमें भी कोई ग्राह्य नहो, क्योंकि, जिन्होंने नाना अवस्थाओं में उपसंहार कर लिया है, ऐसे जीवोंके प्रदेशोंका शरीरके साथ फिरसे समवायसम्बन्ध उपलब्ध होता हुआ देखा ही जाता है । तथा, दो मूर्त पदार्थोंके सम्बन्ध होनेमें कोई विरोध भी नहीं आता है । अतः, जीवप्रदेश और शरीर सघटनके हेतुरूप कर्मादयके कार्यकी विविधतासे यह स्पष्ट होता है । आर जिनके अनेक प्रकारके कार्य अनुभवमें आते हैं ऐसे कर्मोंका सत्त्व पाया ही जाता है ।

शुद्धा—द्रव्येन्द्रिय प्रमाण जीवप्रदेशोंका भ्रमण नहीं होता, ऐसा क्यों नहीं मान लेते हैं ?

समाधान—नहो, क्योंकि, यदि द्रव्येन्द्रिय प्रमाण जीवप्रदेशोंका भ्रमण नहो माना जाये, तो अत्यन्त दृढतासे भ्रमण करते हुए जीवोंको भ्रमण करती हुई पृथिवी आदि का ज्ञान नहीं हो सकता है । इसलिये आत्मप्रदेशके भ्रमण करने समय द्रव्येन्द्रिय प्रमाण आत्मप्रदेशोंका भी भ्रमण स्वीकार कर लेना चाहिये । इसतरह इन्द्रियव्यपदेशको प्राप्त होनेवाले उन आत्म प्रदेशोंमें, जो प्रतिनियत आकारवाला और नामकर्मसे उदयसे अवस्था विशेषको प्राप्त पुद्गल प्रचय है उसे ग्राह्य निर्गृत्ति कहते हैं । मसुरके समान आकारवाली और घनागुलके अस्तरवातमें भाग प्रमाण बहुत इन्द्रियकी बाह्य निर्गृत्ति होती है । यकी नालीके समान आकारवाली और

अतिमुक्तरूपमस्थाना अङ्गुलम्यामंरयेयभागप्रमिता घ्राणनिर्वृत्तिः । अर्धचन्द्राकारा
धुरप्राकारा त्राङ्गुलम्य मरयेयभागप्रमिता स्मननिर्वृत्तिः । स्पर्शनेन्द्रियनिर्वृत्तिरनियत-
मस्थाना । मा जघन्येन अङ्गुलम्यामरयेयभागप्रमिता सक्षमशरीरेषु, उत्कर्षेण सगयेयघनाङ्गुल-
प्रमिता महामत्स्यादिमजीपेषु । सर्पतः स्तोकाश्चक्षुषः प्रदेशाः, श्रोत्रेन्द्रियप्रदेशाः
मरयेयगुणा, घ्राणेन्द्रियप्रदेशा विज्ञेयापिक्काः, जिह्वायाममरयेयगुणा, स्पर्शने संरयेय-
गुणाः । उक्तं च—

घनागुलके असरयातवें भाग प्रमाण श्रोत्र इन्द्रियकी बाह्य निर्वृत्ति होती है । कदम्बके फूलके
समान आकारवाली और घनागुलके असरयातवें भाग प्रमाण घ्राण इन्द्रियकी बाह्य निर्वृत्ति
होती है । अर्धचन्द्र अथवा घुरपाके समान आकारवाली और घनागुलके असरयातवें भाग-
प्रमाण रसना इन्द्रियकी बाह्य निर्वृत्ति होती है । स्पर्शन इन्द्रियकी बाह्य निर्वृत्ति अनियत
आकारवाली होती है । वह जघन्य प्रमाणकी अपेक्षा घनागुलके असरयातवें भाग प्रमाण
सुक्ष्मनिगोदिया लक्ष्यपर्याप्तक जीवके (तीन मोटेसे उत्पन्न होनेके तृतीय समयवर्ती) शरीरमें
पाई जाती है, और उत्कृष्ट प्रमाणकी अपेक्षा सरयात घनागुल प्रमाण महामत्स्य आदि ब्रह्म
जीवाके शरीरमें पाई जाती है । चक्षु इन्द्रियने अगगाहनारूप प्रदेश सबसे कम है । उनसे सरयात-
गुणे श्रोत्र इन्द्रियके प्रदेश है । उनसे अधिक घ्राण इन्द्रियके प्रदेश है । उनसे असरयातगुणे
जिह्वा इन्द्रियमें प्रदेश है । और उनसे सरयातगुणे स्पर्शन इन्द्रियमें प्रदेश है ।

विज्ञेयार्थ — ऊपर इन्द्रियोंकी अवगाहना बतला कर जो चक्षु आदि इन्द्रियोंके प्रदेशोंका
प्रमाण बतलाया गया है, वह इन्द्रियोंकी अवगाहनाके तारतम्यका ही बोधक जानना चाहिये ।
अर्थात् चक्षु इन्द्रिय अपनी अवगाहनासे जितने आकाश प्रदेशोंको रोकती है, उससे सरयात-
गुणे आकाश प्रदेशोंको व्याप्त कर श्रोत्रेन्द्रिय रहती है । उससे विशेष अधिक आकाशप्रदेशोंको
घ्राण इन्द्रिय व्याप्त करती है । उससे असरयातगुणे आकाशप्रदेशोंको व्याप्त कर जिह्वा इन्द्रिय
रहती है और उससे सरयातगुणे आकाशप्रदेशोंको व्याप्त कर स्पर्शन इन्द्रिय रहती है ।
गोमट्टसार जीवकाण्टकी 'अगुलजमरभाग' इत्यादि गाथासे इसी कथनकी पुष्टि होती है ।
अवगाहनाके समान इन्द्रियाकार आत्मप्रदेशोंकी रचनामें भी यह क्रम लागू हो सकता है ।
परन्तु राजवार्तिकमें 'स्पर्शनरसनघ्राणवक्षु श्रोत्राणि' इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए रसना
इन्द्रियसे स्पर्शन इन्द्रियके प्रदेश अनन्तगुणे अधिक बतलाये हैं । यह कथन इन्द्रियोंकी अव-
गाहना और इन्द्रियाकार आत्मप्रदेशोंकी रचनामें किसी भी प्रकारसे घटित नहीं होता है,
क्योंकि, एक जीवके अवगाहनारूप क्षेत्र और आत्मप्रदेश अनन्तप्रमाण या अनन्तगुणे सभ्य ही
नहीं हो सकते । सभ्य है वही परब्रह्मनिर्वृत्तिके प्रदेशोंकी अपेक्षासे उक्त कथन किया गया हो ।
कहा भी है—

१ सुष्टुमणिगोदअपञ्चयसम जादस्व तदियममयम्भि । अगुलअमरभागं जग्णमुत्कृष्टमय मच्छे ॥ गो जी १७३.

२ 'स्पर्शन' ननगुणा ' इति पाठ त रा बा २ १९, ५

जगन्नाडिया मसूरी चन्द्रमुक्त-मुक्त तु-टाइ ।

इदिय-सटाणाइ परस पुण णेय-सटाणा' ॥ १३४ ॥

उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम्, येन निर्वृत्तिरूपकारः नियते तदुपकरणम् । तद् द्विविधं बाह्याभ्यन्तरभेदात् । तत्राभ्यन्तरं कृष्णशुक्लमण्डलम् । बाह्यमक्षिपत्रपञ्चमद्वयादि । एव ग्रहेन्द्रियेषु त्रयम् । लब्ध्युपयोगो भावेन्द्रियम् । इन्द्रियनिर्वृत्तिस्तु क्षयोपशमविशेषो लब्धिः । यत्तन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्तिर्यते स तानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विनायते । तदुक्तनिमित्तं प्रतीत्योपपन्नमानः प्रात्मनः परिणाम उपयोग इत्यपदिश्यते । तदेतदुभय भावेन्द्रियम् । उपयोगस्य तत्फलं प्राप्तिरिन्द्रियव्यपदेशानुपपत्ति-

श्रोत्र इन्द्रियका आकारयवकी नालीके समान है, चक्षु इन्द्रियका मसूरेके समान, रसना-इन्द्रियका आधे चन्द्रमाके समान, घ्राण इन्द्रियका कदम्बके फूलके समान आकार है और स्पर्शन इन्द्रिय अनेक आकारवाली है ॥ १०१ ॥

जिसके द्वारा उपकार किया जाना है, अर्थात् जो निर्वृत्तिका उपकार करता है उसे उपकरण कहते हैं। यह बाह्य उपकरण और अभ्यन्तर उपकरणके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे कृष्ण और शुक्ल मण्डल नेत्र इन्द्रियका अभ्यन्तर उपकरण है, और दोना पत्र तथा दोनो नेत्रोम (यरोनी) आदि उसके बाह्य उपकरण हैं । इसीप्रकार शेष इन्द्रियोंमें जानना चाहिये ।

लब्धि और उपयोगको भावेन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियकी निर्वृत्तिका कारणभूत जो क्षयोपशम विशेष है उसे लब्धि कहते हैं। अर्थात् जिसके सन्निधानसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचनामें व्यापार करता है, ऐसे ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम विशेषको लब्धि कहते हैं। और उस पूर्वोक्त निमित्तके आत्मनसे उत्पन्न होनेवाले आत्माके परिणामको उपयोग कहते हैं।

१ चक्षु सोद घाण विभावारं मसूरेजगणा । अतिमत्तमुत्पत्तम फालं तु ज्ञेयमटाण ॥ गो जी १७१

२ पाताय त रा वा २ १७ वा ५-७ यावया समा ।

३ त सू २ १८

४ अधमहणसत्तिर्लब्धि । ल्पो स्व वि १ ५ । गो जा, जा प्र, टी १६५ लम्भनं लब्धि । व पुनरसा ? ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेष । स वि २ १८ इन्द्रियनिर्वृत्तिस्तु क्षयोपशमविशेषो लब्धिः । त रा वा २ १८ १ स्वाधमनिर्गोपयतनं लब्धिः । त रा वा २ १८ आवरणायपत्तमप्राप्तिरूपा अधमहण सत्तिर्लब्धिः । स्या रत्ना पृ ३४४

५ अधमहणव्यापार उपयोग । गो जी, जी प्र, टी १६५ उपयोग पुन अधमहणव्यापार । ल्पो स्व वि १ ५ यमविधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्तिर्यते तन्निमित्त आत्मनः परिणाम उपयोग । स वि २ १८ । त रा वा २ १८ २ उपयोग प्रणिधानम् । त भा २ १९ उपयोगस्तु रूपादिमहण व्यापार । स्या रत्ना पृ ३४४

६ उपयोगस्य फलवादिन्द्रियव्यपदेशानुपपत्तिरिति भाग, कारणधर्मस्य वायावृत्ते । त रा वा २ १८ ३

गिति चेन्न, कारणधर्मस्य कार्यानुवृत्तेः । कार्यं हि लोके कारणमनुवर्तमानं दृष्ट, यथा घटाकारपरिणत विज्ञान घट इति । तथेन्द्रियनिवृत्त उपयोगोऽपि इन्द्रियमित्यपदिश्यते । इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रेण सृष्टमिति वा य इन्द्रियशब्दार्थः । स क्षयोपशमं प्राधान्येन विद्यत इति तस्येन्द्रियव्यपदेशो न्याय्य इति । तेन इन्द्रियेण अनुवाद इन्द्रियानुवादः, तेन सन्ति एकेन्द्रियाः । एकमिन्द्रियं येषां त एकेन्द्रियाः । किं तदेकमिन्द्रियम् ? स्पर्शनम् । रीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभापम्भात्स्पृश्यत्वनेनेति स्पर्शनं करणकारके । इन्द्रियस्य स्वातन्त्र्यविरक्षाया कर्तृत्व च भवति । यथा पूराक्तेहेतुमन्निधाने सति स्पृशतीति स्पर्शनम् । कोऽस्य विषयः ? स्पर्शः । कोऽस्यार्थः ? उच्यते, यदा वस्तु

इसप्रकार लब्धि और उपयोग ये दोनों भावेन्द्रिया हैं ।

शुद्धा—उपयोग इन्द्रियांका फल है, क्योंकि, उसकी उत्पत्ति इन्द्रियोंमें होती है, इसलिये उपयोगको इन्द्रिय सत्ता देना उचित नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कारणमें रहनेवाले धर्मकी कार्यमें अनुवृत्ति होती है । अर्थात् कार्य लोकमें कारणका अनुकरण करना हुआ देखा जाता है । जैसे, घटके आकारसे परिणत हुए ज्ञानको घट कहा जाता है, उसीप्रकार इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए उपयोगको भी इन्द्रिय सत्ता दी गई है ।

इन्द्र (आत्मा) के लिंगको इन्द्रिय कहते हैं । या जो इन्द्र अर्थात् नामकर्मसे रची गई है उसे इन्द्रिय कहते हैं । इसप्रकार जो इन्द्रिय शब्दका अर्थ किया जाता है, वह क्षयोपशममें प्रधानतामें पाया जाता है, इसलिये उपयोगको इन्द्रिय सत्ता देना उचित है ।

उक्त प्रकारकी इन्द्रियकी अपेक्षा जो अनुवाद, अर्थात् आगमानुकूल कथन किया जाता है उसे इन्द्रियानुवाद कहते हैं । उसकी अपेक्षा एकेन्द्रिय जीव हैं । जिनके एक ही इन्द्रिय पाई जाती है उन्हें एकेन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शुद्धा—वह एक इन्द्रिय कौनसी है ?

समाधान—यह एक इन्द्रिय स्पर्शन समझना चाहिये ।

रीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे तथा आगोपाग नामकर्मके उद्धाररूप आलम्बनसे जिसके द्वारा आत्मा पदार्थोंको स्पर्श करता है, अर्थात् पदार्थगत स्पर्श-धर्मकी मुख्यतासे जानता है, उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं । यह लक्षण करण-कारककी अपेक्षामें (परतन्त्र विवक्षाम) बनता है । और इन्द्रियकी स्वातन्त्र्यविवक्षामें कर्तृ साधन भी होता है । जैसे, पूर्वोक्त साधनोंके रहने पर जो स्पर्श करती है उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं ।

शुद्धा—स्पर्शन इन्द्रियका विषय क्या है ?

प्राप्तान्येन विवक्षितं तदा इन्द्रियेण वस्त्वेन विपर्ययीकृतं भवेद् वस्तुव्यतिरिक्तस्पर्शाद्यभावात् । एतस्या विवक्षाया स्पृष्टव्यत इति स्पर्शो वस्तु । यदा तु पर्याय, प्राप्तान्येन विवक्षितस्तदा तस्य ततो भेदेऽपचरैर्वासीन्यामस्थितभावनयनाद्वाप्तमावनतमप्यविरुद्धम्, यथा स्पर्शनं स्पर्श इति । यद्येवम्, मूढमेव परमाणुादिषु स्पर्श-ग्रहणे न ग्रामोति तत्र तदभावात् ? नैष तेषां, मूढमेवपि परमाणुादिष्वस्ति स्पर्श स्थलेषु तत्क्रायेषु तदर्थनान्ययानुपपत्तेः । नान्यन्तामता प्रादुर्भावोऽस्त्यतिग्रमद्वात् । किन्तु इन्द्रियग्रहणयोग्या न भवन्ति । ग्रहणायोग्यानां कथं न व्यपदेश इति चेन्न, तस्य सर्वदायोग्यत्वाभावात् । परमाणुगतः सर्वदा

समाधान—स्पर्शनं इन्द्रियजा विषय स्पर्श है ।

शंका—स्पर्शका क्या अर्थ है ? अर्थात् स्पर्शसे किसका ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान—निम्न समय द्रव्यादिषु नयनी अपेक्षा प्रधानतासे वस्तु ही विवक्षित होती है, उस समय इन्द्रियके द्वारा वस्तुका ही ग्रहण होता है, क्योंकि, वस्तुको छोड़कर स्पर्शादिक धर्म पाये नहीं जाते हैं । इसलिये इस विवक्षामें जो स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्श कहते हैं, और वह स्पर्श वस्तुरूप ही पड़ता है । तथा जिस समय पर्यायादिजनयनी प्रधानतासे पर्याय विवक्षित होती है, उससमय पर्यायका द्रव्यसे भेद देनेके कारण उदासीनरूपसे अवस्थित भावना कथन किया जाता है । इसलिये स्पर्शमें भावसाधन भी बन जाता है । जैसे, स्पर्शन ही स्पर्श है ।

शंका—यदि ऐसा है, तो सूक्ष्म परमाणु आदिमें स्पर्शका व्यवहार कहा बन सकता है, क्योंकि, उसमें स्पर्शनरूप क्रियाका अभाव है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सूक्ष्म परमाणु आदिमें भी स्पर्श है, अन्यथा, परमाणुओंके कार्यरूप स्थूल पदार्थोंमें स्पर्शकी उपलब्धि नहीं हो सकती थी । किन्तु स्थूल पदार्थोंमें स्पर्श पाया जाता है, इसलिये सूक्ष्म परमाणुओंमें भी स्पर्शकी सिद्धि हो जाती है, क्योंकि, व्यायका यह सिद्धान्त है, कि जो अत्यन्त (सर्वथा) असत् होते हैं उनकी उत्पत्ति नहीं होती है । यदि सर्वथा असत्की उत्पत्ति मानी जाये तो अतिप्रसंग हो जायगा । (अर्थात् वाशके पुत्र, जानाशने फल आदि अनिश्चित वातोंका भी प्रादुर्भाव मानना पड़ेगा) इसलिये यह समझना चाहिये कि परमाणुओंमें स्पर्शादिषु पाये तो अवश्य जाते हैं, किन्तु वे इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं होते हैं ।

शंका—अब कि परमाणुओंमें रहनेवाला स्पर्श इन्द्रियाके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है, तो फिर उसे स्पर्श सत्ता कैसे दी जा सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, परमाणुगत स्पर्शके इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करनेकी योग्यताका सदेव अभाव नहीं है ।

१ 'नवानतो जन्म सतां न नाशो' नृ स्व ता २४ नासता विगत भोनी नाभावा विद्यते सत् । भग
शा २ १६

२ प्रवचोक्त रा वा २ २० १ व्याख्या समान ।

न ग्रहणयोग्यश्चेन्न, तस्यैव स्थूलकार्याकारेण परिणतो योग्यत्वोपलम्भात् । के त एकेन्द्रियाः ? पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः । एतेषा स्पर्शनमेकमेवेन्द्रियमस्ति, न शेषाणीति कथमन-
गम्यत इति चेन्न, स्पर्शनेन्द्रियमन्त एत इति प्रतिपादकार्षोपलम्भात् । क तत्सब्रमिति चेत्कथ्यते—

जाणदि पस्सदि भुजदि सेवदि पस्सिदिण्ण एवेण ।

कुणदि य तस्सामित्थं यावर एवदिओ तेण ॥ १३५ ॥

‘उनस्पत्यन्तानामेकम्’ इति तत्त्वार्थसूत्राद्धा । अस्यार्थः, ‘अयमन्तशब्दोऽनेकार्थ-
वाचकः, क्वचिदप्यत्र, यथा वस्त्रान्तो उमनान्त इति । क्वचित्त्वामीप्ये, यथा उदकान्त
गत, उदकममीप गत इति । क्वचिद्वसाने वर्तते, यथा ससारान्त गत’, मसारान्तमान

शंका—परमाणुम रहनेवाला स्पर्श तो इन्द्रियोंद्वारा कमी भी ग्रहण करने योग्य
नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जब परमाणु स्थूल कार्यरूपसे परिणत होते हैं, तब तद्वत
धर्मोंकी इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण करनेकी योग्यता पाई जाती है ।

शंका—वे एकेन्द्रिय जीव कौन कौनसे हैं ?

समाधान—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और वनस्पति, ये पांच एकेन्द्रिय जीव हैं ।

शंका—इन पांचोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, शेष इन्द्रिया नहीं होता, यह
कैसे जाना ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पृथिवी आदि एकेन्द्रिय जीव एक स्पर्शन इन्द्रियवाले होते
हैं, इसप्रकार कथन करनेवाला आर्ष उचन पाया जाता है ।

शंका—यह आर्ष वचन कहा पाया जाता है ?

समाधान—यह आर्ष वचन यहाँ कहा जाता है—

स्योकि, स्यावर जीव एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ही जानता है, देखता है, गाता
है, सेवन करता है और उसका स्वामीपना करता है, इसलिये उसे एकेन्द्रिय स्यावर
जीव कहा है ॥ १३५ ॥

अथवा, ‘उनस्पत्यन्तानामेकम्’ तत्त्वार्थसूत्रके इस वचनसे जाना जाता है कि उनके एक
स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है । अब इस सूत्रका अर्थ करते हैं, अन्त शब्द अनेक अर्थोंका वाचक
है । नही पर अवयवरूप अर्थमें आता है, जैसे, ‘वस्त्रान्त’ अर्थात् वस्त्रका अन्तगत् । कहीं पर
समीपताके अर्थमें आता है, जैसे ‘उदकान्त गत’ अर्थात् जलके समीप गया । कहीं पर
अवसानरूप अर्थमें आता है, जैसे, ‘ससारान्त गत’ अर्थात् ससारके अन्तको प्राप्त हुआ ।

गत इति । तत्रेह विरक्षातोऽप्रसानार्थो वेदितव्यः । अनस्पत्यन्ताना अनस्पत्यप्रसानाना मिति सामीप्यार्थः किन्न गृह्यते ? वनस्पत्यन्ताना अनस्पतिममीपानामित्यर्थे गृह्यमाणे वायुकायाना त्रसकायाना च सम्प्रत्यय प्रसज्येत 'पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिप्रसा.' इत्यत्र तयोरेव सामीप्यदर्शनात् । जयमन्तशब्दः सम्प्रन्धिशब्दत्वात् काश्चित्पूर्वनिषेध्य वर्तते । ततोऽर्थादादिसम्प्रत्ययो भवति तस्मादयमर्थोऽप्रगम्यते पृथिव्यादीना वनस्पत्यन्तानामेकमिन्द्रियमिति । एवमपि पृथिव्यादीना वनस्पत्यन्ताना स्पर्शनादिप्रत्ययतममेकमिन्द्रिय प्राप्तोत्यविशेषादिति चेन्नेष दोषः, अयमेकशब्दः प्राथम्यप्रचनम् 'स्पर्शन-रमनघ्राणचक्षु श्रोत्राणि' इत्यत्रतनप्राथम्यमाश्रित इति । गीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियमर्घातिस्पर्धकौदये चैकैन्द्रियजातिनामरुमोदयप्रशवर्तिताया च सत्या स्पर्शनमेकमिन्द्रियमारिर्भवति ।

उनमसे यहा पर विवक्षासे अत शब्दका अवसानरूप अर्थ जानना चाहिये ।

शुक्रा—'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इसमें आये हुए अन्त पदका 'वनस्पतिके समीपवता जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है' इसप्रकार सामीप्य वाचक अर्थ क्यों नहा लेते ?

समाधान—यदि 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इस सूत्रमें आये हुए अन्त शब्दका समीप अर्थ लिया जाय तो उससे वायुकायिक और त्रसकायिकका ही ज्ञान होगा, क्याकि, 'पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिप्रसा' इस वचनमें वायुकायिक और त्रसकायिक ही वनस्पतिके समीप दिखाई देते हैं । यह अत शब्द सबधी शब्द होनेसे अपनेसे पूर्ववर्ती कितने ही शब्दारी अपेक्षा करके प्रगुति करता है, और इससे अर्थवश आदिका ज्ञान हो जाता है । उससे यह अर्थ मालूम पड़ता है कि पृथिवीकायिकसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है ।

शुक्रा—ऐसा मान लेने पर भी पृथिवीसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंके स्पर्शन आदि पाच इन्द्रियोंमेंसे कोई एक इन्द्रिय प्राप्त होती है कि, 'वनस्पत्यान्तानामेकम्' इस सूत्रमें आया हुआ एक पद स्पर्शन-इन्द्रियका बोधक है वह तो सामान्यसे सख्यावाची है, इसलिये पाच इन्द्रियोंमेंसे किन्हीं इन्द्रियका है ?

समाधान—यह स्योंकि, प्राथम्य-सलिये उसने 'सूत्रम्' प्रथम ही ग्रहण होता वीर्या-शेष इन्द्रियावरणके वशानतिताके

द्वे इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रिया । के ते ? शरशुक्तिक्रम्यादयः । उक्तं च—

कुत्रिखकिमि सिप्पि-सखा गडोलारिड अक्ख खुन्हा य ।

तह य उराडय जीवा णेया गीडिया एदे^१ ॥ १३६ ॥

के ते द्वे इन्द्रिय इति चेत्स्पर्शनरमने । स्पर्शनमुक्तलक्षणम् । भेदविषयायां वीर्यान्तरायरसनेन्द्रियारणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभापष्टम्भादस्यत्यनेनेति रसन करण-

जिनके दो इन्द्रिया होती हैं उन्हें द्वीन्द्रिय जीव कहते हैं ।

श्रुति—वे द्वीन्द्रिय जीव कौन कौन हैं ?

समाधान—शर, शुक्ति और क्रमि आदिक द्वीन्द्रिय जीव हैं । कहा भी है—

कुक्षि क्रमि अर्थात् पेटके कीड़े, सीप, शर, गण्डोला अर्थात् उदरमें उत्पन्न होनेवाली बड़ी वृद्धि, अरिष्ट नामक एक जीवविशेष, अक्ष अर्थात् चन्दनक नामका जलचर जीवविशेष, शुल्लक अर्थात् छोट्टा शर और कोबी आदि द्वीन्द्रिय जीव हैं ॥ १३६ ॥

श्रुति—वे दो इन्द्रिया कौनसी हैं ?

समाधान—स्पर्शन और रसना । उनमेंसे स्पर्शनका स्वरूप कह आये है । अथ रसना-इन्द्रियका स्वरूप कहते हैं—

भेद विषयायां प्रधानता अर्थात् करणकारककी विवक्षा होने पर, वीर्यान्तराय और रसनेन्द्रियारणकर्मके क्षयोपशमसे तथा आगोपाग नामकर्मके उदयके अवलम्बनसे जिसके द्वारा स्वादका ग्रहण होता है उसे रसना इन्द्रिय कहते हैं । तथा इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्य विवक्षा अर्थात् कर्तृ-कारककी विवक्षाम् पूर्वोक्त साधनोंके मिलने पर जो आस्वाद ग्रहण करती है उसे रसना इन्द्रिय कहते हैं ।

१ उदरातवतिनो ह्या (अत्र) मूलमपानकन्दरा स्नायान्यतगता वा जात्रा कुक्षिह्रमय । गण्डोलाका उदरातवृहन्मय । जलचरजीविशेषा चन्दनका, ते तु समयमाययान्क्षवेन प्रताता । वराट्ट कपट्ट, कीडीति मायायाम् । (प्रथातरेषु निमात्रिननामानो जात्रा अपि द्वीन्द्रियवेन प्रमिद्धा) सख कवहुय-गणेल जलोय चदणग अलस लहाइ । मेदर किमि पूयरगा वेइदिय माइवाहाइ । जलोय जलारम । अलमा भूनागा, यइअरस्थे मानो जलदवृष्टो सयां समुत्पद्यन्ते । लहको जीवविशेषो विषयप्रमिद्ध (उषितानोत्पन्नजात्र, दशीशन्दोय) मेहरन काष्ठकाटविशेष । पूयरगा पूतरा जलान्तवतिनो लवणा कृष्णमुखा जीवा । माइवाही-मातुवाहिना गुर्जरदेशप्रमिद्धा बुडेलीति आदिग्रहणादील्लिनादयोऽनुता अपि द्वीन्द्रिया प्राणा । जा त्रि प्र १० मिमिणो सोमगला चैव अलसा माइवान्या । वासीमुहा य मिप्पिया सस सखणा तहा ॥ घन्तोयाखुल्लया चैव तहेव य वराडगा । जट्टगा चैव चन्दणा य तहेव य ॥ उक्त २६, १२९-१३० स किं त वेइदिया ? वेइदिया अणगविहा पचत्ता । त जहा, पुलाकिमिया, कुष्ठिभिमिया, गहूयलगा, गोलोमा, णउरा, सोमगलगा, वगीगहा, सुइसुहा गाजलेया, नलाया, जालाडया, सखा, सखणा, उल्ला, पुन्हा, गुल्या, खधा, वराण, सोत्तिया, मुत्तिया, कडुयागमा, एगओवत्ता, दुइओवत्ता, नदियायत्ता, मडुका, माइवाहा, मिप्पिसुडा, चदणा, समुदल्लिक्खा, जे यावन्ने तहप्पगारा । प्रश्ना १ ४४,

कारके । इन्द्रियाणां स्मृतन्वयप्रिक्षाया प्रोक्तहेतुमन्निधाने मति रमयतीति रसन कर्तृकारके भवति । कोऽस्य विषयः ? रम' । कोऽस्यार्थः ? यदा वस्तु प्राधान्येन विप्रक्षितं तदा वस्तुयतिरिक्तपर्यायाभावाद्दस्तेन रम । एतस्या विप्रक्षायार्थसाधनत्वं रसस्य, यथा रस्यत इति रमः । यदा तु पर्याय' प्राधान्येन विप्रक्षितस्तदा भेदोपपत्ते औदासीन्याप्रस्थितभावरूपनाद्धाप्रसाधनत्वं रमस्य, रसन रम इति । न सूक्ष्मेषु परमाण्वादेषु रसाभावात् उक्तोचरत्वात् । कुत एतयोरुत्पत्तिरिति चेद्वीर्यान्तराप्रस्पर्शनं रसनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति' शेषेन्द्रियसर्पघातिस्पर्धकोदये चाद्गोपाङ्गनामलाभाद्युष्मे द्वीन्द्रियजातिरुमोदयनशरतिताया च सत्या स्पर्शनरमनेन्द्रिये आनिर्भवत' ।

त्रीणि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रिया' । के ते ? कुन्धुमत्पुत्रादयः' । उक्तं च —

शुक्रा—रसना इन्द्रियका विषय क्या है ?

समाधान—रम इन्द्रियका विषय रस है ।

शुक्रा—रस शब्दका क्या अर्थ है ?

समाधान—जिस समय प्रधानरूपसे वस्तु विप्रक्षित होती है, उस समय वस्तुके छोड़कर पर्याय नहा परिजाती है, इसलिये वस्तु ही रस है । इस विप्रक्षामे रमके कर्मसाधनपन है । जैसे, जो चखा जाय, वह रस है । तब जिस समय प्रधानरूपसे पर्याय विप्रक्षित होती है उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद घन जाता है इसलिये जो उदासीनरूपसे अवस्थित भाव है उसका कथन किया जाता है । इसप्रकार रसके भावसाधनपना भी घन जाता है । जैसे आस्वादनरूप क्रियाधर्मको रस कहते हैं । सूक्ष्म परमाणु आदिमें रसका अभाव हो जायगा, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, इसका उत्तर पहले दे आये है ।

शुक्रा—स्पर्शन और रसना इन दोनों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है ?

समाधान—वीर्यान्तराय और स्पर्शन च रसनेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम होने पर, शेष इन्द्रियावरण कर्मके सर्पघाती स्पर्धकोंके उदय होने पर, आगोपाङ्ग नामकर्मके उदयकी यशवर्तिता होने पर स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रिया उत्पन्न होती हैं ।

जिनके तीन इन्द्रिया होती हैं उन्हें त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शुक्रा—ये तीन इन्द्रिय जीव कौन कौन हैं ?

समाधान—कुन्धु और कटमल आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं । कहा भी है—

१ प्रबो य त रा वा २ १९-२०, वा १-१ 'यान्याभ्यां समान ।

२ स हि त तैरिय ससार समान-जावपवपणा' तैरिय ससारसमावप-जावपवपणा अणविविध पनचा । त जहा, जवइया रोगेणिया, कुं, पिपाणिया, उन्मगा, उइरिया उवणिया, उप्पाया, उप्पाणा, तथागारा कडाहारा, भाउया, पवाहारा, तणवणिया पत्तवणिया, पुक्कवाग्या, फलवणिया, बाववणिया, तवणमिणिया तओमिमिणिया, कपामिमिणिया, हिलिया, शिलिया, मिमिण, मिगिरिया, वाहुया, लहुया, सुभगा, सोवधिया सुववटा, इदकादिया, इदगोवया, तुरावया, कुच्छववाग्या, चूया, हलाग्या, पिहया, सपवाइया, गान्हा, तपिसांवा

कुथु पिपीलिक मक्कुण निष्ठिअ-जु इदगोन गोम्ही य ।

उतिरणगट्टियादी' (१) मेया तीइदिया जीरा' ॥ १३७ ॥

कानि तानि त्रीणीन्द्रियाणीति चेत्स्पर्शनरसनप्राणानि । स्पर्शनरसने उक्तलक्षणे । किं प्राणमिति ? करणमाधन घ्राणम् । कुतः ? पारतन्त्र्यादिन्द्रियाणाम् । ततो वीर्यान्तराय-प्राणेन्द्रियापरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभापृष्माङ्गित्यनेनात्मेति घ्राणम् । कर्तृसाधन च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायामिन्द्रियाणाम् । दृश्यते चेन्द्रियाणां लोके स्वातन्त्र्यविवक्षा, यथेदं मेऽक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्गः सुष्ठु शृणोतीति । ततः पूर्वोक्तहेतुमन्निधाने

कुन्नु, पिपीलिका, खटमल, चिन्डू, जू, इन्द्रगोप, कनसजुरा, तथा उतिरण नट्टियादिक कीटविशेष, ये सब त्रीन्द्रिय जीव हँ ॥ १३७ ॥

शका—ये तीन इन्द्रिया कौन कौन हैं ?

समाधान—स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रिया ह । इन्से स्पर्शन और रसनाका लक्षण कह आवे । अथ घ्राण इन्द्रियाका लक्षण कहते ह—

शका—घ्राण किसे कहते ह ?

समाधान—घ्राण शब्द करणसाधन है, क्योंकि, पारतन्त्र्यविवक्षामे इन्द्रियोंके करण-साधन होता है । इसलिये वीर्यान्तराय और घ्राणेन्द्रियापरण कर्मके क्षयोपशम तथा आगोपाम नामकर्मके उदयके आलम्बनमे जिसके द्वारा सूखा जाता है उसे घ्राण इन्द्रिय कहते ह । अथवा, इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्यविवक्षामें घ्राण शब्द कर्तृसाधन भी होता है, क्योंकि, लोकमें इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्यविवक्षा भी देखी जाती है । जैसे, यह मेरी आख अन्धी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है । अतः पहले कहे हुए हेतुओंके मिलने पर जो सूत्रती है उसे घ्राण इन्द्रिय कहते ह ।

ये यात्रे तहपमारा । मत्ता २ ४५

१ अ प्रती 'उतिरण' म प्रती च 'उतिरण' इति पाठ ।

२ कुंभुपिपीलिने प्रताने । मकुणट्टिस्यूनेन्द्रगोपाध्याये प्रसिद्धा एव । गोमीनि शुभि कर्णशृगाली (कनसजुरा इति पिपीलायाया) विशेषपरिहानायायेऽपि त्रीन्द्रियनीमा उल्लिखते । गोमीमकुणचूआपिपीलि-उदेहिया य मकाडा । इलियक्षयमिलिआओ सारय गोमीडवाइजा ॥ गदह्यचौरसीगोमीमयीडा य धाकाडा य । कुंठु कुं (गौ) वालिय जलिया तेइदिय इदगोनाइ ॥ उदेहिया उपदहिया गोमीस्य । इलिआ धायादिपुपता । 'पयमि' सि घटलिआ । 'सारयेति' लोभमाधया सारा, ते मकुयाणामउभोदहन प्राणभावनेनि कटे धरीररेषेपुषयत्त । गोमीडजा प्रतीता एव । जानिमहणेन मरतिरन्वा कपायययेपुपताध जम्बुसचिचडादये माघा । गदह्य गदमरा (गोलाभ्यनजन्त) चौरसीग, (विष्टो पनवत्त) गोमयकीगरागणोपवा । धायकाग पुणवनं प्रमिद्धा । रोमाध रनानामिद्धा । जा नि प्र ५ ११ कृपुपिपीलिइमा उमट्टेहिया तग । तण्णरगट्टहारा य माट्टा पत्तहारगा ॥ कपापडिमे तायनि दुगा तउमभिजगा । मदाररी य गुम्मी य बोवन्वा इन्द-गादया ॥ इन्दगोनागमाइया नेमहा पवमायओ । उव ३६, १३८-१४०

सति जिघ्रतीति घ्राणम् । कोऽस्य विषयः ? गन्धः । अयं गन्धशब्दः कर्मसाधनः । कुतः ? यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदा न ततो व्यतिरिक्ताः स्पर्शादयः केचन सन्तीति । एतस्या विवक्षायां कर्मसाधनत्वं स्पर्शादीनामवसीयते, गन्धवत् इति गन्धो वस्तु । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यात्स्थितभाव-कथनाद्भाषसाधनत्वं स्पर्शादीनां युज्यते, गन्धेन गन्ध इति । कुत एतेषामुत्पत्तिरिति चेद्वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियमवधत्तस्पर्शकोदये चाङ्गोपाङ्गनामलाभापृम्भे त्रीन्द्रियजातिरुर्मोदयवशवर्तिताया च सत्या स्पर्शनरसन घ्राणेन्द्रियाण्याभिर्भवन्ति ।

चत्वारि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः । के ते ? मशकमक्षिकादयः ।

उक्तं च—

शका—घ्राण-इन्द्रियका विषय क्या है ?

समाधान—इस इन्द्रियका विषय गन्ध है ।

यह गन्ध शब्द कर्मसाधन है, क्योंकि, जिस समय प्रधानरूपमें द्रव्य विवक्षित होता है, उससमय द्रव्यसे भिन्न स्पर्शादिक कुछ भी नहीं रहते हैं, इसलिये इस विवक्षामें स्पर्शादिकके कर्मसाधन समझना चाहिये । जैसे, 'जो सूँघा जाय' इसप्रकारकी निरुक्ति करने पर गन्ध द्रव्यरूप ही पड़ता है । तथा जिससमय प्रधानरूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, अतएव उदासीनरूपसे अवस्थित जो भाव है, वही कहा जाता है । इसतरह स्पर्शादिकके भावसाधन भी बन जाता है । जैसे सूँघनेरूप क्रिया धर्मको गन्ध कहते हैं ।

शका—इन तीनों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है ?

समाधान—वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना तथा घ्राण इन्द्रियावरणके क्षयोपशमके होने पर, शेष इन्द्रियावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्शको के उदय होने पर, आगोपाग नामकर्मके उदयके आलम्बन होने पर और त्रीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयकी वशवर्तिताके होने पर स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रिया उत्पन्न होती हैं ।

जिनके चार इन्द्रिया पाई जाती हैं वे चतुरिन्द्रिय जीव होते हैं ।

शका—वे चतुरिन्द्रिय जीव कौन कौन हैं ?

समाधान—मच्छर, मक्खी आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं । कहा भी है—

१ प्रबोधय त रा वा २ २९-२०, वा १-१ व्याख्यायां समान ।

२ स ति त चतुरिन्द्रिय समारमभावस जीवपत्रवणा ? २ जगैविहा पक्षता । त जहा, अधिय पचिय मण्डिय मसगा बी० तहा पयग य । डकुण डुकुण डुवडुह नदावसे य मिंगिरे ॥ विष्णुपत्ता, नीलपत्ता, राट्टियपत्ता, हालिइपत्ता, धुबिल्लपत्ता, चित्तपत्ता, विचित्रपत्ता, जोहजलिया, जटारिया, गमारा, नागिया, ततवा,

मकडय भमर-महुवर-मसप-गयगा य सलह-गोमच्छी ।

मच्छी सद्रस कीडा गेया चउरिदिया जीरा ॥ १३८ ॥

कानि तानि चत्पारीन्द्रियाणीति चेत्स्पर्शनरसनप्राणचक्षुषि । स्पर्शनरसनप्राणानि उत्कलक्षणानि । चक्षुषः स्वरूपमुच्यते । तद्यथा, करणसाधन चक्षुः । कुतः ? चक्षुषः पारतन्त्र्यात् । इन्द्रियाणां हि लोके पारतन्त्र्यप्रिक्षा दृश्यते आत्मनः स्वातन्त्र्यप्रिक्षायाम् । यथानेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमीति । ततो वीर्यान्तराय-चक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभापटम्भाचक्षुः । अनेकार्थत्वादर्शनार्थप्रिक्षायां चक्षुष्यान् पश्यत्यनेनेति चक्षुः । चक्षुषः कर्तृसाधन च भवति स्वातन्त्र्यप्रिक्षायाम् । इन्द्रियाणां हि लोके स्वातन्त्र्यप्रिक्षा च दृश्यते, यथेद मेऽक्षि सुष्ठु पश्यति, अय मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति । ततः पूर्वोक्तहेतुसन्निधाने सति चष्ट इति चक्षुः । कोऽस्य

मकडी, भौरा, मधु मन्खी, मचउर, पतग, शलभ, गोमन्खी, मन्खी, और दशसे दशनेवाले कीड़ोंको चतुरिन्द्रिय जीव जानना चाहिये ॥ १३८ ॥

शका—वे चार इन्द्रियां कौन कौन हैं ?

समाधान—स्पर्शन, रसना, घ्राण, और चक्षु ये चार इन्द्रिया हैं । इसमेंसे स्पर्शन, रसना, और घ्राणके लक्षण कह आये । अब चक्षु इन्द्रियका स्वरूप कहते हैं । यह इसप्रकार है । चक्षु इन्द्रिय करणसाधन है, क्योंकि, उसकी पारतन्त्र्यविवक्षा है । जिस समय आत्माकी स्वातन्त्र्यविवक्षा होती है, उस समय लोकमें इन्द्रियोंकी पारतन्त्र्यविवक्षा देखी जाती है । जैसे, इस चक्षुसे अच्छी तरह देखता हूँ, इस कानसे अच्छी तरह सुनता हूँ । इसलिये वीर्यान्तराय और चक्षु इन्द्रियावरणके क्षयोपशम और आगोपाग नामकर्मके उदयके लाभसे जिसके द्वारा पदार्थ देखे जाते हैं उसे चक्षु इन्द्रिय कहते हैं । यद्यपि 'चक्षिड्' धातु अनेक अर्थोंमें आती है, फिर भी यहा पर दर्शनरूप अर्थकी विवक्षा होनेसे 'जिसके द्वारा पदार्थोंको देखता है वह चक्षु है' ऐसा अर्थ लेना चाहिये । तथा स्वातन्त्र्यविवक्षामें चक्षु इन्द्रियके कर्तृसाधन भी होता है, क्योंकि, इन्द्रियोंकी लोकमें स्वातन्त्र्यविवक्षा भी देखी जाती है । जैसे, मेरी यह आख अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है । इसलिये पहले कहे गये हेतुओंके मिलने पर जो देखती है उसे चक्षु इन्द्रिय कहते हैं ।

शका—इस इन्द्रियका विषय क्या है ?

अच्छिरोडा, अच्छिबेडा, सारंगा, नेउरा, दोला, ममरा, मल्लि, जहडा, तोडा, मिर्ग्या, पतविच्छुया, छाणविच्छुया, जन्विच्छुया, पियगाला, वणगा, गामयकीडा, जे बावने तहपगारा । प्रश्ना १ ४६

१ अधिया पोरिया चेव मच्छिया ममगा तग । ममरे कीडपये य टंजु उवकुडो तहा ॥ कुक्कुडे मिगिरीडी य नदावचे य विच्छुण । टोल मिगारी य नियडी अच्छिबेड ॥ अच्छिडे माण अच्छिरोड विधिते चितपसण । उर्दिजिया जहगारी य नाया तवरयाया ॥ इय चउरिदिया एण्णेगहा एवमायओ ॥ उक्त ३६, १४७ १५०

मुन्यते । मौल्यनिवतक कर्म सूक्ष्मम् । तथापि चतुषोऽग्राह्य सूक्ष्मशरीरम्, तद्ग्राह्य
 यात्रामिति तद्वत्ता तद्व्यपदेशो हठादास्फुटते । ततश्चतुर्ग्राह्या यात्रा, अचतुर्ग्राह्या
 सूक्ष्मा इति तेषामेताभ्यामेव भेदः समापतदन्यथा तेषामपिशेषतापत्तेरिति चेन्न, स्थूलाश्च
 भवन्ति चतुर्ग्राह्याश्च न भवन्ति, को विरोधः स्यात् ? सूक्ष्मजीवशरीरादसरयेयगुण शरीर
 यादरम्, तद्वन्तो जीवाश्च यादरा । ततोऽसरयेयगुणहीन शरीर सूक्ष्मम्, तद्वन्तो जीवाश्च
 सूक्ष्मा उपचाादित्यपि कल्पना न ताधी, सर्वजन्ययादराङ्गात्सूक्ष्मकर्मनिर्गतिस्तस्य सूक्ष्म
 शरीरस्यासरयेयगुणत्वतोऽनेकान्तात् । ततो वादरकमादयन्तो यादराः, सूक्ष्मकमादयन्त
 सूक्ष्मा इति सिद्धम् । कोऽनयो कर्मणोरुदययोर्भेदश्चेन्मूतरन्ये प्रतिहन्यमानशरीरनिर्गतिर्को
 वादरकर्मोदय, अप्रतिहन्यमानशरीरनिर्गतिः सूक्ष्मकमादय इति तयोर्भेदः । सूक्ष्मत्वा

यह सूक्ष्म शरीर है, और जो उसके द्वारा ग्रहण करने योग्य है यह वादर शरीर है, अतः सूक्ष्म और
 वादर कर्मके उदयवाले सूक्ष्म और वादर शरीरसे युक्त जीवाका सूक्ष्म और वादर सत्ता हठात्
 प्राप्त हो जाती है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जो चतुसे ग्राह्य है वे वादर हैं, और जो चतुसे
 अग्राह्य है वे सूक्ष्म हैं । सूक्ष्म और वादर जीवोंके इन उपर्युक्त लक्षणोंसे ही भेद प्राप्त हो गया ।
 यदि उपर्युक्त लक्षण न माने जाय, तो सूक्ष्म और वादरका कोई भेद नहीं रह जाता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, स्थूल तो हा और चतुसे ग्रहण करने योग्य न हों,
 इस कथनम न्या विरोध है ।

शंका—सूक्ष्म शरीरसे असंख्यानुगुणी अधिक अवगाहनावाले शरीरको वादर कहते
 हैं, और उस शरीरसे युक्त जीवोंको उपचारसे वादर जीव कहते हैं । जयया, वादर शरीरसे
 असंख्यातगुणी हों जवगाहनावाले शरीरको सूक्ष्म कहते हैं, और उस शरीरसे युक्त जीवोंको
 उपचारसे सूक्ष्म जीव कहते हैं ?

समाधान—यह कल्पना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, सबसे जगत् वादर शरीरसे सूक्ष्म
 नामकर्मके द्वारा निमित्त सूक्ष्म शरीरकी अवगाहना असंख्यातगुणी होनेसे ऊपरके कथनमें अने
 का तदोष आता है । इसलिये जिन जीवोंके यादर नामकर्मका उदय पाया जाता है वे वादर हैं,
 और जिनके सूक्ष्म नामकर्मका उदय पाया जाता है वे सूक्ष्म हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शंका—सूक्ष्म नामकर्मके उदय और वादर नामकर्मके उदयमें क्या भेद है ?

समाधान—वादर नामकर्मका उदय दूसरे भूत पदार्थोंसे आघात करने योग्य शरीरको

१ यदुदयादययात्रायास्तदा भवति तद् वादरनाम । सूक्ष्मशरीरनिवत्त सूक्ष्मनाम । गा क, जा प्र, टा ३३
 स ति ८ ११

२ यदुदयादययात्रायास्तदा भवति तद् वादरनाम, पृथि वादरकर्मकारणं चतुर्ग्राह्य
 त्वामात्रि वादरवपरिणामविशेषात् चतुर्ग्राह्य समुदाये चतुर्ग्राह्य ग्रहणं भवति । तद्विषयान् सूक्ष्मनाम, यदुदयादययात्रायास्तदा
 समुदायानामि चतुर्ग्राह्याणां चतुर्ग्राह्याणां न भवति । न प्र पृ ७

३ वादरसूक्ष्मद्वयं य वादरसूक्ष्मा इति नद्वयं । वादरशरीरं धृतं अनाददहं हव सुदुर्लभं ॥ गा जी १८३

सूक्ष्मजीवानां शरीरमन्यैर्न मूर्तद्रव्यैरभिहन्यते ततो न तत्प्रतिघातः सूक्ष्मकर्मणो विपाका-
दिति चेन्न, अन्यैरप्रतिहन्यमानत्वेन प्रतिलब्धसूक्ष्मव्यपदेनभाज. सूक्ष्मशरीरादमरयेय-
गुणहीनस्य वादरकर्मोदयत. प्राप्तवाद्रव्यपदेशस्य सूक्ष्मत्वं प्रत्यविशेषतोऽप्रतिघाततापत्तेः ।
अस्तु चेन्न, सूक्ष्मवाद्रकर्मोदययोरविशेषतापत्तेः । सूक्ष्मशरीरोपादायक सूक्ष्मकर्मोदयश्चेन्न,
तस्मादप्यसंन्येयगुणहीनस्य वादरकर्मनिर्गतिरिति तस्य शरीरस्योपलम्भात् । तत्तुतोऽप्यमीयत
इति चेद्वेदनाक्षेत्रविधानसृजात् । तद्यथा —

‘सत्त्वस्थोऽपि सुप्तमणिगोदजीव अपञ्चत्तयस्म जहणिया ओगाहणा । सुप्तमाउ-
सुप्तमेतउ सुप्तमाउ सुप्तमपुटवि अपञ्चत्तयस्म जहणिया ओगाहणा असंरोजगुणा ।

उत्पन्न करता है । और सूक्ष्म नामकर्मका उदय दूसरे मूर्त पदार्थोंके द्वारा जागत नहीं करने
योग्य शरीरको उत्पन्न करता है । यही उन दोनोंमें भेद है ।

शंका—सूक्ष्म जीवानां शरीर सूक्ष्म होनेसे ही अन्य मूर्त द्रव्योंके द्वारा आघातको
प्राप्त नहीं होता है, इसलिये मूर्त द्रव्योंके साथ प्रतिघातका नहीं होना सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे
नहीं मानना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर दूसरे मूर्त पदार्थोंके द्वारा आघातको नहीं
प्राप्त होनेसे सूक्ष्म सत्त्वाको प्राप्त होनेवाले सूक्ष्म शरीरमें असत्प्रातगुणी हीन अग्राहनावाले,
और वाद्र नामकर्मके उदयसे वाद्र सत्त्वाको प्राप्त होनेवाले वाद्र शरीरकी सूक्ष्मताके
प्रति कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अतएव उसका भी मूर्त पदार्थमें प्रतिघात नहीं होगा
ऐसी आपत्ति जाजायगी ।

शंका—आज्ञाने दो ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर सूक्ष्म और वाद्र नामकर्मके उदयमें
फिर कोई विशेषता नहीं रह जायगी ।

शंका—सूक्ष्म नामकर्मका उदय सूक्ष्म शरीरको उत्पन्न करनेवाला है, इसलिये उ-
पानोंके उदयमें भेद है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सूक्ष्म शरीरसे भी असत्प्रातगुणी हीन अवग्राहनावाले
और वाद्र नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए वाद्र शरीरकी उपलब्धि होती है ।

शंका—यह कैसे जाना ?

समाधान—वेदना नामक चौथे राशदागमके क्षेत्राधुयोगद्वारस्तरन्धी निम्न सूत्रोंसे
जाना जाता है । वे इसप्रकार हैं—

सूक्ष्म निगोद्विया लब्धपर्याप्तक जीवकी जघन्य अग्राहना सबसे स्तोका (योही)
है । सूक्ष्म वायुकायिक, सूक्ष्म अग्निकायिक, सूक्ष्म जलकायिक और सूक्ष्म पृथिवीकायिक लब्ध
पर्याप्तक जीवकी जघन्य अग्राहना सूक्ष्म निगोद्विया लब्धपर्याप्तककी जघन्य अवग्राहनासे

वादरवाउ-वादरतेउ-वादरआउ-वादरपुढवि-वादरणिगोटजीव-वादरवणफुटिकाइयपत्तेय-सरीर-अपञ्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा अससेज्जगुणा । नेडदिय तेडदिय-चउरिदिय-पचिंदिय-अपञ्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा अससेज्जगुणा । सुहमणिगोट पञ्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा अससेज्जगुणा । तस्मेन अपञ्जत्तयस्स उवस्मिया ओगाहणा विसेमाहिया । तस्मेन पञ्जत्तयस्स उवस्मिया ओगाहणा विसेमाहिया । सुहमनाउकाइय सुहमतेउकाइय सुहमआउकाइय सुहमपुढनिकाइय पञ्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा अससेज्जगुणा । तस्मेन अपञ्जत्तयस्स उवस्मिया ओगाहणा विसेमाहिया । तस्मेन पञ्जत्तयस्स उवस्मिया ओगाहणा विसेमाहिया । वादरनाउकाइय-वादरतेउकाइय वादर-आउकाइय-वादरपुढनिकाइय-वादरणिगोटजीव-पञ्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा अससेज्जगुणा । तस्मेन अपञ्जत्तयस्स उवस्मिया ओगाहणा विसेमाहिया । तस्मेन पञ्जत्तयस्स उवस्मिया ओगाहणा विसेमाहिया । 'वादरवणफुटिकाइयपत्तेय

उत्तरोत्तर असस्यातगुणी हे । सूक्ष्म पृथिवीकायिक लघ्वपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहनासे वादर वायुकायिक, वादर अग्निनायिक, वादर जलकायिक, वादर पृथिवीनायिक, वादरनिगोद ओर सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक लघ्वपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर असस्यातगुणी हे । सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक लघ्वपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहनासे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक, वीट्टिय, वीट्टिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय लघ्वपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर असस्यातगुणी हे । लघ्वपर्याप्तक पचेन्द्रिय जीवकी जघन्य अवगाहनासे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असस्यातगुणी हे । इससे सूक्ष्म निगोदिया लघ्वपर्याप्तक की उत्तरे अवगाहना कुछ अधिक है । इससे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तक की उत्तरे अवगाहना कुछ अधिक है । इससे सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना असस्यातगुणी है । इससे सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्तक की उत्तरे अवगाहना विशेष अधिक है । इससे सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्तक की उत्तरे अवगाहना विशेष अधिक है । इसीतरह सूक्ष्म वायुकायिकसे सूक्ष्म अग्निनायिक, उससे सूक्ष्म जलकायिक, उससे सूक्ष्म पृथिवीकायिकसम्बन्धी प्रत्येक की कमसे पर्याप्त, अपर्याप्त और पर्याप्तसम्बन्धी जघन्य, उत्तरे और उत्तरे अवगाहना उत्तरोत्तर असस्यातगुणी, विशेषाधिक और विशेषाधिक समग्र लेना चाहिये । इसीतरह सूक्ष्मपृथिवीकायिक पर्याप्त की उत्तरे अवगाहनासे वादर वायु कायिक, उससे वादर अग्निनायिक, उससे वादर जलनायिक, उससे वादर पृथिवीनायिक, उससे वादर निगोद जीव और उससे निगोदप्रतिष्ठित वनस्पतिकायिकसम्बन्धी प्रत्येक की कमसे पर्याप्त, अपर्याप्त और पर्याप्तसम्बन्धी जघन्य, उत्तरे और उत्तरे अवगाहना उत्तरोत्तर असस्यातगुणी, विशेषाधिक और विशेषाधिक समग्रना चाहिये । सप्रतिष्ठित प्रत्येक की उत्तरे

सरीरपञ्चतयस्स जहणिया ओगाहणा असखेज्जगुणा । वेडंदि-पञ्चतयस्स जहणिया ओगाहणा असखेज्जगुणा । तेडंदि-चउरंदि-पचिदि-पञ्चतयस्स जहणिया ओगाहणा सखेज्जगुणा । तेडंदि-चउरंदि वेडंदि यादरपणफुदिआइयपत्तेयमरीर-पार्चदि-अपञ्चतयस्स उवास्सिया ओगाहणा सखेज्जगुणा । तस्सेन पञ्चतयस्स पि सखेज्जगुणा' चि ।

परमर्तद्वयैरप्रानिहन्यमानशरीरनिर्वर्तक सूक्ष्मकर्म । तद्विपरीतशरीरनिर्वर्तक यादर-कर्मैति स्थितम् । तत्र यादराः सूक्ष्माश्च द्विविधाः, पर्याप्ताः अपर्याप्ता इति । पर्याप्त-

अवगाहनासे यादर घनस्पतिकायिक प्रत्येकशरीर पर्याप्तकर्म जघन्य अवगाहना असख्यात गुणी हे । इससे द्वीन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहना असख्यात गुणी है । इससे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर सख्यातगुणी है । पचेन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहनासे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, यादर घनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर और पचेन्द्रिय अपर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर सख्यातगुणी है । पचेन्द्रिय अपर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहनासे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, यादर घनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर और पचेन्द्रिय पर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर सख्यातगुणी है ।

इस उपर्युक्त कथनसे यह बात सिद्ध हुई कि जिसका मूर्त पदार्थोंसे प्रतिघात नहीं होता है ऐसे शरीरको निर्माण करनेवाला सूक्ष्म नामकर्म है, और उससे विपरीत अर्थात् मूर्त पदार्थोंसे प्रतिघातसे प्राप्त होनेवाले शरीरको निर्माण करनेवाला यादर नामकर्म है ।

निधेपार्थ — ऊपर जो सूक्ष्म निगेदिया लब्धपर्याप्तकर्म जघन्य अवगाहनासे लेकर पचेन्द्रिय पर्याप्तकर्म जीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रथम बतला आये है, उसे देखते हुए यह सिद्ध होता है कि सूक्ष्म जीवोंकी मध्यम अवगाहना यादरोंसे भी अधिक होती है । इसलिये जोड़ी यही अवगाहनासे स्थूलता और सूक्ष्मता न मानकर स्थूल और सूक्ष्म कर्मके उदयसे सप्रतिघात और अप्रतिघातवाले शरीरको यादर और सूक्ष्म कहते हैं । तथा ऊपर जो वेदनागण्टके सूत्र उद्धृत किये हैं उनमें सप्रतिष्ठित यादर घनस्पतितसे अप्रतिष्ठित यादर घनस्पतिका स्थान स्वतः माना है । फिर भी यहाँ 'सन्वत्थोवा' इत्यादि उद्धृत सूत्रमें सप्रतिष्ठितके स्थानको अप्रतिष्ठितके स्थानमें अंतर्भूत करके सप्रतिष्ठित घनस्पतिका स्वतन्त्र स्थान नहीं बतलाया है ।

इनमें, यादर और सूक्ष्म दोनों ही प्रत्येक दो दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त ।

१ नं सं सु २९-३३ एहमणिमानेआभूतनिआगुणिपदिद्विदं इदं । विविचपमादित्थं प्यासाण निमेदी य ॥ अपदिन्द्रियत्वेणं विविचपविचित्रपदिद्विदं सयत्तं । विविचपदिद्विदं च य सयत्तं वादाण्णुदिद्विदं ॥ अवसमपुण्ण पदमं साल पुण्ण विदियत्तदिगोला । पुण्णिदापुण्णवार्णं जहण्णमुवसमपुण्णसं ॥ पुण्णवर्णं ततो वरं अपुण्णस्तं पुण्णवर्णसं । वापुण्णजहण्णं चिं जससं मीरं गुणं ततो ॥ एहमेदरमगणारी पाण्डिपत्त्या जगममगो दु । एतये मणिया अद्विया तं मणपिमाणा ॥ गो जी ९७-१०२

कर्मोदयवन्तः पर्याप्ताः । तदुदयवन्तमनिष्पन्नशरीराणां कथं पर्याप्तव्यपदेशो घटत इति चेन्न, नियमेन शरीरनिष्पादकानां भाविनि भूतपदुपचारतस्तदनिरोधात् पर्याप्त नामकर्मोदयवहचाराद्धा । यदि पर्याप्तजन्त्रो निष्पात्तिराचक्र, तैस्ते निष्पन्नाः इति चेत्पर्याप्तिभिः । क्रियत्यस्ता इति चेत्सामान्येन यद् भवन्ति, आहारपर्याप्ति शरीर पर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति आनापानपर्याप्ति भाषापर्याप्ति मन पर्याप्तिरिति ।

तत्राहारपर्याप्तेरर्थ उच्यते । शरीरनामकर्मोदयात् पुद्गलविषाकिनि आहारपर्याप्ति गतपुद्गलस्फुरा समप्रतानन्तपरमाणुनिष्पादिता आत्मपुद्गलस्थेयथा कर्मस्कन्धमम्वन्धतो मूर्तिभूतमात्मानं समप्रतानेन समाश्रयन्ति । तेषामुपगतानां पुद्गलस्कन्धानां सलम्भपर्याप्ये परिणमनशक्तेनिमित्तानामाप्तिराहारपर्याप्तिः । ना च नान्तर्मुहूर्तमन्तरेण समयैर्नैकैर्गोप- जायते आत्मनोऽक्रमेण तथात्रिपरिणामाभावात् शरीरोपादानश्रयममयादागम्यान्तर्मुहूर्ते

उनमेंसे जो पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त है उन्हे पर्याप्त कहते हैं ।

शङ्का— पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त होते हुए भी जब तक शरीर निष्पन्न नहीं हुआ है तब तक वह पर्याप्त कर्मे कह सकते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, नियमसे शरीरको उत्पन्न करनेवाले जीवोंके, होनेवाले कार्यमें यह कार्य हो गया, इसप्रकार उपचार कर लेनेसे पर्याप्त सत्ता करनेमें कोई विरोध नहीं आता है । अथवा, पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त होनेके कारण पर्याप्त सत्ता दी गई है ।

शङ्का— यदि पर्याप्त शब्द निष्पात्ति राचक है तो यह घटलाइये कि ये पर्याप्तजीव किनसे निष्पन्न होते हैं ।

समाधान— पर्याप्तियोंसे निष्पन्न होते हैं ।

शङ्का— ये पर्याप्तियाँ किनकी हैं ?

समाधान— सामान्यकी अपेक्षा उह है, आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, आनापानपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मन पर्याप्ति । इनमेंसे, पहले आहारपर्याप्तिका अर्थ कहते हैं । शरीर नामकर्मके उदयसे जो परस्पर अनन्त परमाणुओंके सञ्चयसे उत्पन्न हुए हैं, और जो आत्मासे व्याप्त आकाश क्षेत्रमें स्थित हैं ऐसे पुद्गलविषाकी आहारपर्याप्ति सव्यापी पुद्गलस्फुर, कर्मस्कन्धके सवन्धसे स्वाचित् मूर्तिपनेको प्राप्त हुए आत्माके साथ समग्रारूपसे सञ्चयको प्राप्त होते हैं, उन सब भाग और रस भागके भेदसे परिणमन करनेरूप शक्तिसे बने हुए आगत पुद्गलस्फुरोंकी प्राप्तिको आहारपर्याप्ति कहते हैं । वह आहारपर्याप्ति अन्तर्मुहूर्तके बिना केवल एक समयमें उत्पन्न नहीं हो जाती है, क्योंकि, आत्माका परमाय आहारपर्याप्तिरूपसे परिणमन नहीं हो सकता है । इसलिये शरीरको ग्रहण करनेके प्रथम समयसे लेकर एक अन्तर्मुहूर्तमें आहारपर्याप्ति निष्पन्न होती है । निलम्बी कालीके

नाहारपर्याप्तिनिष्पद्यत' इति यावत् । त खलभागं तिलखलोपममस्यादिस्थिराभ्यस्तिल-
तैलममान स्मभाषि स्मरुधिरग्माशु कृदिद्राभ्यस्तैलारिकादिशरीरत्रयपरिणामशक्त्युपेताना
स्कन्धानामप्राप्तिः शरीरपर्याप्तिः । माहारपर्याप्तेः पश्चादन्तर्मुहूर्तेन निष्पद्यते । योग्य-
देशस्थितरूपादिप्रतिष्ठितार्थग्रहणशक्त्युत्पत्तेर्निमित्तपुद्गलप्रचयाप्राप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः । नापि
ततः पश्चादन्तर्मुहूर्तादुपजायते । न चेन्द्रियनिष्पत्तेः सत्यामपि तस्मिन् क्षणे बाह्यार्थ-
विषयविज्ञानमुत्पद्यते तदा तदुपकरणभावात् । उन्मूलमनिस्मरणशक्तेरनिष्पत्तिनिमित्त-
पुद्गलप्रचयाप्राप्तिरानापानपर्याप्तिः । एषापि तस्मादन्तर्मुहूर्तकाले समतीति भवेत् । भाषा-
वर्गणायाः स्कन्धाद्यनुविधभाषाकारेण परिणमनशक्तेरनिमित्तनोक्तमपुद्गलप्रचयाप्राप्तिर्भाषा-
पर्याप्तिः । एषापि पश्चादन्तर्मुहूर्तादुपजायते । मनोवर्गणास्कन्धनिष्पन्नपुद्गलप्रचयः अनु-
भूतार्थस्मरणशक्तिनिमित्तः मन पर्याप्तिः द्रव्यमनोऽपष्टम्भेनानुभूतार्थस्मरणशक्तेरुत्पत्ति-
र्मन पर्याप्तिर्ना । एतामा प्रारम्भोऽक्रमेण जन्मममयादिरभ्य तामा सत्तयाभ्युपगमात् ।

समान उस मलभागको हृद्दी आदि कठिन अवयवरूपसे और तिलके तेलके समान रसभागको
रस, रुधिर, वसा, घीर्य आदि द्रव अवयवरूपसे परिणमन करनेवाले औदारिक आदि तीन
शरीरोंकी शक्तिसे युक्त पुद्गलस्कन्धोंकी प्राप्तिको शरीर पर्याप्ति कहते हैं । यह शरीर पर्याप्ति
आहार पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होती है । योग्य देशमें स्थित
रूपादिसे युक्त पदार्थोंके ग्रहण करनेरूप शक्तिकी उत्पत्तिके निमित्तभूत
पुद्गलप्रचयकी प्राप्तिको इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं । यह इन्द्रिय पर्याप्ति भी शरीर पर्याप्तिके
पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होती है । परन्तु इन्द्रिय पर्याप्तिके पूर्ण हो जाने पर भी उसी
समय बाह्य पदार्थसकन्धी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि, उस समय उसके उपकरणरूप
द्रव्येन्द्रिय नहीं पाई जाती है । उच्छ्वास और निद्रासरूप शक्तिकी पूर्णताके निमित्तभूत
पुद्गलप्रचयकी प्राप्तिको आनापान पर्याप्ति कहते हैं । यह पर्याप्ति भी इन्द्रिय पर्याप्तिके अन-
न्तर एक अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत होने पर पूर्ण होगी । भाषावर्गणाके स्कन्धोंके निमित्तसे
चार प्रकारकी भाषारूपसे परिणमन करनेकी शक्तिके निमित्तभूत नोक्तम पुद्गलप्रचयकी
प्राप्तिको भाषा पर्याप्ति कहते हैं । यह पर्याप्ति भी आनापान पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुह-
ूर्तमें पूर्ण होती है । अनुभूत अर्थके स्मरणरूप शक्तिके निमित्तभूत मनोवर्गणाके स्कन्धोंसे
निष्पन्न पुद्गलप्रचयको मन पर्याप्ति कहते हैं । अथवा, द्रव्यमनके आलम्बनसे अनुभूत अर्थके
स्मरणरूप शक्तिकी उत्पत्तिको मन पर्याप्ति कहते हैं । इन छहों पर्याप्तिथोंका प्रारम्भ युगपत्

१ जाहारपर्याप्तिश्च प्रथममय एव निष्पद्यते XXX आहारपर्याप्त्या अव्याप्ती विग्रहताववापद्यते
नोपपातक्षेत्रमागतोऽपि, उपपातक्षेत्रमागतस्य प्रथममय एसागरत्वात् । तत एवामयित्री आहारपर्याप्तिनिवृत्तिः ।
न सू १७ ट

२ गो जा गा ११० न सू १७ जनयोनीना विशेषानुसंधानाय नटया ।

निष्पत्तिस्तु पुनः क्रमेण । एतामामनिष्पत्तिरपर्याप्ति' ।

पर्याप्तिप्राणयोः को भेद इति चेन्न, जनयोहिमरुद्धि-व्ययोगिभेदोपलम्भात् । यत् आहारशरीरेन्द्रियात्तापानभाषामनःशक्तीनां निष्पत्तेः कारणं पर्याप्ति' । प्राणिति एभिरात्मेति प्राणा' पञ्चेन्द्रियमनोवाचायानापानायपि इति । मरन्तिरन्द्रियायुष्कायाः प्राणव्यपदेश-भाजः तेषामानन्मन आमरणाद्व्यवधारणत्वेनोपलम्भात् । तत्र कस्याप्यभासतोऽसुमता मरणसदृशनाम् । अपि तु न्नात्मनोपचया न प्राणव्यपदेशो युज्यते तान्यन्तरेणापि अपर्याप्ता-वस्थाया जीवनेपलम्भादिति चेन्न, तेषां पश्चाज्जीवतामनुपलम्भतन्तेषामपि प्राणत्वा-निर्गोवात् । उक्तं च—

बाहिर पाणेहि जहा तदेव अन्तरेहि पाणेहि ।

जीवति जेहि जाया पाणा ते होति मोक्षयो ॥ १४१ ॥

ह्यता ह, क्योंकि, जन्म समयसे लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है । परन्तु पूर्णता क्रमसे होती है । तथा इन पर्याप्तियोंकी अपूर्णताको अपर्याप्ति कहते हैं ।

शङ्का— पर्याप्ति और प्राणम क्या भेद है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इनमें हिमवान् और विध्याचल पर्यन्तके समान भेद पाया जाता है । आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनापान, भाषा और मनरूप शक्तियोंकी पूर्णताके कारणसे पर्याप्ति कहते हैं । और जिनके द्वारा आत्मा जीवन सत्ताको प्राप्त होता है उन्हें प्राण कहते हैं । यही इन दोनोंमें भेद है । वे प्राण पाच इन्द्रिया मनोबल, वचनबल कायबल, आनापान और आयुके भेदसे दश प्रकारके हैं

शङ्का—पाचों इन्द्रिया, आयु और मयबल ये प्राण सत्ताको प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि, वे जन्मसे लेकर मरणतक भर (पर्याप्त) को धारण करनेरूपसे पाये जाते हैं । और उनमेंसे किसी एकके अभाव होने पर मरण भी देखा जाता है । परन्तु उच्छ्वास, मनोबल और वचनबल इनको प्राण सत्ता कहा जा सकती है, क्योंकि, इनके बिना भी अपर्याप्त अवस्थामें जीवन पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उच्छ्वास, मनोबल और वचनबलके बिना अपर्याप्त अवस्थाके पश्चात् पर्याप्त अवस्थामें जीवन कहा पाया जाता है, इसलिये उन्हें प्राण माननेमें कोई विरोध नहीं आता है । कहा भी है—

जिसप्रकार नेत्रका खोलना, बन्द करना, वचनप्रवृत्ति, आदि बाह्य प्राणासे जीव जीते

१ पञ्चापट्टवर्ण जगत् तु कर्मण हादि निष्ठवर्ण । जतामुहृत्कालण्डियन्मा तत्तियालावा ॥ गी जा १२०

२ गी जी १२९ हास्त्रानुमधया ।

३ गी जा १२९ तत्र 'जीवति' इति स्थान 'प्राणति' इति पाठ । पाटलिपुत्र-यदिवादि-यापाररूपा न्यप्राणा । तन्निमित्तवृत्तान्तरणत्वात्तराग-न्योपपन्नमादिभिर्भुमिचतन-यापाररूपा मावपाणा । जा प्र द

पर्याप्तिप्राणाना नाग्नि विप्रतिपत्तिर्न प्रस्तुति इति चेन्न, कार्यकारणयोर्भेदात् पर्याप्तिप्राणयोऽमृत्तान्मनोऽगुऽमप्राणानामपर्याप्तकालेऽमृत्तत्वं तयोर्भेदात् । तत्पर्याप्तयोऽयपर्याप्तकाले न सन्तीति तत्र तदमृत्तमिति चेन्न, अपर्याप्तिरूपेण तत्र तत्तत्तत्तत् । त्वमपर्याप्तिरूपमिति चेन्न, पर्याप्तिनामधेनि^१पञ्चाश्या अपर्याप्तिः, ततोऽस्ति तेषां भेद इति । अथवा जीवनहेतुस्य तत्त्वमनपेक्ष्य शक्तिनिष्पत्तिमात्रं पर्याप्तिरुच्यते जीवनहेतुः पुनः प्राणा इति तयोर्भेदः^१ ।

एकेन्द्रियाणां भेदमभिधाय साम्प्रत द्विन्द्रियादीनां भेदमभिधातुकाम उक्तं सूत्रमाह—

ह, उसीप्रकार जिन अभ्यन्तर इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमादिके द्वारा जीवन जीवितपनेन व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं ॥ ४४ ॥

शुक्रा—पर्याप्ति और प्राणके नाममें अर्थात् कहनेमात्रमें विवाद है, वस्तुमें कोई विवाद नहीं है, इसलिये दोनोंका तात्पर्य एक ही मानना चाहिये?

समाधान—न हा, क्योंकि, कार्य और कारणके भेदसे उन दोनोंमें भेद पाया जाता है तथा पर्याप्तियोंमें आयुका सद्भाव नहीं होनेसे आर मनोरल, वचनरल, तथा उच्छ्वास इन प्राणोंके अपर्याप्त अवस्थामें नहीं पाये जानेसे पर्याप्ति और प्राणमें भेद समझना चाहिये ।

शुक्रा—ये पर्याप्तियां भी अपर्याप्त कालमें नहीं पाई जाती हैं, इसलिये अपर्याप्त कालमें उनका सद्भाव नहीं रहेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अपर्याप्त कालमें अपर्याप्तिरूपसे उनका सद्भाव पाया जाता है ।

शुक्रा—अपर्याप्तिरूप इसका क्या तात्पर्य है ?

समाधान—पर्याप्तियोंकी अपूर्णताकी अपर्याप्ति कहते हैं, इसलिये पर्याप्ति, अपर्याप्ति और प्राण इनमें भेद सिद्ध हो जाता है । अथवा, इन्द्रियादिमें विद्यमान जीवनके कारणपनेकी अपेक्षा न रखे इन्द्रियादिरूप शक्तिकी पूर्णतामात्रको पर्याप्ति कहते हैं और जो जीवनके कारण हैं उन्हें प्राण कहते हैं । इसप्रकार इन दोनोंमें भेद समझना चाहिये ।

इसप्रकार एकेन्द्रियाके भेद प्रभेदोंका कथन करके अब द्विन्द्रियादिक जीवोंके भेदोंका

१ आरमात्रमनेवगणायात्तुद्वलरकवाना बलरसमागशरात्रयवृत्तरूपद्रव्यत्रिरूपपात्रा^१मनिद्रामरूपभावा रूपद्रव्यमनोरूपपरिणमनराणां मरुशक्तिनि पतय पर्याप्तय, स्वावग्रण^२पापरकाशरा^३यापारो^४श्रामनिद्रामप्रवृत्ति मरुवाणरूपनावद्ववरा^५राणां मरुनिविशेषा प्राणा इति मिनलक्षणलक्षणित्वान्पयामिप्राणयामदप्रमिद्धे ॥ ना जा, म प्र, टी १३१

वीहंदिद्या दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । तीहंदिद्या दुविहा,
पज्जत्ता अपज्जत्ता । चउरिदिद्या दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । पंचि
दिद्या दुविहा, सण्णी असण्णी । सण्णी दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता ।
असण्णी दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि ॥ ३५ ॥

द्वीन्द्रियादय उक्तार्था इति पुनरुक्तमयात्पुनन्तेषा नेहार्थ उच्यते । अथ सादेतस्य
एतान्त्येन्द्रियाणीति कथमत्रगम्यत इति चेन्न, आर्षात्तदवगतेः । किं तदार्पणमिति चेदुच्यते-

एदियस्स पुमण एव चि य होइ सेस जोगण ।

होति कस-रुद्धियाइ जि भा घाणविज सोत्ताद' ॥ १४२ ॥

अस्य सूत्रस्यार्थ उच्यते । स्पर्शनमेकमेव एकेन्द्रियस्य भवति, स्पर्शनरसने
द्वीन्द्रियस्य, स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियाणि त्रीन्द्रियाणाम्, तानि सचक्षुषि चतुरिन्द्रियाणाम्,
स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियाणि पञ्चेन्द्रियाणामिति । अथवा 'कृमिपिपीलिका

कथन करनेके इच्छुक आचार्य आगेका सूत्र कहते हैं

द्वीन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्तक और अपर्याप्तक । त्रीन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं,
पर्याप्तक और अपर्याप्तक । चतुरिन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्तक और अपर्याप्तक । पञ्चेन्द्रिय
जीव दो प्रकारके हैं, सजी और असजी । सजी जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्तक और अपर्याप्तक ।
असजी जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्तक और अपर्याप्तक ॥ ३५ ॥

द्वीन्द्रिय आदि जीवोंका स्वरूप पहले कह आये है, इसलिये पुनरुक्त सूत्रके भयसे
फिरसे यहाँ नहीं कहते हैं ।

शङ्का—इस जीवके इतनी ही इन्द्रिया होती है, यह कैसे जाना ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आपसे इस बातको जाना ।

शङ्का—यह आगम कौनसा है ?

समाधान—एकेन्द्रिय जीवके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, और शेष जीवोंके
क्रमसे बढ़ती हुई जिह्वा, घ्राण, अग्नि और श्रोत्र इन्द्रिया होती हैं ॥ १४० ॥

अब इस सूत्रका अर्थ कहते हैं । एकेन्द्रिय जीवके एक स्पर्शन इन्द्रिय, द्वीन्द्रिय
जीवके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रिया त्रीन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन
इन्द्रिया, चतुरिन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रिया और पञ्चेन्द्रिय
जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रिया होती हैं । अथवा 'कृमिपिपीलिका

भ्रमरमनुष्यादीनामेकैरुद्वानि' इति अस्मात्तत्त्वार्थसूत्राद्वाच्यमीयते । अस्यार्थ उच्यते । एकैरुद्वद् येषा तानीमानि एकैरुद्वानि । 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इत्येतस्मात्सूत्रात्स्पर्शनमित्यनुवर्तते । तत एवमभिसम्बध्यते, स्पर्शनं रमनवृद्धं कृम्यादीनाम्, स्पर्शनरमने घ्राणवृद्धे पिपीलिकादीनाम्, स्पर्शनरसनघ्राणानि चक्षुर्वृद्धानि भ्रमरादीनाम्, तानि श्रोत्रवृद्धानि मनुष्यादीनामिति' ।

समनस्काः सज्जिन इति । मनो द्विविधम्, द्रव्यमनो भावमन इति । तत्र पुद्गल-निपाकिरुमोदयापेक्षं द्रव्यमन' । वीर्यान्तरायनोऽन्द्रियापरणक्षयोपशमापेक्षात्मनो त्रिशुद्धिर्भावमनः' । तत्र भावेन्द्रियाणामिव भावमनम उत्पत्तिकाल एव सत्त्वादपर्याप्त-कालेऽपि भावमनसः सत्त्वमिन्द्रियाणामिव किमिति नोक्तमिति चेन्न, भावेन्द्रियैरग्राह्य-

भ्रमरमनुष्यादीनामेकैरुद्वानि' इस सूत्रसे यह जाना जाता है कि किस जीवके कितनी इन्द्रिया होती है । अब इस सूत्रका अर्थ कहते हैं—

एक एक इन्द्रिया बढ़ता हुआ क्रम जिन इन्द्रियोंका पाया जावे, ऐसी एक एक इन्द्रियके बढ़ते हुए क्रमरूप पांच इन्द्रिया होती हैं । 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इस सूत्रमेंसे स्पर्शन पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिये ऐसी सम्भव कर लेना चाहिये कि काम आदि छीन्द्रिय जीवोंके स्पर्शनके साथ रसना इन्द्रिय और अधिक होती है । पिपीलिका आदि त्रीन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन और रसनाके साथ घ्राण इन्द्रिय और अधिक होती है । भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राणके साथ चक्षु इन्द्रिय और अधिक होती है । मनुष्य आदि पचेन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षुके साथ श्रोत्र इन्द्रिय और अधिक होती है ।

मनसहित जीवोंको सजी कहते हैं । मन दो प्रकारका है, द्रव्यमन और भावमन । उनमें पुद्गलविपाकी आगोपाग नामकर्मके उदयकी अपेक्षा रमनेवाला द्रव्यमन है । तथा वीर्यान्तराय और नो इन्द्रियापरण कर्मके क्षयोपशमरूप-आत्मामें जो त्रिशुद्धि पैदा होती है वह भावमन है ।

शंका—जीवके नयीन भ्रमरों धारण करनेके समय ही भावेन्द्रियोंकी तरह

१ त सू २ २३

२ पाठोच्यत रा वा २ २३ वा २४ यावयया ममान ।

३ स सि २ ११ । त रा या २ ११ द्रव्यमनः ज्ञानापरणवीर्या वरायक्षयोपशमाहोपाह्लासमनयया गुणदोषविचारस्पर्शादिप्रणिधानस्यामिगुणस्यामनोऽनुप्रादना पुत्रा मनस्वेन परिणता इति पाठलिङ्गम् । स मि ५ ११ । त रा वा ५ ११

४ स मि २ ११ । त रा या २ ११ भावमनस्तान् उपवीगलक्ष्य पुद्गलरत्नमनवात्पोद लिङ्गम् । स मि ५ १९ । त रा वा ५ १९

द्रव्यमय मनसोऽपर्याप्त्यप्यायामन्तित्त्वेऽङ्गीक्रियमाणे द्रव्यमनसो विद्यमाननिरूपणस्यासत्त्वप्रमङ्गात् । पर्याप्तिनिरूपणात्तदन्तित्वं मिद्वयेदिति चेन्न, साधार्यस्मरणशक्तिनिष्पत्तौ पर्याप्ति-व्यपदेशतो द्रव्यमनसोऽभावेऽपि पर्याप्तिनिरूपणोपपत्तेः । न साधार्यस्मरणशक्तेः प्रागस्तित्वं योग्यस्य द्रव्यस्योत्पत्तेः प्राप्त्यभिरोधात् । ततो द्रव्यमनसोऽस्तित्वस्य स्थापकं भवति तस्यापर्याप्त्यप्यायामन्तित्वानिरूपणमिति मिद्वम् । मनस इन्द्रियव्यपदेशश्चिन्त कृत इति चेन्न, इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम् । उपभोक्तुरात्मनोऽनिवृत्तकर्ममभ्यन्तरस्य परमेश्वरशक्तियोगादिन्द्रव्यपदेशमर्हति स्वमर्थान् गृहीतुममर्थस्योपयोगोपकरणलिङ्गमिति न व्यपत्तेः । न च मनस उपयोगोपकरणमस्ति । द्रव्यमन उपयोगोपकरणमस्तीति

भावमनसा भी सत्त्व पाया जाता है, इसलिये जिसप्रकार अपर्याप्त कालमें भावेन्द्रियोंका सद्भाव नष्टा जाता है उसीप्रकार वहां पर भावमनसा सद्भाव क्यों नहीं नष्टा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा नहीं ग्रहण करने योग्य उस्तुभूत मनसा अपर्याप्तिरूप अवस्थामें अस्तित्व स्वीकार करलेने पर, जिसका निरूपण विद्यमान है ऐसे द्रव्यमनके असत्त्वका प्रमग जा जायगा ।

शका—पर्याप्तिके निरूपणसे ही द्रव्यमनका अस्तित्व सिद्ध हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बाह्य ईश्वरी स्मरणशक्तिकी पूर्णतामें ही पर्याप्ति इस प्रकारका व्यवहार मान लेनेसे द्रव्यमनके अभावमें भी मन पर्याप्तिका निरूपण बन जाता है । बाह्य पदार्थोंकी स्मरणरूप शक्तिके पहले द्रव्यमनका सद्भाव उन जायगा ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, द्रव्यमनके योग्य द्रव्यकी उत्पत्तिके पहले उसका सत्त्व मान लेनेमें विरोध आता है । अतः अपर्याप्तिरूप अवस्थामें भावमनके अस्तित्वका निरूपण नहीं करना द्रव्यमनके अस्तित्वका स्थापक है, ऐसा समझना चाहिये ।

शका—मनको इन्द्रिय मन्त्रा क्यों नहीं दी गई ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इन्द्र ज्योत्स्ना आत्माके लिंगरूप इन्द्रिय कहत है । जिसके कर्माका मयन्त्र नही हुआ है, जो परमेश्वररूप शक्तिके स्वरूपसे इन्द्र स्वामीके धारण करता है, परन्तु जो स्वतः पदार्थोंकी ग्रहण करनेमें असमर्थ है ऐसे उपभोक्ता आत्माके उपयोगके उपकरणरूप लिंग कहते हैं । परन्तु मनके उपयोगका उपकरण पाया नहीं जाता है, इसलिये मनको इन्द्रिय मन्त्रा नहीं दी गई ।

शका—उपयोगका उपकरण द्रव्यमन तो है ?

१ स वि १, १४

२ इन्द्र आत्मा, मन ईश्वरी आत्मसत्त्व स्वयं सत्त्व गृहीत

३ रा वा १, १४ १

४ बापलम्भा इन्द्रिय तदित्येवमिति व्यपत्तेः ।

चेन्न, शेषेन्द्रियाणामिव बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाभावात्तत्तस्येन्द्रलिङ्गत्वानुपपत्ते' । अयं स्यादर्थ-
लोकमनस्कारचक्षुर्भ्यः । मन्मन्प्रवर्तमान रूपज्ञान समनस्क्रेषूपलभ्यते तस्य कथममनस्क्रेष्या-
विर्भावं इति नेप दोष , भिन्नजातित्वात् ।

इन्द्रियेषु गुणस्थानानामियत्ताप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

एइंदिया वीइंदिया तीइंदिया चउरिदिया असण्णिपंचिदिया
एकम्मि चेव मिच्छाडट्टि-ट्टाणे ॥ ३६ ॥

एकम्मिन्नेवेति विशेषण इत्यादिमग्न्यानिराकरणार्थम् । शेषगुणस्थाननिरमनार्थं
मिच्छादृष्ट्युपादानम् । एइंदिएसु सासणगुणट्टाण पि सुणिज्जदि त कथं घडदे ? ण,
एदम्मि सुत्ते तस्म णिभिद्वत्तादो । विरुद्धत्वाण कय दोण्ह पि सुत्तत्तणमिदि ण,

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसप्रकार शेष इन्द्रियोंका बाह्य इन्द्रियोंसे ग्रहण होता
हे उसप्रकार मनका नहीं होता हे, इसलिये उसे इन्द्रका लिंग नहीं कह सकते हैं ।

शंका—पदार्थ, प्रकाश, मन और चक्षु इनसे उत्पन्न होनेवाला रूप ज्ञान समनस्क
जीवोंमें पाया जाता हे, यह तो ठीक है । परंतु अमनस्क जीवोंमें उस रूप ज्ञानकी उत्पत्ति कैसे
हो सकती है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं हे, क्योंकि, समनस्क जीवोंके रूप ज्ञानसे अमनस्क
जीवका रूप ज्ञान भिन्न जातीय है ।

अत्र इन्द्रियोंमें गुणस्थानोंकी निश्चित सख्याके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र
कहते हैं—

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंख्य पचेन्द्रिय जीव मिच्छादृष्टि
नामक प्रथम गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ ३६ ॥

हे, तीन आदि सख्याके निराकरण करनेके लिये सूत्रम एक पदका ग्रहण किया
है । तथा अन्य गुणस्थानोंके निराकरण करनेके लिये मिच्छादृष्टि पदका ग्रहण किया हे ।

शंका—एकेन्द्रिय जीवोंमें सासादन गुणस्थान भी सुननेमें आता है, इसलिये उनके
केवल एक मिच्छादृष्टि गुणस्थानके स्थान करनेसे वह कैसे बन सकेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इस महागम सूत्रमें एकेन्द्रियादियोंके सासादन गुणस्थानका
नियंत्र किया हे ।

शंका—अब कि दोनों उचन परस्पर विरोधी हैं तो उन्हें सूत्रपना कैसे प्राप्त हो

१ रा मि १ १४ । त रा वा १ १४ २ जनयो'या'या विशेषपरिज्ञानायानुम'वेया ।

२ इष्टिपानुवादेन णेन्द्रियादिषु चतुरिन्द्रियपर्यंतषु णमेव मिच्छादृष्टिस्थानम् । अस्तिपु एणमेव मिच्छा
दृष्टिस्थानम् । म मि १, ८

३ येषां मन मासादन णट्टियेषु नापपत्तेः म मि १ ८ जे पुण देवमाग्ना एइंदिएसुप'ननि वि

दोण्ह ण्वदरस्म सुत्तादो । दोण्ह मज्जे इद सुत्तमिद च ण भवदीदि कय णव्वदि ?
उव्वेसमंतरेण तदग्गमाभावा दोण्ह पि सगहो कायव्वो । दोण्ह सगह करेत्तो समय-
मिच्छाइट्ठी होदि चि तण्ण, सुत्तुहिट्ठमेय अत्थि चि सहहतस्म सदेहाभावादो । उत्त च—

सुत्तादो त सम्म दरिसिज्जत जदा ण सदहदि ।

सो चेय हदि मिच्छाइट्ठी हु तदो पट्ठदि जीरो' ॥ १४३ ॥ इति ।

पञ्चेन्द्रियप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

पचिदिया असण्णिपचिदिय ण्हुडि जाव अजोगिकेवलि
ति' ॥ ३७ ॥

पञ्चेन्द्रियेषु गुणस्थानमन्यामप्रतिपाद्य किमिति अमज्जिप्रभृतयः पञ्चेन्द्रिया इति

मरता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, दोनों वचन सत्र नहीं हो सकते हैं, किंतु उन दोनों वचनोंमेंसे किसी एक वचनको ही सूत्ररूप प्राप्त हो सकता है ।

शंका—दोनों वचनोंमें यह वचन सूत्ररूप है और यह नहीं, यह कैसे जाना जाय ?

समाधान—उपदेशके बिना दोनोंमेंसे कोन वचन सूत्ररूप है यह नहा जाना जा सकता है, इसलिये दोनों वचनोंका संग्रह करना चाहिये ।

शंका—दोनों वचनोंका संग्रह करनेवाला संशय मिथ्यादाष्टि हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, संग्रह करनेवालेके 'यह सप्रकथित ही है' इसप्रकारका श्रद्धान पाया जाता है, अतएव उसके सदेह नहीं हो सकता है । कदा भी है—

सूत्रमे आचार्यादिके द्वारा भलेप्रकार समझाये जाने पर भी यदि वह जीव त्रिपरीत अर्थको छोड़कर समीचीन अर्थका श्रद्धान नहीं करता है, तो उसी समयसे वह सम्पगृह्ये जीव मिथ्यादाष्टि हो जाता है ॥ १४३ ॥

पञ्चेन्द्रियोंमें गुणस्थानोंकी सख्याके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

असशी पचेन्द्रिय मिथ्यादाष्टि गुणस्थानमे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतर पचेन्द्रिय जीव होते हैं ॥ ३७ ॥

शंका—पञ्चेन्द्रिय जीवोंमें गुणस्थानोंकी सख्याका प्रतिपादन नहीं करके असशी आदिक पञ्चेन्द्रिय होते हैं, ऐसा क्यों कहा ?

भयति तेमिददिश्याणं भारहचीमभागा दगूणा उव्वदहोमण होदि, एद पि वक्कमाण सनद्वव्वसुत्तमिदं ति ण भव्व । धममा अ पृ २६०

१ गा जी २९

२ पचेन्द्रियेषु त्रिपरीतमिति । म मि १८

प्रतिपादितमिति चेन्नैष दोष, अमझ्यादयोऽयोगिकेनलिपर्यन्ताः पञ्चेन्द्रिया इत्यभिहिते पञ्चेन्द्रियेषु गुणस्थानानामियत्तापगते' । अथ स्यादमझ्यादयोऽयोगिकेनलिपर्यन्ताः किमु पञ्चद्रव्येन्द्रियमन्त उत भावेन्द्रियमन्त इति ? न तावदादिविरूपः अपर्याप्तजीवैर्व्यभिचारात् । न द्वितीयविरूपः केनलिभिर्व्यभिचारादिति नैष दोषः, भावेन्द्रियतः पञ्चेन्द्रियत्वाभ्युपगमात् । न पूर्वोक्तदोषोऽपि केनलिना निर्मूलतो विनष्टान्तरङ्गेन्द्रियाणां प्रवृत्त्याहेन्द्रियव्यापाराणां भावेन्द्रियजनितद्रव्येन्द्रियमत्तापेक्षया पञ्चेन्द्रियत्वप्रतिपादनात्, भूतपूर्वगतिन्यायममाश्रयणाद्वा । सर्वत्र निश्चयनयमाश्रित्य प्रतिपाद्य अत्र व्यग्रहारनयः किमित्यलम्ब्यते इति चेन्नैष दोषः, मन्दमेवमामनुग्रहार्थत्वात् । अथवा नेद व्याख्यान समीचीन दुरधिगमत्वात्, इन्द्रियप्राणैरस्य पानरुन्त्यप्रमङ्गात् । किमपर व्याख्यानमिति

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, असञ्ज्ञाको आदि लेकर अयोगिकेनली पर्यन्त पचेन्द्रिय जीव होते हैं, ऐसा कथन कर देने पर पचेन्द्रियोंम गुणस्थानाकी सरयाका ज्ञान हो जाता है ।

शुद्धा—असञ्ज्ञासे लेकर अयोगिकेनलीतक पचेन्द्रिय जीव होते हैं यह ठीक है, परन्तु वे स्या पाच द्रव्येन्द्रियोंसे युक्त होते हैं या पाच भावेन्द्रियोंसे युक्त होते हैं ? इनमें से प्रथम विकल्प तो बल नहीं करता, क्योंकि, उसके मान लेने पर अपर्याप्त जीवोंके साथ व्यभिचार दोष आता है । अर्थात् अपर्याप्त जीव पचेन्द्रिय होते हुए भी उनके द्रव्येन्द्रिया नहीं पाई जाती, इसलिये व्यभिचार दोष आता है । इसीप्रकार दूसरा विकल्प भी नहीं बनता, क्योंकि, उसके मान लेने पर केवलियोंसे व्यभिचार दोष आता है । अर्थात् केनली पचेन्द्रिय होते हुए भी भावेन्द्रिया नहीं पाई जाती हैं, इसलिये व्यभिचार आता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यहा पर भावेन्द्रियोंकी अपेक्षा पचेन्द्रियपना स्वीकार किया है । और ऐसा मान लेने पर पूर्वोक्त दोष भी नहीं आता है । केवलियोंके यद्यपि भावेन्द्रिया समूल नष्ट हो गई हैं, और बाह्य इन्द्रियोंका व्यापार भी बन्द हो गया है, तो भी (छद्मस्य अग्र्याम) भावेन्द्रियोंके निमित्तसे उत्पन्न हुई द्रव्येन्द्रियोंके सद्भावकी अपेक्षा उन्हें पचेन्द्रिय कहा गया है । अथवा भूतपूर्वका ज्ञान करानेवाले न्यायके आश्रयसे उन्हें पचेन्द्रिय कहा है ।

शुद्धा—सब जगह निश्चय नयका आश्रय लेकर वस्तु स्वरूपका प्रतिपादन करनेके पश्चात् फिर यहा पर व्यवहार नयका आलम्बन क्यों लिया जा रहा है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, मन्दबुद्धि शिष्योंके अनुग्रहके लिये उक्तप्रकारसे वस्तुस्वरूपका विचार किया है । अथवा, उक्त व्याख्यानको ठीक नहीं समझना । क्योंकि, मन्दबुद्धि शिष्योंके लिये यह व्याख्यान दुरगमोघ है । दूसरे इन्द्रिय और प्राणोंके साथ इस कथनका पुनरुक्त दोष भी आता है ।

दितृत्तयस्त्रसाः । त्रसेरुद्वेजनक्रियस्य त्रस्यन्तीति त्रसा इति चेन्न, गर्भाण्डजमूर्च्छित सुपुत्तेषु तदभागादत्रसत्त्वप्रसङ्गात् । ततो न चलनाचलनापेक्ष त्रसस्यापग्न्यम् । आत्म प्रशुच्युपचितपुद्गलपिण्ड' काय' इत्यनेनेद व्याख्यान निरुद्धयत इति चेन्न, जीवविपरीत पसृथिवीकायिकादिकर्मोदयसहकार्यौदारिकशरीरोदयजनितशरीरस्यापि उपचारतन्त्रद्वयपदेशार्हत्वानिरोधात् । त्रसस्यात्रकायिकनामकर्मग्रन्थातीता अकायिकाः सिद्धा' । उक्तं च—

जह कचणमग्निं गय मुचइ किण्ण' कालियाए य । १

तह काय-वध मुमा अकाइया आण-जोण' ॥ १४४ ॥

पुढपि काइयादीण भेद पदुप्पायणइमुत्तर-मुत्त भणइ—

उत्पत्तिकी तरह प्रधानतासे अर्थका ग्रहण नहीं है ।

त्रस नामकर्मके उदयसे जिन्होंने त्रसपर्यायको प्राप्त कर लिया है उन्हें त्रस कहते हैं ।

शुक्रा—'त्रसी उद्वेगे' इस धातुसे त्रस शब्दकी सिद्धि हुई है, जिसका यह अर्थ होता है कि जो उद्विग्न अर्थात् भयभीत होकर भागते हैं वे त्रस हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, गर्भमें स्थित, अण्डमें वन्द, मूर्च्छित और सेते हुए जाँमें उक्त लक्षण घटित नहीं होनेसे उन्हें अत्रसत्वका प्रसंग आजायगा । इसलिये चलने और उदरकी अपेक्षा त्रस और स्थावरपना नही समझना चाहिये ।

शुक्रा—आत्म प्रवृत्ति अर्थात् योगसे सचित हुए पुद्गलपिण्डको काय कहते हैं, इस व्याख्यानसे पूर्वोक्त व्याख्यान विरोधको प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसमें जीवविपरीत त्रस नामकर्म और पृथिवीकायिक आदि नामकर्मके उदयकी सहकारिता है ऐसे औदारिक शरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए शरीरको उपचारसे कायपना बन जाता है, इसमें कोई विरोध नहीं आता है ।

त्रस और स्थावर कायिक नामकर्मके बन्धसे अर्थात् सिद्धोंको अकायिक कहते हैं । कहा भी है—

जिसप्रकार अग्निको प्राप्त हुआ सोना कीट और कालमारूप बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकारके मलसे रहित हो जाता है, उसीप्रकार ध्यानके द्वारा यह जीव काय और कर्म रूप बन्धने मुक्त होकर कायरहित हो जाता है ॥ १४४ ॥

अब पृथिवीकायिकादि जीवोंके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

१ त रा वा २ १२ २ २ प्रतिषु 'किण्ण' इति पाठ ।

३ गो जी २०३ सिद्धेन बहिमलेन कायिका य वक्ष्यरूपांतरगमलन । जी प्र टी

पृथ्विकाइया दुविहा, वादरा सुहुमा । वादरा दुविहा, पञ्जत्ता
 अपञ्जत्ता । सुहुमा दुविहा, पञ्जत्ता अपञ्जत्ता । आउकाइया
 दुविहा, वादरा सुहुमा । वादरा दुविहा, पञ्जत्ता अपञ्जत्ता ।
 सुहुमा दुविहा, पञ्जत्ता अपञ्जत्ता । तेउकाइया दुविहा, वादरा
 सुहुमा । वादरा दुविहा, पञ्जत्ता अपञ्जत्ता । सुहुमा दुविहा,
 पञ्जत्ता अपञ्जत्ता । वाउकाइया दुविहा, वादरा सुहुमा । वादरा
 दुविहा, पञ्जत्ता अपञ्जत्ता । सुहुमा दुविहा, पञ्जत्ता अपञ्जत्ता
 चेदि ॥ ४० ॥

वादरनामकर्मोदयोपजनितविशेषा. वादराः, सूक्ष्मनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः
 सूक्ष्माः । को विशेषश्चेत् ? सप्रतिघाताप्रतिघातरूपाः । पर्याप्तनामकर्मोदयजनितशक्त्या-
 निर्माणितवृत्तयः पर्याप्ताः । अपर्याप्तनामकर्मोदयजनितशक्त्यानिर्माणितवृत्तयः अपर्याप्ताः ।

पृथिवीकायिक जीव दो प्रकारके हैं, वादर और सूक्ष्म । वादर पृथिवीकायिक जीव दो
 प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त । सूक्ष्म पृथिवीकायिक जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और
 अपर्याप्त । जलकायिक जीव दो प्रकारके हैं, वादर और सूक्ष्म । वादर जलकायिक जीव दो
 प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त । सूक्ष्म जलकायिक जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और
 अपर्याप्त । अग्निकायिक जीव दो प्रकारके हैं, वादर और सूक्ष्म । वादर अग्निकायिक जीव दो
 प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त । सूक्ष्म अग्निकायिक जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अप-
 र्याप्त । वायुकायिक जीव दो प्रकारके हैं वादर और सूक्ष्म । वादर वायुकायिक जीव दो प्रकारके
 हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त । सूक्ष्म वायुकायिक जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त ॥४०॥

जिनमें वादर नामकर्मके उदयसे विशेषता उत्पन्न हो गई है उन्हें वादर कहते हैं ।
 तथा जिनमें सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे विशेषता उत्पन्न हो गई है उन्हें सूक्ष्म कहते हैं ।

शर्का—वादर और सूक्ष्ममें क्या विशेषता है ?

समाधान—वादर प्रतिघात सहित होते हैं और सूक्ष्म प्रतिघात रहित होते हैं,
 यही इन दोनोंमें विशेषता है । अर्थात् निमित्तके मिलनेपर वादर शरीरका प्रतिघात हो
 सकता है, परन्तु सूक्ष्मशरीरका कभी भी प्रतिघात नहीं होता है ।

पर्याप्त नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जिन जीवोंकी अपने अपने योग्य
 पर्याप्तियोंके पूर्ण करनेरूप अवस्था विशेष प्रगट हो गई है उन्हें पर्याप्त कहते हैं । तथा
 अपर्याप्त नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जिन जीवोंकी शरीर पर्याप्त पूर्ण न करके
 मरनेरूप अवस्था विशेष उत्पन्न हो जाती है उन्हें अपर्याप्त कहते हैं ।

वनस्पतिकारिकभेदप्रतिपादनार्थमाह—

वणष्फडकाइया दुविहा, पत्तेयसरीरा साधारणसरीरा । पत्तेय
सरीरा दुविहा, पञ्जता अपञ्जता । साधारणसरीरा दुविहा, वादरा
सुहुमा । वादरा दुविहा, पञ्जता अपञ्जता । सुहुमा दुविहा, पञ्जता
अपञ्जता चेदि ॥ ४१ ॥

प्रत्येक पृथक् शरीर येषां ते प्रत्येकशरीरा खदिरादयो वनस्पतयः । पृथिवी
कायादिपञ्चानामपि प्रत्येकशरीरव्यपदेशस्तथा सति स्यादिति चेन्न, इष्टत्वात् । तर्हि
तेषामपि प्रत्येकशरीरविशेषण विधातव्यमिति चेन्न, तत्र वनस्पतिपित्रि व्यपञ्चेद्याभावात् ।
वादरादयो मोक्षविशेषणामात्रादनुभवतमनुभवस्य चाभावात्प्रत्येकशरीरवनस्पतीनामभावः

अत्र वनस्पति कारिका जीवके भेद प्रतिपादन करने के लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वनस्पतिकारिक जीव दो प्रकारके हैं, प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर । प्रत्येकशरीर
वनस्पतिकारिक जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त । साधारणशरीर वनस्पतिकारिक
जीव दो प्रकारके हैं, वादर और सूक्ष्म । वादर दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त । सूक्ष्म दो
प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त ॥ ४१ ॥

किन्तु प्रत्येक शरीरान्तर प्रत्येक शरीर होता है उन्हें प्रत्येकशरीर जीव कहते हैं
इति, यह प्रति वनस्पति ।

शङ्का—प्रत्येकशरीरका इसप्रकार लक्षण करने पर पृथिवीकाय आदि पाचों शरीरोंको
भी प्रत्येकशरीर कहा जाना हो जायगी ?

समाधान—यह आशङ्का कोई आपत्ति जनक नहीं है, क्योंकि, पृथिवीकाय आदिको
प्रत्येकशरीर मानना इष्ट ही है ।

शङ्का—तो फिर पृथिवीकाय आदिकेसा भी प्रत्येकशरीर विशेषण लगा लेना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसप्रकार वनस्पतियोंमें प्रत्येक वनस्पतिसे निराकरण
करने योग्य आशङ्का वनस्पति पाई जाती है, उसप्रकार पृथिवी आदिमें प्रत्येक शरीरसे भिन्न
निराकरण करने योग्य कोई भेद नहीं पाया जाता है, इसलिये पृथिवी आदिमें अलग विशेषण
नहीं कोई आवश्यकता नहीं है ।

शङ्का—प्रत्येक वनस्पतिमें वादर और सूक्ष्म दो विशेषण नहीं पाये जाते हैं, इसलिये
प्रत्येक वनस्पतिकी अनुभयरूपता प्राप्त हो जाना है । परन्तु वादर और सूक्ष्म इन दो भेदोंको छोड़कर
अनुभयरूप कोई तीसरा विकल्प पाया नहीं जाता है, इसलिये अनुभयरूप विकल्पके अभावमें
प्रत्येकशरीर वनस्पतियोंका भी समाप्त प्राप्त हो जायगा ?

ममापतेदिति चेन्न, नादरत्वेन सतामभानुपपत्तेः । अनुक्तं कथमगम्यत इति चेन्न, सत्त्वान्यथानुपपत्तितस्तत्तिद्वे । सौक्ष्म्यविशिष्टस्यापि जीवसत्त्वस्यासभयः समस्तीति नैकान्तिको हेतुरिति चेन्न, नादरा इति लक्षणमुत्सर्गरूपत्वादशेषप्राणिव्यापि । ततः प्रत्येकशरीरजनस्पतयो नादरा एव न सूक्ष्माः साधारणशरीरोपिन उत्सर्गविधिनाधकाप-
वादविधेरभावात् । तदुत्सर्गत्य कथमगम्यत इति चेन्न, प्रत्येकजनस्पतित्रसेषुभय
विशेषणानुपादानान्न सूक्ष्मत्वमुत्सर्ग आर्पमन्तरेण प्रत्यक्षादिनानगतेरप्रसिद्धस्य नादर-
त्वस्यैवोत्सर्गत्वविरोधात् ।

साधारण सामान्यं शरीरं येषां ते साधारणशरीरा । प्रतिनियतजीवप्रतिपद्वै

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, प्रत्येक जनस्पतिका वादरूपसे अस्तित्व पाया जाता है, इसलिये उसका अभाव नहीं हो सकता है ।

शङ्का—प्रत्येक जनस्पतिको वादर नहीं कहा गया है, फिर कैसे जाना जाय कि प्रत्येक जनस्पति वादर ही होती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रत्येक जनस्पतिका दूसरे रूपसे अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है, इसलिये वादरूपसे उसके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है ।

शङ्का—प्रत्येक जनस्पतिमें यद्यपि सूक्ष्मता विशिष्ट जीवकी सत्ता असभय है, परन्तु सत्त्वान्यथानुपपत्ति रूपसे उसकी भी सिद्धि हो सकती है, इसलिये यह सत्त्वान्यथानुप-
पत्तिरूप हेतु अनैकान्तिक है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वादर यह लक्षण उत्सर्गरूप (व्यापक) होनेसे संपूर्ण प्राणियोंमें पाया जाता है । इसलिये प्रत्येक शरीर जनस्पति जीव वादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं, क्योंकि, जिसप्रकार साधारण शरीरोंमें उत्सर्गविधिकी बाधक अपवादविधि पाई जाती है, अर्थात् साधारण शरीरों में वादर भेद के अतिरिक्त सूक्ष्म भेद भी पाया जाता है, उसप्रकार प्रत्येक जनस्पतिमें अपवादविधि नहीं पाई जाती है, अर्थात् उनमें सूक्ष्म भेदका सर्वथा अभाव है ।

शङ्का—प्रत्येक जनस्पतिमें वादर यह लक्षण उत्सर्गरूप है, यह कैसे जाना जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रत्येक जनस्पति और प्रसोंमें वादर और सूक्ष्म ये दोनों विशेषण नहीं पाये जाते हैं, इसलिये सूक्ष्मत्व उत्सर्गरूप नहीं हो सकता है, क्योंकि, आगमके विना प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सूक्ष्मत्वका ज्ञान नहीं होना है, अतएव प्रत्यक्षादिसे अप्रसिद्ध सूक्ष्मको वादरकी तरह उत्सर्गरूप माननेमें विरोध आता है ।

विशेषार्थ—वादरत्व पात्रों स्थावर और जलोंमें पाया जाता है, परन्तु सूक्ष्मत्व प्रत्येक जनस्पति और प्रसोंमें नहीं पाया जाता है । इसलिये वादर उत्सर्ग विधि है, सूक्ष्मत्व नहीं ।

जिन जीवोंका साधारण अर्थात् भिन्न भिन्न शरीर न होकर समानरूपसे, एक शरीर पाया जाता है उन्हें साधारणशरीर जीव कहते हैं ।

पुद्गलविपाकित्वादाहारवर्गणास्कन्धाना कायाकारपरिणमनहेतुभिरौदारिककर्मस्कन्धै कथ
भिन्नजीवफलदातृभिरेक शरीर निष्पाद्यते निरोधादिति चेन्न, पुद्गलानामेकदेशान-
स्थितानामेकदेशानस्थितमित्य समयेतजीवसमयेताना तत्स्थानेषुप्राणिमम्बन्धेकशरीरनिष्पा-
दन न निरुद्ध साधारणकारणतः समुत्पन्नकार्यस्य साधारणत्वाविरोधात् । कारणानुरूप
कार्यमिति न निषेद्ध पार्यते सकलनैयायिकलोकरप्रसिद्धत्वात् । उक्तं च —

साधारणमाहारो साधारणमाणपाण गहण च ।

साधारण जीवाण साहारण लक्खण मणिय' ॥ १४५ ॥

जत्थेक्कु मरइ जीओ तत्थ दु मरण हत्थे अणताण ।

वक्कमदि जत्थ एक्को वक्कमण तत्थ णताण' ॥ १४६ ॥

एय णिगोद सरारे जीवा दब्ब प्पमाणदो दिट्ठा ।

सिद्धेहि अणत्त गुणा सत्थेण वितीद-कालेण ॥ १४७ ॥

शङ्का—जीवोंसे अलग अलग बंधे हुए, पुद्गलविपाकी होनेसे आहार-वर्गणके
स्कन्धोंको शरीरके आधाररूपसे परिणमन करानेमें कारणरूप ओर भिन्न भिन्न जीवोंको भिन्न
भिन्न फल देनेवाले औदारिक कर्मस्कन्धोंके द्वारा अनेक जीवोंके एक शरीर कैसे उत्पन्न किया
जा सकता है, क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जो एकदेशमें अवस्थित है और जो एकदेशमें अवस्थित
नया परस्पर संबद्ध जीवोंके साथ समवेत है, ऐसे पुद्गल वहां पर स्थित संपूर्ण जीव
संबन्धी एक शरीरको उत्पन्न करते हैं इसमें कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि, साधारण
कारणसे उत्पन्न हुआ कार्य भी साधारण ही होता है। कारणके अनुरूप ही कार्य होता है,
इसका निषेध भी नहीं किया जाता है, क्योंकि, यह बात संपूर्ण नैयायिक
लेखोंमें प्रसिद्ध है ।

होता है साधारण ही इसासोच्छासका

अति अणता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो ।

मान-ऊठऊठपउरा णिगोद नास ण मुचति' ॥ १४८ ॥

ते तादृशा सन्तीति कथमनगम्यत इति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात् । न हि प्रमाणप्रकाशितार्थानुगतिः । प्रमाणान्तरप्रकाशमपेक्षते स्वरूपविलोपप्रसङ्गात् । न चैतत्प्रामाण्यमभिद्धं सुनिश्चितामम्भवाद्धाद्यकप्रमाणस्यासिद्धत्वविरोधात् । वादरनिगोद-प्रतिष्ठिताध्यापनान्तरेषु श्रूयन्ते, क तेपामन्तर्भावश्चेत् प्रत्येकशरीराननस्पतिरिति ब्रूम, । के ते ? सुगार्दकमूलकादयः ।

असकायाना भेदप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

नित्य निगोदमें ऐसे अनन्तानन्त जीव हे जिन्हाने उस जीवोंकी पर्याय अभीतर कभी नहीं पाई है, और जो भाव अर्थात् निगोद पर्यायके योग्य कपायके उदयसे उत्पन्न हुए दुर्लभ्यारूप परिणामोंसे अत्यन्त अभिभूत रहते हैं, इसलिये निगोद स्थानकी कभी नहीं छोड़ते ॥ १४८ ॥

शका—साधारण जीव उक्त लक्षणवाले होते हैं यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—ऐसी शका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, आगम तर्कका प्रिय नहीं है । एक प्रमाणसे प्रकाशित अर्थज्ञान दूसरे प्रमाणके प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करता है, अन्यथा प्रमाणके स्वरूपका अभाव प्राप्त हो जायगा । तथा आगमकी प्रमाणता असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, जिसके बाधक प्रमाणोंकी असमाधना अन्तर्गत रह निश्चित है उसको असिद्ध माननेमें विरोध आता है । अर्थात् बाधक प्रमाणोंके अभावमें आगमकी प्रमाणताका निश्चय होता ही है ।

शका—वादर निगोदसे प्रतिष्ठित प्रत्येक अनस्पति दूसरे आगममें सुनी जाती है, उसका अन्तर्भाव अनस्पतिके किस भेदमें होगा ?

समाधान—प्रत्येकशरीर अनस्पतिमें उसका अन्तर्भाव होगा, ऐसा हम कहते हैं ।

शका—जो वादरनिगोदसे प्रतिष्ठित है वे कौन हैं ?

समाधान—धृहर, अदरम्ब और मूली आदिक अनस्पति वादर निगोदसे प्रतिष्ठित है ।

अब असकायिक जीवोंके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिदराशेवृद्धिदर्शनान् समारिजीवराशेश्च हानिदर्शनान् कथं मर्वदा मिद्रेभ्योऽननगुणव एकशरीरनिगोदजावानाम् सवनावराश्यन तगुणकालमयममहस्य तथोपान्तमागे गते सति मसारिजावराशिरपस्य मिदराशिनहुत्वस्य च सुवत्त्वान्' इति चेत्तत्र, केवळज्ञानदृष्टया केवलमिति, श्रुतज्ञानदृष्टया श्रुतकेवलमिति सदा दृश्य मन्यमनारि जावराश्यक्षयमयितिमृक्षन्वात्तरविषयवामावात् । प्रत्यक्षागमवाधिनस्य च तद्व्यापमानावात् । जा प्र दी

१ गो जा १९७ नित्यनिगोदलक्षणमनेन सातय । XXX एकदेशामावविशिष्टसकलव्यापिना प्रसूत शब्देन उदाविदपमयाधिकपणमाभास्यन्तरे चतुर्गतिजीवराशितो निगतयु अष्टोत्तरपशुतजावेपु मुनि गयेपु तावतो जावा निगानिगोदमात्र त्यक्त्वा चतुर्गतिमव प्राप्नुवतीययमथ प्रतिपादितो बोद्धव्यम् । जा प्र दी

तसकाइया दुविहा, पज्जता अपज्जत्ता ॥ ४२ ॥

गतार्थत्वाच्चार्थ उच्यते । किं त्रयाः सूक्ष्मा उत नादरा इति ? नादरा एव न सूक्ष्मा । कुत ? तत्सौक्ष्म्यविधायकार्पाभारान् । नादरस्त्रिविधायकार्पाभावे कथं तदनगम्यत इति चेन्न, उत्तराख्यतस्तेषां नादरस्त्रसिद्धेः । के ते ? पृथिवीकायादय इति चेदुच्यते—

पुत्राय य सक्त्रा वालुया य उग्ने सिलादि उत्तीसा^१ ।

पुत्रायामया ह जीवा णिदित्रा जिणगीरेदि ॥ १४९ ॥

त्रसकायिक जीव दो प्रकारके होते हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त ॥ ४२ ॥

गतार्थ होनेसे इस सूत्रका अर्थ नहीं कहते हैं ।

शक्रा—त्रस जीव क्या सूक्ष्म होते हैं अथवा नादर ?

समाधान—त्रस जीव नादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं होते ।

शक्रा—यह कैसे जाना जाय ?

समाधान—क्योंकि त्रस जीव सूक्ष्म होते हैं, इसप्रकार कथन करनेवाला आगम प्रमाण नहीं पाया जाता है ।

शक्रा—त्रस जीवोंके वादरूपनेका प्रतिपादन करनेवाला आगम प्रमाण भी तो अभी तक नहीं आया है, फिर यह कैसे जाना जाय कि ये नादर ही होने हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आगे आनेवाले सूत्रसे त्रस जीवोंका वादरूपना सिद्ध हो जाता है ।

शक्रा—वे पृथिवीमाय आदि जीव कौनसे हैं ?

समाधान—जिनेन्द्र भगवान् ने पृथिवी, शर्करा, वालुका उपल और शिला आदिके भेदसे पृथिवीरूप छत्तीस प्रकारके जीव कहे हैं ॥ १४९ ॥

निशेपार्थ—ऊपर जो पृथिवीके अज्ञात भेदाकी अपेक्षा पृथिवीकायिक जीव छत्तीस प्रकारके कहे हैं, वे इसप्रकार हैं मृद्वीरूप पृथिवी, गंगा आदि नदियोंमें उत्पन्न होनेवाली रूक्ष वालुका, तीक्ष्ण और नौकीर आदि आकारवाली शर्करा, गोल पत्थर, उबल पत्थर, समुद्रादिमें उत्पन्न होनेवाला नमक, लोहा, तांबा, जस्ता, सीसा, चादी, सोना, चमड़ा (हीरा), हरिताल, इगुले, मैनेसिट्ट^२ मवाला सम्यक, अजन, मूंगा, भोडल, चिकनी और चमकती हुई रेती,

ओसा य हिमो धूमरि हरदण सुद्वेदने घणोदो य^१ ।
 एदे ङ आउकाया जीया जिण सासणुदिहा ॥ १५० ॥
 इगा^२ जाल अच्चो मुमुर सुद्धागणो तहा अगणी^३ ।
 अण्णे पि एमआई तेउकाया समुदिहा ॥ १५१ ॥
 नाउभामो उक्कलि मडलि गुजा महा णा य तणा ।
 एदे उ नाउकाया जीमा जिण-दद णिदिहा^४ ॥ १५२ ॥
 मूलग-पोर-जीया कदा तद्द खर नीय-नीयरुहा ।
 सम्मुठिमा य भणिया पत्तेयाणनकाया य^५ ॥ १५३ ॥

कर्मतमणि, राजवर्तकरूप मणि, पुलकूर्णमणि, स्फटिकमणि, पद्मरागमणि, चन्द्रकान्तमणि, त्रेड्यमणि, जलकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि, गेरवर्ण रधिराश्वमणि, चन्दनगन्धमणि, अनेक प्रकारका मरकतमणि, पुरराज, नीलमणि, और चिट्टमवर्णजाली मणि ये सब पृथिवीके भेद हैं, इसलिये इनके भेदसे पृथिवीकायिक जीव भी उच्चीस प्रकारके हो जाते हैं ॥ १४९ ॥

जोस, वर्षा, बुद्धरा, मूल बिन्दुरूप जल, सूक्ष्म बिन्दुरूप जल, चन्द्रकान्तमणिसे उत्पन्न हुआ शुद्ध जल, झरना आदिसे उत्पन्न हुआ जल, समुद्र, तालाब और घनवात आदिसे उत्पन्न हुआ घनोद्ग, अथवा, हरदण अर्थात् तालाब और समुद्र आदिसे उत्पन्न हुआ जल तथा घनोद्ग अर्थात् मेघ आदिसे उत्पन्न हुआ जल ये सब जिन शासनम जलकायिक जीव कहे गये हैं ॥ १५० ॥

अगार, ज्वाला, अग्नि अर्थात् आग्निकिरण, मुर्मुर अर्थात् भूसा अथवा कण्टाकी अग्नि, शुद्धाग्नि अर्थात् रिजली और सूर्यकान्त आदिसे उत्पन्न हुई अग्नि और धूमादिसहित सामान्य अग्नि, ये सब अग्निकायिक जीव कहे गये हैं ॥ १५१ ॥

सामान्य वायु, उद्भ्राम अर्थात् घूमता हुआ ऊपर जानेवाला वायु (चक्रवात), उत्कलि अर्थात् नीचेकी ओर गहनेवाला या जलसी तरंगोंके साथ तरंगित होनेवाला वायु, मण्डलि अर्थात् पृथिवीसे स्पर्श करके घूमता हुआ वायु, गुजा अर्थात् गुजायमान वायु, महावात अर्थात् वृक्षादिकके भगसे उत्पन्न होनेवाला वायु, घनवात और तनुवात ये सब वायुकायिक जीव जिनेन्द्र भगवान्ने कहे हैं ॥ १५२ ॥

मूलर्वाज, अग्रर्वाज, पर्यर्वाज, कदर्वाज, स्वर्धर्वाज, र्वाजरुह और समूह्मि, ये सब

१ आसा य हिमो मणिगो हरदण सुद्धादने घणोदो य । ने जाण आउवावा नागिवा परिदेदवा ॥
 मलाना २१० । आवा नि १०८ । उत ३६ ८६ । प्रसा १ २०

२ मूलावा २११ । आवा नि ११८ । उत ३६ ११०-१११ । प्रसा १ २३

३ मूलावा २१२ उक्कलिया मण्डिया गुजा घणवाय सुद्धागण य । नादर वाउविगणा पधविहा वीणय एण ॥ आवा नि १६६ । उत ३६ ११९-१२० । प्रसा १ २६

४ गा जा १८६ । मूलावा २१३ म म्पणीजा जाग यथा मल प्राडुमवनि ते च हरिद्रादय । अग

निहि ताहि चउहि पचहि सहिया जे इदिणह जेयगि ।

ते तसखाया जीव जेया गीरोउपसेण ॥ १५४ ॥

पृथिवीकायिकादीना स्वरूपमभिधाय माम्प्रत तेषु गुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तर
सुत्रमाह—

पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणण्फइ-
काइया एकम्मि चेय मिच्छाइट्टि ट्ठाणे ॥ ४३ ॥

आह, आप्तागमनिपयश्रद्धारहिता मिथ्यादृष्टयो भण्यन्ते। श्रद्धाभावाश्रद्देयस्तु-
परिज्ञानपूर्वकः। तथा च पृथिवीकायादीनामाप्तागमनिपयपरिज्ञानोज्झिताना कथं मिथ्या-

घनस्पतिया सप्रतिष्ठित प्रत्येक ओर अप्रतिष्ठित प्रत्येक भेदसे देना प्रकारकी कही गई है ॥ १५३ ॥

ऐक्यमें जो जीव दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पांच इन्द्रियोंसे युक्त ह
उ ह वीर भगवान्के उपदेशसे त्रसकायिक जीव जानना चाहिये ॥ १५४ ॥

पृथिवीकायिक आदि जीवोंके स्वरूपका वर्णन करके अब उनमें गुणस्थानाका
निरूपण करनेके लिये आगेना सूत्र कहते हैं—

पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और अनस्पतिकायिक जीव
मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ ४३ ॥

शुक्रा—शुक्राकार कहता है कि आप्त, आगम और पदार्थकी श्रद्धासे रहित
जीव मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं, और श्रद्धान करने योग्य वस्तुमें विपरीत
ज्ञानपूर्वक ही अश्रद्धा अर्थात् मिथ्याभिनिवेश ही सत्ता है। ऐसी अवस्थामें आप्त, आगम
और पदार्थके परिज्ञानसे रहित पृथिवीकायिक आदि जीवोंके मिथ्यादृष्टिपना कैसे
सम्भव है ?

द्योत्यमिति नैष दोषः, परिज्ञाननिर्णयमृदमिव्यात्मनस्य तत्रातिरोधात् । अथवा
ऐकान्तिकभाषयिकमृद-युद्ग्राहितैर्नानायेकस्वाभाविकविपरीतमिव्याप्तानां सप्तानामपि
तत्र सम्भवः समश्चितः । अत्रतनजीवानां सप्तविधमिव्यात्वकलङ्काङ्कितहृदयानामपिनष्ट-
मिव्यात्पर्यायेण सह व्यापनसमुपगतानां तत्त्वत्वातिरोधात् । इन्द्रियानुवादेन
एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाः सर्वे मिव्यात्पश्य इत्यमाणि, तत्तन्तेनैव गतार्थत्वात्ता-
म्भगीयमिदं सूत्रमिति नैष दोषः, पृथिवीकायादीनामियन्तीन्द्रियाणि भवन्ति न
भवन्तीति जननगतस्य विस्मृतस्य वा शिष्यस्य प्रश्नशब्दस्य सूत्रस्यावतागतम् ।

त्रमजीवप्रतिपादनार्थमुक्तसूत्रमाह—

तसकाड्या वीहंदिद्य-पहुडि जाव अजोगिकेवलि ति' ॥४४॥

एते त्रमनामकमंदियवशवर्तिनः । के पुनः स्यात् । इति चेदेकेन्द्रियाः ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, पृथिवीकायिक आदि जीवोंमें परिमानकी
अपेक्षारहित मृद मिथ्यात्वका सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है । अथवा,
ऐकान्तिक, सादयिक, मृद, युद्ग्राहित, येनयिक, स्वाभाविक और विपरीत इन सातों
प्रकारके मिथ्यात्वोंका भी उन पृथिवीकायिक आदि जीवोंमें सद्भाव सम्भव है, क्योंकि,
जिनका हृदय सात प्रकारके मिथ्यात्वरूपी कलकसे अंकित है ऐसे मनुष्यादि गतिमयन्वी
जीव पहले प्रदण की हुई मिथ्यात्व पर्यायको न छोड़कर जब स्यावर पर्यायको प्राप्त हो
जाते हैं, तो उनके सातों ही प्रकारका मिथ्यात्व पाया जाता है, इस कथन में कोई
विरोध नहीं आता है ।

शका—इन्द्रियानुवादसे एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय थे सब जीव मिथ्यावादि होने हैं,
ऐसा कह अर्थ है, इसलिये उन्हींसे यह प्रान हो जाता है कि पृथिवीकायिक आदि जीव
मिथ्यावादि होने हैं । अब इस सूत्रको प्रथक् रूपसे पनानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, पृथिवीकायिक आदि जीवोंके इतनी इन्द्रिया
होती हैं, अथवा इतनी इन्द्रिया नहीं होती हैं, इसप्रकार जिस शिष्यको प्रान नहीं है, अथवा
जो भूल गया है, उस शिष्यके प्रश्नके अनुरोधसे इस सूत्रका अवतार हुआ है ।

अब प्रम जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

ईन्द्रियसे आदि लेकर अयोगिके-रलीक प्रम जीव होने हैं ॥ ४५ ॥

इन सब जीवोंके प्रम नामकर्मका उद्भव पाया जाता है, इसलिये उन्हें प्रमकायिक
कहते हैं ।

शका—स्यावर जीव कान कहते हैं ?

समाधान—एकेन्द्रिय जीव स्यावर कहते हैं ।

कथमनुक्तमत्रगम्यते चेत्पग्निशेषात् । स्वापरकर्मण' किं कार्यमिति चेदेकस्यानापस्था
पकृत्वम् । तेजोवाग्गन्धकायानां चलनात्मकानां तथा मलस्थानरत्न म्यादिति चेन्न,
स्याम्नूनां प्रयोगतश्चलन्निष्ठपर्वणानामिव गतिपर्यायपग्निगतममीरणव्यतिरिक्तशरीरत्वं त
स्तेषां गमनाविरोधात् ।

वादरजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

वादरकाङ्क्षा वादरेइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलित्ति ॥४५॥

वादर स्थूल सप्रतिघात' कायो येषां ते वादरकाया' । पृथिवीकायिकाणिपु
वनस्पतिपर्यन्तेषु पूर्वमेव गान्गणा ग्रन्थमाणा च सत्यमुक्तं ततोऽत्र वादरेकेन्द्रियग्रहण-
मनर्थकमिति चेन्नानर्थकम्, प्रत्येकशरीरजनस्पत्युपादानार्थम् तदुपादानात्प्रत्येकशरीर-

शका—सूत्रमें एकेन्द्रिय जीवोंको स्वापर तो कहा नहीं है, फिर हमें जाना जाय
कि एकेन्द्रिय जीवोंको स्वापर कहते हैं ?

समाधान—सूत्रमें जब हीन्द्रियादिक जीवोंको प्रसक्त्याधिक कहा है, तो परिशेष
वाक्यसे यह जाना जाता है कि एकेन्द्रिय जीवोंका स्वापर कहलाने है ।

शका—स्वापरकर्मका क्या कार्य है ?

समाधान—एक स्थान पर अवस्थित रचना स्वापरकर्मका कार्य है ।

शका—ऐसा मानने पर, गमन स्वभावात् जल-अग्निकायिक, वायुकायिक और जल
कायिक जीवोंको अस्वापरपना प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार वृद्धमें लगे हुए पक्षे वायुसे हिला
करते हैं और दृढ़ने पर इधर उधर उड़ जाते हैं, उसीप्रकार अग्निकायिक और जलकायिक
प्रयोगसे गमन माननेमें कोई विरोध नहीं आता है । तथा वायुसे गतिपर्यायसे परिणत शरीरको
त्रेद्वर कोई दूसरा शरीर नहीं पाया जाता है इसलिये उसके गमन करनेमें भी कोई विरोध
नहीं आता है ।

अत्र वादर जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये अग्रेका सूत्र कहते हैं—

वादर एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर अवोगिनेपलीपर्यन्त जीव वादरकायिक होते हैं ॥४॥

जिन जीवोंका शरीर वादर, स्थूल अर्थात् प्रतिघातसहित होता है उन्हें
वादरकाय कहते हैं ।

शका—पृथिवीकायिकसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंमें वादर और सूक्ष्म दोनों
प्रकारके जीवाका सम्भाव्य पहचान ही नहीं आये है, इसलिये इस सूत्रमें वादर एकेन्द्रिय
पदना ग्रहण करना निष्फल है ?

समाधान—अनर्थक नहीं है, क्योंकि, प्रत्येकशरीर वनस्पतिसे ग्रहण करनेके लिये

जनस्पतिप्रभृतयो वादरा इति यावत् । न त्रिधातव्यमेतेषा वादरत्न प्रत्यक्षमिद्वत्तादिति चेन्न, सौम्याभाप्रतिपादनफलत्वात् ।

द्वित्रिधाकायातीतजीवास्तित्प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

तेण परमकाइया चेदि ॥ ४६ ॥

तेन द्वित्रिधाकायात्मकजीवराशेः पर वादरसूत्रमशरीरनिग्रधनकर्मतीतत्वतोऽशरीरा मिद्धा. अकायिका । जीवप्रदेशप्रचयात्मकत्वात्तिद्धा अपि सकाया इति चेन्न, तेषामनादि-
ग्नानग्रहजीवप्रदेशात्मकत्वात् । अनादिप्रचयोऽपि कायः किन्न स्यादिति चेन्न, भूतानां पुद्गलानां कर्मनोऽर्थपर्यायपरिणतानां मादिसान्तप्रचयस्य कायत्वाभ्युपगमात् । 'इति'

वादर एकेन्द्रिय पद सूत्रम ग्रहण किया गया है । इस पदके ग्रहण करनेसे प्रत्येकशरीर वनस्पति आदि सभी जीव वादर ही होते हैं, यह ज्ञान स्पष्ट हो जाती है ।

शंका—इस सूत्रमें इन जीवोंके वादरपनेका कथन नहीं करना चाहिये, क्योंकि, ये जीव वादर ही होते हैं यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इन जीवोंके केवल वादरत्वके प्रतिपादन करनेके लिये यह सूत्र नहीं रचा गया है, किंतु इन जीवोंके सूक्ष्मताके अभावका प्रतिपादन करना ही इस सूत्रके बनानेका फल है ।

अब उस और स्थावर इन दोनों कार्योंमें रहित जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

स्थावर और वादरकायसे परे कायगहिन अकायिक जीव होते हैं ॥ ४६ ॥

जो उस उस और स्थावररूप दो प्रकारकी कायराशिसे परे ह वे मिद्ध जीव वादर ओर सूक्ष्म शरीरके कारणभूत कर्मसे रहित होनेके कारण अशरीर होते हैं, अतएव अकायिक कहलाते हैं ।

शंका—जीवप्रदेशोंके प्रचयरूप होनेके कारण मिद्ध जीव भी सकाया हैं, फिर उन्हें अकाय क्यों कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सिद्ध जीव अनादिकालीन स्वाभाविक बन्धनसे वर जीव प्रदेशस्वरूप ह, इसलिये उसकी अपेक्षा यहा कायपना नहीं लिया गया है ।

शंका—अनादिकालीन आत्म प्रदेशोंके प्रचयको काय क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यहा पर कर्म ओर नोकर्मरूप पर्यायसे परिणत मृत पुद्गलके सादि ओर मान्ति प्रदेश प्रचयको ही कायरूपसे स्वीकार किया है ।

निशेपार्थ—यद्यपि पांच अस्तिकायोंमें मिद्ध जीवोंका भी ग्रहण हो जाता है । फिर भी यहा पर अनादिकालीन स्वाभाविक बन्धनसे वर जीव प्रदेशोंके प्रचयरूप कायको

ग्रन्थ एक एवास्तु स्रपपरिसमाप्त्यर्थत्वात्, न 'च' शब्दस्तस्य फलभावादिति चेन्न,
तस्य कायमार्गणपरिममाप्तिप्रतिपादनफलत्वात् ।

योगद्वारेण जीवद्रव्यप्रतिपादनार्थमुत्तरमवतमाह—

जोगाणुवादेण अत्थि मणजोगी वचिजोगी कायजोगी
चेदि ॥ ४७ ॥

अत्र 'इति' शब्द सूत्रसमाप्तिप्रतिपादनफलः । 'च' शब्दश्च त्रय एव योगा-
मन्ति नान्ये इति योगमग्न्या नियमप्रतिपादनफलः समुच्चयार्थो यः । योगस्य
तत्त्वव्युत्पत्तिं प्रागुक्तमिति नेदानीमुच्यते । मनसा योगो मनोयोगः । अथ स्थानं द्रव्यमनसा
सम्बन्धो मनोयोगः । मनोयोगस्य देशान्तरयात्रिंशत्सागरकालभित्तिप्रसङ्गात् । न सक्रियावस्था
योगः योगस्याहोरात्रमात्रकालप्रसङ्गात् । न भावमनसा सम्बन्धो मनोयोगः तस्य

अपेक्षा न होकर कर्म और नोऽकर्मके निमित्तमे होनेवाले सादि और सान्त प्रदेशप्रचयरूप
कायकी अपेक्षा है । इसलिये इस विचक्षासंमिद्ध जीव अकार्यिक होने है, क्योंकि, उनके
कर्म और नोऽकर्मके निमित्तसे होनेवाले प्रदेशप्रचयरूप कायका अभाव हो गया है ।

शंका—सूत्रमें 'इति' यह एक ही शब्द रहा आवे, क्योंकि, उसका फल सूत्रकी
परिममाप्ति है । परन्तु 'च' शब्दकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि, प्रथममें उसका
कोई प्रयोजन नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कायमार्गणकी परिसमाप्तिका प्रतिपादन करना ही
यहां पर 'च' शब्दका फल है ।

अब योगमार्गणके द्वारा जीव द्रव्यके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र
कहते हैं—

योगमार्गणाके अनुवादकी अपेक्षा मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी जीव
होते हैं ॥ ४७ ॥

इस सूत्रमें जो 'इति' शब्द आया है । उसका फल सूत्रकी समाप्तिका प्रतिपादन
करना है । तब जो 'च' शब्द दिया है उसका फल, योग तीन ही होते हैं, अधिक
नहीं, इस प्रकार योगकी सख्याके नियमका प्रतिपादन करना है । अथवा 'च' शब्द
समुच्चयरूप अर्थात् प्रतिपादन करनेवाला समझना चाहिये ।

योगका लक्षण पहले यह आवे है, इसलिये यहां पर नहीं कहते हैं । मनके साथ
संबंध होनेसे मनोयोग कहते हैं ।

शंका—यदि ऐसा है, तो द्रव्यमनसे संबंध होनेसे तो मनोयोग यह कहा
सकते हैं, क्योंकि, ऐसा मानने पर मनोयोगकी कुछ कम तैत्तिरीय सागर प्रमाण स्थितिका
प्रमाण प्राप्त हो जायगा । मियासहित अस्थान-ही योग कहा कह सकते हैं, क्योंकि,
ऐसा मानने पर योगकी दिन रात्रिमात्र का

तत्त्वमात्र । अर्थात्, कोई

ज्ञानरूपत्वनत उपयोगान्तर्भावात् इति न त्रितयत्रिकल्पोक्तदोषः, तेषामनभ्युपगमात् ।
 रुः पुनः मनोयोग इति चेद्भ्रामनमः समुत्पत्त्यर्थं प्रयत्नो मनोयोगः । तथा वचसः
 समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो प्राग्योगः । कायक्रियासमुत्पत्त्यर्थं प्रयत्नः काययोगः । त्रयाणां
 योगानां प्रवृत्तिरक्रमेण उत नेति ? नाक्रमेण, त्रिप्पक्रमेणैकस्यात्मनो योगनिरोधात् ।
 मनोवाकायप्रवृत्तयोऽक्रमेण क्वचिद् दृश्यन्त इति चेद्भ्रान्तु तासां तथा प्रवृत्तिर्दृष्टत्वात्, न
 तत्प्रयत्नानामक्रमेण वृत्तिस्तथोपदेशाभावादिति । अथ स्यात्प्रयत्नो हि नाम बुद्धिपूर्वकः,
 बुद्धिश्च मनोयोगपूर्विका, तथा च भिद्वो मनोयोगः शेषयोगाविनाभावीति न, कार्य-

मेई प्रिया दिन रात रहती है, इसलिये एक योगकी स्थिति भी जहोरात्र प्रमाण माननी
 पड़ेगी । किंतु आगममें तो एक योगकी स्थिति एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं मानी है ।
 अतः क्रियासहित अस्थायी भी योग नहीं हो सकता है । इसीप्रकार भावमनके साथ सत्य
 होनेको भी मनोयोग नहीं कह सकते हैं, क्योंकि भावमन ज्ञानरूप होनेके कारण उसका
 उपयोग अन्तर्भाव हो जाता है ?

समाधान—इसप्रकार तीनों विकल्पोंके द्वारा दिये गये दोष प्राप्त नहीं होत हैं,
 क्योंकि, उक्त तीनों ही विकल्पोंको स्वीकार नहीं किया है ।

शंका—तो फिर मनोयोगका क्या स्वरूप है ?

समाधान—भावमनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं ।
 उसीप्रकार वचनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे वचनयोग कहते हैं और कायकी
 क्रियाकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे काययोग कहते हैं ।

शंका—तीनों योगोंकी प्रवृत्ति युगपत् होती है या नहीं ?

समाधान—युगपत् नहीं होती है, क्योंकि, एक आत्माके तीनों योगोंकी प्रवृत्ति
 युगपत् मानने पर योगनिरोधका प्रसंग आजायगा । अर्थात् किसी भी आत्माके योग नहीं
 बन सकेगा ।

शंका—कहाँ पर मन, वचन और कायकी प्रवृत्तियां युगपत् देखी जाती हैं ?

समाधान—यदि देखी जाती हैं, तो उनकी युगपत् वृत्ति होओ । परन्तु इससे, मन
 वचन और कायकी प्रवृत्तिके लिये जो प्रयत्न होते हैं उनकी युगपत् वृत्ति सिद्ध नहीं हो
 सकती है, क्योंकि, आगममें इसप्रकार उपदेश नहीं मिलता है ।

निशेपार्थ—तीनों योगोंकी प्रवृत्ति परस्पर हो सकती है, प्रयत्न नही ।

शंका—प्रयत्न बुद्धिपूर्वक होता है, और बुद्धि मनोयोगपूर्वक होती है । ऐसी परि-
 स्थितिमें मनोयोग शेष योगोंका अविनाभावी है, यह बात सिद्ध हो जाना चाहिये ? अर्थात्
 अनेक प्रयत्न एक साथ होते हैं यह बात सिद्ध हो जायगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कार्य और कारण इन दोनोंकी एक काल्प उत्पत्ति नहीं हो
 सकती है ।

कारणयोरैककाले ममुत्पत्तिविरोधात् । तदस्यास्त्यस्मिन्निति इति सति मिदं मनोयोगी
वाग्योगी काययोगीति ।

योगातीतजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

अजोगी चेदि ॥ ४८ ॥

न योगी अयोगी । उक्तं च—

जेसि ण सति जोगा सुहासुहा पुण्ण पाव सज्जया ।

ते हँति अजोइजिणा अणोरमाणत वल्ल कलिया' ॥ १५३ ॥

मनोयोगस्य सामान्यतः एकविधस्य भेदप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**मणजोगो चउव्विहो, सच्चमणजोगो मोसमणजोगो सच्चमोस-
मणजोगो असच्चमोसमणजोगो चेदि ॥ ४९ ॥**

मत्यमनितथममोवामित्यनर्थान्तरम् । सत्ये मनः सत्यमनः तेन योगः सत्यमनो-
योगः । तद्विपरीतो मोषमनोयोगः । तदुभययोगात्सत्यमोषमनोयोगः । उक्तं च—

यह मनोयोग जिसके या जिस जीवम होता है उसे मनोयोगी कहते हैं । यहा पर
मनोयोग शब्दसे 'इन्' प्रत्यय कर देने पर मनोयोगी शब्द बन जाता है । इसीप्रकार वाग्योगी
और काययोगी शब्द भी बन जाते हैं ।

अब योग रहित जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

अयोगी जीव होते हैं ॥ ४८ ॥

जिनके योग नहीं पाया जाता है वे अयोगी हैं । कहा भी है—

जिन जीवोंके पुण्य और पापके उत्पादक शुभ और अशुभ योग नहीं पाये जाते
है वे अनुपम और अनन्त बल सहित अयोगीजिन कहलाते हैं ॥ १' ३ ॥

सामान्यकी अपेक्षा एक प्रकारके मनोयोगके भेदाके प्रतिपादन करनेके लिये
आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोयोग चार प्रकारका है, सत्यमनोयोग, मृषामनोयोग सत्यमृषामनोयोग, और
असत्यमृषामनोयोग ॥ ४९ ॥

सत्य, अविषय और अमोघ, ये एकार्थवाची शब्द हैं । सत्यके विषयम होनेवाले मनः
सत्यमन कहते हैं, और उसके द्वारा जो योग होता है उसे सत्यमनोयोग कहते हैं । इससे
विपरीत योगको मृषामनोयोग कहते हैं । जो योग सत्य और मृषा इन दोनोंके स्वयोगमे उत्पन्न
होता है उसे सत्यमृषामनोयोग कहते हैं । कहा भी है—

१ गो जी २४३ अन वागामात्रे सा । जयगिरिव्यादानां बलामात्र प्रमथन प्रमदाद्रियु वग्न्य
योगप्रितन्दनानां, इत्याद्यवय इदमप्यन अनुपमानन्तवल्किता । जा प्र टा

समागो सच्चमणो जो जोगो तेण सच्चमणजोगो ।

तत्रिपरीदो मोसो जाणुभय सच्चमोस ति' ॥ १५४ ॥

ताभ्या सत्यमोपाभ्या व्यतिरिक्तोऽमत्यमोपमनोयोगः । तद्वर्तुभयसयोगजोऽस्तु ? न, तस्य तृतीयभङ्गेऽन्तर्भावात् । कोऽपरश्चतुर्थो मनोयोग इति चेदुच्यते । समनस्केषु मनःपूर्विका प्रचसः प्रवृत्तिः, अन्यथानुपलम्भात् । तत्र सत्यप्रचननिग्रन्धनमनसा योगः सत्यमनोयोगः । तथा मोपप्रचननिग्रन्धनमनसा योगो मोपमनोयोगः । उभयात्मकप्रचननिग्रन्धनमनसा योगः सत्यमोपमनोयोगः । त्रिप्रिप्रचनव्यतिरिक्तामन्त्रणादिप्रचननिग्रन्धनमनसा योगोऽमत्यमोपमनोयोगः । नायमर्थो मुख्यः सकलमनसामव्यापकत्वात् । कः पुनर्निरग्रयोऽर्थश्चेत्यथापस्तु प्रवृत्तं मनः सत्यमनः । त्रिपरीतममत्यमनः ।

सद्भाव अर्थात् सत्यार्थको प्रियथ करनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं और उससे जो योग होता है उसे सत्यमनोयोग कहते हैं । इससे त्रिपरीत योगको मृषामनोयोग कहते हैं । उभयरूप योगको सत्यमृषामनोयोग जानो ॥ १५४ ॥

सत्यमनोयोग और मृषामनोयोगमें व्यतिरिक्त योगको असत्यमृषामनोयोग कहते हैं ।

शुक्रा—तो असत्यमृषामनोयोग (अनुभय) उभयसयोगज रहा आने ?

ममाधान—नहा, क्योंकि, उभयसयोगजका तीसरे भेदमें अन्तर्भाव हो जाता है ।

शुक्रा—तो फिर इनसे भिन्न चोया अनुभय मनोयोग कौनसा है ?

समाधान—समनस्स जीवाम प्रचनप्रवृत्ति मनपूर्वक देखी जाती है, क्योंकि, मनके बिना उनमें प्रचनप्रवृत्ति नहीं पाई जाती है । इसलिये उन चारोंमेंसे सत्यप्रचन निमित्तक मनके निमित्तसे होनेवाले योगको सत्यमनोयोग कहते हैं । असत्य प्रचन निमित्तक मनसे होनेवाले योगको असत्यमनोयोग कहते हैं । सत्य और मृषा इन दोनोंरूप प्रचन निमित्तक मनसे होनेवाले योगको उभय मनोयोग कहते हैं । उक्त तीनों प्रकारके प्रचनोंसे भिन्न आमन्त्रण आदि अनुभयरूप प्रचन निमित्तक मनसे होनेवाले योगको अनुभयमनोयोग कहते हैं । फिर भी उक्त प्रकारका कथन मुख्यार्थ नहीं है, क्योंकि, इसकी संपूर्ण मनके साथ व्याप्ति नहीं पाई जाती है । अर्थात् उक्त कथन उपचरित है, क्योंकि, प्रचनकी सत्यादि कतासे मनमें सत्य आदिना उपचार किया गया है ।

शुक्रा—तो फिर यहा पर निर्दाय अर्थ कौनसा लेना चाहिये ?

१ गो जा २१८ गद्वात्र सत्याथ नद्विषय मन सत्यमन, गत्यार्थज्ञानचननशक्तिरूप भावमन इत्यथ । × त्रिपरीत अगत्याविवरयज्ञानजनितशक्तिरूपमात्रमनसा जनितप्रयत्नविशेष मृषा अथयमनायोग । उभय गत्यमृषार्थमानजननशक्तिरूपमात्रमनजनितप्रयत्नविशेष उभयमनायोग । जा प्र टी

द्वयात्मकमुभयमन । सञ्जयानध्ययसायज्ञाननिग्रनममन्यमोपमन इति । अथवा तद्वचनजननयोग्यतामपेक्ष्य चिरन्तनोऽप्यर्थः समीचीन एव । उक्तं च —

ण य सच्च मोस जुत्तो जो दु मणो सो अस चमोसमणो ।

जो जोगो तेण हवे असच्चमोसो दु मणजोगो' ॥ १५५ ॥

मनसो भेदमभिप्राय साम्प्रत गुणस्थानेषु तत्स्वरूपनिरूपणार्थमुत्तरमत्रमाह—

मणजोगो सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छा-
इट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि ति ॥ ५० ॥

मनोयोग इति पञ्चमो मनोयोग क लक्ष्येनैव दोष, चतसृणा मनोव्यक्तीना सामान्यस्य पञ्चमत्प्रोपपत्ते । किं तत्सामान्यमिति चेन्मनस मादृश्यम् । मनसः

समाधान - जहा जिसप्रकारकी वस्तु विद्यमान हो, वहा उसीप्रकारसे प्रवृत्ति करने वाले मनको सत्यमन कहते ह । इससे विपरीत मनको असत्यमन कहते ह । सत्य और असत्य इन दोनोंरूप मनको उभयमन कहते हैं । तथा जो सशय और अनध्यवसायरूप ज्ञानका कारण है उसे अनुभव मन कहते ह । अथवा मनम सत्य, असत्य आदि वचनाको उत्पन्न करनेरूप योग्यता है, उसकी अपेक्षासे सत्यवचनादिके निमित्तसे होनेके कारण जिस पहले उपचार कह आये है वह कथन मुख्य भी है । कहा भी है—

जो मन सत्य और मृपासे युक्त नहीं होना है उसको असत्यमृपामन कहते ह, और उससे जो योग अर्थात् प्रयत्नविशेष होता ह उसे असत्यमृपामनोयोग कहते ह ॥ १५५ ॥

मनोयोगके भेदाका कथन करके अब गुणस्थानाम उसके स्वरूपका निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे मनोयोग और विशेषरूपसे सत्यमनोयोग तथा असत्यमृपामनोयोग सभी मिथ्यादिष्टसे लेकर सयोगिकेजली पर्यन्त होते ह ॥ ५० ॥

शक्ति—चार मनोयोगोंके अतिरिक्त मनोयोग इस नामका पाचवा मनोयोग कहासे आया ?

समाधान—यह कोई दोष नहा है, क्योंकि, भेदरूप चार प्रकारके मनोयोगोंम रहतेजाले सामान्य योगके पाचवी सरया बन जाती ह ।

शक्ति—वह सामान्य न्या है जो चार प्रकारके मनोयोगाम पाया जाता है ?

समाधान—यहा पर सामान्यमे मनकी सदृशताका ग्रहण करना चाहिये ।

समुत्पत्तये प्रयत्नो मनोयोग । पूर्वप्रयोगात् प्रयत्नमन्तरेणापि मनस प्रवृत्तिर्दृश्यते इति चेद्भ्रान्तु, न तेन मनसा योगोऽत्र मनोयोग इति निश्चितः, तन्निमित्तप्रयत्नमन्वन्धस्य परिस्पन्दरूपस्य निवृत्तितत्वात् ।

भ्रान्तु केजलिः सत्यमनोयोगस्य सत्यं तत्र वस्तुयाथात्म्याप्रगतेः सत्त्वात् । नासत्यमोषमनोयोगस्य सत्यं तत्र सशयानध्यवसायोरभावादिति न, सशयानध्यवसाय-निग्रन्धनप्रचनहेतुमनमोषसत्यमोषमनस्त्यमस्तीति तत्र तस्य सत्त्वाप्ररोधात् । किमिति केजलिनो वचनं सशयानध्यवसायजनकमिति चेत्सपार्थानन्त्याद्भ्योतुरापरणक्षयोपशमाति-शयाभावात् । तीर्थंरूपप्रचनमनवरत्नाद् धनिरूपं तत् एव तदेकम् । एकरत्वाच्च तस्य द्वैविध्यं घटत इति चेन्न, तत्र स्यादित्यादि असत्यमोषप्रचनसत्तत्तस्य धनेरनवरत्ना-

मनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं ।

शंका—पूर्व प्रयोगसे प्रयत्नके बिना भी मनकी प्रवृत्ति देखी जाती है ?

समाधान—यदि प्रयत्नके बिना भी मनकी प्रवृत्ति होती है तो होने दें, क्योंकि, ऐसे मनमें होनेवाले योगको मनोयोग कहते हैं, यह अर्थ यहाँ पर विवक्षित नहीं है । किंतु मनके निमित्तसे जो परिस्पन्दरूप प्रयत्नविशेष होता है, वह यहाँ पर योगरूपसे निश्चित है ।

शंका—केजली जिनके सत्यमनोयोगका सद्भाव रहा आवे, क्योंकि, वहाँ पर वस्तुके यथार्थ ज्ञानका सद्भाव पाया जाता है । परन्तु उनके असत्यमूषामनोयोगका सद्भाव मभय नहीं है, क्योंकि, वहाँ पर सशय और अनध्यवसायरूप ज्ञानका अभाव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सशय और अनध्यवसायके कारणरूप घचनका कारण मन होनेसे उसमें भी अनुभयरूप धर्म रह सकता है । अतः सयोगी जिनमें अनुभय मनोयोगका सद्भाव स्वीकार कर लेनेमें कोई विरोध नहीं जाना है ।

शंका—केजलीके घचन सशय और अनध्यवसायको पैदा करते हैं इसका क्या तात्पर्य है ?

समाधान—केजलीके ज्ञानके विषयभूत पदार्थ अनन्त होनेसे ओर ओरके आवरण कर्मका क्षयोपशम अतिशयरहित होनेसे केजलीके घचनोंके निमित्तसे सशय और अनध्यवसायकी उत्पत्ति हो सकती है ।

शंका—तीर्थंरूपके घचन अनक्षररूप होनेके कारण धनिरूप हैं, और इसलिये वे एकरूप हैं, और एकरूप होनेके कारण वे सत्य और अनुभय इसप्रकार दो प्रकारके नहीं हो सकते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, केजलीके घचनमें 'स्यात्' इत्यादिरूपसे अनुभयरूप घचनका सद्भाव पाया जाना है, इसलिये केजलीकी ध्वनि अनक्षरात्मक है यह बात आसिद्ध है ।

योगः मनोयोगः । विद्यमानोऽपि तदुत्पादने प्रयत्नः किमिति स्वकार्यं न विदध्यादिति चेन्न, तत्सहकारिकारणलघोपशमाभावात् । अतस्तु मनसः कथं रचनद्वितयममुत्पत्तिरिति चेन्न, उपचारतस्तयोस्ततः समुत्पत्तिविधानात् ।

शेषमनमोर्गुणस्थानप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि
जाव खीण-कसाय-वीयराय-छट्टुमत्था त्ति ॥ ५१ ॥

भगवतु नाम क्षपकोपशमक्रान्ता सत्यस्यासत्यमोषस्य च सच्च नेतरयोरग्रमादस्य

शुद्धा—केवलीके द्रव्यमनको उत्पन्न करनेमें प्रयत्न विद्यमान रहते हुए भी वह अपने कार्यमें क्यों नहीं करता है ।

समाधान—नहीं, क्योंकि, केवलीके मानसिक ज्ञानके सहकारी कारणरूप ध्योपशमका अभाव है, इसलिये उनके मनोनिमित्तक ज्ञान नहीं होता है ।

शुद्धा—जब कि केवलीके यथार्थमें अर्थात् ध्योपशमिक मन नहीं पाया जाता है, तो उससे सत्य और अनुभय इन दो प्रकारकी वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उपचारसे मनके द्वारा उन दोनों प्रकारके वचनोंकी उत्पत्तिको विधान किया गया है ।

अथ शेष दो मनोयोगोंके गुणस्थानाके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

असत्यमनोयोग और अभयमनोयोग सत्ती मित्याइट्ठि गुणस्थानसे लेकर क्षीणरूपाय चीनराग छद्मस्य गुणस्थानतक पाये जाते हैं ॥ ५२ ॥

शुद्धा—क्षपक और उपशमक जीवोंके सत्यमनोयोग और अनुभयमनोयोगका सङ्गा

धम्म परिहरे । XX ता वि य ण अद्धमागता भासा तैमि मत्तमि आरियमणारियाण अप्पणा मात्ताए परिणामेण परिणमइ । ओप सु ३४ याप्पोयाप्पोजनं वाणा सत्तमापातुणा प्रमा ॥ तथाहु श्री इममूरय सायावज्जामने, अट्ठमिस्वाइपदा परमाधामिधाधिवाप् । मग्गिमापरिणता जेना वाचसुपात्तमे ॥ देवा देवा नरा नारी शवराध्यापि क्षात्रेण् । तियजोऽपि च तरथा भानि र भगवद्विरम् ॥ यथा जलधरस्त्राम्मा आश्रयाणां विक्षेपत । नानारम भवयय वाणा भगवतामपि ॥ स्याप्रमोर्गुलभाषा च स्वमात्रादर्थमागवा । स्यातां द्व लक्षणे द्रव्यां मागव्या प्राटतस्य च ॥ वनेननव रचता भुयमासपि मशया । डिपते नति तत्तायो क्षाताशेषयचोत्रिधि ॥ क्रमछदे सशयानाममएयत्वा द्रुपुमताम् । जमयेनापि दालेन मनन् रथमनुग्रह ॥ शन्दशतविचिनवान् मताहासि धर्चासि च । प्रमुत्तच्छर यत्स्यानुगपद्रुयधामपि ॥ मर सरस्वतान् मिट्टेन गुणपयथा । ' मरा नधि ' ति वाक्येन मियास्तिस्रोपि धाविता ॥ छो प्र ३०, ६३४-६४२ सयावमगवाया माया भवति, कोऽथ ? जर्ष भगवद्भाषाया मगधदशमापाम, अर्थ च सवमापावम् । इयमथ दत्तापनीतल तदतिशयस्यति तैन् ? मगधदेवमधिधाने तवापरिणतया भाषया सरस्तमापया प्रवेते । यदया ४ ३२ (म टी)

प्रमादविरोधित्वादिति न, रजोजुषा विपर्ययानध्यवसायाज्ञानकारणमनमः सत्त्वा-
विरोधात् । न च तद्योगान्प्रमादिनस्ते प्रमादस्य मोहपर्यायत्वात् ।

वाग्योगभेदप्रतिपादनार्थमुक्तगम्यमाह—

वचिजोगो चउव्विहो सच्चवचिजोगो मोसवचिजोगो सच्चमोस-
वचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो चेदि ॥ ५२ ॥

चतुर्विधमनोभ्य ममुत्पन्नरचनानि चतुर्विधा यपि तद्व्यपदेशं प्रतिलभन्ते
तथा प्रतीयन्ते च । उक्तं च—

दमविह स चे वयणे जो जोगो सो दृ सच्चवचिजोगो ।

तविमरीदो मोसो जाणुमय सच्चमोस ति' ॥ १५६ ॥

जो णेय सच्च मोसो त चाण असच्चमोसवचिजोगो ।

अमणाण जा भासा सण्णाणामतगीयादी ॥ १५७ ॥

रत्ता गये, परन्तु रात्रीके दो अर्थात् असत्यमनोयोग आर उभयमनोयोगका सङ्घात नहा हो
सकता ह, क्योंकि, इन दोनोंमें रहनेवाला अप्रमाद असत्य ओर उभय मनके कारणभूत
प्रमादका विरोधी है ? अर्थात् क्षपक ओर उपशमक प्रमादरहित होते हैं, इसलिये उनके
अमयमनोयोग ओर उभयमनोयोग नहीं पाये जा सकते हैं ?

समाधान — नहा, क्योंकि, जाग्रणकर्मसे युक्त जीवोंके विपर्यय ओर अनवधसारूप
अज्ञानके कारणभूत मनके सङ्घात मान लेनेमें कोई विरोध नहा आता है । परन्तु इसके
समयमें क्षपक या उपशमक जीव प्रमत्त नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि, प्रमाद मोहकी
पर्याय है ।

अथ वचनयोगके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये जागेका सूत्र कहते हैं—

वचनयोग चार प्रकारका है, सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग, आर
अनुभयवचनयोग ॥ २ ॥

चार प्रकारके मनसे उत्पन्न हुए चार प्रकारके वचन भी उन्हा सङ्गाओंको प्राप्त होते
ह ओर ऐसी प्रतीति भी होती है । कहा भी है—

दश प्रकारके सत्यवचनमें वचनवर्णनाके निमित्तसे जो योग होता है उसे सत्यवचा-
योग कहते ह । उसमें विपरीत योगको मृगवचनयोग कहते ह । सत्यमृगरूप वचा-
योगको उभयवचनयोग कहते हैं ॥ ११६ ॥

जो न तो सत्य रूप है ओर न मृगरूप ही है वह असत्यमृगावचनयोग है । असत्री

उचमो भेदमभिप्राय गुणस्थानेषु तत्प्रतिपादनार्थमुक्तम्ब्रमाह—

वचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो वीइंदिय-प्पहुडि जाव
सजोगिकेवलि ति ॥ ५३ ॥

(अमत्यमोपमनोनिग्रन्धनप्रचनममत्यमोपप्रचनमिति प्रागुक्तम्, तद् द्वीन्द्रियादीना मनोरहिताना कथं भवेदिति नायमेकान्तोऽस्ति सकलप्रचनानि मनम एव समुत्पन्नन्त इति मनोरहितकेवलिना प्रचनाभावमजननात् ।) विकलेन्द्रियाणा मनमा पिना न ज्ञानममुत्पत्ति । नानेन पिना न प्रचनप्रवृत्तिरिति चेन्न, मनम एव ज्ञानमुत्पद्यत इत्येकान्तभावात् । भावे ना नाशेपेन्द्रियेभ्यो ज्ञानममुत्पत्ति मनमः समुत्पन्नन्तात् । नैतदपि दृष्टश्रुतानुभूतविषयस्य मानमप्रत्ययस्यान्यत्र वृत्तिनिरोधात् । न चक्षुरादीना महकार्यपि प्रयत्नात्ममहकारिभ्यः इन्द्रियेभ्यस्तदुत्पत्त्युपलम्भात् । समनस्केषु ज्ञानस्य प्रादुर्भागे मनोयोगादेवेति चेन्न,

जीवाकी भाषा और सबी जीवोंकी आमन्त्रणी आदि भाषाएँ इसके उदाहरण हे ॥ १७ ॥

इसप्रकार वचनयोगके भेद कहकर अथ गुणस्थानोंमें उसके सत्वके प्रतिपादन करनेके लिय आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे वचनयोग और विशेषरूपसे अनुभयवचनयोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होता हे ॥ ५३ ॥

शुक्रा—अनुभयरूप मनके निमित्तसे जो प्रचन उत्पन्न होते हैं उन्हें अनुभयप्रचन कहते हैं, यह बात पहले कही जा चुकी है । ऐसी हालतमें मनरहित द्वीन्द्रियादिक जीवोंमें अनुभयवचन कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—यह कोई एका त नहीं है कि सपूर्ण वचन मनसे ही उत्पन्न होते हैं । यदि सपूर्ण वचनोंकी उत्पत्ति मनसे ही मान ली जावे तो मनरहित केवलियोंके प्रचनका अभाव प्राप्त हो जायगा ।

शुक्रा—विकलेन्द्रिय जीवोंके मनके बिना ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है और प्रचनके बिना वचनोंकी प्रवृत्ति नही हो सकती है ?

समाधान—ऐसा नही है, क्योंकि, मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह कोई एकान्त नहीं है । यदि मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह एकान्त मान लिया जाता है, तो सपूर्ण इन्द्रियोंमें ज्ञानकी उत्पत्ति नही हो सकेगी, क्योंकि, सपूर्ण ज्ञानकी उत्पत्ति मनसे मानते हैं । अथवा, मनसे समुत्पन्नस्वरूप धर्म इन्द्रियोंमें रह भी तो नही हो सकता है, क्योंकि, दृष्ट, श्रुत और अनुभूतको विषय करनेवाले मानसज्ञानका दूसरी जगह सद्भाव माननेमें विरोध आता है । यदि मनको चक्षु आदि इन्द्रियोंका सहकारी कारण माना जाये तो भी नही जनता है, क्योंकि, प्रयत्न और आत्माके सहकारकी अपेक्षा रखनेवाली इन्द्रियोंसे इन्द्रियज्ञानकी उत्पत्ति पाई जाती है ।

शुक्रा—समनस्क जीवोंमें तो ज्ञानकी उत्पत्ति मनोयोगमें ही होती है ?

कर्मिणां आहारिकम् कन्धाभ्यां जनितवीर्यात्तत्परिस्पन्दनार्थः प्रयत्न आहारिकमिश्रकाययोगः ।
 उदारः पुरु महानित्यर्थः, तत्र भव शरीरमौदारिकम् । अथ स्थान महत्त्वमौदारिक-
 शरीरस्य ? कथमेतदवगम्यते ? वर्गणास्रत्वात् । किं तद्वर्गणास्रमिति चेदुच्यते 'सर्वत्रयोत्रा
 ओरालिय सरीर दब्ब-वग्गणा पदेसा, वेउच्चिय सरीर दब्ब-वग्गणा पदेसा असखेज्जगुणा,
 आहार-सरीर-दब्ब वग्गणा पदेसा जमखेज्जगुणा, तेया मरीर-दब्ब वग्गणा-पदेसा अणतगुणा,
 भासा दब्ब-वग्गणा पदेसा अणतगुणा, मण दब्ब-वग्गणा पदेसा अणतगुणा, कम्मइय-सरीर
 दब्ब-वग्गणा पदेसा अणतगुणा चि ।' न, अत्रमाहनापेक्षया औदारिकशरीरस्य महत्त्वोपपत्तेः ।
 यथा 'सर्वत्रयोत्रा कम्मइय सरीर दब्ब-वग्गणाए ओगाहणा, मण-दब्ब-वग्गणाए ओगाहणा
 असखेज्जगुणा, भासा-दब्ब वग्गणाए ओगाहणा असखेज्जगुणा, तेया-सरीर-दब्ब वग्गणाए
 ओगाहणा अमखेज्जगुणा, आहार सरीर दब्ब-वग्गणाए ओगाहणा अमखेज्जगुणा,
 वेउच्चिय-सरीर दब्ब वग्गणाए ओगाहणा अमखेज्जगुणा, ओरालिय-सरीर दब्ब वग्गणाए

परिस्पन्दका कारणभूत जो प्रयत्न होता है उसे औदारिककाययोग कहते हैं । कर्मिण और
 औदारिक वर्गणाओंके द्वारा उत्पन्न हुए वीर्यसे जीवके प्रदेशोंमें परिस्पन्दके लिये जो प्रयत्न
 होता है उसे औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं । उदार, पुरु और महान् ये एक ही अर्थके
 शब्द हैं । उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे औदारिकशरीर कहते हैं ।

गुरु—औदारिक शरीर महान् है, यह बात नहीं बनती है ?

प्रतिशक्ता—यह कैसे जाना ?

शक्ता समर्थन—वर्गणास्रसे यह बात मालूम पड़ती है ।

प्रतिशक्ता—यह वर्गणास्र कौनसा है ?

शक्ता समर्थन—जिसमें आहारिक शरीरकी महानता सिद्ध नही होती है वह
 अमखेज्जगुणा है, 'औदारिकशरीरदब्बवग्गणा' की वर्गणाओंके प्रदेश सबसे थोड़े हैं ।
 उन अमखेज्जगुणे वरियकदागट्टवग्गणा की वर्गणाके प्रदेश हैं । उससे असखेज्जगुणे
 ओगाहणा की वर्गणाके प्रदेश हैं । उससे अणतगुणे तेजसशरीरदब्बवग्गणा की
 वर्गणाके प्रदेश हैं । उससे अणतगुणे भासादब्बवग्गणाके प्रदेश हैं । उससे अणतगुणे
 मणदब्बवग्गणाके प्रदेश हैं, और उससे अणतगुणे कर्मणशरीरदब्बवग्गणाके प्रदेश हैं ।

उसमें ऐसा कहा है, क्योंकि, अत्रमाहनाकी अपेक्षा औदारिक शरीरकी

होना कि कहा भा है—

अत्रमाहना की अत्रमाहना सबसे सूक्ष्म है । मनोद्रव्य

अमखेज्जगुणा है । भासादब्बवग्गणाकी अत्रमाहना इससे अस

मणदब्बवग्गणा की अत्रमाहना इसमें असखेज्जगुणी है ।

ओगाहना इससे असखेज्जगुणी है । वरियकशरीर

असखेज्जगुणी है । आहारिकशरीरसब की

दशपि सत्यानीति ।

शेषपञ्चमोः गुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि
जाव खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था ति ॥ ५५ ॥

क्षीणरूपायस्य पचन कथममत्यमिति चेन्न, असत्यनिवन्धनाज्ञानमत्तापेक्षया तत्र तत्तत्प्रतिपादनात् । तत् एव नोभयमयोगोऽपि निरुद्ध इति । वाच्यमस्य क्षीणरूपायस्य कथं गग्योगश्चेन्न, तत्रान्तर्जल्पस्य मत्ताविरोधात् ।

काययोगमर्यादाप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कायजोगो सत्ताविहो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकाय-
जोगो वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो आहारकायजोगो
आहारमिस्सकायजोगो कम्मइयकायजोगो चेदि ॥ ५६ ॥

औदारिकशरीरजनितरीयाजीमप्रदेशपरिस्पन्दनिवन्धनप्रयत्न. औदारिककाययोगः ।

नहीं आता है, इसलिये उनमें दशों प्रकारके सत्यवचन होते हैं ।

शेष पचनयोगोंके गुणस्थानोंमें निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मृपाधचनयोग और सत्यमृपाधचनयोग सश्री मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणरूपाय-चतिराग
छगस्य गुणस्थानतक पाये जाते हैं ॥ ५५ ॥

शंका—जिसकी कपायें क्षीण हो गई हैं ऐसे जीवके पचन असत्य कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—ऐसी शंका व्यर्थ है, क्योंकि, असत्यपचनका कारण अज्ञान बारहव
गुणस्थानतक पाया जाता है, इस अपेक्षासे वहाँ पर असत्यवचनके सङ्कापका प्रतिपादन किया
है । और इसीलिये उभयसंयोगज सत्यमृपाधचन भी बारहवें गुणस्थानतक होता है, इस
कथनमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—पचनगुणिका पूरी तरहसे पालन करनेवाले कपायरहित जीवोंके पचनयोग
कैसे सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कपायरहित जीवोंमें अन्तर्जल्पके पाये जानेमें कोई
विरोध नहीं आता है ।

अत्र काययोगकी सत्ताके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

काययोग सात प्रकारका है, औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियक
काययोग, वैभियकमिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग और कार्मणकाय-
योग ॥ ५६ ॥

औदारिक शरीरद्वारा (औदारिक वर्गणाभासे) उत्पन्न हुई शक्तिसे जीवके प्रदेशोंमें

केवलज्ञानेन व्यभिचारात् । समनस्काना यत्क्षयोपशमिकं ज्ञान तन्मनोयोगात्स्यादिति चेन्न, इष्टत्वात् । मनोयोगाद्वचनमुत्पद्यत इति ग्रासुक्तं तत्कथं घटत इति चेन्न, उपचारेण तत्र मानसस्य ज्ञानस्य मन इति सज्ञा विधायोक्तत्वात् । कथं त्रिकलेन्द्रियमनचसोऽमत्य मोषत्वमिति चेदनध्यवसायहेतुत्वात् । धनिविषयोऽव्ययमायः मनुष्यलभ्यत इति चेन्न, वक्तुमभिप्रायविषयाध्यवसायाभावस्य निश्चितत्वात् ।

सत्यवचसो गुणनिरूपणार्थमुक्तं गृह्यमाह —

सच्चवचिजोगो सणिमिच्छाइट्टि प्पहुडि जाय सजोगि-
केवलि ति ॥ ५४ ॥

दशविधानामपि मत्स्यानामेतेषु गुणस्थानेषु मत्स्यस्य निरोपामिद्धेः तत्र भरति

समाधान— नहा, क्योंकि, ऐसा मानने पर केवलज्ञानसे व्यभिचार आता है ।

शुक्रा— तो फिर ऐसा माना जाय कि समनस्क जीवोंके जो क्षयोपशमिक ज्ञान होता है वह मनोयोगसे होता है ?

समाधान— यह कोई शक्य नहा, क्योंकि, यह तो इष्ट ही है ।

शुक्रा— मनोयोगसे उचन उत्पन्न होते हैं, यह जो पहले कहा जा चुका है उह कैसे प्रकट होगा ?

समाधान— यह शक्य कोई दोषजनक नहा है, क्योंकि, 'मनोयोगसे वचन उत्पन्न होते हैं' यहा पर मानस ज्ञानकी 'मन' यह सज्ञा उपचारसे स्तरस्तर कथन किया है ।

शुक्रा— त्रिकलेन्द्रियोंके उचनानाम अनुभयपना कैसे आ सकता है ?

समाधान— त्रिकलेन्द्रियोंके उचन अनध्यवसायरूप धनके कारण है, इसलिये उह अनुभयरूप कहा है ।

शुक्रा— उनके वचनोंमें धनिविषयक अध्यवसाय अर्थात् निश्चय तो पाया जाता है, फिर उह अनध्यवसायका कारण क्यों कहा जाय ?

समाधान— नहा, क्योंकि, यहा पर अनध्यवसायसे वक्ताका अभिप्रायविषयक अध्यवसायका अभाव विवक्षित है ।

अथ सत्यवचनयोगका गुणस्थानानाम निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सत्यउचनयोगा सज्ञी मिथ्यादृष्टीसे लेकर सयोगिनेधली गुणस्थानतक होता है ॥ ५४ ॥

दशों ही प्रकारसे सत्यउचनके सूत्रोक्त तरह गुणस्थानोंमें पाये जानेमें कोई विरोध

१ नवपदसम्पददिव्यलक्षणम् रूप पञ्च । अज्ञानं य मान उचमाय दयविद् सच्च ॥ मत्त देवा चदयन्पत्तिमा तद् य होदि जिनदली । सदा दिव्या रत्नदि त्रयो वि य न हवे वयण ॥ गा जी २२२, २२३

दशापि सत्यानीति ।

शेषत्रयमोः गुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि
जाव खीण-कसाय-वीयराय-उद्धुमत्था त्ति ॥ ५५ ॥

क्षीणरूपायस्य वचन कथमसत्यमिति चेन्न, असत्यनिवन्धनाज्ञानमच्चापेक्षया तत्र
तत्त्वप्रतिपादनात् । तत् एव नोभयभंगयोगोऽपि निरुद्ध इति । नाचयमस्य क्षीणरूपायस्य
कथं नाग्ययोगश्चेन्न, तत्रान्तर्जल्पस्य मत्त्वानिरोधात् ।

काययोगमरयाप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कायजोगो सत्ताविहो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकाय-
जोगो वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो आहारकायजोगो
आहारमिस्सकायजोगो कम्मइयकायजोगो चेदि ॥ ५६ ॥

औदारिकशरीरजनितरीयाजीउप्रदेशपरिस्पन्दनिवन्धनप्रयत्न, औदारिककाययोगः ।

नहीं आता है, इसलिये उनमें दशों प्रकारके सत्यवचन होते हैं ।

शेष वचनयोगके गुणस्थानोंमें निरूपण करनेके लिये अगोका सूत्र कहते हैं—

मृपावचनयोग और सत्यमृपावचनयोग सजी मिव्यादाप्पिसे लेकर क्षीणरूपाय-वचनराग
छन्नस्थ गुणस्थानतक पाये जाते हैं ॥ ५५ ॥

शुद्धा—जिसकी कपाय क्षीण हो गई है ऐसे जीवके वचन असत्य कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—ऐसी शका व्यर्थ है, क्योंकि, असत्यवचनका कारण अज्ञान बारहवें
गुणस्थानतक पाया जाता है, इस अपेक्षासे वहाँ पर असत्यवचनके सङ्गानका प्रतिपादन किया
है । और इसीलिये उभयसंयोगज सत्यमृपावचन भी बारहवें गुणस्थानतक होता है, इस
कथनमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—वचनगुप्तिका पूरी तरहसे पालन करनेवाले कपायरहित जीवोंके वचनयोग
कैसे सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, रूपायरहित जीवाम अन्तर्जल्पके पाये जानेमें कोई
विरोध नही आता है ।

अब काययोगकी सत्याके प्रतिपादन करनेके लिये अगोका सूत्र कहते हैं—

काययोग सात प्रकारका है, औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैश्रियक
काययोग, वैश्रियकमिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग और कर्मणकाय-
योग ॥ ५६ ॥

औदारिक शरीरद्वारा (औदारिक वर्गणाभासे) उत्पन्न हुई शक्तिसे जीवके प्रदेशोंमें

कर्मणोदारिकरुक्मन्धाभ्या जनितीर्यात्तत्परिस्पन्दनार्थः प्रयत्न औदारिकमिश्रकाययोगः ।
 उदारः पुरुः महान्तिर्य्य, तत्र भव शरीरमौदारिकम् । अथ स्वान्न महत्त्वमौदारिक-
 शरीरस्य ? कथमेतदवगम्यते ? वर्गणासूत्रात् । किं तद्वर्गणासूत्रमिति चेदुच्यते 'सच्चत्थोरा
 ओरालिय सरीर दव्व वग्गणा पदेसा, वेउच्चिय मरीर दव्व-वग्गणा पदेसा असखेज्जगुणा,
 आहार सरीर-दव्व वग्गणा पदेसा जमखेज्जगुणा, तेया सरीर-दव्व वग्गणा-पदेसा अणतगुणा,
 भासा दव्व-वग्गणा-पदेसा अणतगुणा, मण-दव्व-वग्गणा-पदेसा अणतगुणा, कम्मइय-सरीर-
 दव्व-वग्गणा पदेसा अणतगुणा ति ।' न, अज्जाहनापेक्षया औदारिकशरीरस्य महत्त्वोपपत्तेः ।
 यथा 'मच्चत्थोरा रुम्मइय सरीर दव्व-वग्गणाए ओगाहणा, मण-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा
 जसखेज्जगुणा, भासा-दव्व वग्गणाए ओगाहणा जमखेज्जगुणा, तेया-सरीर-दव्व-वग्गणाए
 ओगाहणा असखेज्जगुणा, आहार सरीर दव्व-वग्गणाए ओगाहणा जमखेज्जगुणा,
 वेउच्चिय-सरीर दव्व वग्गणाए ओगाहणा जमखेज्जगुणा, ओरालिय-सरीर दव्व-वग्गणाए

परिस्पन्दना कारणभूत जो प्रयत्न होता है उसे औदारिककाययोग कहते हैं । कर्मण और
 औदारिक वर्गणाआके द्वारा उत्पन्न हुए धर्मोंसे जीवके प्रदेशोंमें परिस्पन्दके लिये जा प्रयत्न
 होता है उसे औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं । उदार, पुरु और महान ये एक ही अर्थमें
 वाचक शब्द हैं । उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे औदारिकशरीर कहते हैं ।

शुक्रा—औदारिक शरीर महान् है, यह बात नहीं बनती है ?

प्रतिशक्ता—यह कैसे जाना ?

शक्राका समर्थन—वर्गणासूत्रसे यह बात मालूम पड़ती है ।

प्रतिशक्ता—यह वर्गणासूत्र कौनसा है ?

शक्राका समर्थन—जिसमें औदारिक शरीरकी महानता सिद्ध नही होती है वह
 वर्गणासूत्र इसप्रकार है, 'औदारिकशरीरद्रव्यसबन्धी वर्गणाआके प्रदेश सबसे थोड़े हैं ।
 उससे असरपातगुणे वैयिकशरीरद्रव्यसबन्धी वर्गणाके प्रदेश हैं । उससे असरपातगुणे
 आहारशरीरद्रव्यसबन्धी वर्गणाके प्रदेश हैं । उससे अनन्तगुणे तेजसशरीरद्रव्यसबन्धी
 वर्गणाके प्रदेश हैं । उससे अनन्तगुणे भाषाद्रव्यवर्गणाके प्रदेश हैं । उससे अनन्तगुणे
 मनोद्रव्यवर्गणाके प्रदेश हैं, और उससे अनन्तगुणे कर्मणशरीरद्रव्यवर्गणाके प्रदेश हैं ।'

ममाधान—प्रथममें ऐसा नही है, क्योंकि, अज्जाहनाकी अपेक्षा औदारिक शरीरकी
 स्थूलता उन जानी है । जैसे कि कहा भी है—

'कर्मणशरीरसबन्धी द्रव्य वर्गणाकी अज्जाहना सबसे सूक्ष्म है । मनोद्रव्य
 वर्गणाकी अज्जाहना इससे असरपातगुणी है । भाषाद्रव्यवर्गणाकी अज्जाहना इससे अस-
 रपातगुणी है । तेजसशरीरसबन्धी द्रव्य वर्गणाकी अज्जाहना इससे असरपातगुणी है ।
 आहारशरीरसबन्धी द्रव्य वर्गणाकी अज्जाहना इससे जसपातगुणी है । वैयिकशरीर
 सबन्धी द्रव्य वर्गणाकी अज्जाहना इसमें असरपातगुणी है । औदारिकशरीरसबन्धी

ओगाहणा अससेज्जगुणा ति ।' उक्त च—

पुरु महमुदारुल एयटो त त्रियाण तम्हि भन ।

ओराळिय ति वुत्त ओराळियकायजोगो सो' ॥ १६० ॥

ओराळियमुत्तथ त्रिणाण मिस्स च अपरिपुण्ण ति ।

जो तेण सजोगो ओराळियमिस्सको जोगो' ॥ १६१ ॥

अणिमादिर्विक्रिया, तद्योगात्पुद्गलाश्च विक्रियेति भण्यन्ते । तत्र, मन शरीरं
वैक्रियकम् । तदप्रष्टम्भतः समुत्पन्नपरिस्पन्देन योगः वैक्रियककाययोगः । कर्मण-
वैक्रियकस्कन्धतः समुत्पन्नवीर्येण योगः वैक्रियकमिश्रकाययोगः । उक्तं च—

विनिह-गुण इद्धि-उत्त वेउन्नियमहन विक्रिरिया चेन ।

तिस्से भन च णेय वेउन्नियकायजोगो सो' ॥ १६२ ॥

द्रव्य-वर्गणांकी अवगाहना इससे असख्यातगुणी है । कहा भी है—

पुरु, महत्त, उदार और उराल, ये शब्द एकार्थवाचक हैं । उदारमं जो होता है उसे
औदारिक कहते हैं, और उसके निमित्तसे होनेवाले योगको औदारिककाययोग कहते हैं ॥१६०॥

औदारिकका अर्थ ऊपर कह आये है । वही शरीर जबतक पूर्ण नहीं होता है तबतक
मिश्र कहलाता है, और उसके द्वारा होनेवाले सप्रयोगको औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं ॥१६१॥

अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियोंको विक्रिया कहते हैं । उन ऋद्धियोंके सपर्कसे पुद्गल
भी 'विक्रिया' इस नामसे कहे जाते हैं । उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे वैक्रियकशरीर
कहते हैं । उस शरीरके अपलम्बनसे उत्पन्न हुए परिस्पन्दद्वारा जो प्रयत्न होता है उसे
वैक्रियककाययोग कहते हैं । कर्मण और वैक्रियक वर्गणाओंके निमित्तसे उत्पन्न हुई शक्तिसे
जो परिस्पन्दके लिये प्रयत्न होता है उसे वैक्रियकमिश्रकाययोग कहते हैं । कहा भी है—

नाना प्रकारके गुण और ऋद्धियोंसे युक्त शरीरको वैगूर्णिक अथवा वैक्रियक शरीर

१ गो वा २३० सूक्ष्मपृथिव्यत्तत्रोवायुमाधारणशराणां स्थूलवामावात् कथमोदारित्व ? इति चेत्तन,
तत्र सूक्ष्मतरंगत्रियकादिशरापेक्षया तेषां मत्त्वन परमागमरूपा वा आदारिकवममवात् । म प्र टा

२ गो वा २३१ प्राशुलक्षणमोदारित्वशरारं तदेवातर्मुहृतपर्यन्तमपूर्णं अपयात्त तावमिश्रमियुच्यते
अपयात्तत्वात्त्वमसमयनयमममिवाभणकाययोगादृष्टकर्मणरगणामयुत्तत्वेन परमागमरूपा वा अपयात्त अपयात्त
शरीरमिश्रमित्यथ । जी प्र टी । तत्रादारिकादय उद्धा सुत्रोवा । आदारिकमिश्रस्तु आदारिक ण्वापरिपूर्णो
मिश्र उच्यते, यथा गुडमिश्रं दधि न गुडतया नापि दधितया अपदिरयते तत्ताम्यामपरिपूर्णत्वात् । एवमोदारिक
मिश्र कामणन । नादारिकतया नापि कर्मणतया व्यपदेश्यं शस्यम् अपरिपूर्णत्वादिति तस्यादाारिकमिश्रव्यपदेश ।
एवं वनियवात्तरमिथान्नापि क्षन्तकटाक्षः । प्रज्ञापनायान्नाशमत्रेन्द्र, ओदागिकाया उदास्तवर्णान्तरस्य
मिथान्नापयात्तस्यति । स्या सू प्र १०१

३ गा जी २३२

वेउत्तियमुत्तय विजाण मित्त च अपरिपुण्ण ति ।

जो तेण सपजोगो वेउत्तियमित्तनोगो सो' ॥ १६३ ॥

आहरति आत्ममात्करोति सूक्ष्मानर्थाननेनेति जाहार' । तेन आहारकायेन योगः आहारकाययोग । कथमौदारिकस्क्रन्वतस्मद्भाना जीवाययाना अन्यशरीरेण हस्तमात्रेण शङ्खधनलेन शुभमस्थानेन योग इति चेन्नेप दोष, अनाश्विन्यननद्रत्वतो मूर्ताना जीवाययाना भूतेण शरीरेण सम्बन्ध प्रति विरोधमिद्रे । तत एव न पुन सङ्घटनमपि विरोधमास्क्रन्देत् । अय स्याज्जीवस्य शरीरेण सम्बन्धकृदायुस्तयोर्वियोगो मरणम् । न च गलितायुपस्तस्मिन् शरीरे पुनरुत्पत्तिर्विरोधात् । ततो न तत्पौदारिक शरीरेण पुनः सङ्घटनमिति ।

अत्र प्रतिनिधीयते, न तावज्जीवशरीरयोर्वियोगो मरणं तयोः सयोगस्योत्पत्ति-

पड़ते हैं । और इसके द्वारा होनेवाले योगको वेगुर्विककाययोग कहते हैं ॥ १६२ ॥

वेगुर्विककायार्थ पढ़ते कह ही चुके हैं । वहीं शरीर जयतर पूर्ण नहीं होता है तबतक मिश्र कहलाता है । और उसके द्वारा जो सम्प्रयोग होता है उसे वेगुर्विकमिश्रकाययोग कहते हैं ॥ १६३ ॥

जिसके द्वारा आत्मा सूक्ष्म पदार्थोंको ग्रहण करता है, अर्थात् आत्ममात् करता है उसे आहारकशरीर कहते हैं । और उस आहारकशरीरसे जो योग होता है उसे आहारक काययोग कहते हैं ।

शङ्का—ओदारिकस्क्रन्धोंसे सम्बन्ध रखनेवाले जीवप्रदेशोंका हस्तप्रमाण, शरीरके समान ध्वल धर्णवाले, और शुभ अर्थात् समचतुरस्र संस्थानसे युक्त अथ शरीरके साथ केसे सम्बन्ध हो सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीवके प्रदेश अनादिकालीन घन्घनसे बद्ध होनेके कारण मूर्त है, अतएव उनका मूर्त आहारकशरीरके साथ सब व होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । और इसीलिये उनका फिरसे ओदारिक शरीरके साथ सङ्घटनका होना भी विरोधको प्राप्त नहीं होता है ।

शङ्का—जीवका शरीरके साथ सबंध करनेवाला आयुर्मर्म है, और जीव तथा शरीरका परस्परमें वियोग होना मरण है । इसलिये जिसकी आयु नष्ट हो गई है ऐसे जीवकी फिरसे उसी शरीरमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है । अतः जीवका ओदारिक शरीरके साथ पुन सङ्घटन नहीं बन सकता है । अर्थात् एकवार जीवप्रदेशोंका आहारक शरीरके साथ सबंध हो जानेके पश्चात् पुन उन प्रदेशोंका पूर्ण ओदारिक शरीरके साथ सबंध नहीं हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आगममें जीव और शरीरके वियोगको मरण नहीं

प्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न, पूर्वायुषामुदयप्राप्तोत्तरमयसम्पन्त्यायुःकर्मणा तत्परित्यक्तानुपात्त-
पूर्वोत्तरशरीराणामपि जीवानामुत्पत्त्युपलम्भात् । भवतु तथोत्पत्तिर्वरण पुनर्जीवशरीर-
वियोग एवेति चेदस्तु सर्वात्मना तयोर्वियोगो मरण नैकदेशेन आगलादप्युपसह-
जीवाप्रयाना मरणानुपलम्भात् जीविताच्छिन्नहस्तेन व्यभिचाराच्च । न पुनरस्यार्थः
सर्वायुषै पूर्वशरीरपरित्यागः समस्ति येनास्य मरण जायेत । न चैतच्छरीर गच्छत्यर्-
तादिना प्रतिहन्यते शस्त्रैश्छिद्यतेऽग्निना दह्यते वा सूक्ष्मत्वाद्वैक्रियकशरीरवत् । आहार-
सामर्थ्यस्कन्धतः समुत्पन्नवीर्येण योगः आहारमिश्रकाययोगः । उक्त च—

नृदा हे । अन्यथा उनके सयोगको उत्पत्ति मानना पड़ेगा ।

शंका — जीव और शरीरका सयोग उत्पत्ति रहा आवे, इसमें क्या हानि है ?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि, पूर्वभवमें ग्रहण किया हुआ आयुःकर्मके उदय होने पर जिन्होंने उत्तर भवसंबन्धी आयुःकर्मना बन्ध कर लिया है और मुख्यमान आयुसे सबन्धके छूट जाने पर भी जिन्होंने पूर्व अवस्था उत्तर इन दोनों शरीरोंमेंसे किसी एक शरीरको प्राप्त नहीं किया है ऐसे जीवोंकी उत्पत्ति पाई जाती है । इसलिये जीव और शरीरके सयोगको उत्पत्ति नहीं कह सकते हैं ।

शंका — उत्पत्ति इसप्रकारकी भली ही रही आवे, फिर भी मरण तो जीव और शरीरके वियोगको ही मानना पड़ेगा ?

समाधान — यह कहना ठीक है, तो भी जीव और शरीरका सपूर्ण रूपसे वियोग ही मरण हो सकता है । उनका एकदेशरूपसे वियोग मरण नहीं हो सकता, क्योंकि, जिनके कण्ठपर्यन्त जीवप्रदेश समुचित हो गये हैं ऐसे जीवोंका भी मरण नहीं पाया जाता है । यदि एकदेश वियोगकी भी मरण माना जावे, तो जीवित शरीरसे छिन्न होकर निम्नका हाथ अलग हो गया है उसके साथ व्यभिचार दोष आ जायगा । इसीप्रकार आहारक शरीरको धारण करना इसका अर्थ संपूर्णरूपसे पूर्व (औदारिक) शरीरका त्याग करना नहीं है, जिससे आहारक शरीरको धारण करनेवालेका मरण माना जावे ?

निशेपार्थ — छटवें गुणस्थानमें जब साधु आहारक शरीरको उत्पन्न करता है, उस समय उसका औदारिक शरीरसे सर्वथा सबन्ध भी नहीं छूट जाता है और मुख्यमान आयुका अन्त भी नहीं होता है, इसलिये ऐसी अवस्थाको मरण नहीं कहते हैं । केवल वही जीवप्रदेशोंका आहारक शरीरके साथ एकदेश सबन्ध होता है ।

यह आहारक शरीर सूक्ष्म होनेके कारण गमन करते समय वैक्रियक शरीरके समान न तो पर्यतोसे टकराता है, न शस्त्रोंसे छिड़ता है और न अग्निसे जलता है । आहारक और फार्मणकी वर्णनाओंसे उत्पन्न हुए वीर्यके द्वारा जो योग होता है वह आहारकमिश्रकाययोग है ।

१ अथावादी अतोपुहुत्कालद्विदी जगद्विन्दारे । पञ्चतासपुष्पे मरण पि रदाति समरद ॥ गी जी २३८

२ तत्रावतलम्भाप्यौदारिकशरीरगणामिश्रत्वेन तामि सह वर्तमानो य सप्रयोग अपरिपूर्णमनियुताम

आहरदि अणेण मुणी सुहुमे अट्टे सयरस सदेहे' ।

गत्ता केउलि-पास तम्हा आहारको जोगो' ॥ १६४ ॥

आहारयमुत्तय वियाण मिस्म च अपरिपुण्ण ति ।

जो तेण सपयोगो आहारयमिस्मको जोगो' ॥ १६५ ॥

विशेषार्थ—मिश्रयोग तीन हैं, ओदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियकमिश्रकाययोग और आहारकमिश्रकाययोग । इनमेंसे ओदारिकमिश्र मनुष्य और तिर्यचके जन्मके प्रथम समयसे लेकर अतर्मुहूर्त कालतः और केउली समुदातकी कपाटद्वयरूप अवस्थामें होता है । वैक्रियक मिश्र देव और नारकियोंके जन्मके प्रथम समयसे लेकर अतर्मुहूर्ततः होता है । आहारकमिश्र छोटे गुणस्थानवर्ती जीवके आहारकसमुदात निकलते समय अपर्याप्त अवस्थामें होता है । इन तीनों मिश्रयोगोंमें केवल विनशित शरीरस्य भी वर्गणाओंके निमित्तसे आत्मप्रदेश परिस्पन्द नहीं होता है, किंतु कर्मणशरीरके सञ्चयने युक्त होकर ही ओदारिक आदि शरीरस्यभी वर्गणाओंके निमित्तसे योग होता है इसलिये इन्हें मिश्रयोग कहा है । परन्तु इतनी विशेषता है कि गोम्मटसार जीवकाण्डकी टीकाम आहारकसमुदातके पहले होनेवाले ओदारिक शरीरकी वर्गणाओंके मिश्रणसे आहारककायमिश्रयोग कहा है और यदा पर कर्मणस्कन्धके मिश्रणसे आहारककायमिश्रयोग कहा है । इन दोनों क्रतों पर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि गोम्मटसारकी टीकाके अभिप्रायसे आहारकमिश्रयोगतः ओदारिकशरीरस्यभी वर्गणाप आती रहती है और घबलाके अभिप्रायसे आहारकमिश्रयोगके प्रारम्भ होते ही ओदारिकशरीरस्यभी वर्गणाओंका आना चन्द हो जाता है । उदा भी है—

छट्ठे गुणस्थानवत्ता मुनि अपनेको सदेह होने पर जिस शरीरके द्वारा केउलीके पास जाकर सूक्ष्म पदार्थोंका आहरण करता है उसे आहारक शरीर कहते हैं, इसलिये उसके द्वारा होनेवाले योगको आहारककाययोग कहते हैं ॥ १६४ ॥

आहारकका अर्थ यह आये है । यह आहारकशरीर जयतरु पूर्ण नहीं होता है तबतक उसको आहारकमिश्र कहते हैं । और उसके द्वारा जो सम्प्रयोग होता है उसे आहारकमिश्र काययोग कहते हैं ॥ १६५ ॥

प्रदक्षपरिस्पन्द म आहारकायमिश्रयोग । गो जी, जी प्र, टी २४०

१ कश्चिन्नातस्याप प्रमत्तमयतस्य भुतज्ञानावरणवायातरायजगोपवममधि सति यदा धर्मभ्यानविरागी भुताभ्यं देह स्यादा तन्मदेहविनाशार्थं च आहारशरीरमुत्तिष्ठतीत्यर्थः । गो जी, जी प्र, टी २३५

२ गो जी २३९ नियतेचे केवलदुगिरिदे निबमणपहुदिरुलाण । परपेत्ते सत्तिव जिणजिणवरवण्ड च ॥ उत्तमअग्निदे हवे धाउदिशायं सुदे जगदणण । उदमंटाण धवल हत्थपमाने पमं दुदय ॥ गो जी २३६, २३७

३ गो जी २४०

कर्मन कर्मण शरीरम्, अष्टकर्मस्करन्ध इति यावत् । अथवा कर्मणि भव कर्मण शरीर नामकर्मण्यवस्य कर्मणो ग्रहणम् । तेन योग. कर्मणकाययोगः । केनलेन कर्मणा जनितीयेण सह योगः इति यावत् । उक्त च —

कमेय च कम्म-भव कम्मइय तेण जो ठु सजोगो ।

कम्मइयकायजोगो एग-पिग तिगेसु समएसु ॥ १६६ ॥

को औदारिककाययोगो भवतीत्येतत्प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो तिरिक्ख-मणु-
साणं ॥ ५७ ॥**

देवनारकाणा किमित्यादिरिकशरीरोदयो न भवेत् ? न, स्वाभाव्याद् देवनरक-

कर्म ही कर्मणशरीर हे, अर्थात् आठ प्रकारके कर्मस्करन्धोंको कर्मणशरीर कहते हैं । अथवा, कर्ममें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे कर्मण शरीर कहते हैं । यहा पर नामकर्मके अवयवरूप कर्मणशरीरका ग्रहण करना चाहिये । उस शरीरके निमित्तसे जो योग होता है उसे कर्मणकाययोग कहते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि अन्य औदारिकादि शरीर वर्गणाओंके बिना केवल एक कर्मसे उत्पन्न हुए चीयोंके निमित्तसे आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूप जो प्रयत्न होता है उसे कर्मणकाययोग कहते हैं । कहा भी है—

धानावरणादि आठ प्रकारके कर्मस्करन्धको ही कर्मणशरीर कहते हैं । अथवा, जो कर्मणशरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होता है उसे कर्मणशरीर कहते हैं । और उसके द्वारा होनेवाले योगको कर्मणकाययोग कहते हैं । यह योग एक, दो अथवा तीन समयतक होता है ॥ १६६ ॥

औदारिककाययोग किसके होता है, इस बातके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

तिर्यच और मनुष्योंके औदारिककाययोग ओर औदारिकमिश्रकाययोग होता है ॥ ५७ ॥

शका — देव ओर नारकियोंके औदारिकशरीर नामकर्मका उदय क्यों नहीं होता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, स्वभावसे ही उनके औदारिकशरीर नामकर्मका उदय नहीं

१ गो जी २४१ स कामणकाययोग एकदिनसमयनित्तिष्टविमहगतिनालु केवलममुद्रातसचधिप्रतर दयलाकपूर्ण समयनेय च प्रवतत शयनाले नास्तानि विमाग तु शब्देन सूच्यते । अनन सेषयोगानामव्याघातविषय अतमुद्राकाला व्याघातविषय एकसमयादियथासम्भवतमुद्राचपर्यंतकालश्च एकजाव प्रति मणितो भवति । नानाजीवा पेत्या उवसममुद्रनेयापटमानरमाणानाजितिशेपरितरमाणानां मर्वकाल इति विधेयो हातय । जी प्र टी

गतिक्रमोदयेन मह औदारिकक्रमोदयस्य विरोधाद्वा । न च तिरश्चा मनुष्याणां
चौदारिककाययोग एवेति निषमोऽस्ति तत्र कर्मकाययोगादीनामभावापत्तेः । किं तु
औदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्याणामेव ।

केषु वैक्रियकाययोगो भवतीत्येतत्प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वेदव्ययकायजोगो वेदव्ययमिस्सकायजोगो देवणेरइ-
याण ॥ ५८ ॥

तिरश्चा मनुष्याणां च किमिति तदुदयो न भवेत् ? न, तिर्यङ्मनुष्यगतिक्रमा-
दयेन सह वैक्रियक्रोदयस्य विरोधात्समाधाद्वा । न हि समाधा' परपर्यनुयोगार्हाः
अतिप्रमद्वात् । तिर्यञ्चो मनुष्याश्च वैक्रियक्रशरीराः, अयन्ते तत्क्रय घटत इति चेत्,
औदारिकशरीर द्विविधं विक्रियात्मकमविक्रियात्मकमिति । तत्र यद्विक्रियात्मकं तद्

होता है । अथवा, देवगति और नरकगति नामकर्मके उदयके साथ औदारिकशरीर नामकर्मके
उदयका विरोध है, इसलिये उनके औदारिकशरीरका उदय नहीं पाया जाता है । फिर भी
तिर्यच और मनुष्याके औदारिक और औदारिकमिश्रकाययोग ही होता है ऐसा नियम नहीं है,
क्याकि, इस प्रकारके नियमके करने पर तिर्यच और मनुष्याम कर्मकाययोग आदिसे अभावकी
आपत्ति आ जायगी । इसलिये औदारिक और औदारिकमिश्र तिर्यच और मनुष्योंके ही होता है,
ऐसा नियम जानना चाहिये ।

वेक्रियक काययोग जिन जीवाम होता है इस धानके प्रतिपादन करनेके लिये अनेका
सूत्र कहते हैं—

देव और नारजियोंक वैक्रियकाययोग और वैक्रियकमिश्रकाययोग होता है ॥ ५८ ॥

शुक्रा—तिर्यच और मनुष्याके इन दोनों योगका उदय क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तिर्यचगति और मनुष्यगति कर्मोदयके साथ
वैक्रियक नामकर्मके उदयका विरोध आता है, अथवा, तिर्यच और मनुष्यगतिमें वैक्रियक
नामकर्मका उदय नहीं होता है, यह स्वभाव ही है । और स्वभाव दूसरेके प्रश्नोंके योग्य नहीं
होते हैं, अन्यथा, अतिप्रमग दोष आ जायगा । इसलिये तिर्यच और मनुष्योंके वैक्रियक और
वैक्रियकमिश्रकाययोग नहीं होता है, यह सिद्ध हो जाता है ।

शुक्रा—तिर्यच और मनुष्य भा वैक्रियकशरीरवाले सुने जाते हैं, इसलिये यह बात
कैसे घटित होगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, औदारिकशरीर दो प्रकारका है, विक्रियात्मक और
अविक्रियात्मक । उनमें जो विक्रियात्मक औदारिक शरीर है, वह मनुष्य और तिर्यचोंके

क्रियकमिति तत्रोक्तं न तदत्र परिगृह्यते त्रिभिधगुणर्द्ध्यभावात् । अत्र त्रिभिधगुणर्द्ध्यात्मकं परिगृह्यते, तच्च देवनारकाणामेव ।

आहारशरीरस्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो संजदाणमिद्धि-

पत्ताणं ॥ ५९ ॥

आहारद्विप्राप्तेः किमु संयताः ऋद्धिप्राप्ता उत वैक्रियकद्विप्राप्तास्ते ऋद्धिप्राप्ता इति । किं चात. नायः पक्ष आश्रयणयोग्यः इतरेतराश्रयदोषासंजनात् । कथम् ? यावन्नाहारद्विरुत्पद्यते न तावत्तेषामृद्धिप्राप्तत्वं, यावन्नृद्धिप्राप्तत्वं न तावत्तेषामाहारद्विरिति । न द्वितीयनिरूपोऽपि ऋद्धेरुपर्यभावात् । भावे या आहारशरीरजता मनःपर्ययज्ञानमपि जायेत विशेषाभावात् । न चैवमार्षेण^१ मह विरोवादिति नादिपक्षोक्तदोषः

वैक्रियरूपसे कहा गया है । उसका यहा पर ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि, उसमें नाना गुण और ऋद्धियोंका अभाव है । यहा पर नाना गुण और ऋद्धियुक्त वैक्रियकशरीरका ही ग्रहण किया है, और वह देव और नारकियोंके ही होता है ।

अब आहारकशरीरके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

आहारकाययोग ओर आहारमिस्सकाययोग ऋद्धिप्राप्त उदे गुणस्थानवर्ती सयतोंके ही होते हैं ॥ ५९ ॥

शंका—यहा पर क्या आहारक ऋद्धिकी प्राप्तिसे सयतोंको ऋद्धिप्राप्त समझना चाहिये, या उन्होंने पहले वैक्रियक ऋद्धिको प्राप्त कर लिया है, इसलिये उन्हें ऋद्धिप्राप्त समझना चाहिये ? इन दोनों पक्षोंमेंसे प्रथम पक्ष तो ग्रहण करने योग्य नहीं है, क्योंकि, प्रथम पक्षके ग्रहण करने पर इतरेतराश्रय दोष आता है । वह कैसे आता है, आगे इसीको स्पष्ट करते हैं । जयतरु आहारक ऋद्धि उत्पन्न नहीं होती है तथैव उनके ऋद्धिप्राप्त नही माना जा सकता, ओर जयतरु ने ऋद्धिप्राप्त न हों तथैव उनके आहारक ऋद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती है । इसीप्रकार दूसरा विरूप भी नहीं बनता है, क्योंकि, उनके उस समय दूसरी ऋद्धियोंका अभाव है । इतने पर भी यदि सद्भाव माना जाता है, तो आहारक ऋद्धिवालोंके मन पर्ययज्ञानकी उत्पत्ति भी माननी चाहिये, क्योंकि दूसरी ऋद्धियोंके समान इसके होनेमें कोई विशेषता नहीं है । परन्तु आहारक ऋद्धिवालेके मन पर्यय ज्ञान माना नहीं जा सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर आगमसे विरोध आता है ?

समाधान—प्रथम पक्षमें जो इतरेतराश्रय दोष दिया है, वह तो आता नहीं है, क्योंकि,

^१ मणपञ्चवपरिहारी पञ्चमुग्धमत्त दाणिण आसता । एदेम एरपगदे णधि चि अममय जाणे ॥

अत्र 'च' शब्दः कर्तव्योऽन्यथा समुच्चयाप्रगमानुपपत्तेरिति न, च शब्दमन्तरेणापि समुच्चयार्थनिगतेः यथा पृथिव्यप्तेनोपायुरित्यत्र । सम्यग्मिथ्यादृष्टेरपि वैक्रियक मिश्रकाययोग प्राप्तुयादिति चेन्न, उक्तोत्तरत्वात् । 'सम्मामिच्छादृष्टि दृष्टाणे नियमापञ्जत्ता', 'वेउव्वियमिस्स कायजोगो अपञ्जत्ताण' इत्याभ्या ना सूत्राभ्यामपसीयते यथा न सम्यग्मिथ्यादृष्टेरक्रियकमिश्रकाययोग समस्तीति ।

आहारकाययोगस्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो एकम्हि चेव पमत संजद-दृष्टाणे ॥ ६३ ॥

अप्रमादिना सयताना किमित्याहारकाययोगो न भवेदिति चेन्न, तत्र तदुत्थापने निमित्ताभावात् । तदुत्थापने किं निमित्तमिति चेदाज्ञाननिष्ठतायाः ममुत्पन्नप्रमादः

शंका—इस सूत्रमें च शब्द ओर अधिक जोड़ देना चाहिये, अन्यथा समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान नहीं हो सकेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, च शब्दके बिना भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान हो जाता है । जैसे, 'पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय स्थानरा' इस सूत्रमें च शब्दके नहीं रहने पर भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान हो जाता है ।

शंका—सूत्रके कथनानुसार सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानत्रालेके भी वैक्रियकमिश्रकाययोगका सङ्गाय मानना पड़ेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इसका उत्तर ओदारिस्मिश्रकाययोगके प्रकरणमें दे आये है । अर्थात् यहाँ पर प्रभृति शब्द व्यग्रस्था या प्रकारवाची होनेसे पूर्वोक्त दोष नहीं आता है । अथवा, 'सम्मामिच्छादृष्टिदृष्टाणे नियमापञ्जत्ता' 'वेउव्वियमिस्सकायजोगो अपञ्जत्ताण' अर्थात् 'सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें जीव नियमसे पर्याप्तक ही होते हैं, अथवा, वैक्रियकमिश्रकाय योग अपर्याप्तकोंके ही होता है इन दोनों सूत्रोंसे भी जाना जाता है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टिके वैक्रियकमिश्रकाययोग कहा पाया जाता है ।

आहारककाययोगके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

आहारककाययोग आर आहारकमिश्रकाययोग एक प्रमत्त गुणस्थानमें ही होते हैं ॥६३॥

शंका—प्रमादरहित सगर्वाँके आहारककाययोग क्यों नहीं होता है ?

समाधान—प्रमादरहित जीवोंके आहारककाययोगके उत्पन्न करानेमें निमित्तकारणका अभाव है ।

शंका—आहारककाययोगके उत्पन्न करानेमें निमित्तकारण क्या है ?

१ जी स प ८३

२ आहारा "वन्ता इदं खडु होदि तस्स मिसो दु । अतोमुहुत्तरालं छट्ठुणे हादि आदारी ॥
शे जा ६८३

असंयमबहुलतोत्पन्नप्रमादश्च । न च प्रमादनिबन्धनोऽप्रमादिनि भवेदतिप्रसङ्गात् । अथवा स्वभावोऽयं यदाहारकाययोगः प्रमादिनामेवोपजायते, नाप्रमादिनामिति ।

कर्मणकाययोगाधारजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कम्मइयकायजोगो एहंदियप्पहुडि जाव सजोगिकेवालि

तिं ॥ ६४ ॥

देशनिस्तादिक्षीणरूपायान्तानामपि कर्मणकाययोगस्यास्तित्वं प्राप्नोत्यस्मात्सूत्रा-
निति चेन्न, 'सजदामजदट्टाणे णियमा पज्जत्ता' इत्येतस्मात्सूत्रात्तत्र तदभावान-
गतेः । न च समुद्धातादृते पर्याप्तानां कर्मणकाययोगोऽस्ति । किमिति स तत्र नास्तीति
चेद्विग्रहगतेरमात्रात् । देवविद्याधरादीनां पर्याप्तानामपि उक्ता गतिरुपलभ्यते चेन्न,
पूर्वशरीर परित्यज्योत्तरशरीरमादातुं त्रजतो वक्रगतोऽपि न क्षितत्वात् ।

समाधान—आज्ञाकनिष्ठता अर्थात् आप्तवचनमे सन्देहजनित शिथिलताके होनेसे
उत्पन्न हुआ प्रमाद और असंयमकी बहुलतासे उत्पन्न प्रमाद आहारककायकी उत्पत्तिकी निमित्त-
कारण है । जो कार्य प्रमादके निमित्तसे उत्पन्न होता है, वह प्रमादरहित जीवमें नहीं हो
सकता है । अथवा, यह स्वभाव ही है कि आहाररूपाययोग प्रमत्त गुणस्थानवालाके ही होता
है, प्रमादरहित जीवोंके नहीं ।

अत्र कर्मणकाययोगके आधारभूत जीवोंके प्रतिपादनार्थ आगेका सूत्र कहते हैं—

कर्मणकाययोग एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर सयोगिकेऽली तरु होता है ॥ ६४ ॥

शंका—इस सूत्रके कथनसे देशविरत गुणस्थानसे लेकर क्षीणरूपाय गुणस्थानतक
भी कर्मणकाययोगका अस्तित्व प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, 'सजदासजदट्टाणे णियमा पज्जत्ता' अर्थात् सयता
सयत गुणस्थानमें जीव नियमसे पर्याप्त ही होते हैं, इस सूत्रके अनुसार यहाँ पर कर्मण
काययोगका अभाव ज्ञात हो जाता है । यहाँपर सयतासयत पद उपलक्षण होनेसे पाचवेंसे
ऊपर सभी पर्याप्त गुणस्थानोंका सूचक है । हमारे समुद्धातको छोड़कर पर्याप्तरूपा जीवोंके
कर्मणकाययोग नहीं पाया जाता है ।

शंका—पर्याप्तक जीवोंमें कर्मणकाययोग क्या नहीं होता है ?

समाधान—विग्रहगतिका अभाव होनेसे उनके कर्मणकाययोग नहीं होता है ।

शंका—देव और विद्याधर आदि पर्याप्तरूपा जीवोंके भी वक्रगति पाई जाती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पूर्व शरीरको छोड़कर आगेके शरीरको ग्रहण करनेके
लिये जाते हुए जीवके जो एक, दो या तीन मोटेवाली गति होती है, वही गति यहाँ पर वक्र
गतिरूपसे विवक्षित है ।

१ ओराडियमिस्त वा चउगुणट्ठाणस मोदि कम्मइय । चउगदिविगम्हाले जागिस्स पदालागपूरणे ॥
गो जी ६८४

२ जा स सू ८३

योगत्रयस्य स्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरमत्रमाह —

मणजोगो वचिजोगो कायजोगो साण्णामिच्छाइट्ठि प्पहुडि
जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥ ६५ ॥

चतुर्णां मनसा सामान्य मन', तज्जनितवीर्येण परिस्पन्दलभणेन योगो मनो
योग । चतुर्णां वचना सामान्य वच', तज्जनितवीर्येणात्मप्रदेशपरिस्पन्दलभणेन
योगो वागयोग । सप्तानां कायानां सामान्य काय, तेन जनितेन वीर्येण जीवप्रदेश
परिस्पन्दलभणेन योग काययोग । एते त्रयोऽपि योगा लयोपशमापेक्षया व्यात्मक
रूपमापन्ना सन्निमिध्यादृष्टेरारभ्य ज्ञानयोगकैवलिन इति क्रमेण सम्प्रज्ञापेक्षया न
स्वामित्वमुक्तम् । काययोग एकेन्द्रियेन्द्रियस्तीति चेन्न, साध्मनोभ्यामग्निनामानि
काययोगस्य विरक्षितत्वात् । तथा उच्यतेऽप्यभिधातव्यम् ।

अब तीन योगोंके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये अगेर सूत्र कहते हैं—

मनोयोग, वचनयोग और काययोग सभी मि ध्याष्टिमे लेकर सयोगिकेवली तक
होते ह ॥ ६५ ॥

सत्यादि चार प्रकारके मनमें जो अवयवरूपसे रहता है उसे सामान्य मन कहते हैं ।
उस मनसे उत्पन्न हुए परिस्पन्द लक्षण वीर्यके द्वारा जो योग होता है उसे मनोयोग कहते हैं ।
चार प्रकारके वचनमं जो अवयवरूपसे रहता है उसे सामान्य वचन कहते हैं । उस वचनसे
उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश परिस्पन्द लक्षण वीर्यके द्वारा जो योग होता है उसे वचनयोग कहते हैं ।
सात प्रकारके कायोंमें जो अवयवरूपसे रहता है उसे सामान्य काय कहते हैं । उस कायसे
उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश परिस्पन्द लक्षण वीर्यके द्वारा जो योग होता है उसे काययोग कहते
हैं । ये योग तीन होते हुए भी क्षयोपशमकी अपेक्षा व्यात्मक एकरूपताको प्राप्त होकर सभी
मिध्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं । यहा पर इस क्रमसे सभी होनेकी
अपेक्षा स्वामित्वना प्रतिपादन किया ।

शुका—काययोग एकेन्द्रिय जीवोंके भी होता है, फिर यहा उसका सभी पचेन्द्रियसे
कथन क्यों किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यहा पर वचनयोग और मनोयोगसे अविनाभाव रम्ये
चोले काययोगकी विवक्षा है । इसीप्रकार वचनयोगका भी कथन करना चाहिये । अर्थात्, यद्यपि
वचनयोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे होता है, फिर भी यहा पर मनोयोगका अविनाभावी वचनयोग
विवक्षित है, इसलिये उसका भी सभी पचेन्द्रियसे कथन किया ।

१ योगाहुसादनं त्रिषु योगेषु त्रयादन्तं गुणस्थानानि भवन्ति । स मि १८ महिमवउमणवयणे सणि
प्पहुडिं ह जाव छीगो वि । सणा जोगि वि य अणमययणं तु निमलादा ॥ गो ६७०

द्विसंयोगप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

वचिजोगो कायजोगो वीइंदिय-प्पहुडि जाव असण्णिपंचि-
दिया त्ति ॥ ६६ ॥

अत्र सामान्यज्ञायायोर्विनाशितत्वात् द्वीन्द्रियादिर्भूतत्वं संज्ञितं च पर्ययसानम् । विशेषे तु पुनरलम्ब्यमाने तुरीयस्यैव उच्यते सत्त्वमिति । तदाद्यन्तव्यग्रहारो न षट्मादेव, उपरिष्ठादपि वाक्वाययोगौ विद्येते ततो नासंज्ञितं पर्ययसानमिति चेन्न, उपरि त्रयाणामपि सत्त्वात् । अस्तु चेन्न, निरुद्धद्विसंयोगस्य त्रिमयोगेन मह विरोधात् ।

एकमयोगप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

कायजोगो एइंदियाणं ॥ ६७ ॥

एकेन्द्रियाणामेकं काययोग एव, द्वीन्द्रियादीनामसंज्ञितपर्यन्तानां वाक्वाययोगौ द्वौवै, जेपास्त्रियोगाः ।

अत्र द्विसंयोगी योगोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वचनयोग और काययोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर असंज्ञी पचेन्द्रिय जीवों तक होते हैं ॥ ६६ ॥

यहां पर सामान्य वचन और काययोगकी विवक्षा होनेसे द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पचेन्द्रिय तक सामान्यसे दोनों योग पाये जाते हैं । किंतु विशेषके अलम्बन करने पर तो द्वीन्द्रियसे असंज्ञीतक वचनयोगके चौथे भेद (अनुभयवचन) का ही सत्त्व समझना चाहिये ।

शंका— इन दोनों योगोंका द्वीन्द्रियसे जादि लेकर असंज्ञीपर्यन्त जो सद्भाव बताया है, यह आदि और अन्तका व्यवहार यहां पर घटित नहीं होता है, क्योंकि, इन जीवोंसे आगेके जीवोंके भी वचन और काययोग पाये जाते हैं । इसलिये असंज्ञीतक ये योग होते हैं, यह बात नहीं बनती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, आगेके जीवोंके तीनों योगोंका सत्त्व पाया जाता है ।

शंका— यदि ऊपर तीन योगोंका सत्त्व है तो रह्य आये, फिर भी इन दो योगोंके कवन करनेमें क्या हानि है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, द्विसंयोगी योगका त्रिसंयोगी योगके साथ कवन करनेमें विरोध आता है । इसलिये द्विसंयोगी योगका असंज्ञीतक ही कथन किया है ।

अब एक संयोगी योगके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

काययोग एकेन्द्रिय जीवोंके होता है ॥ ६७ ॥

एकेन्द्रिय जीवोंके एक काययोग ही होता है । द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञीतक जीवोंके वचन और काय ये दो योग ही होते हैं । तथा, दोष जीवोंके तीनों ही योग होते हैं ।

इति चेत्तु, अत्रैव दृष्टवान् । मनसः कार्यत्वेन प्रतिपन्नविज्ञानेन महः तत्तत्तन्निदानस्य
मानस्य प्रत्यक्षेणान्मनोनिदानस्यन्वयमनुमीयन् इति चेन्न, भिन्नतातिम्यविज्ञानेन
सुखविज्ञानानुवचने । न अन्वयेणान्यथ आगमो साध्यते तत्र प्रत्यक्षस्य वृत्त्यभावात् ।
विज्ञेयैर्निर्दिष्टं मनोऽप्यत्र कुतोऽनुमीयत इति चेदपि न । कथमपि प्राप्ताप्यमिति
चेन्मामात्राप्रत्यक्षम् ।

पुनरपि पराशिराज्यामत्त्वमेतदप्रत्यक्षं नानुमन्मन्माह—

चत्वारि पञ्जतीओ चत्वारि अपञ्जतीओ ॥ ७४ ॥

हेतुविप्राप्तिषु चतस्र एव पञ्चाशद्व्योमसंख्येया भवन्ति । साक्षात्तम इति
चेत्तादृशगन्धिरानापानपयोन्तय इति । अथ सुगमम् ।

चतुर्णामपि पर्याप्तिनामपिपत्तिर्नाप्रतिपादनार्थमुत्तरम्वृत्तमाह—

एतद्विद्याण ॥ ७५ ॥

यह पञ्चविंशत्येव मनुष्याम द्वा जाता ह ।

प्रश्न—मनुष्योंमें मनका कथम्पथमें स्त्रीका किये गये विज्ञानके साथ विकलेन्द्रियोंमें
ऐनसार विज्ञानकी सामान्यायकी अपेक्षा केवल विशेषता नहीं है, इसलिये यह अनुमान
किया जाता है कि विकलेन्द्रियोंका विज्ञान भी माने होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भिन्न जातिमें किन्तु विज्ञानके साथ भिन्न जातिमें स्थित
विज्ञानकी समानता नष्ट बन सकती है । 'विकलेन्द्रियोंके मन नहीं होता है' यह आगम प्रत्यक्षसे
भी साधित नही है, क्योंकि, यही पर प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति ही नहीं होती है ।

प्रश्न—विकलेन्द्रियोंमें मनका अभाव है यह बात किस प्रमाणसे जानी जाती है ?

समाधान—आगम प्रमाणसे जाना जाता है कि विकलेन्द्रियोंके मन नहीं होता है ।

प्रश्न—आपको प्रमाण कैसे माला जाय ?

समाधान—जैसे प्रत्यक्ष स्वभावतः प्रमाण है उसीप्रकार आप भी स्वभावतः
प्रमाण हैं ।

फिर भी पर्याप्तियाँ सग्याके अस्मिन्तम भेद बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—
चार पर्याप्तियाँ और चार अपर्याप्तियाँ होती हैं ॥ ७६ ॥

निर्द्धा जीवोंमें चार पर्याप्तियाँ अवगति किन्हींमें चार अपर्याप्तियाँ होती हैं ।

प्रश्न—ये चार पर्याप्तियाँ कौनसी हैं ?

समाधान—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति और अनापानपर्याप्ति ।
शेष कथन सुगम है ।

चार पर्याप्तियोंके अधिकारी जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—
उक्त चार पर्याप्तियाँ पक्षे द्वय जीवोंके होती हैं ॥ ७७ ॥

ताथतसोऽपि पर्याप्तय एकेन्द्रियाणामेव नान्येषाम् । एकेन्द्रियाणां नोच्छ्राम-
मुपलभ्यते चेन्न, आपात्तदुपलम्भात् । प्रत्यक्षेणागमो बाध्यत इति चेद्धवत्तस्य बाधा प्रत्यक्षा-
त्यत्यक्षीकृताग्रेष्वप्रमेयात् । न चेन्द्रियज प्रत्यक्ष ममस्तवस्तुतिपय येन तदतिपर्याप्तस्य
स्तुतो भागो भेदीयते ।

एव पर्याप्त्यपर्याप्तीभिवाय साम्प्रतममुष्मिन्नय योगो भवत्यमुष्मिन् न भवतीति
प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

**ओरालियकायजोगो पज्जत्ताणं ओरालियमिस्सकायजोगो
अपज्जत्ताणं ॥ ७६ ॥**

पङ्क्तिः पञ्चभिश्चतसृभिर्वा पर्याप्तिभिर्निष्पन्ना परिनिष्ठितास्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च
पर्याप्ता । किमेकया पर्याप्त्या निष्पन्न पर्याप्तः उत माकल्पेन निष्पन्न इति ? शरीर-

वे चारों पर्याप्तिया एकेन्द्रिय जीवोंके ही होती है, दूसरोंके नहीं ।

शुक्रा—एकेन्द्रिय जीवोंके उच्छ्रान्त तो नहीं पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, एकेन्द्रियोंके उन्नासोच्छ्रान्त होता है, यह ज्ञान आगम
प्रमाणसे जानी जाती है ।

शुक्रा—प्रत्यक्षसे यह ज्ञान बाधित है ?

समाधान—जिसने संपूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष कर लिया है वेमे प्रत्यक्ष प्रमाणसे
यादि बाधा समझ हो तो वह प्रत्यक्षबाधा कही जा सकती है । परन्तु इन्द्रियप्रत्यक्ष तो संपूर्ण
पदार्थोंको विषय ही नहीं करना दे, जिससे कि इन्द्रियप्रत्यक्षकी विषयताको नहीं प्राप्त
होनेवाले पदार्थोंमें भेद किया जा सके ।

इसप्रकार पर्याप्ति और अपर्याप्तियोंका कथन करके अब इस जीवमें यह योग
होता है और इस जीवमें यह योग नहीं होता है, इसका कथन करनेके लिये आगेका
सूत्र कहते हैं—

औदारिककाययोग पर्याप्तकोंके और औदारिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता
है ॥ ७६ ॥

शुक्रा—छह पर्याप्ति, पाच पर्याप्ति जयना चार पर्याप्तियोंसे पूर्णताको प्राप्त हुएनिर्यंच
और मनुष्य पर्याप्तक कहलाते हैं । तो क्या उनमेंसे किसी एक पर्याप्तिसे पूर्णताको प्राप्त हुआ
पर्याप्तक कहलाता है या संपूर्ण पर्याप्तियोंसे पूर्णताको प्राप्त हुआ पर्याप्तक कहलाता है ?

१ औदारिक पञ्चते धातुकायादि जाव जोगा वि । तस्मिन्समपञ्चते चङ्गणठाणसु गियमेण ॥
गा जी ६८०

पर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्त इति भण्यते । तत्रौदारिककाययोगो निष्पन्नशरीरावष्टम्भ
वलेनोत्पन्नजीवप्रदेशपरिस्पन्देन योगः जादारिककाययोगः । अपर्याप्ताग्रन्थायामौदारिक
मिश्रकाययोगः । कर्मणोद्दारिकस्क्रन्धनिग्रन्धनजीवप्रदेशपरिस्पन्देन योगः ओदारिक
मिश्रकाययोग इति यावत् । पर्याप्ताग्रन्थायाम् कर्मणशरीरस्य सत्तात्तत्राप्युभय
निग्रन्धनात्मप्रदेशपरिस्पन्द इति ओदारिकमिश्रकाययोगः, किमु न स्यादिति चेन्न, तत्र
तस्य सतोऽपि जीवप्रदेशपरिस्पन्दस्याहेतुत्वात् । न पारम्पर्यकृत तद्वेतुत्वं तस्यापचारि
कत्वात् । न तदप्यप्रित्तितत्वात् । अथ स्यात्परिस्पन्दस्य ग्रन्थहेतुत्वे सचरदभ्राणा
मपि कर्मनन्वे प्रसजतीति न, कर्मजनितस्य चैतन्यपरिस्पन्दस्याग्रहेतुत्वेन प्रित्तित
त्वात् । न चाभ्रपरिस्पन्दः कर्मजनितो येन तद्वेतुतामास्क्रन्देत् ।

वैक्रियककाययोगस्य सत्त्वोद्देशप्रतिपत्तिरन्यथाह —

समाधान — सभी जीव शरीरपर्याप्तिके निष्पन्न होने पर पर्याप्तक रहते जाते हैं ।

उनमेंसे पहले औदारिककाययोगका लक्षण कहत ह । पर्याप्तिको प्राप्त हुए शरीरके
आत्मन्धनद्वारा उत्पन्न हुए जीवप्रदेश परिस्पन्दसे जो योग होता है उसे ओदारिककाययोग
कहते हैं । ओर ओदारिकशरीरकी अपर्याप्त अवस्थामें ओदारिकमिश्रकाययोग होता है ।
जिसका तात्पर्य इसप्रकार है कि कर्मण ओर ओदारिकशरीरके स्क्रन्धोंके निमित्तसे जीवके
प्रदेशोंमें उत्पन्न हुए परिस्पन्दसे जो योग होता है उसे ओदारिकमिश्रकाययोग कहते ह ।

शुद्धा — पर्याप्त अवस्थामें कर्मणशरीरका सद्भाव होनेके कारण कहा पर भी कर्मण
ओर ओदारिकशरीरके स्क्रन्धोंके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है, इसलिये कहा
पर भी ओदारिकमिश्रकाययोग क्यों कहा जाता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामें यद्यपि कर्मणशरीर विद्यमान है फिर
भी यह जीव प्रदेशोंके परिस्पन्दका कारण नहीं है । यदि पर्याप्त अवस्थामें कर्मणशरीर
परंपरासे जीवप्रदेशोंके परिस्पन्दका कारण कहा जाये, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, कर्मण
शरीरकी परंपरासे निमित्त मानना उपचार है । यदि रहें कि उपचारका भी कहा पर ग्रहण कर
लिया जाये, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उपचारसे परंपरा रूप निमित्तके ग्रहण करनेकी कहा
विश्वास नहीं है ।

शुद्धा — परिस्पन्दको बन्धन कारण मानने पर सचार करते हुए मेघोंके भी कर्मन ध
प्राप्त हो जायगा, क्योंकि, उनके भी परिस्पन्द पाया जाता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, कर्मजनित चैतन्यपरिस्पन्द ही आश्रयका कारण है, कहा
अर्थ कहा पर विवक्षित है । मेघोंका परिस्पन्द कर्मजनित तो है नहीं, जिसे वह कर्मबन्धने
आश्रयका हेतु हो सके, अर्थात् नहीं हो सकना है ।

अथ वेनियककाययोगके सद्भावके प्रतिपादन करनेके लिये आगे का सूत्र कहते हैं—

वेउव्वियकायजोगो पज्जत्ताणं वेउव्वियमिस्सकायजोगो अप-
ज्जत्ताणं' ॥ ७७ ॥

पर्याप्तावस्थाया वैक्रियककाययोगे मति तत्र शेषयोगाभावा स्यादिति चेन्न,
तत्र वैक्रियककाययोग एवास्तीत्यत्रारणाभावात् । अत्रारणाभावेऽपर्याप्तावस्थाया
शेषयोगानामपि सत्त्वमापतेदिति चेत्सत्यम्, कर्मणकाययोगस्य सत्त्वोपलम्भात् । न
तदुक्तं वाङ्मनमयोरपि सत्त्वमपर्याप्ताना तयोरभावात्सोक्तत्वात् ।

आहारकाययोगसत्त्वप्रदेशप्रतिपादनायाह —

आहारकायजोगो पज्जत्ताणं आहारमिस्सकायजोगो अप-
ज्जत्ताणं' ॥ ७८ ॥

आहारशरीरोत्थापकः पर्याप्तः स्यत्तत्त्वान्यथानुपपत्तेः । तथा आहारमिश्रकाय-

वैक्रियककाययोग पर्याप्तकोंके ओर वैक्रियकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है ॥७७॥

शङ्का—पर्याप्त अवस्थामें वैक्रियककाययोगके मानने पर उहा शेष योगोंका अभाव
मानना पड़ेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामें वैक्रियककाययोग ही होता है ऐसा
निश्चयरूपसे कथन नहीं किया है ।

शङ्का—जब कि उक्त कथन निश्चयरूप नहीं है तो अपर्याप्त अवस्थामें भी उसीप्रकार
शेष योगोंका सद्भाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—यह कहना किसी अपेक्षान्ते ठीक है, क्योंकि, अपर्याप्त अवस्थामें
वैक्रियकमिश्रके अतिरिक्त कर्मणकाययोगका भी सद्भाव पाया जाता है । किंतु कर्मणकाययोगके
समान अपर्याप्त अवस्थामें चञ्चलयोग और मनोयोगका सद्भाव नहीं माना जा सकता है,
क्योंकि, अपर्याप्त अवस्थामें इन दोनों योगोंका अभाव रहता है, यह बात पहले कही जा
चुकी है ।

अथ आहारककाययोगका आधार बनलानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

आहारककाययोग पर्याप्तकोंके ओर आहारकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है ॥७८॥

शङ्का—आहारकशरीरको उत्पन्न करनेवाला साधु पर्याप्तक ही होता है, अन्यथा
उमके स्यत्तपना नहीं बन सकता है । ऐसी हालतमें आहारकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता

१ वेगृध्व पजते इदरे राउ होदि तस्म मित्तु तु । गो जा ६८१

२ आहारो पजते इदरे राउ होदि तस्म मित्तु तु । गो जी ६८३

योगोऽपर्याप्तकस्येति न घटामटेदिति चेन्न, जननगतसूत्राभिप्रायत्वात् । तद्यथा, भन्तरमौ पर्याप्तक औदारिकशरीरगतपदपर्याप्त्यपेक्षया, आहारशरीरगतपर्याप्तिनिष्पत्त्यभावापेक्षया त्वपर्याप्तकोऽमौ । पर्याप्तापर्याप्तत्वयोनकृत्राक्रमेण सभयो निरोधादिति चेन्न, पर्याप्तापर्याप्तयोग्योक्तमेणैकत्र न सम्भन इतीष्टत्वात् । कथं न पूर्वोऽम्पुपगमः इति निरोध इति चेन्न, भूतपूर्वगतन्यायापेक्षया निरोधासिद्धे । निनष्टादौदारिकशरीरमन्त्रपदपर्याप्तेरपरिनिष्ठिताहारशरीरगतपर्याप्तेरपर्याप्तस्य कथं मयम इति चेन्न, मयमस्या सन्ननिरोधलक्षणस्य मन्दयोगेन सह निरोधामिद्वे । निरोधे वा न केवलिनोऽपि समुद्रातगतस्य मयमः तत्राप्यपर्याप्तकयोगाभित्तिप्रत्यभिज्ञेपात् । 'सजदामजट्टाणे

हे यद् कथन नहीं बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा कहनेवाला जगमके अभिप्रायको ही नष्टा समझा है । आगमना अभिप्राय तो इसप्रकार है कि आहारकशरीरको उत्पन्न करनेवाला साधु औदारिक शरीरगत छद्म पर्याप्तियोंकी अपेक्षा पर्याप्तन भले ही रहा आवे, किन्तु आहारकशरीरसबधा पर्याप्तिके पूर्ण होनेकी अपेक्षा यह अपर्याप्तक है ।

शंका—पर्याप्त और अपर्याप्तपना एकसाथ एक जीवमें सम्भव नहीं है, क्योंकि, एक साथ एक जीवमें इन दोनोंके रहनेमें विरोध आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, एकसाथ एक जीवमें पर्याप्त और अपर्याप्तसबधी योग सम्भव नहीं है, यह बात हमें स्पष्ट ही है ।

शंका—तो फिर हमारा पूर्व कथन क्या न मान लिया जाय, अतः आपके कथनमें विरोध आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भूतपूर्व न्यायकी अपेक्षा विरोध असिद्ध है । अर्थात् औदारिक शरीरसबधी पर्याप्तपनेकी अपेक्षा आहारकमिश्र अवस्थामें भी पर्याप्तपनेका व्यवहार किया जा सकता है ।

शंका—जिसके औदारिक शरीरसबधी छद्म पर्याप्तियां नष्ट हो चुकी हैं, और आहारक शरीरसबधा पर्याप्तियां अभी तक पूर्ण नष्टा हुई हैं ऐसे अपर्याप्तक साधुके समय कैसे हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसका लक्षण आश्रयका निरोध करना है ऐसे समयका मन्दयोग (आहारकमिश्रयोग) के साथ होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । यदि इस मन्द योगके साथ समयके होनेमें विरोध आता ही है ऐसा माना जाये, तो समुद्रातगत प्राप्त हुए केरलीके भी समय नहीं हो सकेगा, क्योंकि, घटा पर भी अपर्याप्तकमयधी योगका समुद्रात पाया जाता है इसमें कोई विरोधता नहीं है ।

गियमा पञ्जत्ता ' इत्यनेनापेण मह ऋय न विरोधः स्यादिति चेन्न, द्रव्यार्थिकनया-
पेभ्या प्रवृत्तस्यस्याभिप्रायेणाहारशरीरानिष्पत्त्यवस्थायामपि पदपर्याप्तिना सत्त्वाविरोधान् ।
कर्मणकाययोगः पर्याप्तेऽपर्याप्तेष्वभयत्र वा भवतीति नोक्तम्, तन्निश्चयः कुतो भवेत् ?
' कम्मइयकायजोगो विग्गहगड-समायण्णाणं केवलीण वा समुग्घाढ-गदाण ' इत्येतस्मा-
त्सूत्रादपर्याप्तेऽप्येव कर्मणकाययोग इति निश्चीयते ।

पर्याप्तिपर्याप्तिषु च योगाना सत्त्वमसत्त्व चाभिधायेदानीं गतिषु तत्र गुण-
स्थानाना सत्त्वामसत्त्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

णेरइया मिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाने सिया पञ्जत्ता
सिया अपञ्जत्ता ॥ ७९ ॥

नारका इत्यनेन बहुवचनेन स्यादित्येतस्य एकवचनस्य न सामानाधिकरण्य-

शङ्का — ' सयतासयतसे लेकर सभी गुणस्थानोंमें जीव नियमसे पर्याप्तक होते हैं ' इस
अर्थवचनके साथ उपर्युक्त कथनका विरोध क्यों नहीं आजायगा ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे प्रवृत्त हुए इस सूत्रके
अभिप्रायसे आहारक शरीरकी अपर्याप्त अवस्थामें भी औदारिक शरीरसबन्धी छह पर्याप्तियोंके
होनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शङ्का — कर्मणकाययोग पर्याप्त होने पर होता है, या अपर्याप्त रहने पर होता है,
अथवा दोनों अवस्थाओंमें होता है, यह कुछ भी नहीं कहा, इसलिये इसका निश्चय कैसे
किया जाय ?

समाधान — ' विग्रहगतिको प्राप्त चारों गतिके जीवोंके और समुद्रातगत केवलियोंके
कर्मणकाययोग होता है ' इस सूत्रके कथनानुसार अपर्याप्तकोंके ही कर्मणकाययोग होता
है, इस कथनका निश्चय हो जाता है ।

इसप्रकार पर्याप्ति और अपर्याप्तियोंमें योगोंके सत्त्व और असत्त्वका कथन करके अब
चार गतिसबन्धी पर्याप्ति और अपर्याप्तियोंमें गुणस्थानोंके सत्त्व और असत्त्वके प्रतिपादन
करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव मिध्याइट्ठि और असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्तक होते हैं और
अपर्याप्तक भी होते हैं ॥ ७९ ॥

शङ्का — सूत्रमें आये हुए ' नारका ' इस बहुवचनके साथ ' म्यात् ' इस एक वचनका
समानाधिकरण नहीं बन सकता है ?

मोक्षपि किमिति तयोर्न स्यादिति चेत्स्वाभाव्यात् । नारकाणामग्निमन्त्रवाद्भस्मसाद्भान-
मुपगतानां पुनर्भस्मनि समुत्पद्यमानानामपर्याप्ताद्वायां गुणद्वयस्य सत्त्वाविरोधान्नियमेन
पयाप्ता इति न घटत इति चेन्न, तेषां मरणाभावात् । भावे ना न ते तत्रोत्पद्यन्ते,
' शिरयादो णेरुड्या उपड्विदममाणा णो शिरयगदिं जादि णो देवगदिं जादि, तिरिक्ख-
गदिं मणुमगदिं च जादि ' इत्यनेनार्पेण निषिद्धत्वात् । आयुषोऽनसूने त्रियमाणानामेष
नियमश्चेन्न, तेषामपमृत्योरसत्त्वात् । भस्मसाद्भानमुपगतदेहानां तेषां कथं पुनर्मरणमिति
नन्, देहविकारस्यायुर्विच्छिन्ननिमित्तत्वात् । अन्यथा बालानस्थातः प्राप्तयौवनस्यापि
मरणप्रसङ्गात् ।

शंका — इसप्रकारके परिणाम उन दो गुणस्थानोंमें क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान — क्योंकि, ऐसा स्वभाव ही है ।

शंका — अशिके सत्रन्धसे भस्मीभायको प्राप्त हुए और फिर भी उसी भस्ममें होने
वाले नारकियोंके अपर्याप्त कालमें इन दो गुणस्थानोंके होनेमें कोई विरोध नहीं आता है,
वर्षान् छेदन भेदन आदिसे नष्ट हुए शरीरके पश्चात् पुन उन्हीं अवयवोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके
साक्षात्त और मिश्र गुणस्थान माननेमें कोई विरोध नहीं आता है, इसलिये इन गुणस्थानोंमें
नारकी नियमसे पर्याप्त रहते हैं, यह नियम नहीं बनना है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि, अग्नि आदि निमित्तोंने नारकियोंका मरण नहीं होता
है । यदि नारकियोंका मरण हो जाये, तो पुन वे वहाँ पर उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि,
' जिनकी आयु पूर्ण हो गई है ऐसे नारकी जीव नरकगतिसे निकलकर पुन नरकगतिको
नहीं जाते हैं, देवगतिको नहीं जाते हैं । किंतु निर्यचगत और मनुष्यगतिको जाते हैं ' इस
अर्थ वचनके अनुसार नारकियोंका पुन नरकगतिमें उत्पन्न होना निषिद्ध है ।

शंका — आयुके अन्तमें मरनेवाले नारकियोंके लिये ही यह सूत्रोक्त नियम लागू
होना चाहिये ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, नारकी जीवोंके अपमृत्युका सद्भाव नहीं पाया जाता है ।
अर्थात् नारकियोंका आयुके अन्तमें ही मरण होता है, बीचमें नहीं ।

शंका — यदि उनकी अपमृत्यु नहीं होती है, तो जिनका शरीर भस्मीभायको प्राप्त
हो गया है ऐसे नारकियोंका पुनर्मरण कैसे बनेगा ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, देहका विकार आयुक्रमके विनाशका
निमित्त नहीं है । अन्यथा जिसने बाल अवस्थाके पश्चात् यौवन अवस्थाको प्राप्त कर लिया
है ऐसे जीवोंके भी मरणका प्रसंग आ जायगा ।

तस्य नरकायुषो बन्धाभावात् । नापि बद्धनरकायुष्कः मामादन प्रतिपद्य नारकेपूतपद्यते
 तस्य तस्मिन् गुणे मग्नाभावात् । नामयतमस्यगृह्योऽपि तत्रोत्पद्यन्ते तत्रोत्पत्तिनिमित्ता
 भावात् । न तात्कर्मस्कन्धवद्भूतस्य तस्य तत्रोत्पत्ते कारण क्षपितकर्माशानामपि जीवानां
 तत्रोत्पत्तिदर्शनात् । नापि कर्मस्कन्धाणुत्त तत्रोत्पत्ते, कारण गुणितकर्माशानामपि
 तत्रोत्पत्तिदर्शनात् । नापि नरकगतिकर्मण मच्च तस्य तत्रोत्पत्ते' कारण तत्सच्च प्रत्य
 विशेषतः सकलपञ्चेन्द्रियाणामपि नरकप्राप्तिप्रसङ्गात् । नित्यनिगोदानामपि त्रिधमान
 त्रसकर्मणा त्रसेपूतपत्तिप्रसङ्गात् । नाशुभलेक्ष्याना मच्च तत्रोत्पत्तेः कारण मरणावस्थायाम्
 सयतमस्यगृहे पद्सु पृथिवीपूतपत्तिनिमित्ताशुभलेक्ष्याभावात् । न नरकायुष मच्च तस्य
 तत्रोत्पत्ते, कारण सम्यग्दर्शनासिना छिन्नपद्पृथिव्यायुष्कृतात् । न च तच्छेदोऽसिद्ध,
 आर्षात्तिसिद्धयुपलम्भात् । ततः स्थितमेतत् न सम्यगृष्टि' पद्सु पृथिवीपूतपद्यते इति ।

सासादन गुणस्थानवालेके नरकायुका बन्ध ही नहीं होता है । जिसने पहले नरकायुका बन्ध
 कर लिया है ऐसे जीव भी सासादन गुणस्थानको प्राप्त होकर नारकियोंमें उत्पन्न नही होते
 हैं, क्योंकि, नरकायुका बन्ध करनेवाले जीवका सासादन गुणस्थानमें मरण ही नहीं
 होता है । असयतसम्यगृष्टि जीव भी द्वितीयादि पृथिवियोंमें उत्पन्न नही होते हैं, क्योंकि,
 सम्यगृष्टियोंके शेष छह पृथिवियोंमें उत्पन्न होनेके निमित्त नहीं पाये जाते हैं । यदि कर्म
 स्कन्धोंकी अधिकता असयतसम्यगृष्टि जीवके शेष छह नरकोंमें उत्पत्तिका कारण कहा जावे,
 सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जिन्होंने बहुतसे कर्मस्कन्धोंका क्षय कर दिया है ऐसे जीवोंकी
 भी नरकमें उत्पत्ति देखी जाती है । कर्मस्कन्धोंकी अप्रतिता भी नरकमें उत्पत्तिका कारण नहीं
 है, क्योंकि, जिनके उत्तरोत्तर गुणित कर्मस्कन्ध पाये जाते हैं उनकी भी वही पर उत्पत्ति
 देखी जाती है । नरकगतिका सत्य भी सम्यगृष्टिने नरकमें उत्पत्तिका कारण कहना ठीक नहीं
 है, क्योंकि, नरकगतिके सत्यके प्रति कोई विशेषता न होनेसे सभी पञ्चेन्द्रिय जीवोंको नरक
 गतिकी प्राप्तिका प्रसंग आजायगा । तथा नित्यनिगोदिया जीवोंने भी त्रसकर्मकी सत्ता
 विद्यमान रहती है, इसलिये उनकी भी त्रसोंमें उत्पत्ति होने लगेगी । अशुभ लेक्ष्याने सत्यको
 नरकमें उत्पत्ति का कारण कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, मरणने समय असयतसम्यगृष्टि
 जीवके नीचेकी छह पृथिवियोंमें उत्पत्ति का कारणरूप अशुभ लेक्ष्याए नहीं पाई जाती है ।
 नरकायुका सत्य भी सम्यगृष्टिने नीचेकी छह पृथिवियोंमें उत्पत्ति का कारण नहीं है, क्योंकि,
 सम्यग्दर्शनरूपी ग्रहसे नीचेकी छह पृथिवीसबन्धी आयु काट दी जाती है । नीचेकी छह
 पृथिवीसबन्धी आयुका कटना असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, आगमसे इसकी पुष्टि होती है ।
 इसलिये यह सिद्ध हुआ कि नीचेकी छह पृथिवियोंमें सम्यगृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होता है ।

तिर्यग्गतौ गुणम्यानाना सत्त्रायथाप्रतिपादनार्थमाह—

तिरिक्खा मिच्छाइट्टि-सासणसम्माइट्टि-असंजदसम्माइट्टि-ट्ठाणे
सिया पजत्ता, सिया अपजत्ता ॥ ८४ ॥

भगवतु नाम मिच्छाइट्टिसासादनसम्यग्दृष्टीना तिर्यक्षु पर्याप्तापर्याप्तद्वयोः सत्त्वं
तयोस्तत्रोत्पत्त्यविरोधात् । सम्यग्दृष्टयस्तु पुनर्नोत्पद्यन्ते तिर्यगपर्याप्तपर्यायेण सम्यग्
दर्शनस्य विरोधादिति ? न विरोधः, अस्वार्पस्याग्रामाण्यग्रमङ्गात् । आयिकसम्यग्दृष्टिः
क्षेपिततीर्थकरः क्षपितसप्तप्रकृति रथ तिर्यक्षु दुःखभूयस्मत्पद्यते इति चेन्न, तिरश्चा
नारकेभ्यो दुःखाविक्याभावात् । नारकेष्वपि सम्यग्दृष्टयो नोत्पत्स्यन्त इति चेन्न, तेषां
तत्रोत्पत्तिप्रतिपादकार्षोपलम्भात् । किमिति ते तत्रोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यग्दर्शनो-
पादानात् प्राङ् मिच्छाइट्टयस्याया नद्वतिर्यङ्मरुकायुक्तात् । सम्यग्दर्शनेन तत्

अथ तिर्यचगतित्में गुणस्थानोंके सद्भावके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र
बढ़ते है—

तिर्यच मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त
भा होने हैं और अपर्याप्त भी होते है ॥ ८४ ॥

मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंकी तिर्यचोंसबन्धी पर्याप्त और अपर्याप्त
अवस्थामें भले ही सत्ता रही आवे, क्योंकि, इन दो गुणस्थानोंकी तिर्यचसबन्धी पर्याप्त और
अपर्याप्त अवस्थामें उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव तो
तिर्यचोंमें उत्पन्न नहीं होते है, क्योंकि, तिर्यचोंकी अपर्याप्त पर्यायके साथ सम्यग्दर्शनका
विरोध है ?

समाधान—विरोध नहीं है, फिर भी यदि विरोध माना जावे तो ऊपरका सूत्र
अप्रमाण हो जायगा ।

शंका—जिसने तीर्थकरकी सेवा की है और जिसने मोहनीयकी सात प्रतियोंका
क्षय कर दिया है ऐसा धार्मिक सम्यग्दृष्टि जीव दुःखग्रस्त तिर्यचोंमें कैसे उत्पन्न होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तिर्यचोंके नारकियोंकी अपेक्षा अधिक दुःख नहीं पाये
जाते हैं ।

शंका—तो फिर नारकियोंमें भी सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होंगे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सम्यग्दृष्टियोंकी नारकियोंमें उत्पत्तिका प्रतिपादन करने
वाला आगम प्रमाण पाया जाता है ।

शंका—सम्यग्दृष्टि जीव नारकियोंमें क्यों उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिन्होंने सम्यग्दर्शनको ग्रहण करनेके पहले मिथ्यादृष्टि

निमित्ति न छियते ? इति चेत् किमिति तन्न छियते ? अपि तु न तस्य निर्मूलच्छेदः । तदपि कुतः ? स्वभाव्यात् ।

तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

सम्मामिच्छाद्वि-संजदासंजद द्वाणे णियमा पज्जत्ता ॥ ८५ ॥

मनुष्या मिथ्यादृष्ट्यन्त्याया नद्धतिर्यगायुष पचात्सम्यग्दर्शनेन सहात्ता-
प्रत्याग्याना क्षपितसप्तप्रकृत्यस्तिर्यक्षु किन्नोत्पद्यन्ते ? इति चेत् किंचातोऽप्रत्याग्यान-
गुणस्य तिर्यगपर्याप्तेषु सत्त्वापत्तिः ? न, देवगतिव्यतिरिक्तगतित्रयमम्यद्वायुषोपलभिताना-
मणुजतोपादानबुद्ध्यनुत्पत्तेः । उक्तं च—

चत्तारि वि छेत्ताद् आउग बधे वि होइ सम्मत्त ।

अणुजद महज्जदा ण लहइ देवायुग मोत्तु' ॥ १६९ ॥

अवस्थामें तिर्यचायु और नरत्रायुका बन्ध कर लिया है उनकी सम्यग्दर्शनके साथ वहा पर उत्पत्ति माननेमें कोई आपत्ति नहीं आती है ।

शंका—सम्यग्दर्शनकी सामर्थ्यसे उस आयुका छेद क्यों नहा हो जाता है ?

समाधान—उसका छेद क्यों नहा होता है ? अवश्य होता है, किन्तु उसका समूल नाश नहीं होता है ।

शंका—समूल नाश क्यों नहीं होता ?

समाधान—आगेके भग्वती बाधी हुई आयुकर्मका समूल नाश नहीं होता है इस प्रकारका स्वभाव ही है ।

अब तिर्यचोंमें सम्यग्मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंके स्वरूपना निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

तिर्यच सम्यग्मिथ्यादृष्टि ओर सयतासयत गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८५ ॥

शंका—जिन्होंने मिथ्यादृष्टि अवस्थामें तिर्यचायुका बन्ध करनेके पदवात् देशसयमको ग्रहण कर लिया है और मोहकी सात प्रहरियोंका क्षय कर दिया है ऐसे मनुष्य तिर्यचोंमें क्यों नहीं उत्पन्न होते ? यदि होते हैं तो इससे तिर्यच अपर्याप्तोंमें देशसयमके प्राप्त होनेकी आपत्ति आती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, देवगतिको छोड़कर शेष तीन गतिसम्बन्धी आयुबन्धसे युक्त जीवोंके अणुजतको ग्रहण करनेकी बुद्धि ही उत्पन्न नहीं होती है । कहा भी है—

चारों गतिसम्बन्धी आयुकर्मके बन्ध हो जाने पर भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता

न तिर्यक्षूतपन्ना अपि क्षायिकसम्यग्दर्शयोऽणुप्रतान्यादधते भोगभूमातुत्पन्नानां तदुपादानानुपपत्तेः । ये निर्दानास्ते कथं तत्रोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यग्दर्शनस्य तत्रोत्पत्तिकारणस्य सत्त्वात् । न च पात्रदानेऽनुमोदिनः सम्यग्दर्शयो भवन्ति तत्र तदनुपपत्तेः ।

तिरश्चामोघमभिधायदेशस्वरूपानिरूपणार्थं उच्यते—

एवं पञ्चिदिय-तिरिक्त्वा पञ्चिदिय-तिरिक्त्वा-पञ्चत्ता ॥ ८६ ॥

एतेषामोघप्ररूपणमेव भवेद्विवक्षितं प्रति विशेषाभावात् ।

स्त्रीनिदानिशिष्टतिरश्चा विशेषप्रतिपादनार्थमाह—

है, परंतु देवायुके बन्धको छोटकर दोष तीन आयुक्रमके बन्ध होने पर यह जीव अणुप्रत और महान्तको ग्रहण नहीं करता है ॥ १६९ ॥

तिर्यचोमं उत्पन्न हुए भी क्षायिक सम्यग्दर्श जीव अणुप्रतोंको नहीं ग्रहण करते हैं, क्योंकि, क्षायिक सम्यग्दर्श जीव यदि तिर्यचोमं उत्पन्न होते हैं तो भोगभूमिमें ही उत्पन्न होते हैं और भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके अणुप्रतोंका ग्रहण करना बल नहीं सकता है ।

शङ्का— जिन्होंने दान नहीं दिया है ऐसे जीव भोगभूमिमें कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, भोगभूमिमें उत्पात्तिका कारण सम्यग्दर्शन है और वह जिनके पाया जाता है उनके वहां उत्पन्न होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । तथा पात्रदानकी अनुमोदनासे रहित जीव सम्यग्दर्श हो नही सकते हैं, क्योंकि, उनमें पात्रदानकी अनुमोदनाका अभाव नहीं बन सकता है

विशेषार्थ— क्षायिक सम्यग्दर्शनकी उत्पात्ति मनुष्य पर्यायमें ही होती है । अतः जिस मनुष्यने पहले तिर्यचायुका बन्ध कर लिया है और अनन्तर उसके क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है ऐसे जीवके भोगभूमिमें उत्पात्तिका मुख्य कारण क्षायिक सम्यग्दर्शन ही जानना चाहिये, पात्रदान नहीं । फिर भी वह पात्रदानकी अनुमोदनासे रहित नहीं होता है ।

इसप्रकार तिर्यचोकी सामान्य प्ररूपणाका कथन करके अब उनके विशेष स्वरूपके निर्णय करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

तिर्यचसयन्धी सामान्यप्ररूपणाके समान पचेन्द्रियतिर्यच और पर्याप्तपचेन्द्रिय-तिर्यच भी होते हैं ॥ ८७ ॥

पचेन्द्रियतिर्यच और पर्याप्त-पचेन्द्रिय-तिर्यचोकी प्ररूपणा तिर्यचसयन्धी सामान्य-प्ररूपणाके समान ही होती है, क्योंकि, विवक्षित विषयके प्रति इन दोनोंके कथनमें कोई विशेषता नहीं है ।

अब स्त्रीविद्युक्त तिर्यचोमें विशेषका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

पंचिदिय तिरिस्ख-जोणिणीसु मिच्छाइट्टि-सासणसम्माइट्टि-ट्टाणे
सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ८७ ॥

मातादनो नारकप्पिण तिर्यक्षपि नोत्पादीति चेन्न, द्वयोः माधर्म्याभावात्
दृष्टान्तानुपपत्तेः ।

तत्र शेषगुणाना स्वरूपमभिधातुमाह —

सम्मा मिच्छाइट्टि-असंजदसम्माइट्टि संजदासंजद ट्टाणे णियमा
पज्जत्तियाओ ॥ ८८ ॥

उतः? तत्रतासामुत्पत्तेरभावात् । यद्वायुष्क क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्नारकेषु नपुसकवेद
इमात्र स्त्रीवेदे किनोत्पद्यत इति चेन्न, तत्र तस्यैकस्य मत्तात् । यत्र कचन ममुत्पद्यमान'

योनिमती-पचेन्द्रिय-तिर्यच मिथ्यादृष्टि आर सासादन गुणस्थानमें पर्याप्त भा होने
हैं और अपयोप्त भी होते हैं ॥ ८७ ॥

शंका- सासादन गुणस्थानवागी जीव मरकर जिसप्रकार नारकियोंमें उत्पन्न नहीं
होता ह, उसीप्रकार तिर्यचोंमें भी उत्पन्न नहीं होना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, नारकी और तिर्यचाम साधर्म्य नहीं पाया जाता है।
इसलिये नारकियोंका दृष्टान्त तिर्यचोंको लागू नहीं हो सकता है ।

योनिमती तिर्यचनियोंमें शेष गुणस्थानोंके स्वरूपका कथन करनेके लिये आगेका
मूल कहते हैं—

योनिमती-तिर्यच सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असयनसम्यग्दृष्टि और सयतासयत गुणस्थानमें
णियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८८ ॥

शंका—ऐसा क्यों होता है ?

समाधान—क्याकि, उपर्युक्त गुणस्थानोंमें मरकर योनिमता-तिर्यच उत्पन्न नहीं
होते हैं ।

शंका—जिसप्रकार यद्वायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव नारकसबधी नपुसकवेदम
उत्पन्न होता है उसीप्रकार यद्वा पर स्त्रीवेदम क्यों नहीं उत्पन्न होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, नरकमें एक नपुसकवेदका ही सद्भाव है । जिस किसी
गतिमें उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव उस गतिसबधी विशिष्ट वेदादिकमें ही उत्पन्न
होता है । यह अभिप्राय यद्वा पर ग्रहण करना चाहिये । इससे यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दृष्टि
जीव मरकर योनिमती तिर्यचमें नहीं उत्पन्न होता है ।

सम्यग्दष्टित्वा निशिष्टेदादिषु समुत्पद्यत इति गृह्यताम् । तिर्यगपर्याप्तेषु किञ्च निरूपित-
मिति नाशङ्कनीयम्, तत्र प्रतिपक्षाभागतो गतार्थत्वात् ।

मनुष्यगतिप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा मिच्छाइट्टि-सासणसम्माइट्टि-असंजदसम्माइट्टि-ट्ठाणे
सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ८९ ॥

सुगममेतत् ।

तत्र शेषगुणस्थानसत्त्वानस्थाप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मा मिच्छाइट्टि-संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता
॥ ९० ॥

भगवत् सवपामेतेषा पर्याप्तत्वं नाहारशरीरमुत्थापयता प्रमत्तानामनिष्पन्नाहारगत-
पर्याप्तीनाम् । न पर्याप्तकर्मोदयापेक्षया पर्याप्तोपदेशः तदुदयसत्त्वानिशेषतोऽस्यत-

शङ्का—तियच्च अपर्याप्तांमे गुणस्थानाका निरूपण न्याय नह्य किया ?

समाधान—नह्य, न्यायिक, अपर्याप्त तिर्यचांम एक मिथ्यात्व गुणस्थानको छोडकर
प्रतिपक्षरूप और कोई दूसरा गुणस्थान नहीं पाया जाता है, अतः बिना कथन किये ही इसका
मान हो जाता है ।

निशेषार्थ—यह्य अपर्याप्त तिर्यचांसे लब्धपर्याप्त तिर्यचाका ग्रहण करना चाहिये ।
अतः लब्धपर्याप्तकोके एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है । अतः उनके विषयमें यह्य पर
अधिक नह्य कहा गया है ।

अतः मनुष्यगतिके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनुष्य मिथ्याइट्टि, सासादनसम्यग्दष्टि और अस्यतसम्यग्दष्टि गुणस्थानोंमें पर्याप्त
भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८९ ॥

इस सूत्रका अर्थ सरल है ।

मनुष्योंमें शेष गुणस्थानाके सद्भावरूप अवस्थाके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका
सूत्र कहते हैं—

मनुष्य सम्यग्मिथ्याइट्टि, स्यतास्यत और स्यत गुणस्थानोंमें नियमसे पर्या-
प्त होते हैं ॥ ९० ॥

शङ्का—सूत्रमें बताये गये इन सभी गुणस्थानजालाको यदि पर्याप्तपना प्राप्त होता
है तो होओ, परंतु जिनकी आहारक शरीरसंग्धी छह पर्याप्तिया पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे
आहारक शरीरको उत्पन्न करनेवाले प्रमत्त गुणस्थानजाला जीवोंके पर्याप्तपना नहीं बन
सकता है । यदि पर्याप्त नामकर्मके उदयकी अपेक्षा आहारक शरीरको उत्पन्न करनेवाले

मानुषीषु निरूपणार्थमाह—

मणुसिणीषु मिच्छाद्वि सासनसम्माद्वि-द्वाने सिया पज्जत्ति-
याओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ९२ ॥

अत्रापि पूर्वमदपर्याप्तानां पर्याप्तव्यग्रहारः प्रवर्तयितव्यः । अथवा स्यादित्यत्र
निपातः कथञ्चिदित्यस्मिन्नर्थे वर्तते, तेन स्यादपर्याप्ता, पर्याप्तनामकमोदयाच्छरीर
निष्पत्त्यपेक्षया वा । स्यादपर्याप्ता शरीरानिष्पत्त्यपेक्षया इति उक्तव्यम् । सुगममन्यत् ।

तत्रैव शेषगुणनिपयारेणापोहनार्थमाह—

सम्मामिच्छाद्वि-असंजदसम्माद्वि संजदासजद-द्वाने णियमा
पज्जत्तियाओ ॥ ९३ ॥

हुण्डानसर्पिण्या स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किञ्चोत्पद्यन्ते इति चेन्न, उत्पद्यन्ते । कुतोऽरमी

अतर्भाव होता है, क्योंकि, आगमम जो मनुष्याके चार भेद त्रिये ह उनमेंसे जिनके पर्याप्त
नाममर्मका उद्भूत विद्यमान है उ ह पर्याप्त कहा है । इस पर शङ्काकारका कहना है कि जिनके
पर्याप्तिया पूर्ण नहीं हुई ह ऐसे अपर्याप्तकोंका पर्याप्ततामें अन्तर्भाव कैसे किया जा सकता
है । इसी शङ्काको यानमें रगकर ऊपर समाधान किया गया ह ।

अथ मनुष्य त्रियाम गुणस्वानोंने निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते ह—

मनुष्य त्रिया मिथ्यादृष्टि आर सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्मानम पर्याप्त भी होती ह
ओर अपर्याप्त भी होती ह ॥ ९२ ॥

यह पर भी पर्याप्त मनुष्याके समान निर्वृत्त्यपर्याप्तकोंम पर्याप्तपनेका व्यवहार कर
लेना चाहिये । अथवा, 'स्यात्' यह निपात कथचित् अ में रहता है । इसने अनुसार कथचित्
पर्याप्त होते हैं, इसका यह तात्पर्य ह कि पर्याप्त नाममर्मके उद्भूत अथवा शरीर
पर्याप्तकी पूर्णताकी अपेक्षा पर्याप्त होते ह । और कथचित् अपर्याप्त होते हैं, इसका यह
तात्पर्य है कि शरीर पर्याप्तकी अपूर्णताकी अपेक्षा अपर्याप्त होते ह । शेष कथन सुगम है ।

अथ मनुष्य त्रियोंमें हा शेष गुणस्मानविषय शङ्काके दूर करनेके लिये सूत्र कहते ह—
मनुष्य त्रिया सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि सयतामयत ओर सयत गुणस्वानोंमें
नियमसे पर्याप्त होती ह ॥ ९३ ॥

शङ्का—हुण्डानसर्पिणी कालसत्रया त्रियोंम सम्यग्दृष्टि जीव क्या नहीं उत्पन्न होने ह ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उनम सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होने ह ।

शङ्का—यह किस प्रमाणसे जाना जाता ह ?

१ अथ 'सजद' इति पाश्चात् प्रतिपादि

यते ? अस्मादेवार्पात् । अस्मादेवार्पाद् द्रव्यस्त्रीणा निर्वृत्तिः मिद्वेदिति चेन्न, सप्ता-
मन्त्रादग्रत्याग्यानगुणस्थिताना मयमानुषपत्तेः । भावमयमन्त्राणां सप्तासप्तमप्यविरुद्ध
इति चेत्, न तामा भावसयमोऽस्ति भावमयमात्रिनाभाविस्त्राद्युपादानान्यथानुषपत्तेः ।
इयं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानीति चेन्न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतां तत्त्वत्वाविरो गत् ।
भावेदो वादरूपायात्रोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दशगुणस्थानाना सम्भव इति चेन्न, अत्र
वेदस्य प्राधान्याभावात् । गतिस्तु प्रयाना न साराद्धिनश्यति । वेदविशेषणाया गतां न
तानि सम्भवन्तीति चेन्न, विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमादधानमनुष्यगतां
तत्त्वत्वाविरो गत् । मनुष्यावर्याप्येवपर्याप्तिप्रतिपक्षाभावातः सुगमत्वाच्च तत्र वक्तव्यमस्ति ।

ममाधान—इसी आगम प्रमाणमे जाना जाता है ।

शंका—तो इसी आगमसे द्रव्य त्रिवेका मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, चरसहित होनेमे उनके सयतामयत गुणस्थान होता
है, तबव उनके समयमही उत्पत्ति नदा हो सकती है ।

शंका—चरसहित होते हुए भी उन द्रव्य त्रिवेके भावसयमके होनेमे कोई विरोध
नहीं आना चाहिये ?

समाधान—उनके भाव सयम नहीं है, क्योंकि, अन्यथा, अर्थात् भाव सयमके
मानने पर, उनके भाव असयमका अविनाभावी चरसहितका ग्रहण करना नदा बन सकता है ।

शंका—तो फिर त्रियाम चौदह गुणस्थान होते है यह कथन कैसे बन सकेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भावस्त्रीमें, अर्थात् स्त्रीवेद युक्त मनुष्यगतिमें, चौदह
गुणस्थानके सद्भाव मान लेनेमे कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—वादरूपाय गुणस्थानके ऊपर भाववेद नहीं पाया जाता है, इसलिये
भाववेदम चौदह गुणस्थानोंका सद्भाव नहीं हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यदा पर वेदही प्रधानता नहीं है, किन्तु गति प्रधान है ।
और वह पहले नष्ट नहीं होती है ।

शंका—यद्यपि मनुष्यगतिमे चौदह गुणस्थान सम्भव है । फिर भी उसे वेद विशेषणसे
गुण कर देने पर उसम चौदह गुणस्थान सम्भव नहीं हो सकते हैं ?

समाधान—नदा, क्योंकि, विशेषणके नष्ट हो जाते पर भी उपनारसे उस विशेषण
गुण सप्ताको धारण करनेवाली मनुष्यगतिमे चौदह गुणस्थानोंका सद्भाव मान लेनेमें कोई
विरोध नहीं आता है ।

अपर्याप्त मनुष्योंमें अपर्याप्तिका कोई प्रतिपक्षी नहीं होनेमे और अपर्याप्त मनुष्योंका
कथन सुगम होनेमे इस विषयमे कुछ शंका करने योग्य नहीं है । इसलिये हम सब-कुछ
संगत रूपसे नहीं बढ़ा गया है ।

देवगता निरूपणार्थमुत्तरसुत्रमाह—

देवा मिच्छाद्द्वि सासणसम्माद्द्वि असंजदसम्माद्द्वि-द्विणे सिया
पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ९४ ॥

अथ स्याद्विग्रहगतौ कर्मणशरीराणा न पर्याप्तिस्तदा पर्याप्तीना पण्णा निष्पत्तेर
भावात् । न अपर्याप्तास्ते आरम्भात्प्रभृति आ उपरमादन्तरालावस्थायामपर्याप्ति
व्यपदेशात् । न चानारम्भकस्य स व्यपदेशः अतिप्रसङ्गात् । ततस्तृतीयमप्यवस्थान्तर
वक्तव्यमिति नैष दोषः, तेषामपर्याप्तेष्वन्तर्भावात् । नातिप्रसङ्गोऽपि कर्मणशरीर
म्वितप्राणिनामिहापर्याप्तकं सह मामर्थाभावोपपादैकान्तानुवृत्तियोगैर्गत्यायुःप्रथम
द्वित्रिसमयवर्तनेन च शेषप्राणिना प्रत्यामत्तेरभावात् । ततोऽशेषमसारिणामवस्थाद्वयमेव
नापरमिति स्थितम् ।

अथ देवगतिमें निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

देव मिच्छाद्द्वि, सासादनसम्यग्द्वि ओर असयतसम्यग्द्वि गुणस्थानमें पर्याप्त भी
होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ९४ ॥

शुद्धा—विग्रहगतिमें कर्मण शरीर होता है, यह बात ठीक है। किंतु वहां पर कर्मण
शरीरवालोंके पर्याप्ति नहीं पाई जाती है, क्योंकि विग्रहगतिके कालमें छह पर्याप्तियोंकी
निष्पत्ति नहीं होती है? उसीप्रकार विग्रहगतिमें वे अपर्याप्त भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि,
पर्याप्तियोंके आरम्भसे लेकर समाप्ति पर्यंत मध्यकी अवस्थामें अपर्याप्ति यह सग्रा दी गई है।
परन्तु जिन्होंने पर्याप्तियोंका आरम्भ ही नहीं किया है ऐसे विग्रहगतिसंबंधी एक दो
और तीन समयवर्तों जीवोंके अपर्याप्त सग्रा नहान प्राप्त हो सकती है क्योंकि, ऐसा मान
लेने पर अतिप्रसंग दोष आता है। इसलिये वहां पर पर्याप्त और अपर्याप्तसे भिन्न कोई तीसरी
अवस्था ही कहना चाहिये ?

समाधान—यह कोई दोष नहान है, क्योंकि, ऐसे जीवोंका अपर्याप्तोंमें ही अन्तर्भाव
किया गया है। और ऐसा मान लेने पर अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, कर्मणशरीरमें
स्थित जीवोंकी अपर्याप्तकोंके साथ सामर्थ्याभावा, उपपादयोगस्थान, एकान्तवृद्धियोगस्थान
और गति तथा आयुसंबंधी प्रथम, द्वितीय और तृतीय समयमें होनेवाली अवस्थाके द्वारा
जितनी समीपता पाई जाती है, उतनी शेष प्राणियोंकी नहीं पाई जानी
है। इसलिये कर्मणशाययोगमें स्थित जीवोंका अपर्याप्तकोंमें ही अन्तर्भाव किया
जाता है। अतः संपूर्ण प्राणियोंकी दो अवस्थाएँ ही होती हैं। इनसे भिन्न कोई तीसरी
अवस्था नहीं होती है।

उभयगुणोपलक्षितनीयानां तत्रोत्पत्तेरुभयत्रापि तदस्त्वित्य मिद्धम् । अन्यत्सुगमम् ।
तत्रानुत्पद्यमानगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

**सम्प्राप्तिच्छादद्वि असंजदसम्प्राद्विद्वान्ने णियमा पजत्ता णियमा
पजत्तियाओ ॥ ९७ ॥**

भनतु मम्यग्मिव्याहृष्टेत्रानुत्पत्तिस्तस्य तद्गुणेन मरणाभावात्, कित्तेतन्न
घटते यदस्यतमम्यग्दष्टिर्मरणस्तत्र नोत्पद्यत इति न, जघन्येषु तस्योत्पत्तेरभावात् ।
नारकेषु तिर्यक्षु च कनिष्ठेषूपत्पद्यमानस्तत्र तेभ्योऽपिरेषु किमिति नोत्पद्यन्त इति चेत्,
मिव्याहृष्टीनां प्राग्गद्वायुष्काणां पश्चादात्तसम्पद्दर्शनानां नारकाद्युत्पत्तिप्रतिपन्नत्वं प्रति
सम्पद्दर्शनस्यामामव्यात् । तद्वदेतेष्वपि किञ्च स्यादिति चेत्तत्त्वमिष्टत्वात् । तथा च

इन दोनां गुणस्थानोंसे युक्त जीवोंकी उपर्युक्त देव और देवियोंमें भी उत्पत्ति होती है,
अतएव उन दोनों गुणस्थानोंमें भी पर्याप्त और अपर्याप्तरूपसे उनका अस्तित्व सिद्ध हो
जाता है । शेष कथन सुगम है ।

उक्त देव और देवियोंकी अपर्याप्त अस्त्वात् नहों होनेवाले गुणस्थानोंके प्रतिपादन
करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्यग्मिव्याहृष्टि ओर अस्यतसम्यग्दष्टि गुणस्थानमें पूर्वोक्त देव नियमसे पर्याप्त होत
हैं और पूर्वोक्त देवियां नियमसे पर्याप्त होती हैं ॥ ९७ ॥

शुद्धा—सम्यग्मिव्याहृष्टि जीवकी उक्त देव और देवियोंमें उत्पत्ति मत होओ, यह
ठीक है, क्योंकि, सम्यग्मिव्याहृष्टि गुणस्थानके साथ जीवका मरण ही नहीं होता है । परन्तु यह
बात नहीं बनती है कि मरनेवाला अस्यतसम्यग्दष्टि जीव उक्त देव और देवियोंमें उत्पन्न
नहीं होता है ?

समाधान—नहो, क्योंकि, सम्यग्दष्टिमें जघन्य देवोंमें उत्पत्ति नहीं होती है ।

शुद्धा—जघन्य अवस्थानों प्राप्त नारकियोंमें और तिर्यक्षोंमें उत्पन्न होनेवाले
सम्यग्दष्टि जीव उनमें उत्कृष्ट अवस्थाकी प्राप्त भवन्वासी देव और देवियोंमें तथा कल्प
वासिनी देवियोंमें क्यों नहो उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—नहो, क्योंकि, जो आयुर्मरणा बन्ध करते समय मिव्याहृष्टि थे और
जिह्वासे तदनन्तर सम्यग्दर्शनको ग्रहण किया है ऐसे जीवोंकी नरकादि गतिमें उत्पत्तिके रोक
नेकी सामर्थ्य सम्यग्दर्शनमें नहीं है ।

शुद्धा—सम्यग्दष्टि जीवोंकी जिसप्रकार नरकगति आदिमें उत्पत्ति होती है उन्हीं
प्रकार देवोंमें क्यों नहो होती है ?

समाधान—यह कहना ठीक है, क्योंकि, यह बात इष्ट ही है ।

‘‘यस्मापि विमानानि, ताविमानानि योनिना । उक्त २ अ । यात्रापि विमाननिगमा, तपु भवा भ्यतिक्ता ।
स्था ५ ठा १ उ [अमि रा का व्यातिक्र, यानिक]

भवनवास्यादिप्रप्यसंयतमस्यगृहेरुत्पत्तिरास्कन्देदिति चेन्न, सम्यग्दर्शनस्य चद्वायुपा प्राणिना तत्तद्गत्यायुःमामान्येनाविरोधिनस्तत्तद्गतिप्रशेषोत्पत्तिप्ररोधिनोपलम्भात् । तथा च भवनवास्यव्यन्तरज्योतिरूपप्रकीर्णकाभियोग्यक्रित्विपिकृष्टीपट्टस्त्रीनपुसक- विरुलेन्द्रियलब्धयपर्याप्तकर्मभूमिजतिर्यक्षु चोत्पत्त्या विरोधोऽस्यतसम्यग्गृहेः सिद्धये- दिति तत्र ते नोत्पद्यन्ते । सुगममन्यत् ।

शेषदेवेषु गुणावस्थाप्रतिपादनार्थं वक्ष्यति—

सौधम्मीसाण प्पहुडि जाव उवरिम-उवरिम-गेवज्जं'ति विमाणवा-
सियं'देवेसु मिच्छाइडि-सासणसम्माइडि-असंजदसम्माइडि-ट्ठाणे सिया
पज्जाता सिया अपज्जत्ता ॥ ९८ ॥

शंका — यदि ऐसा है तो भवनवासी आदिमें भी अस्यतसम्यग्गृहे जीवोंकी उत्पत्ति प्राप्त हो जायगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिन्होंने पहले आयुर्कर्मका बन्ध कर लिया है ऐसे जीवोंके सम्यग्दर्शनका उस गतिसरन्धी आयुसामान्यके साथ विरोध न होते हुए भी उस उस गतिसरन्धी विशेषमें उत्पत्तिके साथ विरोध पाया जाता है । ऐसी अवस्थामें भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, प्रकीर्णक, आभियोग्य जोर कित्वापिक देवोंमें, नीचेके छह नरकोंमें, सप्त प्रहारकी न्नियोंमें, नपुसक वेदमें, विरुलेन्द्रियोंमें, लब्धयपर्याप्तक जीवोंमें और कर्मभूमिज तिर्यचोंमें अस्यतसम्यग्गृहे उत्पत्तिके साथ विरोध सिद्ध हो जाता है । इसलिये इतने स्थानोंमें सम्यग्गृहे जीव उत्पन्न नही होता है । शेष ऊपर सुगम है ।

शेष देवोंमें गुणस्थानोंकी अवस्थितिके बतलानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सौधर्म और पेशान स्वर्गसे लेकर उपरिम प्रवेयकके उपरिम भाग पर्यन्त विमानवासी देवोंसरन्धी मिथ्यागृहे सामादनसम्यग्गृहे ओर अस्यतसम्यग्गृहे गुणस्थानमें जीव पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ९८ ॥

१ लोहपुण्यस्य प्राज्ञस्थानात्प्राज्ञात् प्राज्ञा । प्राज्ञा भवानि प्रवेयसाणि विमानानि । तत्प्राज्ञात् इन्द्रा अपि प्रवेयसा । त रा वा ४ १९ प्राज्ञ प्राज्ञा लोहपुण्यस्य नयादक्षरवृत्तिविप्रदेश तन्निर्विद्यतयातिप्राज्ञि-
"प्रज्ञा च तदाभरणभूतादो प्रवेयसा दक्षराणा , तन्निगमिनो दत्ता अपि प्रवेयसा । उक्त ३६ अ (अभि रा का भेदित्वा)

२ विशेषेणामभ्यास मुनिनो मानयताति विमानानि, विमानेषु मवा वमानिना । स मि , त रा वा ४ १६ विविध मन्त्र उपभुज्यन्ते पुण्यगद्विजगतिनि विमानानि । तेषु मवा वमानिका । से नि त वैमागिया ? वैमागिया दुविदा पण्णत्ता , त जहा क्योपगा य रप्पादया य । ×× रूप आचार , म वेद इन्द्रमामानिकनायलि

भनत्वत्रोभयास्थानु गुणत्रयास्तित्त्वं तस्य तेषूपपत्तिं प्रति विरोधासिद्धे । सनत्कुमारादुपरि न स्त्रिय' समुत्पद्यन्ते सौधर्मादापि न तदुत्पत्त्यप्रतिपादनात् । तत्र स्त्रीणामभावे कथं तेषां देवानामनुपशान्ततत्त्वन्तापानां सुखमिति चेन्न, तत्स्त्रीणां सौधर्म कल्पोपपत्तेः । तर्हि तत्रापि स्त्रीणामन्तित्त्वमभिधातव्यमिति चेन्न, अन्यत्रोत्पन्नानामन्य लेश्यायुर्वलानां स्त्रीणां तत्र सत्त्वविरोधात् । तत्र भवनवामिनो व्यन्तरज्योतिष्का सौधर्मशानदेवाश्च मनुष्या इव कायप्रवीचाराः । प्रवीचरो मेधुनमेवनम्, काये प्रवीचरो येषां ते कायप्रवीचाराः । सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः स्पर्शप्रवीचाराः, तत्रतनदेवा देवाङ्गना स्पर्शनमात्रादेव परा प्रीतिमुपलभन्ते इति यावत् । तथा देव्योऽपि । यतो ब्रह्मब्रह्मोत्तर लान्तप्रकापिष्टेषु देवा दिव्याङ्गनाभृङ्गाराकारविलासचतुरमनोज्ञवेषरूपालोकमात्रादेव

शका—सौधर्म स्वर्गसे लेकर उपरिम प्रवेयकके उपरिम भाग तकके देवोंकी पर्याप्त और अपर्याप्त इन दोनों अवस्थाओंमें प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थानाका अस्तित्व पाया जाता है, यह कहना तो ठीक है, क्योंकि, उन तीन गुणस्थानाकी उक्त देवोंमें उत्पत्तिके प्रति विरोध है । किंतु सनत्कुमार स्वर्गसे लेकर ऊपर गिया उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि, सौधर्म और पेशान स्वर्गमें देवागनाओंके उत्पन्न होनेका जिसप्रकार कथन किया गया है, उसप्रकार आगेके स्वर्गोंमें उनकी उत्पत्तिका कथन नहीं किया गया है । इसलिये यहाँ गियोंके अभाव रहने पर, जिनका ग्योसधर्मी सताप शान्त नहीं हुआ है ऐसे देवोंके उनके बिना सुख कैसे हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सनत्कुमार आदि कल्प सप्तमी स्त्रियोंकी सौधर्म और पेशान स्वर्गमें उत्पत्ति होती है ।

शका—ता सनत्कुमार आदि कल्पोंमें भी गियोंके अस्तित्वका कथन करना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जो दूसरी जगह उत्पन्न हुई है, तथा जिनकी लेदया, आयु और बल सनत्कुमारादि कल्पोंमें उत्पन्न हुए देवोंमें भिन्न प्रकारके हैं ऐसी स्त्रियोंका सनत्कुमारादि कल्पोंमें उत्पत्तिकी अपेक्षा अस्तित्व माननेमें विरोध आता है ।

उन देवोंमें भवनवामी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव तथा सौधर्म और पेशान कल्पयासी देव मनुष्योंके समान शरीरसे प्रवीचार करते हैं । मेधुनसेवनको प्रवीचार कहते हैं । जिनका कायमें प्रवीचार होता है उन्हें कायसे प्रवीचार करनेवाले कहते हैं । सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें देव स्पर्शसे प्रवीचार करते हैं । अर्थात् इन दोनों कल्पोंमें रहनेवाले देव देवागनाओंके स्पर्शमात्रसे ही अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त होते हैं । इसीप्रकार यहाँकी देविया भी देवोंके स्पर्शमात्रसे अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त होती हैं । क्योंकि ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लातच और कापिष्ठ कल्पोंमें रहनेवाले देव अपनी देवागनाओंके भृङ्गार, आकार, विलास, यथायोग्य तथा मनोज्ञ वेष तथा रूपके अवलोकन

शादिव्यवहाररूपस्तमुपगमा प्राप्त कल्पापगा साधमशानादिदेवलोकनिवापिन । यथोनरूप कल्पमतीता अति भान्ता कल्पातीता । महा १ पद [अमि ११ का वैभाषिय]

पञ्चानामेव नामान्यभ्यधादन्तदीपकार्यम् । तत शेषस्वर्गनामान्यपि वक्तव्यानि ।
तानि च यथानुसरं प्रत्याम । एव योगनिष्पणानुसर एव चतसृषु गतिषु पर्याप्ता
पर्याप्तकालप्रतिष्ठासु सकलगुणस्थानानामभिहितमस्ति तन्म । शेषमार्गणानु अयमर्थः
किमिति नाभिधीयत इति चेत्, नोन्यते अनेनैव मतार्थत्वाद् गतिचतुष्टयन्यतिरिक्त-
मार्गणाभावात् ।

वेदविशिष्टगुणस्थाननिरूपणार्थमाह—

वेदाणुवादेण अस्थि इत्थिवेदा पुरिसवेदा णवुसयवेदा अवगद
वेदा चेदि ॥ १०१ ॥

दोषैरात्मान पर च स्मृणाति छाटयतीति स्त्री, स्त्री चामां वेदः स्त्रीवेदः । अया
पुरुष स्मृणाति आकाङ्क्षतीति स्त्री पुरुषकाङ्क्षेत्यर्थः । स्त्रियं विन्दतीति स्त्रीवेदः । अथवा

ये पाच विमान सबसे अन्तम है इस बातसे प्रगट करनेके लिये पाचों ही विमानोंके
नाम कहे गये हैं, इसलिये शेष स्वर्गोंके नाम भी कहने चाहिये । परन्तु उनका उर्णन
यथावसर करेंगे ।

इसप्रकार योगमार्गणाके निरूपण करनेके अवसर पर ही पर्याप्त और अपर्याप्त काल
युक्त चारों गतियोंमें सपूर्ण गुणस्थानों की मत्ता बतला दा गई ।

शुक्रा—येव मार्गणाआम यह विषय क्या नहीं कहा जाता है ?

समाधान—नहा, क्याकि, इसी कथनसे शेष मार्गणाओंमें यह विषय आगया है
क्याकि, चारों गतियाँको छोड़कर और कोई मार्गणाए नहा है ।

अब वेदसहित गुणस्थानाके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वेदमार्गणाणे अनुयादसे स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और अपगतवेदवाले
जाय होते हैं ॥ १०२ ॥

जो दोषोंसे स्वयं अपनको और दूसरको आन्डादित करती है उसे स्त्री कहते हैं और
स्त्रीरूप जो वेद है उसे स्त्रीवेद कहते हैं । अथवा, जो पुरुषकी आकांक्षा करता है उसे स्त्री
कहते हैं, जिसका अर्थ पुरुषकी चाह करनेवाली होता है । जो अपनेको स्त्रीरूप अनुभव करता
है उसे स्त्रीवेद कहते हैं । अथवा वेदन करनेको वेद कहते हैं और स्त्रीरूप वेदको स्त्रीवेद

उपपत्ती जमावचरापपाठ । म ६ स ६ उ अधि ण भत अणुत्तराववाहया दरा । हता । अधि । स कण्ड
ण भत । एव पुचइ अणुत्तराववाहया दरा ? गायमा । अणुत्तराववाहयाण अणुत्तरा महा अणुत्तरा रुता, जाव अणुत्तरा
फासा, से तण्डे ण गायमा । एव पुचइ जाव अणुत्तराववाहया दरा । म १४ स ७ उ (जागि रा या
अणुत्तराववाहय)

पेडन पेदः, त्रियो पेडः त्रिपेडः । उक्त च—

अदेदि सय तोसेण यदो अदइ पर हि तोसेण ।

अदणमीळा जम्हा तम्हा सा वणिया उर्या ॥ १७० ॥

पुरुगुणेषु पुरुभोगेषु च श्रेते स्वपितीति पुरुषः । सुपुप्तपुरुषमनुगतगुणोऽप्राप्त-
भोगश्च यदुदयाजीवो भवति स पुरुषः । जङ्गनाभिलाष इति यावत् । पुरुगुण कर्म श्रेते
करोतीति वा पुरुषः । कर्म स्वभिलाषः पुरुगुण कर्म कुर्यादिति चेन्न, तथाभूतगामर्थानु-
सिद्धजीवमहचरितत्वादुपचारेण जीवस्य तत्कर्तृत्वाभिवानात् । तस्य वेद पुनः ।
उक्त च—

पुरु-गुण भोगे सेदे कोदि लोगम्हि पुरुगुण कम्म ।

पुरु उत्तमो य नम्हा तम्हा मो वणियो पुरिसो ॥ १७१ ॥

न स्त्री न पुमान्पुमकमुभयाभिलाष इति यावत् । उक्त च—

कहते ह । कहा भी है—

जो मि-यादर्शन, अज्ञान और असत्यम आदि दोषोंसे अपनेको आच्छादित करती है
आर मधुर सभाषण, कटाक्ष निक्षेप आदिके द्वारा जो दूसरे पुरुषोंको भी अवलम्ब आदि दोषोंसे
आच्छादित करती है, उसको आच्छादनशील होनेके कारण स्त्री कहा है ॥ १७० ॥

जो उत्कृष्ट गुणोंमें और उत्कृष्ट भोगोंमें शायन करता है उसे पुरुष कहते हैं । अथवा,
जिस कर्मके उदयसे जीव, सोते हुए पुरुषके समान, गुणोंमें अनुगत होता है और भोगोंको
प्राप्त नहीं करता है उसे पुरुष कहते हैं । अर्थात् स्त्रीसमन्धी अभिलाषा जिसके पाई जाती है
उसे पुरुष कहते हैं । अथवा, जो श्रेष्ठ कर्म करता है वह पुरुष है ।

शङ्का—जिसके स्त्रीविषयक अभिलाषा पाई जाती है वह उत्तम कर्म कैसे कर
सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उत्तम कर्मको करनेरूप सामर्थ्यसे युक्त जीवके स्त्रीविषयक
अभिलाषा पाई जाती है, अतः वह उत्तम कर्मको करता है ऐसा कर्म उपचारसे किया है ।
कहा भी है—

जो उत्तम गुण और उत्तम भोगोंमें स्वामीपनेका अनुभव करता है, जो लोकमें उत्तम
गुणयुक्त कार्य करता है और जो उत्तम है उसे पुरुष कहा है ॥ १७१ ॥

जो न स्त्री है और न पुरुष है उसे नपुंसक कहते हैं, अर्थात् जिसके स्त्री और पुरुष
विषयक दोनों प्रकारकी अभिलाषा पाई जाती है उसे नपुंसक कहते हैं । कहा भी है—

१ तो जो २७४ गण मृदुमायितद्विग्धविश्रान्तावुल्लवनादिबुधलव्यापार । जी प्र टी

२ गी जो २७३ पुन्युणे सङ्कशानाधिगुणममृ । पुरुमा । नरदनागे द्रव्यशरीरमागम ।

३ गी जो २७२ पुरुषे सङ्कशानाधिगुणममृ । पुरुमा । नरदनागे द्रव्यशरीरमागम ।

सयताना ऋयं त्रिपेदसच्चमिति चेन्न, अव्यक्तपेदसच्चापेक्षया तत्र तथोक्तम् ।
सुगममन्यत् ।

वेदत्रयातीतजीवप्रतिपादनार्थमाह—

तेण परमवगदवेदा चेदि ॥ १०९ ॥

सर्वत्र च-शब्दः समुच्चये दृष्टव्यः एते च पूर्वोक्ताश्च मन्तीति । इति शब्दः सर्वत्र
ममाप्तौ परिगृहीतव्यः । सुगममन्यत् ।

देवादेशप्रतिपादनार्थमाह—

देवा चदुसु द्वाणेषु दुवेदा, इत्थिवेदा पुरिसवेदा ॥ ११० ॥

सानत्कुमारमाहेन्द्रादुपरि पुरुषपेदा एव । यत्नमन्तरेण तत्कथं लभ्यत इति चेत्
'तेण परमवगदवेदा चेदि' अत्रतन च शब्दो यतोऽनुक्तसमुच्चयार्थश्च तस्मात्सान-
त्कुमारादीनां पुपेदस्यमगमीयते । तिर्यङ्मनुष्यलब्धपर्याप्ताः सम्मूर्च्छिमपश्चेन्द्रियाश्च
नपुसका एव । असंख्येयपर्यायुपस्तिर्यश्चो मनुष्याश्च द्विवेदा एव, न नपुसकपेदाः इत्यादयोऽ-

शंका—सयतोके तीनों वेदोंका सत्य कैसे समभव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अव्यक्तरूपसे वेदोंके अस्तित्वकी अपेक्षा वहा पर तीनों
वेदोंकी सत्ता कहीं । शेष कथन सुगम है ।

अब तीनों वेदोंसे रहित जीवाके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नयं गुणस्थानके सपेद भागसे आगेके सभी गुणस्थानवाले जीव वेदरहित हैं ॥ १०९ ॥

सब जगह च शब्द समुच्चयरूप अर्थमें जानना चाहिये । अर्थात् वेदरहित और पहले
कहे हुए वेदवाले जीव होते हैं । इति शब्द सब जगह समाप्तिरूप अर्थमें ग्रहण करना
चाहिये । शेष कथन सुगम है ।

अब देवगतिमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

देव चार गुणस्थानोंमें स्त्री और पुरुष इसप्रकार दो वेदवाले होते हैं ॥ ११० ॥

सानत्कुमार और माहेन्द्र रूपसे लेकर ऊपर सभी देव पुरुषपेदी ही होते हैं ।

शंका—यत्नके बिना अर्थात् बिना आगम प्रमाणके यह बात कैसे जानी जाय ?

समाधान—'तेण परमवगदवेदा चेदि' इस सूत्रमें आया हुआ च शब्द अनुक्त
अर्थके समुच्चयके लिये है । इसलिये इससे यह जाना जाता है कि सानत्कुमार और माहेन्द्र
रूपसे लेकर ऊपरके देव एक पुरुषपेदी ही होते हैं ।

उसीप्रकार, लब्धपर्याप्तक तिर्यच और मनुष्य तथा सम्मूर्छिम पश्चेन्द्रिय जीव नपुसक
ही होते हैं । अमख्याय दर्पकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यच ये दोनों स्त्री और पुरुष ये दो

अत्र शेषेणामात्रः कुतोऽग्रमीयत इति चेत् 'सुद्धा णपुसगवेदा' इत्यापत् ।
पिपीलिकानामण्डदर्शनाच्च ते नपुसका इति चेन्न, अण्डानां गर्भे एवोत्पत्तिरिति नियमा-
भावात् । विग्रहगतो न वेदामात्रस्तत्राप्यव्यक्तप्रेदस्य मत्त्वात् ।

शेषतिरश्चा क्रियन्तो वेदा इति सङ्घितशिष्याशङ्कानिराकरणार्थमाह—

**तिरिक्त्वा तिवेदा असण्णिपचिदिय प्पहुडि जाव संजदासंजदा
त्ति ॥ १०७ ॥**

त्रयाणां वेदानां क्रमेणैव प्रवृत्तिर्निरूपेण पर्यायत्वात् । कषायवन्नान्तर्मुहूर्तस्यापिनो
वेदा आजन्मन आमरणात्तदुदयस्य मत्त्वात् । सुगममन्यत् ।

मनुष्यादेशप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा तिवेदा मिच्छाहट्टि प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥ १०८ ॥

शङ्का—चतुर्गिन्द्रियतत्त्वे जीवोऽपि शेष दो वेदाका अभाव है यह कैसे जाना जाय ?

समाधान—'एवेन्द्रियमे चतुर्गिन्द्रियतत्त्वं जीव शुद्ध नपुसकवेदी होते ह' इस
आर्षवचनमे जाना जाता है कि इनमें शेष दो वेद नही होते ह ।

शङ्का—चाट्टियोंके अण्डे देये जाते ह, इसलिये वे नपुसकवेदी नहीं हो सकते है ।

समाधान—अण्डोंकी उत्पत्ति गर्भमें ही होती है, ऐसा कोई नियम नहीं है ।

निशेपार्थ—माता पिताके शुक्र और शोणितसे गर्भधारणा होती है । इसप्रकार गर्भ
धारणा चाट्टियोंसे नही पाई जाती ह । अत उनके अण्डे गर्भज नहीं समझना चाहिये ।

विग्रहगतिमें भी वेदका जमाव नहीं है, क्योंकि, वहा पर भी अ पत्तप्रेद पाया जाता है ।

शेष तिर्यचाके स्थिते वेद होते है, इसप्रकारकी आज्ञासे शुक्त शिष्योंकी शङ्काके
दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यच अमग्नी एवेन्द्रियमे लेकर सयतासयत गुणस्थानतत्त्वं तीनों वेदोंमें शुक्त
होते ह ॥ १०७ ॥

तीनों वेदोंकी प्रवृत्ति क्रमसे ही होती है सुगमत् नहीं, क्योंकि, वेद पर्याय है । जैसे,
विधाक्षित कषाय केवल अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त रहती है, वैसे सभी वेद केवल एक अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त
ही नहीं रहते है, क्योंकि, जन्मसे लेकर मरणतक भी किसी एक वेदका उदय पाया जाता है ।
शेष कथन सुगम ह ।

मनुष्यगतिमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य मिथ्यागणि गुणस्थानसे लेकर अतिशुक्तिरक्षण गुणस्थानतत्त्वं तीनों वेदोंमें
होते हैं ॥ १०८ ॥

सयताना ऋथ त्रिपेदसत्त्वमिति चेन्न, अव्यक्तेदसत्त्वापेक्षया तत्र तथोक्तम् ।

सुगममन्यत् ।

वेदत्रयातीतजीनप्रतिपादनार्थमाह—

तेण परमवगदवेदा चेदि ॥ १०९ ॥

सर्वत्र च शब्द 'समुच्चये दृष्टव्यः एते च पूर्वोक्ताश्च मन्तीति । इति शब्दः सर्वत्र समाप्तौ परिगृहीतव्यः । सुगममन्यत् ।

देवादेशप्रतिपादनार्थमाह—

देवा चदुसु दृणेषु दुवेदा, इत्यिवेदा पुरिसवेदा ॥ ११० ॥

सानत्कुमारमोहन्द्रादुपरि पुरुषवेदा एव । यन्नमन्तरेण तत्कथं लभ्यत इति चेत् 'तेण परमवगदवेदा चेदि' अत्रतन च शब्दो यतोऽनुक्तसमुच्चयार्थश्च तस्मात्सान-
त्कुमारादीनां पुत्रेदसमन्वीयते । तिर्यग्मनुष्यलब्धपर्याप्ता, सम्मूर्च्छिमपश्चेन्द्रियाश्च नपुंसका एव । असंख्येयपर्यायुपस्थितिर्यश्चो मनुष्याश्च द्विपेदा एव, न नपुंसकवेदा, इत्यादयोऽ-

शका—सयनाके तीनां वेदाका मत्त कसे सभय है ?

ममाधान—नहीं, क्योंकि, अन्यत्वरूपसे वेदोंके अस्तित्वकी अपेक्षा वहा पर तीनां वेदोंकी सत्ता कही । शेष कथन सुगम है ।

अत्र तीनां वेदोंसे रहित जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नत्रै गुणस्थानके सत्वेद भागसे आगेके सभी गुणस्थानवाले जीव वेदरहित हैं ॥ १०९ ॥

सत्र जगह च शब्द समुच्चयरूप अर्थमें जानना चाहिये । अर्थात् वेदरहित और पहले कहे हुए वेदवाले जीव होते हैं । इति शब्द सत्र जगह समाप्तिरूप अर्थमें ग्रहण करना चाहिये । शेष कथन सुगम है ।

अत्र देवगतिमें त्रिशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

देव चार गुणस्थानोंमें स्त्री और पुरुष इसप्रकार दो वेदवाले होते हैं ॥ ११० ॥

सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पसे लेकर ऊपर सभी देव पुरुषवेदी ही होते हैं ।

शुक्रा—यन्त्रके बिना अर्थात् त्रिना आगम प्रमाणके यह बात कैसे जानी जाय ?

समाधान—'तेण परमवगदवेदा चेदि' इस सूत्रमें आया हुआ च शब्द अनुक्त अर्थके समुच्चयके लिये है । इसलिये इससे यह जाना जाता है कि सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पसे लेकर ऊपरके देव एक पुरुषवेदी ही होते हैं ।

उसीप्रकार, लब्धपर्याप्तक तिर्यच और मनुष्य तथा सम्मूर्छिमपश्चेन्द्रिय जीव नपुंसक ही होते हैं । अमख्यात वर्णकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यच ये दोनों स्त्री और पुरुष ये दो

नुक्तास्तन एवायमेया ।

वेदद्वारेण जीवपदार्थमभिधाय कृपायमुपेन जीवममासस्थाननिरूपणार्थमाह—

कसायाणवादेण अत्थि कोधकसाई माणकसाई मायकसाई
लोभकसाई अकसाई चेदि ॥ १११ ॥

कृपायिसामान्येनैकत्राहणनामप्येकवचन घटते क्रोधकृपायी मानकृपायी माया
कृपायी लोभकृपायी अकृपायीति । अथवा नेदमेकवचन 'एण सोहति सिद्धी णचता
गिरिवरस्स मिहरम्मि' इत्येवमादिग्रह्यतेऽपि एवमिधरूपोपलम्भादनेकान्तात् । अथ
स्यात्क्रोधकृपाय मानकृपाय मायाकृपाय लोभकृपाय, अकृपाय इति उक्तं य कृपायैभ्य
स्तद्वता भेदात् इति न, जीवैभ्य पृथक् क्रोधाद्यनुपलम्भात् । तयोर्मैदाभावे कथं
भिन्न तन्निर्देशो घटत इति चेन्न, अनेकान्ते तदभिरोधान् । अन्दनयाश्रयणे क्रोधकृपाय

वेदवाले होते हैं, नपुंसक नहीं होते हैं । इत्यादि अनुक्त अर्थ भी उन्हीं च शब्दमें जान लेना ।

वेदमार्गणाके द्वारा जीव पदार्थको कहकर अब कृपाय मार्गणाके द्वारा गुणस्वभावोंके
निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

कृपाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोधकृपायी, मानकृपायी, मायाकृपायी, लोभकृपायी और
कृपायरहित जीव होते हैं ॥ १११ ॥

कृपायी सामान्यकी अपेक्षा एक होनेके कारण बहुतका भी एकवचनके द्वारा कथन
बन जाता है । जैसे, क्रोधकृपायी, मानकृपायी, मायाकृपायी, लोभकृपायी और अकृपायी ।
अथवा, 'कोधकसाई' इत्यादि पद एकवचन नहीं हैं, क्योंकि, 'एण सोहति सिद्धी णचता
गिरिवरस्स मिहरम्मि' (अर्थात् गिरिवरके शिखरपर नृत्य करते हुए ये मयूर शोभा
पा रहे हैं ।) इत्यादि प्रयोगोंमें बहुत्वकी निश्चया रहने पर भी 'कोधकसाई' की तरह 'सिद्धी'
इसप्रकार रूपोंकी उपलब्धि होती है । इसलिये इसप्रकारके प्रयोगोंमें अनेकान्त समझना चाहिये ।

शंका—सूत्रमें क्रोधकृपायी आदिके स्थान पर क्रोधकृपाय, मानकृपाय, मायाकृपाय,
लोभकृपाय और अकृपाय कहना चाहिये, क्योंकि, कृपायासे कृपायवालोंमें भेद पाया जाता है ।

समाधान—नहीं, क्योंकि, जीवोंने पृथक् क्रोधादि कृपायें नहीं पाई जाती हैं ।

शंका—यदि कृपाय और कृपायवातमें भेद नहीं है तो भिन्न रूपसे उनका निर्देश कैसे
बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अनेकान्त भिन्न निर्देशके बन जानेमें भी कोई विरोध
नहीं आता है ।

विशेषार्थ—यद्यपि कृपायादि धर्म जीवको छोड़कर स्वतन्त्र नहीं पाये जाते हैं, इस

इति भवति तस्य शुद्धपृष्ठतोऽर्थप्रतिपत्तिप्रमाणत्वात् । अर्थनयाश्रयणे क्रोधरूपायीति स्वाश्रितोऽर्थस्य भेदाभावात् । कृपायिचातुर्विध्यात्कृपायस्य चातुर्विध्यमगम्यत इति वा । तथोपदिष्टमेवानुपदनमनुवादः कृपायस्य अनुवादः कृपायानुवादः तेन कृपायानुवादेन । प्रसिद्धस्यानुकथनमनुवादः । सिद्धासिद्धाश्रया हि कथामार्गा इति न्यायादनुवादोऽनर्थकोऽनभिगताधीगन्तृत्वाभावाद्देति न, प्रमाहरूपेणापौरुषेयत्वनस्तीर्वृत्तादयोऽस्य व्याख्यातार एव न कर्तार इति ज्ञापनार्थत्वात् । क. क्रोधकृपायः । रोप आमर्षः सरम्भः । रो मानकृपायः । रोपेण विद्यातपोजात्यादिभेदेन नान्यस्यानवति । निवृत्तिरश्वना मायाकृपायः । गर्हा काङ्क्षा लोभः । उक्तं च -

जिये जीउसे घे अभिन्न है । फिर भी धर्म धर्माभेदमे उनम भेद उन जाना है, अतएव भिन्न निदा करनेमें कोई आपत्ति नहीं आती है ।

अथवा, शब्दनयका आश्रय करने पर 'क्रोधकृपाय' इत्यादि प्रयोग बन जाते हैं, क्योंकि, शब्दनय शब्दानुसार अर्थज्ञान करनेमें समर्थ है । ओर अर्थनयका आश्रय करने पर 'क्रोध-कृपाय' इत्यादि प्रयोग होते हैं, क्योंकि, इस नयकी दृष्टिमें शब्दमे अर्थका कोई भेद नहीं है । अथवा, चार प्रकारके कृपायवान् जीव होते हैं । इससे कृपाय भी चार प्रकारकी है, ऐसा ज्ञान हो जाना है । इसलिये सूत्रमें 'क्रोधकृपायी' इत्यादि पदोंका प्रयोग किया है ।

जिमप्रकार उपदेश दिया है उसीप्रकारके क उन करनेको अनुवाद कहते हैं । कृपायके अनुवादको कृपायानुवाद कहते हैं । उससे अर्थात् कृपायानुवादसे जीव पांच प्रकारके होते हैं । अथवा, प्रसिद्ध अर्थका अनुकूल कथन करनेको अनुवाद कहते हैं ।

शंका — 'कथामार्ग' अर्थात् कथनपरंपराय प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध इन दोनोंके आश्रयसे प्रवृत्त होती है 'इस न्यायके अनुसार यथा पर अनुवाद अर्थात् केवल प्रसिद्ध अर्थका अनुकूल कथन करना निष्फल है, इससे अनभिगत अर्थका ज्ञान नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यह कथन प्रमाहरूपमे अपौरुषेय होनेके कारण तीव्रकर आदि इसके केवल व्याख्यान करनेवाले ही हैं कर्ता नहीं हैं, इस बातका ज्ञान करनेके लिये अनुवाद पदका कहना अनर्थक नहीं है ।

शंका—क्रोधकृपाय किसे कहते हैं ?

समाधान—रोप, आमर्ष और सरम्भ इन सबको क्रोध कहते हैं ।

शंका—मानकृपाय किसे कहते हैं ?

समाधान—रोपमे अथवा विद्या, तप और जाति आदिके मदमे दूसरेके निरन्काररूप भावको मान कहते हैं ।

निरति या चञ्चनाको मायाकृपाय कहते हैं । गर्हा या आकांक्षाको लोभ कहते हैं । यदा भी है—

मिउ पुत्रि भेन-धृडा-चल गर् समानओ हए मोहो ।
 नाग्य तिरिय-गगम गडमु उप्पायओ कमसो' ॥ १७४ ॥
 मगट्टि रुट्ट पेत्त गियभेणगुहगतओ माणा ।
 नाग्य तिरिय गगम गड मिसुपायआ कमसो' ॥ १७५ ॥
 तेलमृगमभय मिंग गामुत्तण्ण गारप्प ।
 मग्गिमी माया नाग्य तिरिय-गगमगु जण' निअ' ॥ १७६ ॥
 किमिगय चउ तणु म-हमद-गणण मग्गिमओ मोहो ।
 नाग्य तिरिय माणुम दसुपायआ कमसो' ॥ १७७ ॥

क्रोधरूपाय चार प्रकारका ह । प दरकी रेखाके समान, पृथिवीकी रेखाके समान, धूलिरेखाके समान अर जलरेखाके समान । ये चारों ही क्रोध प्रममे नरक, तिर्यच, मनुष्य अर देवगतिमें उत्पादन करानेवाले होते ह ॥ १७४ ॥

मान चार प्रकारका होता हे । पटरके समान, हड्डिके समान, काठके समान तथा येनके समान । ये चार प्रकारके मान भी प्रमसे नरक, तिर्यच मनुष्य और देवगतिमें उत्पादक ह ॥ १७५ ॥

माया भी चार प्रकारकी है । वासकी जडके समान, मेढरेके सींगके समान, गोमूत्रके समान तथा रुक्पाके समान । यह चार प्रकारकी माया भी प्रमसे जीवको नरक, तिर्यच मनुष्य और देवगतिमें ले जाती ह ॥ १७६ ॥

लैभकपाय भी चार प्रकारका हे । त्रिमिरागके समान, चक्रमलके समान, शरीरके मलके समान और हृद्दके रगके समान । यह भी प्रममे नरक, तिर्यच, मनुष्य अर देव, गतिका उत्पादक है ॥ १७७ ॥

१ गा जा २८४ तवडनिभुनका मयायपरिणतो चीव तवडपुपत्तिकारणतत्तदायुगयतुदयादि प्रज्ञावनाप्राप्त । अशक्तिंदा स्वायवाचा न तु पतिवाचा । यथा शिलादिमदानी चित्तराचिराशाप्रज्ञाप्रवर्तकालर्चना अनुसंधान न वाच तथाप्यदिशक्तिमुक्तवाचपरिणतो चावा पि तवाविषकालेर्विना धमाभ्यगमधानाहो न स्यात् इत्युपमनामयत मात्स्य प्रमवताति धान्यपाव । जा प्र या णमपुदविशालुगोदयराहमरिगा चउत्रिग का । १ क्रमावपदु जण'पविचवदा मग्गि चउत्रिग का । क अ १ २९

२ गा जा २८५ मलमनअट्टिदायजलदाममागो हवदि माणा ॥ कमावपदु निगिमलपावडडिअमे छधमवना मा । क अ १ ३०

३ गा जा २८६ वडाज'गुनरिगा म विमागवरिगा य गामुची । अवलह्णायमाणा माया वि वउत्रिगो मग्गि ॥ कमावपदु मागावडिगामुविमिअगिगववमिपुलममा । क अ १ ३०

४ गा जा २८७ किमिगतायमग्गो अत्तमअममा य पणुलेयमा । हाडिअवधमग्गो लाना वि

मकरूपायाभायोऽरूपायः । उक्त च —

अप्य-परोभय-व्यापण-व्यामजम-णिमित्त-काश्रान्ता ।

जेसि णथि कमाया अमला अकामाणो जात्रा' ॥ १७८ ॥

कपायाध्यानप्रतिपादनार्थमाह —

कोधकसाई माणकसाई मायकसाई एहांदिय-प्पहुडि जाव
अणियट्टि त्ति' ॥ ११२ ॥

यतीनामपूर्वकृष्णादीना कथं रूपायाम्स्तित्वमिति चेन्न, अव्यक्तरूपायापेक्षया
तथोपदेशात् । सुगममन्यत् ।

लोभस्याध्याननिरूपणार्थमाह —

सपूर्ण कपायोंके अभावको एकपाय कहते हैं । कहा भी है—

जिनके, स्वयं अपनेको दूसरेको तथा दोनोंको बाधा देने, ग्रन्थ करने और असयम
करनेमें निमित्तभूत श्रोत्रादि कपाय नहा हैं, तथा जो बाह्य ओर आभ्यन्तर मलसे रहित हैं
ऐसे जीवोंको एकपाय कहते हैं ॥ १७८ ॥

अब कपायमार्गणके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रियसे लेकर अनियुक्तिकरण गुणस्थानतक श्रोत्रकपायी, मानकपायी और माया
कपायी जीव होते हैं ॥ ११० ॥

शुक्रा—अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवाले साधुओंके कपायका अस्तित्व कैसे पाया
जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अव्यक्त कपायकी अपेक्षा वहा पर कपायोंके अस्तित्वका
उपदेश दिया है । शेष कथन सुगम है ।

अब लोभकपायके विशेष प्ररूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

चञ्चिहो भणिदो ॥ म्मायप्पहुड लोहो हल्लिद्धनणरुद्धमस्मिरागसामाणो । क प्र १ २०

१ गो जी २८९ यद्यपि उपसानकपायादिचतुर्गुणस्थानवतिनोऽपि अरूपाया जमलाश्च यथासमव
ष्टयमात्रमल्लरिदा सति तथापि तेषां गुणस्थानप्ररूपणयैव अरूपायत्वमिद्विरस्ताति ज्ञातं य । तथा, कस्यचित्तात्रम्य
श्रोत्रादिस्वायं स्वयं च यनहेतु स्वसिधमिवातादिबाधाहेतु हिंसायमयमहतुथ भवति । सम्यक्चिञ्चोम्य श्रोत्रादि
स्वायं परम्य स्वशब्दादेवाधनवचामयमहेतुभवति । कस्यचित्तात्रम्यश्रोत्रादिस्वायं स्वस्योरापि यथा
समव बाधननधनामयमहेतुभवति इति विभाग लोहानुसारेण जागमात्रुमारेण च दृष्टव्य । जा प्र टी

२ म्मायानुसदन काधमानमायासु मियाष्टादानि अनियुचिवादस्यानातानि सति । स सि १ ८

लोभकसाई एहंदिय पणहुडि जाव सुहुम-सांपराइय सुद्धि सजदा
त्ति ॥ ११३ ॥

शेषरूपायोदयविनाशे लोभकपायस्य विनाशानुपपत्तेः लोभकपायस्य सूक्ष्म
माप्परायोऽपिधिः ।

अरूपायोपलक्षितगुणप्रतिपादनार्थमाह—

अकसाई चदुसु हाणेषु अत्थि उवसंतकसाय-वीयराय-उदु
मत्था खीणकसाय-वीयराय-उदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि
त्ति ॥ ११४ ॥

उपशान्तरूपायस्य कथमरूपायत्वमिति चेत्, कथं च न भवति? द्रव्यरूपायस्या-
नन्तस्य सत्त्वात् । न, रूपायोदयाभावापेक्षया तस्याकपायत्वोपपत्तेः । सुगममन्यत् ।
कपायश्चादृश-किमिति नोक्तमिति चेन्न, विशेषाभावात्तोऽनेनैव गतार्थत्वात् ।

लोभकपायमेव युक्तं जीव एकेन्द्रियासे लेकर सूक्ष्मसांपरायसुद्धिसयत गुणस्थान
तत्र हाते ह ॥ ११५ ॥

शेष कपायके उद्यके नाश हो जाने पर उसीसमय लोभकपायका विनाश बन
नहीं सकता ह, इसलिये लोभकपायकी अन्तिम मर्यादा सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान हे ।

कपायरहित जीवासे उपलक्षित गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

कपायरहित जीव उपशान्त कपाय चीतराम छन्नस्थ, क्षीणकपाय चीतराम छन्नस्थ,
सयोगिकेवली आर अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानोंमें होते हैं ॥ ११६ ॥

शंका—उपशान्तरूपाय गुणस्थानको कपायरहित कैसे कहा ?

प्रतिशब्द—यह कपायरहित क्यों नहीं हो सकता ह ?

शंका—यहां अनन्त द्रव्यकपायका सद्भाव होनेसे उसे कपायरहित नहीं कहा
सकने है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कपायके उद्यके अभावकी अपेक्षा उसमें कपायोंसे रहित
पना बन जाता है । शेष कथन सुगम है ।

शंका—कपायका विशेष (मार्गणाओंमें) कथन क्या नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कपायोंके सामान्य कथनसे उनका मार्गणाओंमें कथन कर
नेमें कोई विशेषता नहीं है, इसीसे उसका ज्ञान हो जाता है । इसलिये आदेश प्ररूपणा नहीं की

ज्ञानद्वारेण जीवपदार्थनिरूपणार्थमाह—

णाणानुवादेण अरिथ मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी विभंग-
णाणी आभिणिचोहियणाणी सुदणाणी ओहिणाणी मणपज्जव-
णाणी केवलणाणी चेदि ॥ ११५ ॥

अत्रापि पूर्ववत्पर्यायपर्यायिणो कथञ्चिदभेदात्पर्यायिग्रहणेऽपि पर्यायस्य ज्ञानस्यैव ग्रहणं भवति । ज्ञानिना भेदाद् ज्ञानभेदोऽप्रगम्यत इति वा पर्यायिद्वारेणोपदेशः । ज्ञानानुवादेन कथमज्ञानस्य ज्ञानप्रतिपक्षस्य सम्भव इति चेन्न, मिथ्यात्वसमवेतज्ञानस्यैव ज्ञानकार्याकरणादज्ञानव्यपदेशात् पुनस्त्यैव पुन्रकार्याकरणादपुन्रव्यपदेशवत् । किं तद्-ज्ञानकार्यमिति चेत्तरार्थे रुचिः प्रत्ययः श्रद्धा चारित्र्यस्पर्शनं च । अथवा प्रधानपद-माश्रित्याज्ञानानामपि ज्ञानव्यपदेशः आम्रयनमिति यथा । जानातीति ज्ञान साकारोप-योगः । अथवा जानात्यज्ञानीज्ज्ञास्यत्यनेनेति ना ज्ञान ज्ञानावरणीयकर्मणः एकदेश-प्रवृत्त्यात् समुत्पन्नात्मपरिणामः क्षायिको ना । तदपि ज्ञानं द्विषिधम्, प्रत्यक्ष परोक्षमिति ।

अत्र ज्ञानमार्गणाके द्वारा जीव पदार्थके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

ज्ञानमार्गणाके अनुवादसे मति अज्ञानी श्रुताज्ञानी, विभगज्ञानी, आभिनिचोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अग्रधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी, ओर केवलज्ञानी जीव होते हैं ॥ ११५ ॥

यहां पर भी पहलेकी तरह पर्याय और पर्यायोंमें कथञ्चित् अमेद् होनेसे पर्यायोंके ग्रहण करने पर भी पर्यायरूप ज्ञानका ही ग्रहण होता है । अथवा, ज्ञानी कितने प्रकारके होते हैं इस बातके समझ लेनेसे ज्ञानके भेदोंका ज्ञान हो जाता है । इसलिये पर्यायोंके कथन द्वारा यहां पर उपदेश दिया है ।

शंका—ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे ज्ञानके प्रतिपक्षभूत अज्ञानका ज्ञानमार्गणामें कैसे संभव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मिथ्यात्वसहित ज्ञानको ही ज्ञानका कार्य नहीं करनेसे अज्ञान कहा है । जैसे, पुनोचित कार्यको नहीं करनेवाले पुत्रको ही अपुत्र कहा जाता है ।

शंका—ज्ञानका कार्य क्या है ?

समाधान—तत्त्वार्थम रुचि, निश्चय, श्रद्धा ओर चारित्र्यका धारण करना ज्ञानका कार्य है । अथवा, प्रधानपदकी अपेक्षा अज्ञानको भी ज्ञान कहा जाता है । जैसे, जिस वनमें आमके वृक्षोंकी बहुलता होती है उसे आम्रयन कहा जाता है ।

जो जानता है उसे ज्ञान कहते हैं । अर्थात् साकार उपयोगको ज्ञान कहते हैं । अथवा, जिसके द्वारा यह आत्मा जानता है, जानता या अथवा जानेगा, ऐसे ज्ञानावरण कर्मके एकदेश क्षयसे अथवा संपूर्ण ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुए आत्माके परिणामको ज्ञान कहते हैं ।

परोक्ष द्विविधम्, मति श्रुतमिति । तत्र पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च यदर्थग्रहण तन्मतिज्ञानम् । तदपि चतुर्विधम्, अवग्रह ईहा अत्रायो धारणा चेति । निषयविषयिसंनिपात समनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः । अवग्रहीतस्यार्थस्य निषेपाकाङ्क्षगमीहा । ईहितस्यार्थस्य निश्चयोऽत्राय । कालान्तरेऽप्यस्मिन्मरणमस्काङ्क्षजनकं ज्ञानं धारणा । अत्राय चतुर्विंशतिविधं मतिज्ञानम् । तद्यथा, चातुष च चतुर्विधं मतिज्ञानमवग्रह ईहात्रायो धारणा चेति । एव शेषाणामपि इन्द्रियाणां मनश्च गान्धर्वम् । अत्राय अष्टाविंशतिविधम् । तद्यथा, अवग्रहो द्विविधोऽर्थवग्रहो व्यञ्जनानवग्रहेति । कोऽर्थवग्रहश्चेदप्राप्तार्थग्रहणमर्थवग्रहः ।

यह ज्ञान दो प्रकारका है, प्रत्यक्ष और परोक्ष । परोक्षके भी दो भेद हैं, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान । उनमें पांच इन्द्रियाँ और मनसे जो पदार्थका ग्रहण होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं । यह मतिज्ञान चार प्रकारका है, अवग्रह, ईहा, अत्राय और धारणा । विषय और विषयीके सम्बन्ध होनेके अनन्तर समयमें जो प्रथम ग्रहण होता है उसे अवग्रह कहते हैं । अवग्रहसे प्रथम किये गये पदार्थके निषेधको जाननेके लिये अभिलाषरूप जो ज्ञान होता है उसे ईहा कहते हैं । ईहाने द्वारा जो गये पदार्थके निश्चयरूप ज्ञानको अत्राय कहते हैं । कालान्तरमें भी निस्मरण न होनेरूप स्मरणके उत्पन्न करनेवाले ज्ञानको धारणा कहते हैं ।

अथवा, मतिज्ञान चातुष प्रकारका होता है । इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है, चतुर् इन्द्रियसे उत्पन्न होनेवाला मतिज्ञान चार प्रकारका है, अवग्रह, ईहा, अत्राय और धारणा । इसीप्रकार शेष चार इन्द्रियोंसे जो मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी अवग्रह, ईहा, अत्राय और धारणाने भेदसे चार चार प्रकारका होता है इसप्रकार ज्ञान करना चाहिये । इसप्रकार ये सब मिलकर चौबीस भेद हो जाते हैं । अत्राय, मतिज्ञान अष्टाईस प्रकारका होता है । उसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है । अवग्रह दो प्रकारका होता है, अर्थवग्रह और व्यञ्जनावग्रह ।

शुद्धा—अर्थवग्रह किसे कहते हैं ?

समाधान—अप्राप्त अर्थके ग्रहण करनेको अर्थवग्रह कहते हैं ।

१ विषयविषयिसंनिपातमवग्रहमवग्रह । तत्र नि १ १५ विषयविषयिसंनिपात सति दक्षतं भवति तदनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रह । तत्र नि १ १५ विषयविषयिसंनिपातानन्तरमाद्य ग्रहणमवग्रह । विषय स्तोत्रद्वयपराधामाद्य विषयिणा द्रव्यमात्रादियं अवग्रहणं यावत्तत्क्षणं तदनन्तरभूतं समाप्तं दक्षतं स्वविषयं व्यवस्थापनविषयपरं परिणामं प्रतिपद्यते वग्रहः । लघावग्रहं त्रयो वृत्तिं पृ २ प्र प १-३ । तत्रान्यत्र यत्रास्मिन्निषेधवाक्यामात्राज्ज्ञानावग्रहणमवग्रहः । तत्रापि मा १ १५ विषयविषयिसंनिपातानन्तरममुदभूतमता मानवावग्रहं ज्ञानमाद्यमवातरमात्रावाक्यावशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः । प्रमाणनयनं २ ७ अत्राययोगे दक्षता न तत्रमवाग्रहणमवग्रहः । प्रमाणमा १ १ ०७

२ एषां विषयविषयिसंनिपातं विशेषावग्रहमात्रं १७९, त ३५० भाषात यावत् दृष्टव्यम् । उमाहा एक समय ईहाका मुद्रात्मन तु । कालमस्य मय च धारणा होइ नायव्या ॥ आ नि ४

को व्यञ्जनावग्रहः ? प्राप्तार्थग्रहण व्यञ्जनावग्रहः । तत्र चक्षुर्मनमोर्यावग्रह एव
तयोः प्राप्तार्थग्रहणानुपलम्भात् । अेषाणामिन्द्रियाणां द्वावप्यवग्रहौ भवतः । शेषेन्द्रियेष्व-
प्राप्तार्थग्रहणं नोपलभ्यत इति चेन्न, एकेन्द्रियेषु योग्यदेशस्थितनिधिषु निविध्यतप्रदेश

शका—व्यञ्जनावग्रह किसे कहते हैं ?

समाधान—प्राप्त अर्थके ग्रहण करनेको व्यञ्जनावग्रह कहते हैं ।

उन्मेष, चक्षु और मनसे अर्थवग्रह ही होता है, क्योंकि, इन दोनोंमें प्राप्त अर्थका
ग्रहण नहीं पाया जाता है । शेष चारों ही इन्द्रियोंके अर्थवग्रह और व्यञ्जनावग्रह ये दोनों भी
पाये जाते हैं ।

शका—शेष इन्द्रियोंमें अप्राप्त अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है, इसलिये उनसे
अर्थवग्रह नहीं होना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, एकेन्द्रियोंमें उनका योग्य देशमें स्थित निधिवाले प्रदेशमें

१ व्यञ्जनम यत्तं गन्धादिनां तस्यावग्रहो भवति । × × ननु अवग्रहग्रहणसमयं तु यत्तं किञ्चित्तोऽयं
विषयः । भावग्रहणं जनावग्रहो यत्तं गन्धो विशेषः । कथम् ? अस्मिन्वस्तुताद्वाराग्रहणम् । यथा जलं न
क्षिप्रमिति शरीरोऽस्मिन् नो नास्ति भवति, स एव पुनः पुनः मिथ्यमानः शनैस्तिम्यत, एव योनादिष्विन्द्रियेषु
गन्धादिपरिणतां पुच्छादिनां विषयेषु समयेषु गृह्यमाना न व्यन्ताभवति, पुनः पुनरावग्रहं सति व्यन्ताभवति । अतो
व्यञ्जनावग्रहोऽप्यवग्रहः । व्यन्तावग्रहोऽप्यवग्रहः । स मि १ १८ । त रा वा १ ५८ सा २ अथान्न
गन्धादिनां व्यन्तावग्रहः । तस्यावग्रहोऽप्येति नियमोऽवग्रहः ॥ त भो वा १ १८ २ × × इन्द्रिये
प्राप्तार्थविवेकग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः । तस्यावग्रहोऽप्यवग्रहः । यजनं यजतं गन्धादिनां इति तत्प्राप्तार्थ
विवेकग्रहणं प्राक्तं यजमानेन यजमानेन सह सगन्धमिति चेदुच्यते, विगतं-जननं-अभि-यनियस्य तं व्यजनम् । य-यते
ग्रहणे प्राप्ते इति व्यजनम् । अत्र गन्धमिति ग्रहणमिति व्यन्तिग्रहणार्थव्याख्या । गन्धाद्यवग्रहोऽप्यवग्रहः
प्राप्तार्थविवेकग्रहणं व्यन्तावग्रहः । व्यन्तावग्रहोऽप्यवग्रहः । एतन्नामलक्षणमिदं नूतनसंज्ञकम् । पुनरभि-यतां सत्तां म एवार्था
भवति । गो जा, जा प्र, टी ३०७ × × अथान्न इत्यर्थः । अस्यावग्रहणं अर्थवग्रहः, मन्त्रव्याख्यादिनिषेधनि
पेक्षानिर्देशव्याख्यायामवग्रहणं गन्धव्यञ्जनमित्यर्थः । तथा य-यते जनैर्नाथं प्रदापेनेन घट इति व्यञ्जनम्, तद्वत्
फलौघस्वरं श्रोत्रादेः गन्धादिपरिणतद्रव्याणां च परस्परं सम्बन्धः, सम्बन्धे हि सति सोऽयं गन्धादिर्न्यपि श्रोत्रादी
त्रिणां व्यञ्जयितुं शक्यते नायथा, तत् सम्बन्धा व्यजनम् । × × व्यञ्जनं-सम्बन्धेनावग्रहणं सम्बन्धमानस्य
गन्धादिपरिणतव्याञ्जनरूपं परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रहः । अथवा य-यते इति यजनानि, वृद्धगुणमिति वचनात्
कथमवग्रहः, यजनानां गन्धादिरूपतया परिणतां द्रव्याणामुपकरणैर्द्रव्यमप्राप्तानामवग्रहः अयत्तरूपं परिच्छेदा
व्यञ्जनावग्रहः । × × इयमन् भवान् उपरलोऽयं द्रव्याणां परिणतद्रव्यसम्बन्धे प्रथममप्राप्तार्थव्याञ्जनं प्राप्त्वा
समस्तप्राप्तार्थद्रव्याणामिव गन्धादिव्यमन्वयमाविवेकाच्चिदयानां ज्ञानमाना सा व्यञ्जनावग्रहः, स चात
स्तत्तन्मात्रम् । न ह्यु १६८ १ कोषावग्रहः व्यञ्जनावग्रहो वा ? अप्राप्तार्थवग्रहणमर्थवग्रहः । प्राप्तार्थवग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः ।
न स्पष्टावग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः । तयोश्चक्षुर्मनसोऽपि सत्यतस्तत् व्यञ्जनावग्रहस्य सत्यप्रमाणद्वस्तुत्वेन, न चक्षुःसि,

एष ग्रारोहमुत्पन्नधनुषपचित्' स्पर्शनस्याप्राप्तार्थग्रहणसिद्धेः । अपेन्द्रियाणामप्राप्तार्थ
ग्रहण नोपलभ्यत इति चेन्माभूदुपलम्भस्तथापि तदस्येयम् । यद्युपलम्भस्त्रिकालगोचरमशेष
पर्यच्छेत्यदनुपलब्धस्याभागेऽभविष्यत् । न चैवमनुपलम्भात् । न कात्स्न्येनाप्राप्त
मर्थस्यानिःसृतत्वमनुक्तत्वं वा नृमहे यतस्तदग्रहादिनिदानमिन्द्रियाणामप्राप्यकारित्व

ही अनुरोका फैलाव अन्यथा घन नहीं सरुता है, इसलिये स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका
ग्रहण करना, अर्थात् अर्थावग्रह, घन जाता है ।

शुका—इसप्रकार यदि स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना घन जाता है
तो घन जाये । फिर भी शेष इन्द्रियोंके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना नहीं पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यदि शेष इन्द्रियोंसे अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना क्षयो
पशमिक ज्ञानके द्वारा नहीं पाया जाता है तो मत पाया जावे । तो भी वह है ही, क्योंकि, यदि
हमारा ज्ञान त्रिजालगोचर समस्त पदार्थोंको जाननेवाला होता तो अनुपलब्धता अभावा सिद्ध
हो जाता, अर्थात् हमारा ज्ञान यदि सभी पदार्थोंको जानता तो कोई भी पदार्थ उसके लिये
अनुपलब्ध नहीं रहता । किन्तु हमारा ज्ञान तो त्रिजालगोचर पदार्थोंको जाननेवाला है नहीं,
क्योंकि सर्व पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानकी हमारे उपलब्धि ही नहीं होती है । इस कथनसे
यह सिद्ध हुआ कि शेष इन्द्रिया अप्राप्त पदार्थोंको ग्रहण करती हैं इस बातको यदि हम न
भी जान सकें, तो भी उसका निषेध नहीं किया जा सकता है ।

दूसरे, पदार्थके पूरी तरहसे अनिसृतपनेको और अनुत्पत्तपनेको हम अप्राप्त नहीं
कहते हैं । जिससे उनके अग्रप्रहादिका कारण इन्द्रियोंका अप्राप्यकारीपना होये ।

त्रियाण्यामिति तत्र यजतावमस्य प्रतिषेधात् । न ज्ञानग्रहण यजनाग्रहण चतुमनवापि तदलित्वत तयो र्यनानाग्रहण
स्वप्नप्रमाणान् । न च तत्र ज्ञानग्रहणमसिद्धमभिप्रमगामान् अष्टचत्वारिंशं चक्षुमतिज्ञानमदभ्यामस्वप्नप्रमाणान् । न आवादादियं
चतुष्टयं चावग्रहं तत्र प्राप्तिस्थित्यस्य ग्रहणापलम्भान् इति चेत्, घनस्पर्शनप्राप्तग्रहणस्यापलम्भात् । तदपि बुद्ध्या
गम्यत ? दूरस्थनिबिडुमिन्द्रिया प्राप्तिस्थित्यस्य यथावत्पत्त । चत्वारिंशं धनुमयाह चउसङ्कस्य च तद् य धनुहाण । पाम स्ते
य गधं दुगुणा दुगुणा असंखिंति ॥ ४४ ॥ इति आगमादौ तपामप्राप्तावग्रहणमवगम्यन् । नवयोजनानांतरास्वित्तुदल
मव्यस्तर्धेदशमागम्येन्द्रियसंबन्ध जानतानि वचिदावर्तते तत्र घटते, जवानिरूपणाया वचं यप्रसगात् । न च वान
द्रव्यात्प्राप्तस्वस्य कारण स्वग्रहणापरिमाणेन भूयो याननामे तत्तत्रामृतनातापलम्भतो-नेकीतात् । किंच यदि
प्राप्तावग्रहण्यत्रात्राण्यजाननिरूपणमतरं प्र यप्रमाणरूपणमभावरित्यन चेत् यथावत्पलम्भात् ॥ किंच नवयोजनानांतर
पितानिबिडुमिन्द्रिया तीनस्पर्शमस्त्रयापशमानां दाहमरण स्यातां प्राप्तावग्रहणात् तावमानाव्यानस्वित्तावचिमक्षणात्तद्वैव
अनितद्वैव खे च तत् पूर स्यातां । पुष्टं सृणुं सद् अपठ यं पस्सदे रूप । गध रस च पाम बद्ध पुष्ट च जाणादि ॥
इत्यस्मात् सूत्राप्रस्तावमादित्वमिन्द्रियाणामवगम्यन् इति चेत्, जवावग्रहस्य लक्षणाभावात् सूत्रविधानस्यैवामावप्रसगात् ।
कथं पुनस्तस्या गायाया अथा व्याग्यायने ? उत्थयते, रूपमस्पष्टमेव चपुष्टुहति च शब्दामनस्य । गध रस स्पष्ट च
बद्ध स्वक स्वकेन्द्रियेषु नियमित पुष्ट स्पष्ट च शब्दादस्पष्टं च शब्देन्द्रियाणि ग्रहति । पृष्ठं मणइ सद् इत्यनापि बद्ध च
शब्दो वाया अथवा दुव्याग्यानतापते । धवला ६९८-६९९

मिति । किं तर्हि ? कथं चक्षुरनिन्द्रियाभ्यामनिःसृतानुक्ताग्रहादि. तयोरपि प्राप्य-
कारित्वप्रसङ्गादिति चेन्न, योग्यदेशानस्थितेरेव प्राप्तेरभिधानात् । तथा च रसगन्ध-
स्पर्शानां स्वग्राहिभिरिन्द्रियैः स्पष्ट स्वयोग्यदेशानस्थितिः शब्दस्य च । रूपस्य चक्षुषाभि-
मुखतया, न तत्परिच्छेदिना चक्षुषा प्राप्यकारित्वमनिःसृतानुक्ताग्रहादिसिद्धेः । किं च
तेनाभिहितेनानुक्ताग्रहः, यथा दध्नी गन्धग्रहणकाल एव तद्वसोपलम्भः । नियमित-
धर्मनिश्चितस्तुनो रस्तेरुदेशस्य वा ग्रहणमुक्ताग्रहः । सोऽयमित्यादि दुर्गाग्रहः । न
सोऽयमित्याद्यधुनाग्रहः । एतमीहादीनामपि योज्यम् । सर्वाण्येतानि मतिज्ञानम् ।

शब्दधर्मादिभ्यो 'स्यन्तरागमः श्रुतज्ञानम्' । तत्र शब्दलिङ्गज द्विधमङ्गमङ्गनाद्य

शङ्का — तो फिर अप्राप्यकारीपनेसे क्या प्रयोजन है ? और यदि पूरी तरहसे
अनि स्तुत्य और अनुक्तत्वको अप्राप्त नहीं कहते हो तो चक्षु और मनसे अनि स्तु और
अनुक्तके अवग्रहादि कैसे हो सकेंगे ? यदि चक्षु और मनसे भी पूर्वोक्त अनि स्तु और अनुक्तके
अग्रहादि माने जावेंगे तो उन्हें भी प्राप्यकारित्वका प्रसंग आ जायगा ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, इन्द्रियोंके ग्रहण करनेके योग्य देशमें पदार्थोंकी अवस्थि-
तिको ही प्राप्ति कहते हैं । ऐसी अवस्थामें रस, गन्ध और स्पर्शका उनको ग्रहण करनेवाली
इन्द्रियाँके साथ अपने अपने योग्य देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट ही है । शब्दका भी उसको ग्रहण
करनेवाली इन्द्रियके साथ अपने योग्य देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है । उसीप्रकार रूपका चक्षुके
साथ अभिमुखरूपसे अपने देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है, क्योंकि, रूपको ग्रहण करनेवाले चक्षुके
साथ रूपका प्राप्यकारीपना नहीं घनता है । इसप्रकार अनि स्तु और अनुक्त पदार्थोंके अव-
ग्रहादिक सिद्ध हो जाते हैं ।

उपर कहे हुए कथनानुसार अनुक्ताग्रह यह है । जैसे, दहीके गन्धके ग्रहण करनेके
कालमें ही दहीके रसकी भी उपलब्धि हो जाती है । निश्चित धर्मोंसे युक्त वस्तुका अथवा
वस्तुके एकदेशका ग्रहण करना उक्ताग्रह है । 'वह यही है' इत्यादि प्रकारसे ग्रहण करनेको
धुवाग्रह कहते हैं । 'वह यह नहीं है' इत्यादि प्रकारसे ग्रहण करनेको अधुवाग्रह कहते
हैं । इसीप्रकार ईहादिसम्बन्धी उक्त अनुक्त आदिको भी जानना चाहिये । इन सभी भेदोंको
मतिज्ञान कहते हैं ।

शब्द और धर्मादिक लिंगके द्वारा जो एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका ज्ञान होता है उसे
श्रुतज्ञान कहते हैं । उनमें शब्दके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाला श्रुतज्ञान दो प्रकारका है, अग

१ प्रतिपु 'मामादिभ्यो' इति पाठ ।

२ अग्रगृहादिधारणापरतमदिगणनेण अवगम्यवादी जण्णवावगमो सुदण्ण । तं च दुग्घं, सहलिंगज
अपरलिंगज चेदि । धमलिंगादो जलणागमो अपरलिंगजो । अतो मदलिंगजो । किं लस्यण लिं ? जण्णवाशुन
पत्तिलस्यण । घाला अ पृ ११७१

मिति । अङ्गुत द्वादशविधम् । अङ्गुत चतुर्दशविधम् । प्रत्यक्ष त्रिविधम्, अप्रधिज्ञान मन पर्ययज्ञान केवलज्ञानमिति । साक्षान्मूर्तशेषपदार्थपरिच्छेदकमवविज्ञानम् । साक्षान्मन समादाय मानमार्थानां साक्षात्करण मन पर्ययज्ञानम् । साक्षात्त्रिकालगोचराशेषपदार्थ परिच्छेदक केवलज्ञानम् । मिथ्यात्वसमयेतमिन्द्रियज्ञान मत्यज्ञानम् । तेनैव समयेत शब्द प्रत्यय श्रुतज्ञानम् । तत्समयेतमप्रधिज्ञान त्रिभङ्गज्ञानम् । उक्तं च—

त्रिसन्त कृष्ट पञ्च त्रयादिसु विधुपदेम-करणेण ।

जा तलु पञ्चत्त मदी मदि अण्णाणे त्ति त वेत्ति ॥ १७९ ॥

आभीयमासुरक्खा भारह रामायणादि उपमा ।

तु ठा असाहणाया मुद अण्णाणे त्ति त वेत्ति ॥ १८० ॥

ओर अगवाह । अगधुन बाग्द प्रस्तरका ह ओर अगवाह चोदह प्रस्तरका द्वे ।

प्रत्यक्षज्ञानके तीन भेद हैं, अप्रधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान ओर केवलज्ञान । सपूर्ण मूर्त पदार्थोंको साक्षात् जाननेवाले ज्ञानको अप्रधिज्ञान कहते हैं । मनका आश्रय लेकर मनोगत पदार्थोंको साक्षात्कार करनेवाले ज्ञानको मन पर्ययज्ञान कहते हैं । त्रिकालके विषयभूत समस्त पदार्थोंको साक्षात् जाननेवाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं ।

इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वसमयेत ज्ञानको मत्यज्ञान कहते हैं । शब्दके निमित्तसे जो एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका मिथ्यात्वसमयेत ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । मिथ्यादर्शनसमयेत अप्रधिज्ञानको विभगज्ञान कहते हैं । कदा भी है—

हस्तेके उपदेश बिना विषय, यत्र, कृष्ट, पञ्च तथा यत्र आदिके विषयमें जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं ॥ १७९ ॥

घोरशास्त्र, द्विंसाशास्त्र, भारत ओर रामायण आदिसे तुच्छ ओर साधन करनेके अयोग्य उपदेशोंको श्रुतज्ञान कहते हैं ॥ १८० ॥

१ अपरायच नाण पच्चक्कं त्रिविधाहिमास्य । न परतो जायत तं पारायणं वयं स व ॥ बु क सू २९

२ त मणपञ्चवनाण जेण विषाणाइ सतिपाणा । दहु मणिजमाण मणदत्त माणम भाव । बु व सू ३१

३ दत्तादिनिमित्तविषयं कल्लमेगं तु कल्लमाण । जणिवारियवावार अग्रममित्रिपिय नियत । बु क सू ३८

४ गा जी ३०३ उपदेशपूर्वकं श्रुतज्ञानं वयमगात् । उपदेशाकिंयां विना यदीशमहापोहविनित्पा म

हिंसापुनस्तेषां प्रतीतिप्रकारण आतरोद्वेष्टानकारण शयदङ्गारनसज्ञापयस्वपरिणामकारण च इन्द्रियमनोनितावश्यं ग्रहण्य मिथ्याज्ञानं त मत्यज्ञानमिति निश्चयम् । जा प्र टी

५ गा जी ३०४ आ समताद्गता जाभीता चारा तच्छास्त्रमप्याभत । अस्व प्राणा तेषां रक्षा वेत्त्य ते अमुंशा तत्त्वा तथा शास्त्रमासुरस । आदिशब्दापद्यमिथ्यादर्शनद्वेषितसर्ववैना तवादित्स्वच्छा रपितयाप्रवध भुवनकाष्ठि नापाणादिदूररश्म निदं जयावारादितप रमपात्पदावपदपदावमावनामिधिनियोगमूत तलु द्यपच विवर्तिन वनमा त्वचतुरागमयविज्ञानाद्वतमव गय वादिप्रतिपादनागमाभामजानीत श्रुतज्ञानमाम तत्तत्तर्वा श्रुतज्ञानमिति निश्चयः, दृष्टेष्टानिश्चयः तत्तत्तत्तत् । टी प्र टी

विनरीयमाहिणाण खड्डुनममिय च कम्म वीज च ।

वेमगो ति पउच्चइ समत्त गाणीहि समवग्धि^१ ॥ १८१ ॥

अभिमुह गियमिय-ओहणमाभिणिनोहियमणिदि इदियज ।

नहु-ओगहाणा खलु कय-उत्तीस ति सय-भेय^१ ॥ १८२ ॥

अत्थादो अत्यनर-उत्तभो त भणति सुदणाण ।

आभिणिनोहिय-पुब्ब गियमेणिह सउज पमुह^१ ॥ १८३ ॥

अउहीयटि ति ओही सीमाणाणे ति उणिणद समए ।

भन-गुण-पच्चय त्रिहिय तमोहिणाणे ति ण रेंति^१ ॥ १८४ ॥

सर्वत्रांके द्वारा आगममे धयोपशमजन्य और मिथ्यात्वादि कर्मके कारणरूप विपरीत अवधिज्ञानको विभग ज्ञान कहा है ॥ १८१ ॥

मन और इन्द्रियोंकी सहायतासे उत्पन्न हुए अभिमुग और नियमित पदार्थके ज्ञानको आभिनिनोधिक ज्ञान कहते हैं । उसके बहु आदिक बारह प्रकारके पदार्थ और अवग्रह आदिकी अपेक्षा तीनसौ छत्तीस भेद हो जाते हैं ॥ १८२ ॥

मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थके अपलम्बनमे तत्सम्बन्धी दूसरे पदार्थके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान नियमसे मतिज्ञानपूर्वक होता है । इसके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक अथवा शब्दजन्य और लिङ्गजन्य इसप्रकार दो भेद हैं । उनमें शब्दजन्य श्रुतज्ञान मुख्य है ॥ १८३ ॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा जिस ज्ञानके विषयकी सीमा हो उसे अवधि ज्ञान कहते हैं । इसीलिये परमाणुममे इसको सीमाज्ञान कहा है । इसके भगप्र पय और गुण प्रत्यय इसप्रकार जिनेन्द्रदेवने दो भेद कहे हैं ॥ १८४ ॥

१ गो जा ३०२ विशिष्टस्य अवधितानस्य भग विपयय विभग इति निरुत्तिमिद्वाधस्येव अनेन प्ररु-
पितस्वार् । जी प्र टी विरुद्धो विनयी वा अयथा वस्तुमगो वस्तुविरुद्धो यस्मिस्तद्विभग, तच्च तन्ज्ञान च
वारात्वादिनि विमज्जज्ञान मिथ्यात्वसहितोऽधिधिरित्यर्थ । सू ५४२ (अग्नि रा को विभगणाण)

२ गो जी ३०६ स्थूलवनमानयाग्यदशावस्थितोऽध अमिपुए, अय्येत्त्रियस्य अयमेवाध इत्यवधारिता
नियमित । अग्निमुपधायां नियमितधायां अमिपुएनियमित । तस्यायस्य बोधन अग्निनिनोधिक मतिज्ञानमित्यर्थ ।
जा प्र टी

३ गो जी ३१५ जावोऽन्तापुने जीनोऽस्तानि शब्दज्ञान आग्नेन्द्रियप्रभव मतिज्ञान भवति । ज्ञानेन
जावोऽस्तानि शब्दाव्यवस्थे आमाप्तिरे काच्यरादस्यवधसकृतमङ्गलपूर्वक यः ज्ञानमुपयते तदक्षरामक ध्रुतज्ञान
भवति, अक्षरामक दमपुनवन काय कारणोपचारात् । वातशीतस्वस्तानेन वातप्रवृत्तिरस्य तत्सत्त्वे अमनोज्ञान
मनक्षरामक लिङ्गन ध्रुतज्ञान भवति, शब्दपूर्वस्वाभावात् जी प्र टी

४ गो जा ३०० जवाग्धानादतिष्ठानविषयाद्वा जवाधि । स मि १ ९
अवधितानवरणयोगशमामुनयपुनयविधाने सत्यवधीयतेवाग्दवायवागानमान वावाधि । अवधिशब्दोऽध

चिन्तियमचितिय वा अद्र चितियमणेय भेय च ।

मणपन्न ति उच्चइ ज जाणइ त सु णर छोए' ॥ १८५ ॥

सपुण्य तु समग केउलमसरत्तन्मव भाव विद ।

सोगालेग त्रितिमिर केउलणाण मुणेपन्न ॥ १८६ ॥

इदानीं गतीन्द्रियकायगुणस्थानेषु मतिश्रुतज्ञानयोरध्यानप्रतिपादनार्थमाह—

जिसका भूतकालमें चिन्तन किया है, अथवा जिसका भविष्यकालमें चिन्तन होगा, अथवा जो अर्धचिन्तित है इत्यादि अनेक भेदरूप दूसरेके मनमें स्थित पदार्थको जो जानता है उसे मन पर्ययज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान मनुष्यक्षेत्रमें ही होता है ॥ १८ ॥

जो जीवद्रव्यके शक्तिगत सर्व ज्ञानके अग्रभाग प्रतिच्छेदोंके व्यक्त हो जानेके कारण सपूर्ण है, ज्ञानावरण और दीर्यान्तराय कर्मके सर्वथा नाश हो जानेके कारण जो अप्रतिहत शक्ति है इसलिये समग्र है जो इन्द्रिय और मनकी सहायतासे रहित होनेके कारण केवल है, जो प्रतिपक्षी चार घातिया कर्मोंसे नाश हो जानेसे अनुक्रम रहित सपूर्ण पदार्थोंमें प्रवृत्ति करता है इसलिये असंपन्न है और जो लोक और अलोकमें अज्ञानरूपी अन्धकारसे रहित होकर प्रकाशमान हो रहा है उसे केवलज्ञान जानना चाहिये ॥ १८२ ॥

अथ गति, इन्द्रिय और मायमार्गणात्तर्गत गुणस्थानोंमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विशेष कथन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

प्रायवचन, यथाय क्षपणमनोपण इत्यभोगतभूयोद्वयविषयो ह्यवि । अथवावधिर्मथादा, अविना प्रतिपद ज्ञानमविविज्ञानम् । त रा वा १ ९, वा ३ अवशदोऽध शब्दाय, अत्र अधोऽधो विस्तृत वस्तु धायत परिच्छिन्ननेननेलवदि । अथवा अवधिमथादा रूपिवेव द्रव्येय परिच्छदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षित ज्ञानमायवाच । यदा अवधानम्—आ मनो यस्याना कृष्णयायातोऽवावे । न सू प ६५

१ गो जी ४३८ परस्त्रीयमभोगताथा मन इत्युच्यते साहचर्यात्तस्य पययण परिगमन मन पयय । स मि १ ९ मन प्रतीय प्रतिपधाय वा ज्ञान मन पयय । त रा वा १ ९ वा ४ स मन पर्ययो ज्ञेयो मनोभाषा (मयन्त या ?) मनागता । पर्याय स्वमनो वापि तदालम्बनमात्रम् ॥ त स्तो वा १ ९ ७ परि सक्ती भावे नवन अव । ×× अत्र गमन वेदनमिति पयाया, परि अव पयव, मनसि मनसो वा पयव मन पयव सक्ती मनोद्वन्द्वरिच्छद इत्यथ । अथवा मन पयय इति पाठ, तत्र पययण पयय, भावेऽल्ल प्रलय, मनसि मनसा वा पययो मन पयय सवनस्तत्परि छेद इत्यथ । ×× अथवा मन पयायज्ञानमिति पाठ तत्र मनोमि मनोद्वयानि पर्याये सर्वायना परिच्छिन्नचित मन पयाय, पर्याया भेदा धमा बाधवरवालोधनप्रनाश इत्यथ, तेषु तर्था वा सम्बन्धि ज्ञान मन पयायज्ञानम् । न सू पृ ६६

२ गो जी ४६० जावद्रव्यस्य ज्ञानि गनसपज्ञानाविभागप्रतिच्छेदानीं यतिगतत्वात्सपूर्णम् । माह्वान्त दीर्यान्तरायनिवृत्त्यनयादप्रतिहतज्ञानि युक्तान्वा निश्चल बाध समग्र । इन्द्रियसहायनिरपक्षान्त् केवल । घातिषतुष्टय प्रस्यार् अपमन् । जी प्र टी

मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी एहंदि-पहुडि जाव सासण-
सम्माइट्ठि ति ॥ ११६ ॥

मिथ्यादृष्टे, द्वेऽप्यज्ञाने भवता नाम तत्र मिथ्यात्वोदयस्य सत्त्वात् । मिथ्या-
त्वोदयस्यासत्त्वान्न सासादने तयोः सत्त्वमिति न, मिथ्यात्व नाम विपरीताभिनिवेशः
न च मिथ्यात्वादनन्तानुबन्धनश्चेत्पद्यते । समास्ति च सासादनस्यानन्तानुबन्ध्युदय
इति । कथमेकेन्द्रियाणां श्रुतज्ञानमिति चेत्कथं च न भवति ? श्रोत्राभावाच्च शब्दावगति-
त्तदभावाच्च शब्दार्थावगम इति नैष दोषः, यतो नायमेकान्तोऽस्ति शब्दार्थावबोध एव
श्रुतमिति । अपि तु अशब्दरूपादपि लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमपि श्रुतमिति । अमनसा तदपि
कथमिति चेन्न, मनोऽन्तरेण मनस्पतिषु हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्त्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ।

एकेन्द्रियसे लेकर सामादनमन्यद्वापि गुणस्थानतक मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी जीव
होते ह ॥ ११६ ॥

शंका—मिथ्यादृष्टि जीवोंके भले ही दोनों अज्ञान होवें, क्योंकि, वहा पर मिथ्यात्व
कर्मका उदय पाया जाता है । परन्तु सासादनमें मिथ्यात्वका उदय नहीं पाया जाता है, इसलिये
वहा पर वे दोनों ज्ञान अज्ञानरूप नहीं होना चाहिये ?

समाधान—नह, क्योंकि, विपरीत अभिनिवेशको मिथ्यात्व कहते हैं । और वहा
मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन दोनोंके निमित्तसे उत्पन्न होता ह । सासादन गुणस्थान
वालेके अनन्तानुबन्धीका उदय तो पाया ही जाता है, इसलिये वहा पर भी दोनों अज्ञान सभव हैं ।

शंका—एकेन्द्रियोंके श्रुतज्ञान कैसे हो सकता है ?

प्रतिशंका—कैसे नहा हो सकता है ?

शंका—एकेन्द्रियोंके श्रोत्र इन्द्रियका अभाव होनेसे शब्दका ज्ञान नहीं हो सकता है,
और शब्दका ज्ञान नहीं होनेसे शब्दके विषयभूत वाच्यका भी ज्ञान नहीं हो सकता है । इस-
लिये उनके श्रुतज्ञान नहीं होता है यह बात सिद्ध हो जाती है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह कोई एकान्त नहा है कि शब्दके
निमित्तमे होनेवाले पदार्थके ज्ञानको ही श्रुतज्ञान कहते ह । किन्तु शब्दसे भिन्न रूपादिक लिंगसे
भी जो लिंगीका ज्ञान होता है उसे भी श्रुतज्ञान कहते ह ।

शंका—मनराहित जीवोंके ऐसा श्रुतज्ञान भी कैसे सभव है ?

समाधान—नहा, क्योंकि, मनके बिना मनस्पतिकार्यिक जीवोंके हितम प्रवृत्ति और
आहितसे निवृत्ति देखी जानी ह, इसलिये मनसाहित जीवोंके ही श्रुतज्ञान माननेमें उनसे अने
कान्न दोष आता है ।

विभङ्गज्ञानाध्यानप्रतिपादनार्थमाह—

विभङ्गणाण सण्णि मिञ्छाद्वट्ठीणं वा सासणसम्माद्वट्ठीण
वा ॥ ११७ ॥

विकलेन्द्रियाणां किमिति तत्र भवतीति चेन्न, तत्र तन्निबन्धनक्षयोपशमाभावात् ।
सोऽपि तत्र किमिति न सम्भवतीति चेन्न, तद्वेतुभयगुणानामभावात् ।

विभङ्गज्ञाने भयप्रत्यये मति पर्याप्तापर्याप्तानामवयवयोगे तस्य भयस्य सादित्या
शङ्कितशिष्याग्रङ्गापोहनार्थमाह—

पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि ॥ ११८ ॥

अथ साद्यदि देवनारकाणां विभङ्गज्ञानं भयनिबन्धनं भवेदपर्याप्तकालेऽपि तेन
भवितव्यं तद्वेतोर्भयस्य सत्त्वादिति न, 'सामान्यबोधनाश्च विशेषेण्यवतिष्ठन्ते' इति

विभगज्ञानके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

विभगज्ञान सही मिथ्यादृष्टि जीवोंके तथा सामादनसम्यग्दृष्टि जीवोंके होता है ॥ ११७ ॥

शंका—विकलेन्द्रिय जीवोंके यह क्यों नही होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वहाँ पर विभगज्ञानका कारणभूत क्षयोपशम नहीं पाया
जाता है ।

शंका—यह क्षयोपशम भी विकलेन्द्रियोंमें क्यों संभव नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अद्यधिज्ञानावरणका क्षयोपशम भयप्रत्यय और गुणप्रत्यय
होता है । परन्तु विकलेन्द्रियोंमें ये दोनों प्रकारके कारण नहीं पाये जाते हैं, इसलिये उनके
विभगज्ञान संभव नहीं है ।

विभगज्ञानको भयप्रत्यय मान लेने पर पर्याप्त और अपर्याप्त इन दोनों अवस्थाओंमें
उसका सद्भाव पाया जाना चाहिये इसप्रकार आशंकाको प्राप्त शिष्यके सदेहके दूर करनेके
लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

विभगज्ञान पर्याप्तकोंके ही होता है, अपर्याप्तकोंके नहीं होता है ॥ ११८ ॥

शंका—यदि देव और नारकियोंके विभगज्ञान भयप्रत्यय होता है तो अपर्याप्तकालमें
भी यह हो सकता है, क्योंकि, अपर्याप्तकालमें भी विभगज्ञानके कारणरूप भवकी सत्ता पाई
जाती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, 'सामान्य विषयका बोध करानेवाले वाक्य विशेषोंमें रहा

न्यायात् नापर्याप्तिरितिष्टं देवनारकत्वं विभङ्गनिवन्धनमपि तु पर्याप्तिरितिष्टमिति ।
ततो नापर्याप्तकाले तदस्तीति मिदम् ।

इदानीं सम्यग्मिध्यादृष्टिज्ञानप्रतिपादनार्थमाह—

सम्प्राप्तिच्छाद्दृष्टि-दृष्टाणे तिष्ठिणि वि णाणाणि अण्णाणेण
मिस्साणि । आभिणित्रोहियणाणं मदि-अण्णाणेण मिस्सयं सुदणाणं
सुद-अण्णाणेण मिस्सयं ओहिणाणं विभंगणाणेण मिस्सयं । तिष्ठिणि
वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि वा इदि ॥ ११९ ॥

अत्रैकवचननिर्देश क्रिमिति क्रियत इति चेत् कथं च न क्रियते, यत्स्त्रीण्य-
ज्ञानानि ततो नैकवचन घटत इति न, ज्ञाननिवन्धनमिध्यात्तस्यैकवचनतोऽज्ञानस्याप्येकत्वा-
पिरोधात् । यथार्थश्रद्धानुविद्वागमो ज्ञानम्, अयथार्थश्रद्धानुविद्वागमोऽज्ञानम् । एव
च मति नानाज्ञानयोर्भिन्नजीवाविकरणयोर्न मिश्रण घटत इति चेत्सत्यमेतदिष्टत्वात् ।
किन्तुत्र सम्यग्मिध्यादृष्टात्रेव मा गृही यत सम्यग्मिध्यात्त नाम कर्म न तन्मिध्यात्त

करते हे' इस न्यायके अनुसार अपर्याप्त अवस्थासे युक्त देव और नारक पर्याय विभगज्ञानका
कारण नहीं है । किन्तु पर्याप्त अवस्थासे युक्त ही देव और नारक पर्याय विभगज्ञानका कारण
है, इसलिये अपर्याप्त कालमें विभगज्ञान नहीं होता है यह ज्ञान सिद्ध हो जाती है ।

अत्र सम्यग्मिध्यादृष्टि गुणस्थानमें ज्ञानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सम्यग्मिध्यादृष्टि गुणस्थानमें आदिके तीनों ही ज्ञान अज्ञानसे मिश्रित होते हैं ।
आभिनेयोधिकज्ञान मत्तज्ञानसे मिश्रित होता है । श्रुतज्ञान श्रुताज्ञानसे मिश्रित होता है । अवधि
ज्ञान विभगज्ञानसे मिश्रित होता है । अथवा तीनों ही अज्ञान ज्ञानसे मिश्रित होते हैं ॥ ११९ ॥

शंका—सूत्रमें अज्ञान पदका एकवचन निर्देश क्यों किया है ?

प्रतिशंका—एकवचन निर्देश क्यों नहीं करना चाहिये ?

शंका—क्याकि, अज्ञान तीन है, इसलिये उनका बहुवचनरूपसे प्रयोग बन जाता है ?

समाधान—नहीं, क्याकि, अज्ञानका कारण मिध्यात्व एक होनेसे अज्ञानको भी एक
मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—यथार्थ श्रद्धासे अनुविद्ध अगमको ज्ञान कहते हैं और अयथार्थ श्रद्धासे
अनुविद्ध अगमको अज्ञान कहते हैं । ऐसी हालतमें भिन्न भिन्न जीवोंके आधारसे रहनेवाले
ज्ञान और अज्ञानका मिश्रण नही बन सकता है ?

समाधान—यह कहना सत्य है, क्याकि, हमें यही इष्ट है । किन्तु यहा सम्यग्मिध्या
दृष्टि गुणस्थानमें यह अर्थ प्रदण नहीं करना चाहिये, क्योंकि, सम्यग्मिध्यात्व कर्म मिध्यात्व

तस्मादनन्तगुणहीनशक्तेस्तस्य विपरीताभिनिवेशोत्पादसामर्थ्याभावात् । नापि सम्यक्त्व
तस्मादनन्तगुणशक्तेस्तस्य यथार्थश्रद्धया माहवर्थाविरोधात् । ततो जात्यन्तरत्वात् सम्प
ग्मिध्यात्वात् जात्यन्तरीभूतपरिणामस्योत्पादरूपम् । ततस्तदुदयजनितपरिणामममेतवोचो न
नान यथार्थश्रद्धयाननुविद्धत्वात् । नाप्यनानमयथार्थश्रद्धयाऽमङ्गतत्वात् । ततस्तज्ज्ञान
सम्यग्मिध्यात्परिणामरजनान्यन्तरावन्नमित्येकमपि मिश्रमित्युच्यते । यथायथ प्रतिमा
सितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमो नानम् । यथायथमप्रतिभामितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमोऽज्ञानम् ।
जात्यन्तरीभूतप्रत्ययानुविद्धावगमो जात्यन्तर नानम्, तदेव मिश्रज्ञानमिति राट्टान्न
विदो व्याचक्षते ।

साम्प्रत नानाना गुणस्थानाभ्यानप्रतिपादनार्थमाह —

आभिणिबोहियणाण सुदणाणं ओहिणाणमसजदसम्मादिट्ठि
प्पहुडि जाव खीणकसाय वीदराग-उट्टुमत्था त्ति ॥ १२० ॥

तो हो नहीं सकता, क्याकि, उसमें अनन्तगुणी ही शक्तिगले सम्यग्मिध्यात्वमें विपरीता
भिनिवेशको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य नहीं पाई जाती है । और न वह सम्पक्प्रवृत्तिरूप ही
है, क्योंकि, उससे अनन्तगुणी अधिक शक्तिगले उसका (सम्यग्मिध्यात्वात्) यथार्थ श्रद्धाके
साथ साहचर्यसम्बन्धका विरोध है । इसलिये जात्यन्तर होनेमें सम्यग्मिध्यात्व जात्यन्तररूप
परिणामोंका ही उत्पादक है । अतः उसके उदयसे उत्पन्न हुए परिणामोंमें युक्त ज्ञान 'ज्ञान'
इस संज्ञाको तो प्राप्त हो नहीं सकता है, क्याकि, उस ज्ञानमें यथार्थ श्रद्धाका अन्तर्ग नहीं
पाया जाता है । और उसे अज्ञान भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, वह अयथार्थ श्रद्धाके साथ
सर्पक नहीं रखता है । इसलिये वह ज्ञान सम्यग्मिध्यात्व परिणामकी तरह जात्यन्तररूप
अवस्थाको प्राप्त है । अतः एक होने हुए भी मिश्र कहा जाता है ।

यथावस्थित प्रतिभामित हुए पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुए तत्सम्बन्धी बोधको ज्ञान
कहते हैं । न्यूनता आदि दोषोंसे युक्त यथावस्थित अप्रतिभामित हुए पदार्थके निमित्तसे
उत्पन्न हुए तत्सम्बन्धी बोधको अज्ञान कहते हैं । और जात्यन्तररूप कारणसे उत्पन्न हुए
तत्सम्बन्धी ज्ञानको जात्यन्तर ज्ञान कहते हैं । इसीका नाम मिश्रज्ञान है ऐसा विद्वानोंको
जाननेवाले विद्वान् पुरुष व्याख्यान करते हैं ।

अब ज्ञानोंका गुणस्थानोंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अरुधिज्ञान ये तीनों असंयतसम्प्रसङ्गधिते त्रेक
भीणकपाय वीतराग छद्मस्य गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२० ॥

भयतु नाम देवनारकामयतमम्यग्दष्टिप्रविधानस्य मच्च तस्य तद्व्यनिवन्धन-
त्वात् । देशविरताद्युपरितनानामपि भयतु तत्तच्च तन्निमित्तगुणस्य तत्र मच्चात्, न
तिर्यङ्मनुष्यासयतमम्यग्दष्टिषु तस्य मच्च तन्निवन्धनभयगुणानां तत्रामच्चादिति चेन्न,
अविधाननिवन्धनमम्यग्दष्टिगुणस्य तत्र मच्चात् । सर्वमम्यग्दष्टिषु तदनुत्पत्त्यन्यथानुप-
पत्तेर्नाविधान मम्यग्दर्शननिवन्धनमिति चेत्सर्वमयतेषु तदनुत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेरविधि-
तान सयमहेतुक्रमपि न भवतीति किं भवेत् । विशिष्ट सयमन्तद्वेतुरिति न सर्वसयता-
नामवतिर्भवतीति चेदद्यापि विशिष्टमम्यग्दष्टि तद्वेतुरिति न सर्वेषां तद्वयति को विरोध-
स्यात् ? औपशमिकशायिकध्यायोपशमिकभेदभिन्नेषु त्रिष्वपि मम्यग्दष्टिषु विधेयविधानो-
त्पत्तेर्यभिच्चादर्शनाच्च तद्विधेयनिवन्धनमपीति चेत्तर्ह्यद्यापि मामायिक-च्छेदोपस्थापन-

शका--देव और नारकीसगन्धी असयतसम्यग्दष्टि जीवोंमें अवधिज्ञानका सङ्काप
भले ही रहा आपे, क्योंकि, उनके अवधिज्ञान भयनिमित्तम होता है । उसीप्रकार देशविरति
आदि ऊपरके गुणस्थानोंमें भी अवधिज्ञान रहा आपे, क्योंकि, अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण
भूत गुणाका वहा पर सङ्काप पाया जाता है । परंतु असयतसम्यग्दष्टि तिर्यच और मनुष्योंमें
इसका सङ्काप नहीं पाया जा सकता है, क्योंकि, अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण भय और
गुण असयतसम्यग्दष्टि तिर्यच और मनुष्योंमें नहीं पाये जाते हैं ?

समाधान—नह, क्योंकि, अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारणरूप सम्यग्दर्शनका असय-
तसम्यग्दष्टि तिर्यच और मनुष्योंमें सङ्काप पाया जाता है ।

शका—चूंकि सपूर्ण सम्यग्दष्टियोंमें अवधिज्ञानकी अनुत्पत्ति अन्यथा वन नहीं सकती
ह, इससे मालूम पड़ता है कि सम्यग्दर्शन अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण नहीं है ?

समाधान—यदि ऐसा है तो सपूर्ण सयतोंमें अवधिज्ञानकी अनुत्पत्ति अन्यथा वन
नह सकती है, इसलिये सयम भी अवधिज्ञानका कारण नह है, ऐसा क्यों मान लिया जाय ?

शका—विशिष्ट सयम ही अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण है, इसलिये समस्त
सयताके अवधिज्ञान नहीं होता है, किंतु कुछके ही होता है ?

समाधान—यदि ऐसा है तो यहा पर भी ऐसा ही मान लेना चाहिये कि असयत
सम्यग्दष्टि तिर्यच और मनुष्योंमें भी विशिष्ट सम्यक्त्व ही अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण
है । इसलिये सभी सम्यग्दष्टि तिर्यच और मनुष्योंमें अवधिज्ञान नह होता है, किंतु कुछके ही
होता है, ऐसा मान लेनेमें क्या विरोध आता है ?

शका—ओपशमिक, शायिक और ध्यायोपशमिक इन तीनों ही प्रकारके विशेष
सम्यग्दर्शनोंमें अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें व्यभिचार देखा जाता है । इसलिये सम्यग्दर्शनविशेष
अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण है यह नहीं कहा जा सकता है ?

समाधान—यदि ऐसा है तो सयममें भी सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारादिशुद्धि,

परिहार सुक्ष्ममाप्पराय-यथाग्यात-भेदभिन्नं पञ्चभिर्गपि सयमे, देशविरत्या च तस्य
व्यभिचारदर्शनान्नाधिगान मयमभिगोपनिग्रन्धनमपीति समानमेतत् । असग्यातलाक
मात्रमयमपरिणामेषु केचिद्विशिष्टा परिणामास्तद्वेत्य इति नाय दोषश्चेत्तर्हि सम्यग्दर्शन
परिणामेष्वप्यसग्येयलोकपरिणामेषु केचिद्विशिष्टा सम्यक्त्वपरिणामा महत्कारिकाण
व्यपेक्षान्तद्वेत्य इति स्थितम् ।

मनःपर्ययानस्यामिप्रतिपादनार्थमाह —

मणपञ्जवणाणी पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीदराग
छदुमत्था ति' ॥ १२१ ॥

पर्यायपर्यायिणोरभेदापेक्षया मनःपर्ययज्ञानस्यैव मनःपर्ययज्ञानव्यपदेशः । दश
विज्ञानाप्रभन्तगुणभूमिस्थिताना किमिति मनःपर्ययज्ञान न भवेदिति चेन्न, सयमा
मयमामयमत उत्पत्तिविशेषान् । मयममात्रकारणत्वे मयमयज्ञाना किन्त तद्वेदिति

मयममापराय-जोर यथाग्यात इन पात्र प्रकारके विशेष सयमके साथ और देशविरातिके साथ
भी अवधिगानकी उत्पत्तिका व्यभिचार देखा जाता है, इसलिये अवधिज्ञानकी उत्पत्ति सयम
विशेषक निमित्तमे होती है यह भी तो नही कह सकते हैं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन और मयम
इन दोनोंको अवधिगानकी उत्पत्ति निमित्त मानने पर आक्षेप और परिहार समान है ।

श्रुति—असग्यात लोकप्रमाण सयमरूप परिणामोंमें कितने ही विशेष जातिके
परिणाम अवधिगानकी उत्पत्तिक कारण होते हैं, इसलिये पूर्वोक्त दोष नहीं आता है ?

ममाज्ञान—यदि ऐसा है तो असग्यात लोकप्रमाण सम्यग्दर्शनरूप परिणामोंमें दूसरे
महत्कारि कारणोंका अपेक्षामे युक्त होते हुए कितने ही विशेष जातिके सम्यक्स्वरूप परिणाम
अवधिगानकी उत्पत्ति कारण हो जाते हैं यह बात निश्चित हो जाती है ।

अथ माःपर्ययज्ञानके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनःपर्ययज्ञानी जीव प्रमत्तसयतमे लेकर क्षीणकदाय वीतराग छद्म गुणस्थानतक
जाता है ॥ १२२ ॥

पर्याय और पर्यायीमें अभेदकी अपेक्षामे मनःपर्ययज्ञानका ही मनःपर्ययज्ञानीरूपमे
छद्म किया है ।

श्रुति—देशविराति आदि नीचेके गुणस्थानयन्ता जीवोंके मनःपर्ययज्ञान पर्यो
मानी जाता है ?

ममाज्ञान—नहीं, क्योंकि, सयमासयम और असयमके साथ मनःपर्ययज्ञानकी
उत्पत्ति मानाव विरोध आता है ।

चेदभिमिष्यद्यदि मयम एरु एरु तदुत्पत्ते. कारणतामगमिष्यत् । अप्यन्येऽपि तु तद्वेतन-
मन्ति तदैरुल्यान्न सर्वसयताना तदुत्पत्ते । केऽन्ये तद्वेतन इति चेद्विशिष्टद्रव्य-
क्षेत्रकालादयः ।

केवलज्ञानाधिपतिगुणभूमिप्रतिपादनार्थमाह—

केवलाणी तिसु द्वाणेषु सजोगिकेवली असजोगिकेवली सिद्धा
वेदि ॥ १२२ ॥

अथ स्यान्नाहृत केवलज्ञानमस्ति तत्र नोऽन्द्रियाग्रणक्षयोपशमजनितमनसः
सत्त्वात्, न, प्रक्षीणसमस्तग्रणे भगवत्यर्हति ज्ञानाग्रणक्षयोपशमाभावात्तत्कार्यस्य
मनसोऽसत्त्वात् । न प्रीयान्तरायवयोपशमजनितवस्तुत्पद्वागेण तत्सत्त्वं प्रक्षीण-

शका — यदि सयममात्र मन पर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका कारण हे तो ममस्त सयमियोंके
मन पर्ययज्ञान क्यों नहीं होता हे ?

समाधान—यदि केवल सयम ही मन पर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका कारण होता तो ऐसा
भी होना । किंतु अन्य भी मन पर्ययज्ञानकी उत्पत्तिके कारण हे, इसलिये उन दूसरे हेतुओंके
न रहनेसे समस्त सयमोंके मन पर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता हे ।

शका — वे दूसरे कौनसे कारण हे ?

समाधान—विशेष जातिके द्रव्य, क्षेत्र ओर कालादि अव्य कारण ह । जिनके बिना
सभी सयमियोंके मन पर्ययज्ञान उत्पन्न नह्य होता हे ।

अथ केवलज्ञानके स्वामीके गुणस्थान प्रलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

केवलज्ञानी जीव सयोगिकेवली, असयोगिकेवली और मिड इन तीन स्थानोंमें
होते ह ॥ १२२ ॥

शका — अरिहत परमेष्ठीके केवलज्ञान नहीं हे, क्योंकि, वहा पर नोऽन्द्रियाग्रण
कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए मनका सद्भाव पाया जाता हे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिनके सपूर्ण आग्रणकर्म नाशको प्राप्त हो गये हैं ऐसे
अरिहत परमेष्ठीमें ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम नहीं पाया जाता है, इसलिये क्षयोपशमके
कार्यरूप मन भी उनके नहीं पाया जाता है । उसीप्रकार प्रीयान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे
उत्पन्न हुई शक्तिकी अपेक्षा भी वहा पर मनका सद्भाव नहीं कहा जा सकता ह, क्योंकि,
जिनके प्रीयान्तराय कर्मका क्षय पाया जाता है ऐसे जीवोंके प्रीयान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे
उत्पन्न हुई शक्तिके सद्भाव माननेमें विरोध आता है ।

रीर्यान्तर्गतस्य रीर्यान्तरायजनितशक्त्यस्तित्प्रतिरोधान् । कथं पुन मयोग इति चेन्न, प्रथमचतुर्थभाषोत्पत्तिनिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पन्दस्य सत्त्वापेक्षया तस्य मयोगत्वाविरोधात् । तत्र मनमोऽभावे तत्कार्यस्य वचनोऽपि न सत्त्वमिति चेन्न, तस्य ज्ञानकार्यत्वात् । अक्रमतानात्कथं क्रमगता रचनानामुत्पत्तिरिति चेन्न, घटनिपयाक्रम ज्ञानमभावेतकुम्भकाराद्वदस्य क्रमेणोत्पत्त्युपलम्भात् । मनोयोगाभावे सूत्रेण सह विरोधः स्यादिति चेन्न, मनः कार्यप्रथमचतुर्थचमो सत्त्वापेक्षयोपचारेण तत्सत्त्वोपदेशात् । जीवप्रदेशपरिस्पन्दहेतुनोर्कर्मजनितशक्त्यमित्यापेक्षया वा तत्सत्त्वान्न विरोधः ।

मयममार्गणाप्रतिपादनार्थमाह —

सजमाणुवादेण अत्थि सजदा सामादय-छेदोवद्वावण सुद्धि-
मंजदा परिहार सुद्धि-सजदा सुहुम सांपरादय-सुद्धि-संजदा जहाकसाद
विहार सुद्धि सजदा संजदासजदा असंजदा चेदि ॥ १२३ ॥

शंका — किं अरिहत परमेष्ठीको सयोगी कैसे माना जाय ?

समाधान — नह, क्योंकि, प्रथम (सत्य) और चतुर्थ (अनुमय) भाषाकी उत्पत्तिके निमित्तभूत आत्मप्रदेशका परिस्पन्द बड़ा पर पाया जाता है, इसलिये इस अपेक्षासे अरिहत परमेष्ठीके सयोगी होनेमें कोई विरोध नह जाता है ।

शंका — अरिहत परमेष्ठीमें मनका अभाव होने पर मनके कार्यरूप वचनका सद्भाव भी नह पाया जा सकता है ?

समाधान — नह, क्योंकि, वचन ज्ञानके कार्य है, मनके नहीं ।

शंका — अक्रम ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, प्रत्यक्षिक अक्रम ज्ञानसे युक्त कुम्भकारद्वारा क्रमसे घटका उत्पत्ति देयी जाती है । इसलिये अक्रमवर्ती ज्ञानसे क्रमिक वचनकी उत्पत्ति मान लेनेमें कोई विरोध नह आता है ।

शंका — सयोगिस्वैवर्त्तने मनोयोगका अभाव मानने पर ' सद्यमणजोगो असद्यमोस मणजोगो साण्णिमि-उद्विट्ठिपहुटि जाय मज्जोगिकेउल्लि ति ' इस पुरातन सूत्रके साथ विरोध आ जायगा ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, मनके कार्यरूप प्रथम जाग चतुर्थ भाषाके सद्भावकी अपेक्षा उपचारासे मनके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नह आता है । अतः, जीवप्रदेशोंके परिस्पन्दके कारणरूप मनोवर्णनारूप लोकर्मसे उत्पन्न हुई शक्तिके अस्तित्वकी अपेक्षा सयोगि केवलीमें मनका सद्भाव पाया जाता है ऐसा मान लेनेमें भी कोई विरोध नहीं आता है ।

अब सप्तममार्गणके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सप्तममार्गणके अनुवादसे सामायिक-सुद्धिसंगत, छेदोपस्थापना-सुद्धिसंगत, परिहार

अत्राप्यभेदापेक्षया पर्यायस्य पर्यायिव्यपदेशः । सम् सम्यक् सम्यग्दर्शनज्ञानानु-
सारण यताः बहिरङ्गान्तरङ्गासूत्रेभ्यो विरता सयताः । सर्वसावद्ययोगात् विरतोऽस्मीति
सकलसावद्ययोगविरतिः सामायिकशुद्धिमयमो' द्रव्यार्थिकत्वात् । एवविधैकत्रतो मिथ्या-
दृष्टि' किन्तु स्वादिति चेन्न, आक्षिप्तशेषविशेषसामान्यार्थिनो नयस्य सम्यग्दृष्टित्वाविरोधात् ।
आक्षिप्तशेषरूपमिदं सामान्यमिति कुतोऽस्मीयत इति चेत्तर्मात्रसावद्ययोगोपादानात् ।
नयैकस्मिन् सर्वशब्दः प्रवर्तते निरोधात् । स्यान्तर्मात्रिताशेषमयमविशेषैक्यमः

शुद्धिसयत, सुद्धमसापराय शुद्धि-संयत, यथावयात विद्वार शुद्धि-सयत ये पाच प्रकारके संयत
तथा सयतामयत ओर असयत जीव होते ह ॥ १२३ ॥

यद्वा पर भी अभेदकी अपेक्षासे पर्यायका पर्यायीरूपसे कथन किया है । 'सम्' उपसर्ग
सम्यक् अर्थात् वाची है, इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक 'यता' अर्थात् जो बहिरंग
और अन्तरंग आश्रयोंसे विरत हैं उन्हें सयत कहते हैं ।

'मे सर्व प्रकारके सावद्ययोगसे विरत हूँ' इसप्रकार द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सकल
सावद्ययोगके त्यागको सामायिक शुद्धि-सयम कहते हैं ।

शुद्धा — इसप्रकार एक व्रतका नियमजाला जीव मिथ्यादृष्टि क्यों नहीं हो जायगा ?

समाधान—नह्रा, क्योंकि जिसमें सपूर्ण चरित्रके भेदोंका संग्रह होता है । ऐसे
सामाय्यग्राही द्रव्यार्थिक नयको समीचीन दृष्टि माननेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शुद्धा — यह सामान्य सयम अपने सपूर्ण भेदोंका संग्रह करनेवाला है, यह कैसे
जाना जाता है ?

समाधान—'सर्वसावद्ययोग' पदके ग्रहण करनेसे ही, यद्वा पर अपने सपूर्ण भेदोंका
संग्रह कर लिया गया है, यह बात जानी जाती है । यदि यद्वा पर सयमके किसी एक भेदकी
ही मुख्यता होती तो 'सर्व' शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता था, क्योंकि, ऐसे स्थल
पर 'सर्व' शब्दके प्रयोग करनेमें विरोध आता है ।

१ शाहामत्रिदिश ममा त्ति अण्य जया त्ति गमय त्ति । समगमय त्ति ममाजो स एव सामादय नाम ॥
अत्रा मव समाण निव्वत्त तण तम्मय वावि । अ तप्प णीयण वा तण व मामादय नय ॥ अद्वा ममाइ सम्मचना
करागइ तसु तद्धि वा । अण्य जया ममाजो म एव सामादय नाम ॥ अद्वा ममस्स आओ गुणाण लामो चि जो
ममाज या । अत्रा ममाजामाजो नेजा सामादय नाम ॥ अत्रा माम भिरा त थ अजा (गमय) तण हाइ सामाजो ।
अद्वा ममग्गामाजो लामा सामादय नेय ॥ मम्ममथा वा ममजा सामादयमुमयविदिमावाओ । अद्वा सम्मस्स आओ
लामा सामादय हाइ ॥ अत्रा निव्वत्तविदिशा साम सम्म सम थ च तम्म । इक्कमप्य पवमणमय सामादय नेय ॥ कि
पुण व मानइ सत्त्वमावज्जजोगविइ चि ॥ वि भा ४२२० ४२२७

सामायिकगुहिसयम इति यावत् । तस्यैकस्य प्रतस्य छेदेन द्विष्यादिभेदेनोपस्थापन प्रतसमारोपण छेदोपस्थापनशुद्धिमयमः । मरुलप्रतानामेकप्रमापाद्य एक्यमोपादानाद् द्रव्यार्थिकनय, सामायिकशुद्धिमयमः । तदेवैक प्रत पञ्चधा बहुधा वा विपाद्य धारणात् पर्यायार्थिकनय छेदोपस्थापनशुद्धिमयमः । निश्चितगुहिनानुग्रहार्थं द्रव्यार्थिकनयादेशना, मन्दधियामनुग्रहार्थं पर्यायार्थिकनयादेशना । ततो नानयोः सयमयोरनुष्ठानकृतो विशेषोऽस्तीति द्वितयदेशेनानुगृहीत एव एव सयम इति चेन्नैव दोषः, इष्टत्वात् । जनेनेयाभिप्रायेण सत्रे पृथक् न शुद्धिमयतग्रहण कृतम् ।

परिहारप्रधानः शुद्धिमयतः परिहारशुद्धिमयतः । त्रिंशद्वर्षाणि यथेच्छया भोगमनुभूय सामान्यरूपेण विशेषरूपेण वा सयममादाय द्रव्यत्वेनकालभावागतपरिमितापरिमितप्रत्याख्यानप्रतिपादकप्रत्याख्यानपूर्वमहार्णय सम्यगग्निगम्य व्यपगतसकलमशयस्तपो

इस कथनमे यह सिद्ध हुआ कि जिनमे सपूर्ण सयमके भेदोंको अपने अन्तर्गत कर लिया है ऐसे अभेदरूपसे एक यमको धारण करनेवाला जीव सामायिक शुद्धि सयत कहलाता है।

उस एक वतका छेद अर्थात् दो, तीन आदिके भेदसे उपस्थापन करनेको अर्थात् वतोंके आरोपण करनेको छेदोपस्थापना शुद्धि सयम कहते हैं। सपूर्ण वतोंको सामायिकी अपेक्षा एक मानकर एक यमको ग्रहण करनेवाला होनेसे सामायिक शुद्धि सयम द्रव्यार्थिकनयरूप है। आर उसी एक वतको पांच अथवा अनेक प्रकारके भेद करके धारण करनेवाला होनेसे छेदोपस्थापना-शुद्धि-सयम पर्यायार्थिकनयरूप है। यद्वा पर तीक्ष्णशुद्धि मनुष्योंके अनुग्रहके लिये द्रव्यार्थिक नयना उपदेश दिया गया है और मन्दशुद्धि प्राणियोंका अनुग्रह करनेके लिये पर्यायार्थिक नयना उपदेश दिया गया है। इसलिये इन दोनों सयममें अनुष्ठानकृत कोई विशेषता नहीं है।

शुद्धि — तब तो उपदेशकी अपेक्षा सयमको भले ही दो प्रकारका कइ लिया जावे, पर वास्तवमें तो वह एक ही है ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह कथन हमें इष्ट ही है। आर इसी अभिप्रायसे मूत्रमें स्नत वरूपसे (सामायिक पदके साथ) 'शुद्धिसयत' पदका ग्रहण नहीं किया है।

जिसके (हिंसाका) परिहार ही प्रधान है ऐसे शुद्धिप्राप्त सयतोंको परिहार शुद्धि सयत कहते हैं। तीस वर्षतक अपनी इच्छानुसार भोगोंको भोगकर सामान्यरूपसे अर्थात् सामायिक सयमको और विशेषरूपसे अर्थात् छेदोपस्थापना सयमको धारण कर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार परिमित या अपरिमित प्रत्याख्यानके प्रतिपादन करनेवाले प्रत्याख्यान पूर्वरूपी महार्णयम अर्थात्तरह प्रवेश करके जिसका सपूर्ण मशय दूर हो गया है और जिसने

* छेदने पूर्वव्यापनिरावन उपस्थापनमारोपण महान्ताना यथ तच्छेदोपस्थापनम् । ×× छच्छं तु परियाग पोतान् जो ठविवि अपाण । धम्ममि पचजामे उभावद्वावण म खलु । प भा [उभावद्वावण अभि तो वा]

विशेषात्समुत्पन्नपरिहारद्विस्तीर्थकरपादमूले परिहारशुद्धिसंयममादत्ते । एवमादाय स्थान-
गमनचङ्क्रमणाशनपानामनादिषु व्यापारेष्वप्राणिपरिहरणदक्षः^१ परिहारशुद्धिसंयतो नाम ।

साम्परायः कृपाय , सूक्ष्मः साम्परायो येषां ते सूक्ष्मसाम्परायाः । शुद्धाश्च ते
संयताश्च शुद्धसंयताः । सूक्ष्मसाम्परायाश्च ते शुद्धिसंयताश्च सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयताः ।
त एव द्विधोपात्तसंयता यदा सूक्ष्मीकृतरूपायाः भवन्ति तदा ते सूक्ष्मसाम्परायशुद्धि-
मयता इत्युच्यन्ते इति यावत् ।

यथारूपातो यथाप्रतिपादितः विहारः कृपायाभावरूपमनुष्ठानम् । यथारूपातो
विहारो येषां ते यथारूपातविहारः । यथारूपातविहाराश्च ते शुद्धिसंयताश्च यथारूपात-
विहारशुद्धिमयता^२ । सुगममन्यत् ।

मयमानुषादेनामयतानां सयतामयतानां च न ग्रहणं प्राप्नुयादिति चेन्न, आप्रतरु

तपोविशेषसे परिहारः ऋद्धिको प्राप्त कर लिया है ऐसा जीव तीर्थकरके पादमूलमें परिहार
शुद्धि संयमको ग्रहण करता है । इसप्रकार संयमको धारण करके जो खड़े होना, गमन करना
यहां वहां विहार करना, भोजन करना, पान करना और बैठना आदि संपूर्ण व्यापारोंमें प्राणि-
योंकी हिसाके परिहारमें दक्ष हो जाता है उसे परिहार शुद्धि संयत कहते हैं ।

साम्पराय कृपायको कहते हैं । जिनकी कृपा सूक्ष्म हो गई है उन्हें सूक्ष्मसाम्पराय
कहते हैं । जो संयत विशुद्धिको प्राप्त हो गये हैं उन्हें शुद्धिमयत कहते हैं । जो सूक्ष्मकृपाय
वाले होते हुए शुद्धिप्राप्त संयत हैं उन्हें सूक्ष्मसाम्पराय-शुद्धि संयत कहते हैं । इसका तात्पर्य
यह है कि सामायिक या लोकोपस्थापना संयमको धारण करनेवाले साधु जब अत्यन्त सूक्ष्म
कृपायवाले हो जाते हैं तब वे सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयत कहे जाते हैं ।

परमागममें विहार अर्थात् कृपायोंके अभावरूप अनुष्ठानका जैसा प्रतिपादन किया
गया है तदनुकूल विहार जिनके पास जाता है उन्हें यथारूपातविहार कहते हैं । जो यथा-
रूपातविहारवाले होते हुए शुद्धिप्राप्त संयत हैं वे यथारूपातविहार शुद्धि संयत कहलाते हैं ।
शेष कथन सुगम है ।

ज्ञा — संयम मार्गणाके अनुष्ठानसे संयतोंमें संयतसंयत और असंयतोंका ग्रहण नहीं
हो सकता है ?

१ ताम्रं वामो जन्म वामपुर्वं तु तिथिरमूले । पञ्चवचनं पठितो स गङ्गाउपविहारः ॥ गा जा ४७३

२ परिहारविशेषतः पञ्जीवनिर्वायसङ्कले विहरत् । पश्यन् पश्यन् न लिप्यन् पापनिवर्त्तन ॥ गा जा
४७३ जी प्र टी उद्धृतम् ।

३ अहंसा जीर्णो आशुभिर्हीणं कश्चिन्नकृत्वा । चरणमरुणायमुदितं तमहंखाय जलकृत्वा ॥ त
द्विगणं छत्रमधकालविहाणञ्च पुनरेह । स्वयंसमजस्योगाजगिर्वैवलिनिद्रागो द्विविहः । वि मा १२७९

प्रधाननान्तस्थनिम्नानामपि आभ्रवनव्यपदेशदर्शनतोऽनेकान्तात् । उक्त च—

सगहिव सयल सजमेय जममपुत्तर दुरगम्म ।

जीरो समुत्तहतो समाइय सजरो होई ॥ १८७ ॥

छेतून य परियाव पोराण जो ठोई अप्पाण ।

पचन्मे धम्मे सो छेदोत्तापओ जीरो ॥ १८८ ॥

पच समिदो ति गुत्तो परिहरद सदा त्रि जा हु सावज ।

पच-जमेय-जमो या परिहारो सजरो सो हु ॥ १८९ ॥

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिस उनम आभ्रवृक्षोंकी प्रधानता है उसमें रहनेवाले नीमके वृक्षोंकी भी 'आभ्रवन' ऐसी सजा देनेनेम आती है। जतण्य अनेकान्तता आश्रय करनेसे सयतासयत और असयतोंका भी समय मार्गणम ग्रहण किया है। कदा भी है—

जिममें समस्त सयमाका सग्रह जर लिया गया है ऐसे लोकोत्तर और दुरधाम्य भेदरूप एक यमको धारण करनेवाला जीव सामायिकसमयत होता है ॥ १८७ ॥

जो पुरानी सावधान्यापाररूप पर्यायको छेदकर पाच यमरूप धर्ममें अपनेको स्थापित करता है वह जीव छेदोपस्थापन समयी कहलाता है ॥ १८८ ॥

जो पाच समिति जर तीन सुतियोंमें युक्त होता हुआ सदा ही सावधान्ययोगका परिहार करता है तथा पाच यमरूप छेदोपस्थापना समयको जर एक यमरूप सामायिकसमयको धारण करता है वह परिहार शुद्धि समयत कहलाता है ॥ १८९ ॥

१ गा जा ४७०

२ गो वा ४७१ छदन प्रायजिनाचरण उपस्थापन यस्म स उदापस्थापन इति निरत । अथवा प्रायजिन सवृत्तदापपरिहाराय वृत्ततपस्तदापातुसारण जिना जानान तत्रिरपसयम समापयति स छेदापस्थापन सयत , स्वउपरउद सति उपस्थापन यस्म स उदापस्थापन इत्यविरणमुपत । जा प्र टी

३ गा जी ४७२ परिहारक्य पवनगामि परिहरति तदा विज । आदिमस्तनमासु जाणुपुत्रि ज कम ॥ ३६० ॥ सत्ताम जग्गण उवांमण सहस्मसा ॥ म्माधममं सगवता मन्वगाण विरागिया ॥ ३७२ ॥ सवगणा य उक्तामा जग्गण त ॥ गणा । गणो य पवभा उत्तो एमता पडित्तिजो ॥ ३७३ ॥ एग कप्पडिय कुळा चत्ताणि परिहारिण । अप्पगिगिगा चत्र चउरा तमि तु टावण ॥ ३७४ ॥ ण य तमि पायना विग्य जा मामा दस अड य । ण वेयणा ण वत्तका णय जण उवावा ॥ ३७ ॥ जग्गणसु पुण्णसु हाव एत उवद्दा । उण्णि उण्णि यावि णमरा इमा मव ॥ ३७६ ॥ पाप्पवज्जिनिदस्म पाप्पलम्भि च विज । टावयिजान जण ण उ टावि टावण ॥ ३८३ ॥ गजे पारंतमना य दमण परिनाडया । णवपुत्रिया नहण्णण उवांम दमपुत्रिया ॥ ३८४ ॥ पचविइ वराहा कप्प न दुवेहम्मि य । दमविइ य पडित्त सत्ते त्रि परिनिगिया ॥ ३८५ ॥ पत्तिपुक्क वाय ण माचण णवि सक्का । जात्तावा अण्णिमा परिहारस्म ताण ॥ ३९१ ॥ वारम दमद दम अड छसं छ चउरो य उक्ताण । मत्तिम जग्गणा क वामावमिगिन्द ॥ ३९४ ॥ जायविल्लवारसय पत्तय परिगया परिहरति । अमिगणित्तमया

अणुलोभ वेदतो नीचो उग्रमामगो व खग्रभो वा ।
 सो सुहुम-मापराओ जहक्खादेणओ ऋ पि' ॥ १९० ॥
 उग्रसने खीणे वा असुहे ऋम्महि मोहणीयग्निह ।
 ठट्टम-गो न निणा वा जहक्खादो सजदो सो द्द ॥ १९१ ॥
 पच-ति चउग्रिहेहि अणु गुण सिक्खा-अग्निह सउत्ता ।
 वुच्चति देम-त्रिया मम्मग्घी ज्जरिय ऋमा' ॥ १९२ ॥
 दमण तय सामान्य पोसह-सच्चित्त राडभत्ते य ।
 बम्हारम परिग्गह अणुमण-उदिट्ट देस-त्रिदेदे' ॥ १९३ ॥
 जीवा चोदस-भेया इदिय त्रिसया तहट्टवीस तु ।
 जे तेसु गेय त्रिरत्ता अमज्जदा ते मुणेय-ता ॥ १९४ ॥

चाहे उपशमश्रेणीका आरोहण करनेवाला हो अथवा क्षपकश्रेणीका आरोहण करने वाला हो, परंतु जो जीव सूक्ष्म लोभका अनुभवा करता है उसे सूक्ष्मसापराय शुद्धि-सयत कहते हैं । यह सयत यथारथात् सयमसे कुछ कम सयमको धारण करनेवाला होता है ॥ १९० ॥

अशुभ मोहनीय कर्मके उपशान्त अथवा क्षय हो जाने पर ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान वर्ता छद्मस्थ और तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवर्ती जिन यथाग्यात् शुद्धि सयत होते हैं ॥ १९१ ॥

जो पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और बाग शिक्षावर्तोंसे संयुक्त होते हुए अमख्यात् गुणी कर्मनिर्जरा करने हैं ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव देशविरत रहे जाने हैं ॥ १९२ ॥

दर्शनिक, न्तिक सामायिनी, प्रोपजोपनामी, सच्चित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, त्रसवारी, आरभविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत ये देशविरतके ग्यारह भेद हैं ॥ १९३ ॥

जीवसमास चोदह प्रकारके होने हैं और इन्द्रिय तथा मनके विषय अट्टार्हस प्रकारके होने हैं । जो जीव इनसे विरत नहीं हैं उन्हें अमयत जानना चाहिये ॥ १९४ ॥

पवण्ह वि एगा समोगो ॥ ३९ ॥ परिगिआ उम्माने अणुपरिगिआ वि छम्माना । अपट्ठितो वि छम्माते नेणु अट्टास उ माये ॥ ३९६ ॥ गशह उं माये नि विट्ठा य भवति ते । तता पच्छा य ववशर पट्ठति अणुपि हरिया ॥ ३९८ ॥ गण्हि उं माये नि विट्ठा य भवति त । वग्ग कण्हि गो पच्छा परिहार तगवि ॥ ३९९ ॥ अट्टासहि मायेहि कपो सोति ममाणतो । मण्डवगाए मम छम्माना उ अणूणा ॥ ४०० ॥ बु ६ उ (अमि रा का परिहारविमुद्धिय)

१ गा जी. ४७४

२ गो जी ४७५

३ गो जी ४७६

४ गाथेय पूर्वमपि ७४ गाथाङ्गेन जायता ।

५ गो जी ४७८

मयताना गुणस्थानाना सख्यानिम्पणार्थमाह—

सजदा पमत्तसंजद प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि तिं ॥१२४॥

अथ म्याद् बुद्धिपूर्विका सायधिरिति सयम, अन्यथा काष्ठादिप्रापि मयम प्रसङ्गात् । न च केउलीपु तथाभूता निवृत्तिरस्ति ततस्तत्र मयमो दुर्घट इति नैप दोषः, अघातिचतुष्टयविनाशपेक्षया समय प्रत्यमस्यातगुणश्रेणिकर्मनिर्जरापेक्षया च सकल पापक्रियानिगेधलक्षणपारिणामिकगुणाभिर्भावापेक्षया न, तत्र मयमोपचारात् । अथवा प्रवृत्त्यभावापेक्षया मुख्यमयमोऽस्ति । न काष्ठेन व्यभिचारस्तत्र प्रवृत्त्यभावात् तस्तन्निवृत्त्यनुपपत्तेः । सुगममन्यत् ।

द्रव्यपर्यायार्थिकनयद्वयनिवन्धनमयमगुणप्रतिपादनार्थमाह—

सामाहय च्छेदोवट्टावण सुद्धि संजदा पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव अणियट्टि ति ॥ १२५ ॥

अथ मयतामं गुणस्थानानां सख्याके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मयत जीव प्रमत्तसयतसे लेकर अयोगिकेउली गुणस्थानतक होने ॥ १२४ ॥

अत्र— बुद्धिपूर्वक सायधयोगके त्यागको मयम कहना तो ठीक है । यदि ऐसा न माना जाय तो काष्ठ आदिमें भी समयका प्रसंग आजायगा । किंतु केउलीमें बुद्धिपूर्वक सायध योगकी निवृत्ति तो पार्श्व नहीं जाती है इसलिये उनमें समयका होना दुर्घट ही है ?

समाधान-- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, चार अघातिया कर्मोंके विनाश करनेकी अपेक्षा और समय समयमें असत्यातगुणी श्रेणिरूपमें कर्मनिर्जरा करनेकी अपेक्षा सपूर्ण पापक्रियाके निरोधस्वरूप पारिणामिक गुण प्रगट हो जाता है, इसलिये इस अपेक्षासे बड़ा समयका उपचार किया जाता है । अतः बड़ा पर समयका होना दुर्घट नहीं है । अथवा प्रवृत्तिके अभावकी अपेक्षा बड़ा पर मुख्य समय है । इसप्रकार जिनेन्द्रम प्रवृत्त्यभावसे मुख्य समय की सिद्धि करने पर काष्ठसे व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, काष्ठमें प्रवृत्ति नहीं जाती है, तब उसकी निवृत्ति भी नहीं धन सकती है । शेष कथन सुगम है ।

अथ द्रव्यार्थिक और पर्यायाधिक इन दोनों नयोंके निमित्तसे माने गये समयके गुणस्थान प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सामाधिक और छेदोपस्थापनारूप बुद्धिको प्राप्त सयत जीव प्रमत्तसयतसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक होने ॥ १२५ ॥

१ संयमावुवादेन संयता प्रमत्तादयो योगनेवत्यता । स सि १ ८.

२ सामाधिक-छेदोपस्थापनो-बुद्धिमयता प्रमत्तादयो-निवृत्तिरुत्पत्त्यात् । स सि १ ८

सुगमत्वादत्र न किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति ।

द्वितीयसयमस्याध्याननिरूपणार्थमाह—

**परिहार-शुद्धि-संजदा दोषु दृष्टाणेषु प्रमत्तसंजद-दृष्टाणे अप्रमत्त-
संजद-दृष्टाणे ॥ १२६ ॥**

उपरिष्ठात्किमित्ययं सयमो न भवेदिति चेन्न, ध्यानामृतसागरान्तनिमग्नतात्मना वाचयमानामुपसहृतगमनागमनादिकायव्यापाराणां परिहारानुपपत्तेः । प्रवृत्तः परिहरति नाप्रवृत्तस्ततो नोपरिष्ठात्सयमोऽस्ति । परिहारशुद्धिसयतः किमु एकयम उत पंचयम इति ? किंचातो यद्येकयमः सामायिकेऽन्तर्भवति । अथ यदि पंचयमः छेदोपस्थापनेऽन्तर्भवति ? न च संयममादधानस्य पुरुषस्य द्रव्यपर्यायार्थिकक्राम्या व्यतिरिक्तस्यास्ति सम्भवस्ततो न परिहारमयमोऽस्तीति न, परिहारद्वयतिशयोत्पत्त्यपेक्षया ताभ्यामस्य कथञ्चिद्वेदात् । तद्रूपापरित्यागेनैव परिहारद्विपर्यायेण परिणततत्त्वान्न ताभ्यामन्योऽप्य-

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहाँ कुछ विशेष कहने योग्य नही है ।

अथ दूसरे सयमके गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

परिहार शुद्धि सयत प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुणस्थानोंमें होते हैं ॥ १२६ ॥

शंका—ऊपरके आठवें आदि गुणस्थानोंमें यह सयम क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिनकी आत्माएँ ध्यानरूपी अमृतके सागरमें निमग्न ह, जो वचन यम (मोन) का पालन करते हैं और जिन्होंने जाने जानेरूप संपूर्ण शरीरसबन्धी व्यापार सज्जित कर लिया है ऐसे जीवोंके शुभाशुभ क्रियाओंका परिहार बन ही नहीं सकता है । क्योंकि, गमनागमन आदि क्रियाओंमें प्रवृत्ति करनेवाला ही परिहार कर सकता है, प्रवृत्ति नहीं करनेवाला नहीं । इसलिये ऊपरके आठवें आदि ध्यान अवस्थाको प्राप्त गुणस्थानोंमें परिहार शुद्धि सयम नहीं बन सकता है ।

शंका—परिहार-शुद्धि-सयम क्या एक यमरूप है या पांच यमरूप ? इनमेंसे यदि एक यमरूप है तो उसका सामायिकमें अन्तर्भाव होना चाहिये और यदि पांच यमरूप है तो छेदोपस्थापनामें अन्तर्भाव हो जाना चाहिये । सयमको धारण करनेवाले पुरुषके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा इन दोनों सयमोंसे भिन्न तीसरे सयमकी समाधना तो है नहीं, इसलिये परिहार-शुद्धि सयम नहीं बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, परिहार कद्विरूप अतिशयकी उत्पत्तिकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थानाने परिहार शुद्धि सयमका कथंचिद् भेद है ।

शंका—सामायिक और छेदोपस्थापनारूप अवस्थाका त्याग न करने हुए ही परिहार कद्विरूप पर्यायसे यह जीव परिणत होता है, इसलिये सामायिक और छेदोपस्थापनाने भिन्न

मयम इति चेन्न, प्राग्विद्यमानपरिहारद्वैतपेक्षया ताम्यामन्य भेदात् । ततः स्थितमेत-
त्ताभ्यामन्यः परिहारसयम इति । परिहारद्वैतरुपरिष्ठादपि सत्त्वात्ताभ्यामस्तु मयमिति
चेन्न, तत्कार्यस्य परिहरणलक्षणस्यामरुतस्तत्र तदभावात् ।

तृतीयमयमस्याध्यानप्रतिपादनार्थमाह—

**सुहृम-सांपराइय सुद्धि सजदा एकाम्नि चेव सुहृम-सांपराइय-
सुद्धि-संजद-द्वारे ॥ १२७ ॥**

सूक्ष्मसाम्पराय किमु एकरूपम उत पञ्चयम इति ? किं चातो यद्येकरूपम पञ्चयमान
मुक्तिरुपशमश्रेण्यारोहण या सूक्ष्मसाम्परायगुणप्राप्तिमन्तरेण तदुभयाभावात् । अथ पञ्चयम'
एकरूपमाना पूर्वोक्तदोषा ममाहोक्ते । अथोभययम, एकरूपमपञ्चयमभेदेन सूक्ष्मसाम्परा-
यह सयम नहीं हो सकता ह ?

समाधान—तथा, क्योंकि, पहले अविद्यमान परन्तु पीछेसे उत्पन्न हुई परिहार श्रद्धिकी
अपेक्षा उन दोनों सयमोंसे इसका भेद है, तब यह बात निश्चित हो जाती है कि सामायिक
आर छेदोपस्थापनासे परिहार शुद्धि-सयम भिन्न ही है ।

शङ्का—परिहार श्रद्धिकी आगेके आठवें आदि गुणस्थानोंमें भी सत्ता पाई जाती है,
अनप्य वहा पर इस सयमका सद्भावन मान लेना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यद्यपि आठवें आदि गुणस्थानोंमें परिहार श्रद्धि पाई
जाता ह परन्तु वहा पर परिहार करनेरूप उसका कार्य तहा पाया जाता है, इसलिये आठवें आदि
गुणस्थानोंमें परिहार शुद्धि सयमका अभावन कहा गया ह ।

अथ तीसरे सयमके गुणस्थानका निरूपण करनेके लिये सत्र कहते हैं—

सूक्ष्मसांपराय श्रद्धि सयन जीव एक सूक्ष्मसांपराय श्रद्धि सयन गुणस्थानमें ही
होते ह ॥ १२७ ॥

शङ्का—सूक्ष्मसांपरायसयम क्या एकरूपम है अथवा पांच यमरूप ? इनमेंसे यदि
एक यमरूप है तो पञ्चयमरूप छेदोपस्थापनासयमसे मुक्ति अथवा उपशमश्रेणीका
आरोहण नहा बन सक्ता है, क्योंकि, सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानकी प्राप्तिके बिना
मुक्तिकी प्राप्ति और उपशमश्रेणीका आरोहण नहा बन सकेगा ? यदि सूक्ष्मसांपराय
पांच यमरूप है तो एक यमरूप सामायिक सयमको धारण करनेवाले जीवोंके पूर्वोक्त
दोनों दोष प्राप्त होते ह ? यदि छेदोपस्थापनाको उभय यमरूप मानते ह तो एक यम और
पञ्चयमके भेदसे सूक्ष्मसांपरायके दो भेद हो जाने ह ?

याणा द्वैत्रिध्यमापतेदिति । नाद्यौ प्रिकल्पाननभ्युपगमात् । न तृतीयप्रिकल्पोक्तदोषः सम्भवति पञ्चकयमभेदेन संयमभेदाभावात् । यद्येकयमपञ्चयमौ सयमस्य न्यूनाधिक-
भावस्य निरन्धनप्रेषाभविष्यता सयमभेदोऽप्यभविष्यत् । न चैव संयमं प्रति द्वयोर-
विशेषात् । ततो न सूक्ष्ममाप्तरायमयमस्य तद्द्वारेण द्वैत्रिध्यमिति । तद्द्वारेण संयमस्य
द्वैत्रिध्याभावे पञ्चविधमयमोपदेशः कथं घटत इति चेन्मा घटिष्ट । तर्हि कतिविधः
सयमः ? चतुर्विधः पञ्चमस्य मयमस्यानुपलम्भात् । सुगममन्यत् ।

चतुर्थसयमस्याधानप्रतिपादनार्थमाह—

जहाक्खाद-विहार-सुद्धि-संजदा चटुसु द्वाणेषु उवसंत-कसाय-
वीयराय-छदुमत्था खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था सजोगिकेवली
अजोगिकेवलि ति' ॥ १२८ ॥

ममाधान—आदिके दो प्रिकल्प तो ठीक नहीं है, क्योंकि, वेसा हमने माना नहीं
है । इसीप्रकार तीसरे विकल्पमें दिया गया दोष भी सभव नहीं है, क्योंकि, पचयम और एकयमके
भेदसे सयममें कोई भेद ही सभव नहीं है । यदि एकयम और पचयम सयमके न्यूनाधिकभावके
कारण होते तो सयममें भेद भी हो जाता । परंतु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि, सयमके प्रति दोनोंमें
कोई विशेषता नहीं है । अतः सूक्ष्मसापराय सयमके उन दोनोंकी अपेक्षा दो भेद नहीं हो
सकते हैं ।

शङ्का—जय कि उन दोनोंकी अपेक्षा सयमके दो भेद नहीं हो सकते हैं तो पाच
प्रकारके सयमका उपदेश कैसे बन सकता है ?

समाधान—यदि पाच प्रकारका सयम घटित नहीं होता है तो मत होओ ।

शङ्का—तो सयम कितने प्रकारका है ?

समाधान—सयम चार प्रकारका है, क्योंकि, पाचवा सयम पाया ही नहीं जाता है ।
शेष कथन सुगम है ।

विशेषार्थ—सामाधिक और छद्मोपस्थापना सयममें विवक्षा भेदसे ही भेद है वास्तवमें
नहीं, अतः ये दोनों मिलकर एक और शेषके तीन इसप्रकार सयम चार प्रकारके होते हैं ।

अथ चोथे सयमके गुणस्थानाके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

यथाग्यात विहार शुद्धि सयत जीव उपशान्त रूपाय प्रीतराग छद्मस्य, क्षीणकपाय-
वीतराग-छद्मस्य सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानोंमें होते हैं ॥ १२८ ॥

सुगमत्वाच्चात्र उक्तव्यमस्ति ।

देशविरतगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

संजदासंजदा एकस्मि चेय सजदासंजद-द्वारेण ॥१२९॥

सुगममेतत् ।

असयतगुणस्य गुणस्थानप्रमाणनिरूपणार्थमाह—

असंजदा एइंदिय षष्ठुडि जाव असजदसम्माइट्टि ति' ॥१३०॥

मिथ्यादृष्टयोऽपि केचित्समयता दृश्यन्त इति चेन्न, सम्यक्त्वमन्तरेण समयमानुष-
पत्तेः । सिद्धानां क' समयो भवतीति चेन्नैकोऽपि । यथा बुद्धिपूर्वकनिवृत्तेरभ्यास-
सयतास्तत एव न सयतामयता नाप्यमयता प्रगष्टाशेषपापक्षयित्वात् ।

समयद्वारेण जीवपदार्थमभिरूप्य सम्यक् दर्शनमुत्पेन जीवमवानिरूपणार्थमाह—

दसणाणुवादेण अत्थि चक्खुदसणी अवचक्खुदसणी ओधिदंसणी
केवलदसणी चेदि' ॥ १३१ ॥

इम सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहा विशेष उल्ल कहने योग्य नहीं ह ।

अथ देशविरत गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते ह—

सयतासयत जीव एक सयतासयत गुणस्थानमें ही होते ह ॥ १२९ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम ह ।

अत्र असयतगुणके गुणस्थानके प्रमाणके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते ह—

असयत जीव एकेन्द्रियसे लेकर असयतसम्यग्वापि गुणस्थानतक होते ह ॥ १३० ॥

शंका—कितने ही मिथ्यादृष्टि जीव सयत देखे जाते ह ?

समाधान—नहा, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके बिना समयमयी उत्पत्ति नहीं हो सकती ह ।

शंका—सिद्ध जीवके मनसा समय होता ह ?

समाधान—एक भी समय नहा होता ह । उनसे बुद्धिपूर्वक निवृत्तिरा अभाव होनेसे जिसलिये वे सयत नहीं ह, इसलिये सयतामयन नहा ह और अमयत भी नहीं ह, क्योंकि, उनके सपूर्ण पापरूप मिथ्याप नष्ट हो चुकी ह ।

समयमार्गणाके द्वारा जीव पदार्थका कथन करते अत्र दर्शनमार्गणाके द्वारा जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते ह—

दर्शनमार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शन, अवचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन ओर वेदलदर्शनके धारण करनेवाले जीव होते ह ॥ १३१ ॥

१ सयतामयता परस्मिन्भव सयतामयतस्थान । स छि १ ८

२ अमयता आद्यपु चतुषु गुणस्थानपु । स गि १ ८

३ मार्गचक्षुषिन्द्रियाकरणयोग्यसमाद् दर्शनमार्गणावाच्य चक्षुदर्शननिष्पद्यदर्शनलक्षितो जीवस्य भगवति

चतुषा सामान्यस्यार्थस्य ग्रहणं चतुर्दर्शनम् । अथ स्याद्विषयविषयिसम्पातसमनन्तर-
माद्यग्रहणमग्रहः । न तेन वाद्यार्थगतविषयसामान्य परिच्छिद्यते तस्यास्तुनः कर्मत्वा-
भावात् । अविषयीकृतप्रतिषेधस्य ज्ञानस्य त्रिषोः प्रवृत्तिविरोधात् । त्रिषेः प्रतिषेधाद् व्यावृत्तो
गृह्यतेऽव्यावृत्तो वा ? आद्ये न त्रिधिसामान्यग्रहण प्रतिषेधेन मह विध्युपादानात् ।
द्वितीये न तद्धि ग्रहण त्रिधिसामान्यग्रहणे तस्यान्तर्भावात् । न त्रिधिसामान्यग्रहण प्रतिषेध-
सामान्यमपि परिच्छिद्यते त्रिधिवक्षोक्तदोषदृष्टित्वात् । तस्माद्विधिनिषेधात्मकवाक्यार्थ-

चतुर्के द्वारे सामान्य पदार्थके ग्रहण करनेको चतुर्दर्शन कहते हैं ।

प्रश्ना— विषय और विषयीके योग्य सन्धके अनन्तर प्रथम ग्रहणको जो अवग्रह
कहा है । सो उस अवग्रहके द्वारे बाह्य अर्थमें रहनेवाले विधि सामान्यका ज्ञान तो हो नहीं
सकता है, क्योंकि, बाह्य अर्थमें रहनेवाला विधि सामान्य अवस्तु है इसलिये वह कर्म अर्थात्
ज्ञानका विषय नहीं हो सकता है । दूसरे जिस ज्ञानने प्रतिषेधको विषय नहीं किया है उसकी
विधिमें प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है । इसलिये विधिकी प्रतिषेधसे व्यावृत्त होकर ग्रहण
होता है या अव्यावृत्त होकर ग्रहण होता है ? प्रथम विकल्पके मानने पर केवल विधि
सामान्यका ग्रहण तो बन नही सकता है, क्योंकि, प्रतिषेधके साथ ही विधिकी ग्रहण देखा
जाता है । दूसरे विकल्पके मानने पर ऐसे ग्रहणका कोई स्वतन्त्र स्थान नही, क्योंकि, विधि
और प्रतिषेध इन दोनोंके ग्रहणमें ही प्रतिषेधके अव्यावृत्त विधिकी अन्तर्भाव हो जाता
है । इसीप्रकार तब अर्थमें रहनेवाले प्रतिषेधसामान्यका भी ग्रहण नहीं बन सकता है, क्योंकि,
विधि पक्षमें जो दोष दे आये है वे सब यहाँ पर भी लागू पड़ते हैं । इसलिये विधि निषेधात्मक

इति चतुर्दर्शनम् । सामान्यविषयविषयिसम्पातसमनन्तरमाद्यग्रहणमग्रहः । न तेन वाद्यार्थगतविषयसामान्य परिच्छिद्यते तस्यास्तुनः कर्मत्वाभावात् । अविषयीकृतप्रतिषेधस्य ज्ञानस्य त्रिषोः प्रवृत्तिविरोधात् । त्रिषेः प्रतिषेधाद् व्यावृत्तो गृह्यतेऽव्यावृत्तो वा ? आद्ये न त्रिधिसामान्यग्रहण प्रतिषेधेन मह विध्युपादानात् । द्वितीये न तद्धि ग्रहण त्रिधिसामान्यग्रहणे तस्यान्तर्भावात् । न त्रिधिसामान्यग्रहण प्रतिषेधसामान्यमपि परिच्छिद्यते त्रिधिवक्षोक्तदोषदृष्टित्वात् । तस्माद्विधिनिषेधात्मकवाक्यार्थ-
चतुर्के द्वारे सामान्य पदार्थके ग्रहण करनेको चतुर्दर्शन कहते हैं ।
प्रश्ना— विषय और विषयीके योग्य सन्धके अनन्तर प्रथम ग्रहणको जो अवग्रह
कहा है । सो उस अवग्रहके द्वारे बाह्य अर्थमें रहनेवाले विधि सामान्यका ज्ञान तो हो नहीं
सकता है, क्योंकि, बाह्य अर्थमें रहनेवाला विधि सामान्य अवस्तु है इसलिये वह कर्म अर्थात्
ज्ञानका विषय नहीं हो सकता है । दूसरे जिस ज्ञानने प्रतिषेधको विषय नहीं किया है उसकी
विधिमें प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है । इसलिये विधिकी प्रतिषेधसे व्यावृत्त होकर ग्रहण
होता है या अव्यावृत्त होकर ग्रहण होता है ? प्रथम विकल्पके मानने पर केवल विधि
सामान्यका ग्रहण तो बन नही सकता है, क्योंकि, प्रतिषेधके साथ ही विधिकी ग्रहण देखा
जाता है । दूसरे विकल्पके मानने पर ऐसे ग्रहणका कोई स्वतन्त्र स्थान नही, क्योंकि, विधि
और प्रतिषेध इन दोनोंके ग्रहणमें ही प्रतिषेधके अव्यावृत्त विधिकी अन्तर्भाव हो जाता
है । इसीप्रकार तब अर्थमें रहनेवाले प्रतिषेधसामान्यका भी ग्रहण नहीं बन सकता है, क्योंकि,
विधि पक्षमें जो दोष दे आये है वे सब यहाँ पर भी लागू पड़ते हैं । इसलिये विधि निषेधात्मक

ग्रहणमग्रह । न स दर्शनं सामान्यग्रहणस्य दर्शनव्यपदेशात् । ततो न चतुर्दर्शनमिति ।

अत्र प्रतिप्रतीयते, नेते दोषा दर्शनमार्ताकृन्ते तस्यान्तरङ्गार्थविषयत्वात् । अन्तरङ्गार्थोऽपि सामान्यविशेषात्मक इति । तद्विप्रतिषेधसामान्ययोः उपयोगस्य क्रमेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरक्रमेण तत्रोपयोगस्य प्रवृत्तिरङ्गीकर्तव्या । तथा च न सोऽन्तरङ्गोपयोगोऽपि दर्शनं तस्य सामान्यविशेषविषयत्वादिति चेन्न, सामान्यविशेषात्मकस्यात्मनः सामान्य-शब्दवाच्यत्वेनोपादानात् । तस्य ह्य सामान्यतेति चेदन्यते । चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमो हि नाम रूप एव नियमितस्ततो रूपविशिष्टस्यैवार्थग्रहणस्योपलम्भात् । तत्रापि रूपसामान्य एव नियमितस्ततो नीलादिपेरूपेणैव विशिष्टस्वरूपोपलम्भात् । तस्माच्चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमो रूपविशिष्टार्थं प्रति समान आत्मयतिरिक्तक्षयोपशमाभावादात्मापि तद्वद्वारेण समानः, तस्य भावः सामान्य तद्दर्शनस्य विषय इति स्थितम् ।

अथ स्याच्चक्षुषा यत्प्रकाशते तद्दर्शनम् । न चात्मा चक्षुषा प्रकाशते तथानुपल-

घात पदार्थके ग्रहणको अग्रह मानना चाहिये। परन्तु वह अग्रह दर्शनरूप तो हो नहीं सकता है, क्योंकि, जो सामान्यको ग्रहण करता है उसे दर्शन कहा है। अतः चतुर्दर्शन नहीं बनता है।

समाधान—ऊपर दिये गये ये सब दोष दर्शनको नहीं प्राप्त होते हैं, क्योंकि, वह अन्तरंग पदार्थको विषय करता है । और अन्तरंग पदार्थ भी सामान्य विशेषात्मक होता है । इसलिये विसामान्य और प्रतिषेधसामान्यमें उपयोगकी क्रमसे प्रवृत्ति नहीं बनती है, अतः उनमें उपयोगकी क्रमसे प्रवृत्ति स्वीकार करना चाहिये । अर्थात् दोनोंका शुभपक्ष ही ग्रहण होता है ।

शङ्का—इस कथनको मान लेने पर भी वह अन्तरंग उपयोग दर्शन कहा हो सकता है, क्योंकि, उस अन्तरंग उपयोगको सामान्यविशेषात्मक पदार्थ विषय मान लिया है ।

समाधान—नहीं, क्योंकि, यहापर सामान्यविशेषात्मक आत्माका सामान्य शब्दके वाच्यरूपमें ग्रहण किया है ।

शङ्का—उसको सामान्यपना कैसे है ?

समाधान—चक्षु इन्द्रियारण्यक्षयोपशम रूप ही नियमित है । इसलिये उसमें रूपविशिष्ट ही पदार्थका ग्रहण पाया जाता है । वहापर भी चतुर्दर्शनम रूपसामान्य ही नियमित है । इसलिये उसमें नीलादिरूप किसी एक रूपके द्वारा ही विशिष्ट वस्तुकी उपलब्धि नहीं होता है । अतः चक्षु इन्द्रियारण्यक्षयोपशम रूपविशिष्ट वर्णों प्रति समान है । और आत्माको छोड़कर क्षयोपशम पाया नहीं जाता है । इसलिये आत्मा भी क्षयोपशमकी अपेक्षा समान है । और उस समानके भावको सामान्य कहते हैं । वह दर्शनका विषय है ।

शङ्का—चक्षु इन्द्रियसे जो प्रकाशित होता है उसे दर्शन कहते हैं । परन्तु आत्मा तो चक्षु इन्द्रियसे प्रकाशित होना नहीं, क्योंकि, चक्षु इन्द्रियमें आत्माकी उपलब्धि होती हुई नहीं देखी जाती है । चक्षु इन्द्रियसे रूपसामान्य और रूपविशेषसे शुक्त पदार्थ प्रकाशित

म्भात् । प्रकाशते च रूपमामान्यविशेषप्रतिष्ठाप्यः । न म दर्शनमर्थस्यापयोगरूपत्वा-
 त्प्रियोवात् । न तस्योपयोगोऽपि दर्शनं तस्य ज्ञानरूपत्वात् । ततो न चक्षुर्दर्शनमिति न,
 चक्षुर्दर्शनावरणीयस्य कर्मणोऽस्तित्त्वाभ्यानुपपत्तेराधार्याभावे आधारकस्याप्यभावात् ।
 तस्माच्चक्षुर्दर्शनमन्तरङ्गविषयमित्यङ्गीकर्तव्यम् । किं च निद्रानिद्रादीनि कर्माणि न
 ज्ञानप्रतिबन्धकानि ज्ञानावरणभ्यन्तरे तेषामपाठात् । नान्तरङ्गबहिरङ्गार्थविषयोपयोग-
 द्वयप्रतिबन्धकानि एवमपि ज्ञानावरणस्यैवान्तर्भावान् । नान्तरङ्गबहिरङ्गार्थविषयोपयोग-
 सामान्यप्रतिबन्धकानि जाग्रदवस्थायां छद्मस्थज्ञानदर्शनोपयोगयोरक्रमेण वृत्तिप्रसङ्गात् ।
 ततो दर्शनावरणीयकर्मणोऽस्तित्त्वाभ्यानुपपत्तेरन्तरङ्गार्थविषयोपयोगप्रतिबन्धकं दर्शना-
 वरणीयम्, बहिरङ्गार्थविषयोपयोगप्रतिबन्धकं ज्ञानावरणमिति प्रतिपत्तव्यम् । आत्म-
 विषयोपयोगस्य दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे आत्मनो विशेषाभावाच्चतुर्णामपि दर्शनानाम-
 विशेष, स्यादिति चेन्नैष दोषः, यत्रस्य ज्ञानस्योत्पादकं स्वरूपसंवेदनं तस्य तद्दर्शन-

होता है । परन्तु पदार्थ तो उपयोगरूप हो नहीं सकता, क्योंकि, पदार्थको उपयोगरूप माननेमें
 विरोध आता है । पदार्थका उपयोग भी दर्शन नहीं हो सकता है, क्योंकि, वह उपयोग ज्ञान
 रूप पड़ता है । इसलिये चक्षुर्दर्शनमा अस्तित्व नहीं बनता है ।

समाधान--नहीं, क्योंकि, यदि चक्षुर्दर्शन नहीं हो तो चक्षुर्दर्शनावरण कर्म नहा
 बन सकता है, क्योंकि, आधार्थिके अभावमें आधारका भी अभाव हो जाता है । इसलिये
 अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाला चक्षुर्दर्शन है यह बात स्वीकार कर लेना चाहिये ।
 दूसरे निद्रानिद्रा आदि कर्म ज्ञानके प्रतिबन्धक नहीं है, क्योंकि, ज्ञानावरण कर्मके भेदोंमें इन
 निद्रानिद्रा आदि कर्मोंका पाठ नहा है । तथा निद्रानिद्रा आदि कर्म अन्तरंग और बहिरंग
 पदार्थोंको विषय करनेवाले दोनों उपयोगोंके भी प्रतिबन्धक नहीं है, क्योंकि, ऐसा मानने पर
 भी निद्रानिद्रादिकका ज्ञानावरणके भीतर ही अन्तर्भाव होना चाहिये था । परन्तु ऐसा नहीं है,
 अतः निद्रानिद्रादिक दोनों उपयोगके भी प्रतिबन्धक नहीं है । निद्रानिद्रादिक अन्तरंग और
 बहिरंग पदार्थोंको विषय करनेवाले उपयोग सामान्यके भी प्रतिबन्धक नहीं हैं, क्योंकि, ऐसा
 मान लेने पर जाग्रत अवस्थामें छद्मस्थज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगकी युगपत् प्रवृत्तिका प्रसंग
 भा जायगा । इसलिये दर्शन यदि न हो तो दर्शनावरण कर्ममा अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता
 है । अतः अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाले उपयोगमा प्रतिबन्धक दर्शनावरण कर्म है
 और बहिरंग पदार्थको विषय करनेवाले उपयोगका प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म है ऐसा
 जानना चाहिये ।

शङ्का—आत्माको विषय करनेवाले उपयोगको दर्शन स्वीकार कर लेनेपर आत्मामें
 कोई विशेषता नहीं होनेसे चारों दर्शनोंमें भी कोई भेद नहीं रह जायगा ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जो जिस ज्ञानका उत्पन्न करनेवाला

आदा णाण पमाण णाण णेय पमाणमुत्तिष्ठ ।

णेय लोआलोअ तम्हा णाण तु सञ्च गय' ॥ १९८ ॥

एय द्वियग्नि जे अत्य पनया वपण पनया नावि ।

तीदणागय भूदा तादिय त हयइ दन्व' ॥ १९९ ॥ इदि

लेश्याद्वारेण जीयपदार्थसत्त्वान्वेषणायाह—

लेस्साणुवादेण अत्थि किण्हलेस्सिया णीललेस्सिया काउ-
लेस्सिया तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सुकलेस्सिया अलेस्सिया
चेदि ॥ १३६ ॥

लेश्या इति किमुक्त भवति? कर्मस्फूर्ध्वरात्मान लिम्पतीति लेश्या ।
कृत्वापानुराजितैव योगप्रवृत्तिलक्ष्येति नात्र परिगृह्यते मययोगकेऽलिनोऽलेश्यत्वापत्ते ।
अप्युच्यते, 'शुक्लेश्यः सयोगकेऽली' इति उच्यते नव्याघातात् । लेश्या नाम योग

स्वर -
होने - आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान धेयप्रमाण है, ज्ञेय लोकालोकप्रमाण है, इसलिये ज्ञान
भावको - कहा है ॥ १९८ ॥
होते है । - द्रव्यमें अतीत, अनागत और गायमें आये हुए 'अपि' शब्दसे वर्तमानपर्यायरूप
प्रकारकी श - र्थ और अर्थजन्यपर्याय है तत्प्रमाण यह द्रव्य होता है ॥ १९९ ॥
भी नहीं है, व - मार्गणाद्वारा जीयपदार्थके अस्तित्वके अन्वेषण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—
होती है । मम, - मनुष्यादि - नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्म
एकसाथ उत्पत्ति ३३६ ॥

चक्षुर्दर्शनाध्यानप्रतिपादनार्थमाह—

चक्षु-दंसणी चउरिदिय प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-
छटुमत्था त्ति ॥ १३२ ॥

सुगममेतत् ।

अचक्षुर्दर्शनस्याविपत्तिप्रतिपादनार्थमाह—

अचक्षु-दंसणी एइदिय-प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-
छटुमत्था त्ति ॥ १३३ ॥

दृष्टान्तस्मरणमचक्षुर्दर्शनमिति केचिदाचक्षते तन्न घटते एकेन्द्रियेषु चक्षुर-
भाषतोऽचक्षुर्दर्शनम्याभाषामञ्जननात् । दृष्टशब्द उपलम्भमाचक्ष इति चेन्न, उपलब्धार्थ-
विषयस्मृतेर्दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे मनसो निविषयतापत्तेः । तत् स्वरूपसंवेदन दर्शन-
मित्यङ्गीकर्तव्यम् । ज्ञानमेव द्विभूतं किञ्च स्यादिति चेन्न, स्वस्माद्विन्नस्तुपंगिच्छेदक

अथ चक्षुर्दर्शनसम्बन्धी गुणस्यानाके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

चक्षुर्दर्शन उपयोगनाले जीव चतुरिन्द्रियसे लेकर क्षीणरूपाय छन्नस्थ पीतराग गुण
स्यान तक होते हैं ॥ १३२ ॥

इसका अर्थ सरल है ।

अथ अचक्षुर्दर्शनके सामी बनलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

अचक्षुर्दर्शन उपयोगनाले जीव एकेन्द्रियसे लेकर क्षीणरूपाय पीतराग छन्नस्थ गुण
स्यान तक होते हैं ॥ १३३ ॥

दृष्टान्त अर्थात् देखे हुए पदार्थका स्मरण करना अचक्षुर्दर्शन है, इसप्रकार कितने ही
पुरुष कहते हैं । परन्तु उनका ऐसा कहना यदि नहीं होता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर
एवेन्द्रिय जीवोंमें चक्षुश्चन्द्रियका अभाव होनेसे उनके अचक्षुर्दर्शनके अभावका प्रसंग आजायगा ।

शुद्धा—दृष्टान्तमें 'दृष्ट' शब्द उपलम्भमाचक्ष ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उपलब्ध पदार्थको विषय करनेवाली स्मृतिको दर्शन
स्वीकार कर लेनेपर मनको विषय रहितपनेकी आपत्ति आजाती है । इसलिये स्वरूपसंवेदन
दर्शन है ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिये ।

शुद्धा—ज्ञान ही दो स्वभाववाला क्यों नहीं मान लिया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अपनेसे भिन्न वस्तुका परिच्छेदक ज्ञान है और अपनेसे
अभिन्न वस्तुका परिच्छेदक दर्शन है, इसलिये इन दोनोंमें एकपन नहीं बन सकता है ।

व्यपदेशान्न दर्शनस्य चातुर्बिध्यनियम' । यान्तन्तुश्चन्द्रियक्षयोपशमननितनानस्य
विषयभावमापन्ना पदार्थास्तान्त ग्यात्मस्थक्षयोपशमास्तत्तन्नामानस्तद्द्वारेणापि तादा-
नेन तच्छक्तिसंचितात्मपरिच्छिच्छिदर्शनम् । न चत्तत्कात्पनिक परमार्थत एव परोपदेश
मन्तरेण शक्त्या सहात्मन उपलम्भात् । न दर्शनानामनमण प्रवृत्तिर्जीनानामक्रमेणो-
त्पत्त्यभावतस्तदभावात् । न च शेषदर्शनानामपि उक्तं यम् । ततो न दर्शनानामेकत्व
मिति उक्तं च —

चक्षुण न पयासि दिस्तदि तच्चक्षु दमण वेति ।

सोसिदिय पयासो णाद ये सो अचक्षु सि ॥ १९५ ॥

परमणु आदियाद् अतिमन्त्र नि मुति इमाइ ।

त जोषि दसण पुण न पम्पद ताद प चक्षव ॥ १०६ ॥

बहुभिह बहुपण रा उ नोवा परिमियहि वेत्तमिह ।

योगालोम अतिमिया जा वचन्दमणु नायो ॥ १०७ ॥

स्वरूपमवेदन हे उसको उसी नामका दर्शन कहा जाता है । इसलिये दर्शनके चार प्रकारके होनेका कोई नियम नहीं है । चक्षु इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे उ पक्ष हुए ज्ञानके विषय भावसे प्राप्त जितने पदार्थ ह उनमें ही आत्मात्म स्थित क्षयोपशम उन उन साधकोंको प्राप्त होते ह । और उनके निमित्तसे आत्मा भी उनमें ही प्रकाश हो जाता है । जन इस प्रकारकी शक्तियासे युक्त आत्मासे सवेदन करनेसे दर्शन पड़ते ह । यह सब कथन फाल्गुनिक भी नहा है, क्योंकि, परोपदेशके बिना अनेक शक्तियोंसे युक्त आत्माकी परमार्थसे उपलब्धि होती है । सभी दर्शनाकी अक्रमसे प्राप्ति होती ह सो बात भी नहा है, क्योंकि, ज्ञानकी एकसाव उत्पत्ति नहीं होती है, अतः सपूर्ण दर्शनोंकी भी एकसाव उत्पत्ति नहा होता है । इसीप्रकार शेष दर्शनाका भी कान करना चाहिये । इसलिये दर्शनोंम परता अर्थम् अभेद सिद्ध नहीं हो सक्ता ह । कहा भी है—

जो चक्षु इन्द्रियके द्वारा प्रकाशित होता है अथवा दिखाई देता है उसे चक्षुदर्शन कहते ह । तथा शेष इन्द्रिय और मनसे जो प्रतिभास होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं ॥१०॥

परमाणुसे आदि लेकर अतिम सूक्ष्मपर्यन्त मूर्त पदार्थोंको जो प्रत्यक्ष देखता है उसे अयधिदर्शन कहते हैं ॥१०॥

अपने अपने अनेक प्रकारके भेदसे युक्त घट्टन प्रकारके प्रकाश इस परिमित क्षेत्रमें ही पाये जाते ह । परन्तु जो केवल दर्शनरूपी प्रकाश है वह लोक और अलोकको भी निमित्त रहित कर देता है ॥१०॥

१ गो जा ४८४

१ गो जा ४८५

१ गो जी ४८६

चतुर्दर्शनाधानप्रतिपादनार्थमाह—

चक्षु-दंसणी चउरिदिय प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-
छटुमत्था ति ॥ १३२ ॥

सुगममेतत् ।

अचक्षुदर्शनस्याविपत्तिप्रतिपादनार्थमाह—

अचक्षु-दंसणी एइदिय-प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-
छटुमत्था ति ॥ १३३ ॥

दृष्टान्तस्मरणमचक्षुदर्शनमिति केचिदाचक्षते तत्र घटते एकेन्द्रियेषु चक्षुर-
भाप्रतोऽचक्षुदर्शनस्याभाप्राप्तजननात् । दृष्टशब्द उपलम्भप्राचर इति चेन्न, उपलब्धार्थ-
विषयस्मृतेर्दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे मनसो निर्विषयतापत्तेः । तत स्वरूपसत्त्वेदन दर्शन-
मित्यङ्गीकर्तव्यम् । ज्ञानमेव द्विभूतं किं स्यादिति चेन्न, स्वस्माद्विन्नस्तुपरिच्छेदक

अत्र चक्षुदर्शनसम्बन्धी गुणस्थानां प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

चक्षुदर्शन उपयोगगले जीव चतुरिन्द्रियमे लेकर क्षीणरूपाय छन्नस्थ वीतराग गुण
स्थान तक होते हैं ॥ १३२ ॥

इसका अर्थ सरल है ।

अत्र अचक्षुदर्शनके भ्रात्री बतलानेके लिये मंत्र कहते हैं—

अचक्षुदर्शन उपयोगगले जीव एकेन्द्रियसे लेकर क्षीणरूपाय वीतराग छन्नस्थ गुण
स्थान तक होते हैं ॥ १३३ ॥

दृष्टान्त अर्थात् देखे हुए पदार्थका स्मरण करना अचक्षुदर्शन है, इसप्रकार कितने ही
पुरुष कहते हैं । परन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर
एकेन्द्रिय जीवोंमें चक्षुश्चन्द्रियका अभाव होनेसे उनमें अचक्षुदर्शक के अभावका प्रसंग आजायगा ।

शंका—दृष्टान्तमें 'दृष्ट' शब्द उपलम्भप्राचर ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उपलब्ध पदार्थको विषय करनेवाली स्मृतिको दर्शन
स्वीकार कर लेनेपर मनसो विषय रहितपनेकी आपत्ति आजाती है । इसलिये स्वरूपसत्त्वेदन
दर्शन हे ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिये ।

शंका—ज्ञान ही दो स्वभाववाला क्यों नहीं मान लिया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अपनेसे भिन्न वस्तुका परिच्छेदक ज्ञान हे ओर अपनेसे
अभिन्न वस्तुका परिच्छेदक दर्शन हे, इसलिये इन दोनोंमें परस्पर नहीं वन सकता है ।

आदा णाण पमाण णाण णेय पमाणमुदिह ।

णेय रोगालोअ तग्घा णाण तु सत्त गय' ॥ १९८ ॥

एय द्रियग्णि जे अत्थ प'नया वयण प'नया वाप्ति ।

तोदाणागय भूदा तारादिय त हम्ह दब्ब' ॥ १९९ ॥ इदि

लेश्याद्वारेण जीवपदार्थसत्त्वान्नेपणायाह—

लेस्साणुवादेण अत्थि किण्हलेस्सिया णीललेस्सिया काउ-
लेस्सिया तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सुकलेस्सिया अलेस्सिया
चेदि ॥ १३६ ॥

लेश्या इति किमुक्त भवति? कर्मस्करैरात्मान लिम्पतीति लेश्या ।
कपायानुरजितैर्योगप्रवृत्तिलेश्यति नात्र परिगृह्यते सयोगकेवलिनोऽलेश्यत्तापत्ते ।
अस्तु चेन्न, 'शुक्लेश्यः सयोगकेवली' इति वचनव्याघातात् । लेश्या नाम योग

आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान श्रेयप्रमाण है, श्रेय लोभालोकप्रमाण है, इसलिये ज्ञान
सर्वगत कहा है ॥ १९८ ॥

एक द्रव्यमें अतीत, अनागत आर गायाम आये हुए 'अपि' शब्दसे वर्तमानपर्यायरूप
जितनी अर्थपर्याय आर यजनपर्याय है तत्प्रमाण वह द्रव्य होता है ॥ १९९ ॥

अथ लेश्यामार्गणाद्वारा जीवपदार्थके अस्तित्वके अन्वेषण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—
लेश्यामार्गणाके अनुवादसे कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्म
लेश्या, शुक्ललेश्या आर अलेश्याजाले जीव है ॥ १३६ ॥

श्रुति—'लेश्या' इस शब्दमें क्या कहा जाता है?

समाधान—जो कर्मस्वरूपसे आत्माको लिप्त करती है उसे लेश्या कहते हैं ।

यहापर 'कपायसे अनुरजित योगप्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं' यह अर्थ नहीं ग्रहण
करना चाहिये, क्योंकि, इस अर्थके ग्रहण करनेपर सयोगिकेवलीको लेश्याराहितपनेकी आपत्ति
प्राप्त होती है ।

श्रुति—यदि सयोगिकेवलीको लेश्यारहित मान लिया जाने तो क्या हानि है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा मान लेनेपर 'सयोगिकेवलीके शुक्ललेश्या पाई

१ प्रवच १, २३

२ गो जा ५८२ स त १ ३३

३ लिखते प्राणा कर्मणा यथा सा लेश्या । यदाह, एव इव वणकधस कर्मधस्वितिविधाय । रथा,
ठा हा । लिखते लिख्यते कर्मणा सह आत्मा अनयति लेश्या । कर्म ४ कर्म । कृष्णादिद्रव्यसाधिव्यापरीण
य आमान । शब्दिकस्वय तत्राय लेश्याशब्द प्रयतत ॥ १ ॥ पत्रा १७ पद । (अभि रा को लेश्या)

कपायस्तावुभौ वा? किं चातो नाद्यौ विकल्पौ योगकपायमार्गणयोरेव तस्या अन्तर्भावात् । न तृतीयविकल्पस्तस्यापि तथाविधत्वात् । न प्रथमद्वितीयविकल्पोक्तदोषानुपपन्नमात्रम् । न तृतीयविकल्पोक्तदोषो द्वयोरेकस्मिन्नन्तर्भावविरोधात् । न द्वित्वमपि कर्मलेपैकरूप-
कर्तृत्वेनैकत्वमापन्नयोर्योगकपाययोर्लेख्यात्माभ्युपगमात् । नैकत्वात्तयोरन्तर्भवति द्वायात्म-
केकस्य जाल्यन्तरमापन्नस्य केनलेनैकेन महैकत्वममानत्ययोर्विरोधात् । योगकपायकार्या-
द्वयतिरिक्तलेख्याकार्यानुपलम्भान्न ताभ्या पृथग्लेख्यास्तीति चेन्न, योगकपायाभ्या
प्रत्यनीकत्वाद्यालम्बनाचार्यादिबाह्यार्थसन्निधानेनापन्नलेख्याभावाभ्या संसारवृद्धिकार्यस्य

जाती है ' इस चर्चनका व्याघात हो जाता है ।

शका—लेख्या योगको कहते हैं, अथवा, कपायको कहते हैं, या योग और कपाय
दोनोंको कहते हैं? इनमेंसे आदिके दो विकल्प अर्थात् योग या कपायरूप लेख्या तो मान नहीं
समते, क्योंकि, वेसा माननेपर योगमार्गणा और कपायमार्गणामें ही उसका अन्तर्भाव हो
जायगा । तीसरा विकल्प भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि, तीसरा विकल्प भी आदिके दो
विकल्पोंके समान है । अर्थात् तीसरे विकल्पके माननेपर भी लेख्याका उक्त दोनों मार्गणाओंमें
अथवा किसी एक मार्गणामें अन्तर्भाव हो जाता है । इसलिये लेख्याकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध
नहीं होती है ?

समाधान—शकाकारने जो ऊपर तीन विकल्प उठाये हैं उनमेंसे पहले और दूसरे
विकल्पमें दिये गये दोष तो प्राप्त ही नहीं होते हैं, क्योंकि, लेख्याको केवल योग और केवल
कपायरूप माना ही नहीं है । उसीप्रकार तीसरे विकल्पमें दिया गया दोष भी प्राप्त नहीं होता
है, क्योंकि, योग और कपाय इन दोनोंका किसी एकमें अन्तर्भाव माननेमें विरोध आता है ।
यदि कहा जाय कि लेख्याको दोरूप मान लिया जाय जिससे उसका योग और कपाय इन
दोनों मार्गणाओंमें अन्तर्भाव हो जायगा, सो भी कहना ठीक नही है, क्योंकि, कर्मलेपरूप एक
कार्यको करनेवाले होनेकी अपेक्षा एकपनेको प्राप्त हुए योग और कपायको लेख्या माना है ।
यदि कहा जाय कि एकताको प्राप्त हुए योग और कपायरूप लेख्या होनेसे उन दोनोंमें
लेख्याका अन्तर्भाव हो जायगा, सो भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि, दो धर्मोंके संयोगसे
उत्पन्न हुए द्वायात्मक अतएव किसी एक तीसरी अवस्थाको प्राप्त हुए किसी एक धर्मका केवल
एकके साथ एकत्व अथवा समानता मान लेनेमें विरोध आता है ।

शका—योग और कपायके कार्यसे भिन्न लेख्याका कार्य नहीं पाया जाता है, इसलिये
उन दोनोंसे भिन्न लेख्या नहीं मानी जा सकती है ?

समाधान—नही, क्योंकि, विपरीतताको प्राप्त हुए मिथ्यात्व अविरति आदिके
आत्म्यनिरूप आचार्यादि बाह्य पदार्थोंके संपर्कसे लेख्याभावको प्राप्त हुए योग और कपायोंसे,
केवल योग और केवल कपायके कार्यसे भिन्न संसारकी वृद्धिरूप कार्यकी उपलब्धि होती

णिदा-पचण-बहुलो धण धणो होइ ति-प-सण्णो य ।

लम्बणमेद भणिय समामदो णील लेस्सम्स' ॥ २०२ ॥

रूपदि णिदि अणो दूमदि गहुसो य सोय-भय-बहुलो ।

असुयदि परिभयदि पर पससदि य अणय बहुसो' ॥ २०३ ॥

ण य पत्तिवइ पर सो अण्णामिअ पर पि मण्णतो ।

तूमदि अभिद्युपतो ण य जाणद हाणि वट्टीओ' ॥ २०४ ॥

मरण पयेड रणे देदि सुबहुअ हि युग्गमाणो टु ।

ण गणद अज्ज-ज्ज लक्खणमेद तु जाउम्स' ॥ २०५ ॥

जाणइ कज्जमकज्ज सेयमसेय च सअ सम पासी ।

दय-दाण रदो य मिदु लक्खणमेद तु तेउस्स ॥ २०६ ॥

जो जतिनिद्रालु हो, दूसरोंको उगनेमें अतिदक्ष हो, और धन धान्यके विषयमें जिसकी गति तीव्र लालसा हो, ये सब नीललेख्यावालेके लक्षणसे लक्षण कहे गये हैं ॥ २०० ॥

जो दूसरोंके ऊपर क्रोध करता है, दूसरोंकी निन्दा करता है, अनेक प्रकारसे दूसरोंको दुख देता है, अत्याचार, दूसरोंको दोष लगाता है, अत्यधिक शोक और भयसे व्याप्त रहता है, दूसरोंको सहन नहीं करता है, दूसरोंका पराभव करता है, अपनी नाना प्रकारसे प्रशंसा करता है, दूसरोंके ऊपर विश्वास नहीं करता है, अपने समान दूसरोंको भी मानता है, स्तुति करने वालेके ऊपर मतुष्ट हो जाता है, अपनी ओर दूसरोंकी हानि और वृद्धिको नहीं जानता है, युद्धमें मरनेकी प्रार्थना करता है, स्तुति करनेवालेको बहुत धन दे डालता है, और कार्य अकार्यकी कुछ भी गणना नहीं करता है, ये सब कापोतलेख्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०३-२०५ ॥

जो कार्य अकार्य और सेव्य असेव्यको जानता है, सबके विषयमें समदर्शी रहता है, दया और दानमें तत्पर रहता है, और मन, उच्यन तथा कायसे कोमलपणिणीही होता है ये सब पीतलेख्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०६ ॥

१ गो जी ५११ इमा अमरिअ अतवा अविज्जमात्रा अहारिया । गेहा पआमे य सदे पमचे रसलेउए ॥
सायावसए य आरामो अविरजा खुदा साहारिओ नरा । एयजोगममाउओ नाउलेख तु पारिणम ॥
उए ३४ २३ २४

२ गो जी ५१२

३ गो जी ५१३

४ गो जी ५१४ वंइ वंइममायारे नियज्जिअ अउ-एण । पण्डितवगओवादिण मिच्छादिद्वी अपारिए ॥
उआणइइवई य तग यायि य मण्णो । एयजोगममाउओ काउलमं तु परिणम ॥ उए ३४ २५ २६

५ गो जी ५१५ नायावसा अचरल अमार्द अउउह्ले । विपायविणण दत्त जागव उवहावत्र ॥
विषयमे दग्गम वज्जमारु हिण्णए । एयजोगममाउओ वेउलेख तु परिणम ॥ उए ३४ २७-२८

तत्केवलकार्याद्व्यतिरिक्तस्योपलम्भात् । संसारवृद्धिहेतुर्लेदयेति प्रतिपाद्यमाने लिम्पतीति
 लेदयेत्यनेन विरोधश्चेन्न, लेपादिनाभाविरेव तत्पृष्ठेरेषि तद्व्यपदेशाविरोधात् । ततस्ताभ्या
 पृथग्भूता लेदयति स्थितम् । पृथग्भूता कृपायोदयः । तद्यथा, तीव्रतम तीव्रतरः तीव्र मन्द
 मन्दतरः मन्दतम इति । ग्नेभ्यः पृथग्भूता कृपायोदयेभ्यः परिपाठ्या पृथग्भूता लेदया भवन्ति ।
 कृष्णलेदया नीललेदया कापोतलेदया पीतलेदया पद्मलेदया शुक्लेदया चेति । उक्तं च—

अतो ण मुपदि वेर भटण सीलो य धम्म दप्प रहिओ ।

दुदो ण य एदि उम उक्खणमंद तु किण्डस्म' ॥ २०० ॥

मदो बुद्धि विहीणो जिग्गिष्णाणी य धिम्म लोले य ।

माणी माया य तथा आलसो चय भेजा य' ॥ २०१ ॥

हे जो केवल योग-भोर केवल कपायना कार्य नहा कहा जा सकता है, इसलिये लेदया उन
 दोनोंमें मिश्र है यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शुद्धा—संसारकी वृद्धिका हेतु लेदया है ऐसी प्रतिज्ञा करनेपर 'जो लिप्त करती है
 उसे लेदया कहते हैं' इस वचनसे साव्य निर्गम आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कर्मलेपनी अत्रिनाभावी होने रूपसे संसारकी वृद्धिको
 भी लेदया ऐसा संज्ञा देनेसे कोई विरोध नहा आता है । अतः उन दोनोंमें पृथग्भूत लेदया है
 यह बात निश्चित हो जाती है ।

कपायना उदय छह प्रकारका होता है । यह इसप्रकार है, तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र,
 मन्द, मन्दतर और मन्दतम । इन छह प्रकारके कपायके उदयसे उत्पन्न हुई परिपक्वतमसे
 लेदया भी छह हो जाती है । कृष्णलेदया, नीललेदया, कापोतलेदया, पीतलेदया, पद्मलेदया
 और शुक्लेदया । कहा भी है—

तीव्र, क्रोध करनेवाला हो, घैरको न छोड़े, लटना जिसका स्वभाव हो, धर्म और
 द्वासे रहित हो, दुष्ट हो और जो किसीके वशकी प्राप्ति न हो, ये सब कृष्णलेदयावालेके
 लक्षण हैं ॥ २०० ॥

मन्द मध्यम स्व-उद्भूत है । यथा काम करनेमें मन्द हो, वर्तमान कार्य करनेमें विवक
 रहित हो, कला-वानुश्रुति रहित हो, पात्र इन्द्रियोंके स्पर्शादि बाह्य विषयोंमें लम्पट हो, मानी
 हो, मायावी हो, आलसी हो, और भीरु हो, ये सब भी कृष्णलेदयावालेके लक्षण हैं ॥ २०१ ॥

१ गो बी ५०१ पंचमवचनवा तां जगुवा छद्म अत्रिना य । निवृत्तमपाणआ सुद्धा ताहनिज
 न्या ॥ निवृत्तमपाणआ निवृत्तमपाणआ अत्रिना य । पञ्चमवचनवा तां जगुवा छद्म अत्रिना य ॥ उक्त ३४ २१ २२

२ गो बी ५१०

णिदा-वचण-बहुलो धण धण्णे होइ ति न-सण्णो य ।
 लखणमेद भणिय समामदो णील लेस्सस्स' ॥ २०२ ॥
 ऋसदि णिददि अण्णे दूमदि बहुसो य सोय-भय-बहुलो ।
 अलुसदि परिभगदि पर पससदि य अप्पय बहुसो' ॥ २०३ ॥
 ण य पत्तियइ पर सो अण्णाणमिअ पर पि मण्णतो ।
 तूमदि अभिअुत्तो ण य जाणइ हाणि वट्ठीओ ॥ २०४ ॥
 मरण पत्थेइ रणे देदि सुबहुअ हि अुव्वमाणो दु ।
 ण गणइ अक-ज-ऊज लखणमेद तु काउरस्स' ॥ २०५ ॥
 जाणइ कज्जमऊज सेयमसेय च सव्व सम पासी ।
 दय-दाण रदो य मिदु लखणमेद तु तेउरस्स ॥ २०६ ॥

जो नतिनिद्रालु हो, दूसरोंको डगनेमें अतिदूध हो, आर धन धान्यके विषयमें जिसकी नीति तीव्र लालसा हो, ये सब नीललेख्याआलेके सक्षेपसे लक्षण कहे गये हैं ॥ २०२ ॥

जो दूसरोंके ऊपर क्रोध करता है, दूसरोंकी निंदा करता है, अनेक प्रकारसे दूसरोंको दुःख देता है, अय्या, दूसरोंको दोष लगाता है, अत्यधिक शोक और भयसे व्याप्त रहता है, दूसरोंको सहन नहीं करता है, दूसरोंका पराभव करता है, अपनी नाना प्रकारसे प्रशंसा करता है, दूसरेके ऊपर विश्वास नहीं करता है, अपने समान दूसरेको भी मानता है, स्तुति करने वालेके ऊपर मतुष्ट हो जाता है अपनी ओर दूसरोंकी हानि और वृद्धिको नहीं जानता है, युद्धमें मरनेकी प्रार्थना करता है, स्तुति करनेवालेको बहुत धन दे डालता है, और कार्य अकार्यकी कुछ भी गणना नही करता है, ये सब कापोतलेख्याआलेके लक्षण हैं ॥ २०३-२०५ ॥

जो कार्य प्रकार्य और सेव्य असेव्यको जानता है, सबके विषयमें समदर्शी रहता है, दया और दानमें तत्पर रहता है, और मन, वचन तथा कायसे कोमलपरिणामी होता है ये सब पीतलेख्याआलेके लक्षण हैं ॥ २०६ ॥

१ गो जी ५११ इस्मा अमरिअ जतवा आविअमाया अहारिया । गेहा पआसे य सडे पमचे रसलोउए ॥
 सायगवेयए य आरमाओ अविरओ खुड्ढा साहस्मिओ नरो । एयजोगसमाउचो नाल्लेय तु पारिणमे ॥
 उच ३४ २३ २४

१ गो जी ५१२

३ गो जी ५१३

४ गो जी ५१४ वीके वंक्रममाथारे नियडिअे अणु-हुए । पल्लिउचयओवाहिए मिच्छादिट्ठी अणारिए ॥
 उअणगइड्डवार्ह य दण याति य मच्छरी । एयजोगसमाउचो काउलेमं तु परिणम ॥ उच ३४ २५ २६

५ गो जी ५१५ नायावचो अचवले अमाइ अकुउहले । विणायनिणए दत जोगव उवहाणव ॥
 पिययमे दग्घमे वज्जमीरू हिण्णए । एयजोगसमाउचो तेउलेस तु परिणमे ॥ उच ३४ २७-२८

चागी भरो चोक्को उ-तुन कम्मो य ममद् बहुअ हि ।
 साहु गुरु पून गिरदो लखणमेद तु पम्मस्स^१ ॥ २०७ ॥
 ण उ कुणइ पक्कमाय ण मि य णिटाण समो य सयेमु ।
 णीय य राय दोसो ण्हो मि य सुम्हेस्सस्स^१ ॥ २०८ ॥

पल्लेश्यातीता जलेदया । उक्त च—

किण्हादि लेस्स रहित समार त्रिणिग्गया अणत्त सुहा ।

सिद्धि पुर सपत्ता अग्नेस्मिया ते सुणेयत्ता ॥ २०९ ॥

लेदयाना गुणस्थाननिरूपणार्थमाह—

किण्हेलेस्सिया जीलेस्सिया काउलेस्सिया एइंदिय-प्पहुडि
 जाव असजद सम्माइडि ति^१ ॥ १३७ ॥

जो त्यागी है, भद्रपरिणामी है, निरंतर कार्य करनेम उद्यत रहता है, जो अनेक प्रकारके कष्टप्रद और अनिष्ट उपसर्गोंको क्षमा कर देता है, और साधु तथा गुरुजनोकी पूजामें मन रहता है, ये सब पल्लेश्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०७ ॥

जो पक्षपात नहीं करता है, निदान नहो बाधता है, सबके साथ समान व्यवहार करता है, इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंके प्रियम राग और डेपने रहित है तथा ग्री, पुत्र और मित्र आदिमें स्नेहरहित है ये सब शुक्लेदयावालेके लक्षण हैं ॥ २०८ ॥

जो छह लेदयाओंसे रहित है उ हें लेदयारहित जीव कहते हैं । कहा भी है—

जो दृष्टान्ति लेदयाओंसे रहित है, पथ परिवर्तनरूप सत्तारसे पार हो गये हैं, जो अतीन्द्रिय और अनन्त सुखमें प्राप्त हैं और जो आत्मोपलब्धिरूप सिद्धिपुरीको प्राप्त हो गये हैं उ हें लेदयारहित जानना चाहिये ॥ २०९ ॥

अथ लेदयाओंके गुणस्थान बतलानेके लिये मूल कहते हैं—

कृष्णलेदया, नीलेदया और कापोतलेदयावाले जीव एकेंद्रियसे लेकर असंयत सम्यग्दर्शि गुणस्थाननर होते हैं ॥ १३७ ॥

१ गो र्वा ५१६ पयशुकीहमाणि य मायालोभे य पयशुण । पतचित्त दत्तपा जाव उयहाणव ॥
 तदा पयशुण य उवसत् जिहादेष्ट । पयजागममाउत्ता पम्हलन तु परिणमे ॥ उत ३४ २९-३०

२ गो जी ५१७ अट्टरुग्गणि वीत्ता धम्मसुक्काणि शायण । पतचित्त दत्तपा समिण गुते य शुचिष्ठ ॥
 सहागे वायराग वा उवसत् निइदिण । पयजागममाउत्ता सुक्कलं तु परिणमे ॥ उत ३४ ३१-३२

३ गो जी ५५६

४ लेदयावृद्धिने कृष्णनीलरपोतलेदयासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि असंयतसम्यग्प्रवृत्तानि सन्ति । स मि १८

तेण परमलेस्सिया' ॥ १४० ॥

कथम् ? धन्वहेतुयोगरूपायाभावात् । सुगममन्यत् ।

लेख्यामुनेन जीवपदार्थमभिधाय भव्याभव्यद्वारेण जीवास्तित्प्रतिपादनार्थमाह—

भविष्याणुवादेण अत्थि भवसिद्धिया अभवसिद्धिया ॥ १४१ ॥

भव्या भविष्यन्तीति सिद्धियेषा ते भव्यसिद्धयः । तथा च भव्यसन्ततिच्छेद-
स्यादिति चेन्न, तेषामानन्त्यात् । न हि तान्तस्यानन्त्यं विरोधात् । सध्ययस्य निरायस्य
राशे, कथमानन्त्यमिति चेन्न, अन्यैरुत्थाप्यानन्त्यप्रसङ्गः । सध्ययस्यानन्तस्य न
क्षयोऽस्तीत्येकान्तोऽस्ति म्रमग्येयामग्येयभागव्ययस्य राशेरनन्तस्यापेक्षया तद्विद्या
दिसरथेयराशिष्ययतो न व्योऽपीत्यभ्युपगमात् । अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनकालस्यानन्तस्यापि

तेरद्वयं गुणस्थानके आगे सभी जीव लेख्यारहित ह ॥ १४० ॥

शुक्रा—यह कैसे ?

समाधान—क्योंकि, यहापर बंधके कारणभूत योग और कषायका अभाव है । शेष
कथन सुगम है ।

लेखामार्गणाके द्वारा जीवपदार्थका कान करके अब भव्याभव्य मार्गणाके द्वारा जीवोंके
अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये मूत्र कहते हैं ।

भव्यमार्गणाके अनुवादसे भवसिद्ध और अभवसिद्ध जीव होते हैं ॥ १४१ ॥

जो आगे सिद्धिको प्राप्त होंगे उन्हें भवसिद्ध जीव कहते हैं ।

शुक्रा—इसप्रकार तो भव्यजीवोंकी सततिका उच्छेद हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भव्यजीव अनन्त होते हैं । हा, जो राशि सात होती है
उसमें अनन्तपत्ता नहीं बन सकता है, क्योंकि, सातको अनन्त माननेमें विरोध आता है ।

शुक्रा—जिस राशिका निरन्तर व्यय चालू है, परन्तु उसमें आय नहीं होती है तो
उसके अनन्तपत्ता कैसे बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यदि सध्यय और निराय राशिको भी अनन्त न माना
जाये तो एकको भी अनन्तके माननेका प्रसंग आ जायगा । व्यय होते हुए भी अनन्तका क्षय
नहीं होता है यह एकान्त नियम है, इसलिये जिसके सत्प्राप्त और असत्प्राप्तों भागका
व्यय हो रहा है ऐसी राशिना, अनन्तकी अपेक्षा उसकी दो तीन आदि सत्प्राप्त राशिके व्यय
होनेसे भी क्षय नहीं होता है, ऐसा स्वीकार किया है ।

शुक्रा—अर्धपुद्गलपरिवर्तनरूप काल अनन्त होते हुए भी उसका क्षय देखा जाता है,

क्षयदर्शनादनैकान्तिक आनन्त्यहेतुरिति चेन्न, उभयोर्भिन्ननिग्रन्धनतः प्राप्तानन्तयोः साम्याभापतोऽर्द्धपुद्गलपरिवर्तनस्य वास्तवानन्त्याभावात् । तद्यथा, अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनकालः मक्षयोऽप्यनन्तः छद्मस्थैरनुपलब्धपर्यन्तत्वात् । केवलमनन्तमद्विषयत्वाद्वा । जीवराशिस्तु पुनः सरयेयराशिस्योऽपि निर्मूलप्रलयाभावादनन्त इति । अथवा छद्मस्थानुपलब्धपेक्षा-मन्तरेणानन्त्यादिति विशेषणाद्वा नानैकान्तिक इति । किं च सव्ययस्य निरवशेष-क्षयेऽभ्युपगम्यमानं कालस्यापि निरवशेषभूयो जायेत सव्ययत्व प्रत्यविशेषात् । अस्तु चेन्न, सकलपयोपप्रक्षयतोऽंशेषस्य अस्तुनः प्रक्षीणस्वलक्षणस्याभावापत्तेः । मुक्तिमनु-पगच्छता कथं पुनर्मव्ययत्वमिति चेन्न, मुक्तिगमनयोग्यतापेक्षया तेषां भव्यव्यपदेशात् । न

इसलिये भव्य राशिके क्षय न होनेमें जो अनन्तरूप हेतु दिया है वह व्यभिचरित हो जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भिन्न भिन्न कारणोंसे अनन्तपनेको प्राप्त भव्यराशि और अर्धपुद्गल परिवर्तनरूप काल इन दोनों राशियोंमें समानताका अभाव है, और इसलिये अर्धपुद्गल-परिवर्तन काल वास्तवमें अनन्तरूप नही है । आगे इसीका स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल क्षयसाहित होते हुए भी इसलिये अनन्त है कि छद्मस्थ जीवोंके द्वारा उसका अन्त नहीं पाया जाता है । किंतु केवलज्ञान वास्तवमें अनन्त है । अथवा, अनन्तको प्रिय करनेवाला होनेसे यह अनन्त है । जीवराशि तो, उसका सत्त्वातमें भागरूप राशिके क्षय हो जाने पर भी निर्मूल नाश नही होनेसे, अनन्त है । अथवा, उपर जो भव्य राशिके क्षय नहीं होनेमें अनन्तरूप हेतु दे आये है । उसमें ' छद्मस्थ जीवोंके द्वारा अनन्तकी उपलब्धि नहीं होती है, इस अपेक्षाके बिना ही ' यह विशेषण लगा देनेसे अनैकान्तिक दोष नही आता है । दूसरे व्ययसाहित अनन्तके सर्वथा क्षय मान लेनेपर कालका भी सर्वथा क्षय हो जायगा, क्योंकि, व्ययसाहित होनेके प्रति दोनों समान हैं ।

शंका—यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेपर कालकी समस्त पर्यायोंके क्षय हो जानेसे दूसरे द्रव्योंकी स्वलक्षणरूप पर्यायोंका भी अभाव हो जायगा और इसलिये समस्त वस्तुओंके अभावकी आपत्ति आ जायगी ।

शंका—मुक्तिको नहीं जानेवाले जीवोंके भव्यपना कैसे बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मुक्ति जानेकी योग्यताकी अपेक्षा उनके भव्य सत्ता बन जाती है । जितने भी जीव मुक्ति जानेके योग्य होते हैं वे सब नियमसे कलरूढित होते हैं

गायराता तु ज जो य समिद्धो । एते अतमागा भव्यामर्द्धकाले ॥ एतस्य तत्तिजा धिय उतो ज तो वि मत्रमत्राण । उता न ममुच्छेओ होज मर्द कानि मिद्ध । मत्राणमननचमणतमागो न किह व मुको सि । कालादो व मन्विय मद् वयणाओ व पन्विन ॥ वि भा २३०६-२३०७

च योग्या सप्तपि नियमेन निष्कलङ्का भवन्ति सुवर्णपापाणेन व्यभिचारात् । उक्त च—
 प्य मिमोऽ मरेणे जीवा २ ३ णमागदा णि ।

सिद्धेहि अणत गुणा सत्तेण वितीद काळण' ॥ २१० ॥

तद्विपरीता जमव्या' । उक्त च—

भरिया सिद्धा जेमि जीवाण त भवनि भर मिद्धा ।

तत्रिपरीताभ या समारा' ण सिद्धति ॥ २११ ॥

भन्यगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

भयसिद्धिया एइदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ॥ १४२ ॥

सुगममेतत् ।

जमव्याना गुणस्थाननिरूपणायाह —

अभवसिद्धिया एइदिय प्पहुडि जाव साण्णि मिच्छाइडि
 त्ति ॥ १४३ ॥

ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि, सर्वत्र ऐसा मान लेने पर स्वर्णपापाणसे व्यभिचार आ जायगा । कहा भी है—

द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा सिद्धराशिसे आर सपूर्ण अतीत कालसे अनन्तगुणें जीव एक निगोदशरीरम देखे गये हैं ॥ २१० ॥

भयोंसे विपरीत अर्थात् सुखिगमनकी योग्यता न रहनेवाले जन्म प जीव होते हैं । कहा भी है—

जिन जीवोंकी अनन्तचतुष्टयरूप सिद्धि होनेवाली हो अथवा जो उसकी प्राप्तिके योग्य हो उह भयसिद्ध कहते हैं । और इनसे विपरीत अभय होने हैं । जो ससारसे निकल कर कभी भी सुखिको प्राप्त नहीं होते हैं ॥ २११ ॥

अथ भन्यजीवोंके गुणस्थानोंका प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

भयसिद्ध जीव परेन्द्रियसे लेकर अजोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४२ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है—

अथ अभयजीवोंके गुणस्थानका निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

अभवसिद्ध जीव परेन्द्रियसे लेकर सभी मिथ्यावादि गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४३ ॥

१ या जा १९६

२ या ता १८ (भवसिद्धा) अनन्त सिद्धलभ्यायवताया भव्यानां द्विविध्यमुक्त । जा प्र गी

३ भयानुवादन भयानु चतुदशापि सति । स सि १ ८

४ अभय श्रवणव स्थान । स मि १ ८

एतदपि सुगमम् ।

सम्मतानुवादेण अतिथि सम्माइट्टी खइयसम्माइट्टी वेदग-
सम्माइट्टी उवसमसम्माइट्टी सासणसम्माइट्टी सम्माभिच्छाइट्टी
मिच्छाइट्टी चेदि ॥ १४४ ॥

आप्रनान्तम्यनिम्नानामाप्रनव्यपदेशप्रन्मिव्यात्पादीना सम्यक्त्वव्यपदेशो
न्यायः । सुगममन्यत् । उक्तं च—

उपचम्यत्र विहाण अत्याण जिणसरोरुद्धाण ।

आणाण अहिग्गेण न सदहण होइ सम्मत ॥ २१२ ॥

खीणे दमण-मोहे ज सदहण सुणिम्मउ होई ।

त खाय सम्मत णिच्च कम्म-कवणण हेऊ ॥ २१३ ॥

उयणेहि वि हेऊहि वि इदिय मय आणएहि रूपेदि ।

गीहउ-गुगुहादि ण मो ते गेक्केण चाउ-न ॥ २१४ ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुगम है ।

अथ सम्यक्त्वमार्गणाके अनुवादसे जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये
सूत्र कहते हैं—

सम्यक्त्वमार्गणाके अनुवादसे सामान्यज्ञी अपेक्षा सम्यग्वादि और विशेषकी अपेक्षा
ध्यायितसम्यग्वादि, वेदकसम्यग्वादि, उपशमसम्यग्वादि, सासादनसम्यग्वादि, सम्यग्मिथ्यावादि
और मिथ्यावादि जीव होते हैं ॥ २१४ ॥

जिसप्रकार आस्रवनके भीतर रहनेवाले नीमके वृक्षाको आस्रवन यह सारा प्राप्त हो
जाती है, उसीप्रकार मिथ्यात्व आदिको सम्यक्त्व यह सब देना उचित ही है । शेष कथन
सुगम है । कहा भी है—

जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय और नव पदार्थोंका आज्ञा
अथवा अधिगमसे श्रद्धान करनेको सम्यक्त्व कहते हैं ॥ २१५ ॥

दर्शनमोहनीय कर्मके सर्वथा क्षय हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है वह धार्मिक
सम्यक्त्व है । जो नित्य है और कर्मोंके क्षपणका कारण है ॥ २१६ ॥

श्रद्धानको अष्ट करनेवाले उचन या हेतुनामे जयना इन्द्रियाँको भय उत्पन्न करनेवाले

१ नाथय पूरेमपि १६ गाथाकृत आगता । तद्विधाण तु भावाण ममापि उवप्पमण । भावण मद्वत्तम्
ममत्त व विधादि ॥ उच २८ ११

२ गो जी ६४६

३ गो जी ६४७

दमणमोहदयादो उष्णं जं ज पयस्य सदहण ।

चल मलिनमगात् त वेत्तु सम्मत्तमिह मुणमु' ॥ २१५ ॥

दमणमोहदुःखसमदा उष्णं जं ज पयस्य सदहण ।

उत्तम सम्मत्तमिण पक्षण मल पक तोय-सम ॥ २१६ ॥

सम्यग्दर्शनस्य सामान्यस्य क्षाधिकसम्यग्दर्शनस्य च गुणनिरूपणार्थमाह—

**सम्माइट्ठी सडयसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव
अजोगिकेवलि ति' ॥ १४५ ॥**

किं तत्सम्यक्स्वरूपगतसामान्यमिति चेत्त्रिष्वपि सम्यग्दर्शनेषु य माधारणोऽश्नत्
त्सामान्यम् । क्षाधिकक्षायोपशमिकोपशमिकेषु परस्परतो भिन्नेषु किं मादृश्यमिति चेत्,

आकारोत्ते या बीभत्स अर्थात् निन्दित पदार्थोत्ते देवनेसे उत्पन्न हुई ग्लानिसे, कि यहुना तीन
लोकसे भी चद्र क्षाधिक सम्यग्दर्शन बलायमान नहीं होता हे ॥ २१४ ॥

सम्यक्त्वमोहनीय प्रवृत्तिके उदयसे पदार्थोका जो चल, मलिन ओर अगाढरूप श्रद्धान
होता है उसको चेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं ऐसा हे क्षिप्य त् समग्र ॥ २१५ ॥

दर्शनमोहनीयके उपशमसे बीचवृत्ते नीचे बैठ जानेसे निर्मल जलके समान पदार्थोका,
जो निर्मल श्रद्धान होता है वह उपशमसम्यग्दर्शन हे ॥ २१६ ॥

अथ सामान्य सम्यग्दर्शन और क्षाधिकसम्यग्दर्शनके गुणस्थानांके निरूपण करनेके
लिये सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे सम्यग्दर्ष्टि और विशेषकी अपेक्षा क्षाधिकसम्यग्दर्ष्टि जीव असंयतसम्य
ग्दर्ष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४ ॥

शुद्धा—सम्यक्त्वमें रहनेवाला वह सामान्य क्या वस्तु है ?

समाधान—तीना ही सम्यग्दर्शनाम जो साधारण धर्म है वह सामान्य शब्दसे यहाँ
पर विवक्षित है ।

शुद्धा—क्षाधिक, क्षायोपशमिक और आपशमिक सम्यग्दर्शनांके परस्पर भिन्न भिन्न

१ गा जा ६४० नानामात्रविषयेषु चरन्तानि चल स्मृत । एतन् एतेमालासु जलमवमगच्छन् ॥
स्वच्छिन्नुः सद्योर्धा त्वोपय सम्यगरित । अयरायमिति श्रम्यद् भोगा जडा नि चष्टे ॥ तत्पल्लवमागम्य
यत्तु सम्यक्त्वमण । मलिन सत्त्वमण पुद्ग स्वयमिन्द्रावृत् ॥ स्थान एव स्थित कप्रमगात्तमिति नीयत ।
पुद्गलमिन्द्रावृत्तशाना रत्नल स्थिता ॥ समान्यतश्चिन्तन मन्वासावृत्तमय । दवा स्म प्रभुस्थान्मा इयात्मा
सुशामि ॥ गो वा २५ जी द गी उच्छ्रुता

२ गा जा ६५०

३ सम्यक्स्वरूपादेन क्षाधिकसम्यक्त्व असंयतसम्यग्दर्ष्टवादानि अयमस्वरूपतानि सन्ति । स नि १८

तत्र यथार्थश्रद्धान प्रति साम्योपलम्भात् । अथल्योपशमोपशमप्रतिष्ठिताना यथार्थ-
श्रद्धानाना कथ समानतेति चेद्धतु विशेषणाना भेदो न विशेष्यस्य यथार्थश्रद्धानस्य ।
सुगममन्यत् ।

वेदकसम्यग्दर्शनगुणमग्याप्रतिपादनार्थमाह—

वेदगसम्माइट्टी असंजदसम्माइट्टि-प्पहुडि जाव अप्पपत्त-
संजदा त्ति ॥ १४६ ॥

उपरितनगुणेषु किमिति वेदकसम्यक्त्वं नाम्तीति चक्ष, जगादममलश्रद्धानेन
मह क्षपकोपशमश्रेण्यागोहणानुपपत्ते । वेदकसम्यक्त्वादौपशमिकसम्यक्त्वं कथ-
माप्तिम्यतेति चेन्न, दर्शनमोहोदयजनितशैथिल्यादेस्तत्रासत्त्वनन्तदाधिक्योपलम्भात् ।

होने पर सदृशता क्या वस्तु हो सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उन तीन सम्यग्दर्शनाम यथार्थ श्रद्धानके प्रति समानता
पाई जाती है ।

शंका—क्षय, श्रयोपशम और उपशम विशेषणसे युक्त यथार्थ श्रद्धानमें समानता
कैसे हो सकती है ?

समाधान—विशेषणोंमें भेद भले ही रहा आवे, परतु इसमें यथार्थ श्रद्धारूप
विशेष्यमें भेद नहीं पड़ता है ।

शेष सूत्रका अर्थ सुगम है ।

अत्र वेदकसम्यग्दर्शनके गुणस्थानोंकी सरप्राप्ते प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र
कहते हैं—

वेदकसम्यग्दर्ष्टि जीव असयनसम्यग्दर्ष्टिमे लेकर अप्रमत्तमयन गुणस्थानतक
होने ह ॥ १४७ ॥

शंका—ऊपरके आठव आदि गुणस्थानोंमें वेदकसम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं होना, क्योंकि, आगाद आदि मलमहिन श्रद्धानके साथ क्षपक
और उपशम श्रेणीका चरना नहीं बनता है ।

शंका—वेदकसम्यग्दर्शनसे औपशमिक सम्यग्दर्शनकी अधिकता अर्थात् विशेषता
कैसे सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, दर्शनमोहनीयके उदयसे उत्पन्न हुई शैथिलता आदि
औपशमिक सम्यग्दर्शनमें नहीं पाई जाती है, इसलिये वेदकसम्यग्दर्शनसे औपशमिकसम्य-
ग्दर्शनमें विशेषता सिद्ध हो जाती है

कथमस्य वेदक्रमस्यगदर्शन-व्यपदेश इति चेदुच्यते । दर्शनमाहेतुको वेदक, तस्य सम्यग्दर्शनं वेदक्रमस्यगदर्शनम् । कः दर्शनमोहोदययता सम्यग्दर्शनस्य सम्मान इति चेन्न, दर्शनमोहनीयस्य देशघातिन उदये मत्स्यपि जीवस्यभावाश्रद्धानस्यकृदंशे मत्स्य निरोधात् । देशघातिनो दर्शनमोहनीयस्य सः सम्यग्दर्शन-व्यपदेश इति चेन्न, सम्यग्दर्शनसाहचर्यात्तस्य तद्व्यपदेशातिरोधान् ।

आपगमिकसम्यग्दर्शनगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह —

उवसमसम्माडट्टी असजदसम्माइट्टि प्पहडि जाव उवसंत
कसाय वीयराय उटुमत्था ति ॥ १४७ ॥

सुगममेतत् ।

सासणसम्माइट्टी एकम्मि चेय सासणसम्माडट्टि-ट्टाणे ॥ १४८ ॥

शंका — आपोपशमिक सम्यग्दर्शनका चेदस्म सम्यग्दर्शनं यद्द समा केमे प्राप्तं होतीहं ?
समाधान — दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका वेदन करनेवाले जीवको चेदक कहत है ।
उमने जो सम्यग्दर्शन होता है उसे चेदकसम्यग्दर्शन कहे ।

शंका — जिनके दर्शनमोहनीय कर्मका उदय विद्यमान है उनके सम्यग्दर्शन कैसे पाया जा सकता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, दर्शनमोहनीयकी देशघाति प्रकृतिके उदय रहने पर भा जीवके स्वभावरूप श्रद्धानके परदेश रहनेमें कोई विरोध नष्ट जाता है ।

शंका — दर्शनमोहनीयकी देशघाति प्रकृतिमें सम्यग्दर्शन यद्द समा केमे दी गई ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके साथ सहचर सत्य होनेके कारण उसको सम्यग्दर्शन हम सन्निके देनेमें कोई विरोध नष्ट आता है ।

अत्र आपोपशमिक सम्यग्दर्शनके गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं —
उपशमसम्यग्दष्टि जीव असजतसम्यग्दष्टि गुणस्थानेस लेकर उपशान्त कपाय
वीतराग छत्रस्थ गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४७ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है ।

अत्र सामादनसम्यक्त्व आदि सर्वधी गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये तीन सूत्र कहते हैं —

सासादनसम्यग्दष्टि जीव एक सामादनसम्यग्दष्टि गुणस्थानम् ही होते हैं ॥ १४८ ॥

१ आपगमिकसम्यग्दर्शन असजतसम्यग्दर्शनानि उपशांतकपायानि । स नि १०८

सम्भामिच्छाद्वी एकस्मि चय सम्भामिच्छाद्विष्टाणे ॥१४९॥

मिच्छाद्वयी एंडदिय-प्पहृडि जाव सण्णि-मिच्छाडडि' ति ॥१५०॥

सुगमत्वात्रिष्यप्यंतेषु स्रोषु न उक्तव्यमस्ति ।

मम्यग्दर्शनादेशप्रतिपादनार्थमाह—

णेरइया अत्थि मिच्छाड्ढी सासण सम्माड्ढी सम्मामिच्छा-
ड्ढी असजदसम्माड्ढि ति ॥ १५१ ॥

अथ स्याद्वतिनिरूपणायामस्या गती इयन्ति गुणस्थानानि सन्ति, इयन्ति न मनीति निरूपितत्वान्न उक्त्यभिदं सुत्रम्, सम्यक्स्वरूपनिरूपणाय गुणस्थाननिरूपणान्नरुगमात्राणेति न, विस्मृतपूर्वोक्तार्थस्य प्रतिपादयस्य तमर्थं सम्मार्य तत्र तत्र गती सम्यग्दर्शनभेदप्रतिपादनप्रवणत्वान् । सुगममन्यन् ।

एवं जाव सत्तसु पुढवीसु ॥ १५२ ॥

सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव एक सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ १४९ ॥

मिथ्यादृष्टि जीव एकेन्द्रियसे लेकर मर्ना मिथ्यादृष्टिक होने हैं ॥ १०० ॥

एत तानिं पृथोका अर्यं गुणम ह, अतएव इतके विषयमे अधिकं कुछ भी नहीं
बदला है।

अथ सम्यग्दर्शनका मार्गणाशोंमें निरूपण करनेके लिये मंत्र कहते हैं—

नाग्वी जीव मिथ्यावादि नान्नादनमम्यग्रादि सम्यग्मिथ्यावादि भर्तुः भमयानमम्यग्रादि
गुणम्यानयो दोषे ॥ ५ ॥

श्रीश- गतिमार्गणाका निरूपण करते समय 'इम गतिमें इतने गुणज्ञान होते हैं और इतने नहीं होते हैं' इस बातका निरूपण कर ही आपने 'ह', इसलिये इस सूत्रके कथनकी कोई आवश्यकता नहीं है। अथवा, सम्यग्दर्शनमार्गणाके निरूपण करते समय गुणमार्गोंके निरूपणका अवसर ही नहीं है, इसलिये भी सूत्रके कथनकी आवश्यकता नहीं है ?

ममाग्रानि—तदो, क्योंकि, जा दिण्य पूषा अर्थको भूल गया है उसके लिए, उस शीशु पुन स्मरण करा कि उन उ गतिपोंमें सम्मर्द्धादे भेदके प्रतिपादन करनेमें यह मूल समर्थ है, इसलिये इस मूलका अग्रतार हुआ है। नैव कथन सुगम है।

अथ मातों पृथिवियोंमें सम्प्रदाशाये निम्नपन करनेके लिये मृत्यु कहते हैं—
 एतां प्रजाय मातों पृथिवियोंमें प्राक्ममेकै चार गुणस्थान होने हैं ॥ ३ ॥

कथं सामान्यप्रतिशेष स्यादिति चेन्न, विशेषव्यतिरिक्ततामान्यस्यासत्त्वात् । नान्यतिरेकोऽपि द्वयोरभावासञ्जननात् । नोभयपक्षोऽपि पक्षद्वयोक्तदोषासञ्जननात् । नानुभयपक्षोऽपि नि स्वभावाप्रसङ्गात् । न च सामान्यप्रतिशेषयोरभाव एव प्राप्तजात्यन्तरत्वेनोपलम्भात् । ततः सूक्तमेतदिति स्थितम् ।

सम्पग्दर्शनप्रतिशेषप्रतिपादनार्थमाह —

णेरइया असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाने आत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदम
सम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी चेदि ॥ १५३ ॥

सुगममेतत् ।

एवं पढमाए पुढवीए णेरइआ ॥ १५४ ॥

एतदपि सुगोच्यम् ।

श्रुता—सामान्य कथनके समान ही विशेष कथन कथे हो सकता है ?

समाधान—नहा, क्योंकि, विशेषको छोड़कर सामान्य नहा पाया जाता है, इसलिये सामान्य कथनमें विशेषका भी बोध हो जाता है । इससे सामान्य और विशेषमें सर्वथा अभेद भी नहीं समझ लेना चाहिये, क्योंकि, दोनोंमें सर्वथा अभेद मान लेने पर दोनोंका अभाव हो जायगा । इसीप्रकार इन दोनोंमें सर्वथा उभयपक्ष अर्थात् सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर दोनों पक्षमें लिये गये दोष प्राप्त हो जायगे । सामान्य और विशेषको सर्वथा अनुभयरूप भी नहा मान सकते हैं, क्योंकि, ऐसा मान लेनेपर वस्तुको नि स्वाध्यायताका प्रसंग आ जायगा । परन्तु इसप्रकार सामान्य और विशेषका अभाव भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, ज्ञानान्तर अवस्थाको प्राप्त होने के लिये उन दोनोंकी उपलब्धि होती है । इसलिये ऊपर जो कथन किया है वह सर्वथा ठीक है, यह बात निश्चित हो जाती है ।

अथ सम्पग्दर्शनका मार्गणाश्रम प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव अस्यतसम्पग्दर्शे गुणस्थानम आधिकसम्पग्दर्शे, त्रेदकसम्पग्दर्शे, श्रौत उपशमसम्पग्दर्शे होते हैं ॥ १५५ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है ।

अथ प्रथम पृथिवीम सम्पग्दर्शन यत्तलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

इन्ध्रियान् प्रथम पृथिवीमें नारकी जीव होते हैं ॥ १५६ ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुगोच्य है ।

अथ शेष पृथिवियोंमें सम्पग्दर्शनके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

विदियादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया असंजदसम्माइडि-
ड्डाणे खडयसम्माइडि णत्थि, अवसेसा अत्थि ॥ १५५ ॥

सप्तप्रकृतीषु क्षीणासु किमिति तत्र नोत्पद्यन्त इति चेत्समाध्यात् । तत्रस्थाः
सन्तः किमिति सप्तप्रकृतीर्न क्षपयन्तीति चेन्न, तत्र जिनानामभावात् ।

तिर्यगादेशप्रतिपादनार्थमाह—

तिरिक्खा अत्थि मिच्छाइडि सासणसम्माइडि सम्मामिच्छा-
इडि असजदसम्माइडि संजदासंजदा त्ति ॥ १५६ ॥

सन्यस्तशरीरत्वात्त्यक्ताहाराणां तिरश्चा किमिति सयमो न भवेदिति चेन्न,
अन्तरङ्गायाः सकलानिवृत्तेरभावात् । किमिति तदभावश्चेज्जातिविशेषात् ।

एवं जाव सव्व-दीव-समुदेसु ॥ १५७ ॥

दूमरी पृथिवीसे लेकर सातवीं पृथिवीतक नारकी जीव असयतसम्यग्दष्टि गुणस्थानमें
धार्थिकसम्यग्दष्टि नहीं होते हैं । शेषके दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं ॥ १५५ ॥

शका—सम्यक्त्वकी प्रतिबन्धक सात प्रकृतियोंके क्षय हो जानेपर धार्थिकसम्यग्दष्टि
जीव द्वितीयादि पृथिवियोंमें क्यों उत्पन्न नहीं होते हैं ?

समाधान—जैसा स्वभाव ही है कि धार्थिकसम्यग्दष्टि जीव द्वितीयादि पृथिवियोंमें
नहीं उत्पन्न होते हैं ।

शका—द्वितीयादि पृथिवियोंमें रहनेवाले नारकी सम्यक्त्वकी प्रतिबन्धक सात प्रकृ-
तियोंका क्षय क्यों नहीं करते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वहापर जिनेन्द्रदेवका अभाव है ।

अब तिर्यच गतिमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यच मिथ्यादष्टि, सासादनसम्यग्दष्टि, सम्यग्मिव्यादष्टि, असयतसम्यग्दष्टि जौर
सयनासयत होते हैं ॥ १५६ ॥

शका—शरीरसे सन्यास ग्रहण कर लेनेके कारण जिन्होंने आहारका त्याग कर दिया
है ऐसे तिर्यचोंके सयम क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उनके आभ्यन्तर सकल निवृत्तिका अभाव है ।

शका—उनके आभ्यन्तर सकल निवृत्तिका अभाव क्यों है ?

समाधान—जिस जातिमें वे उत्पन्न हुए हैं उसमें सयम नहीं होता यह नियम है,
इसलिये उनके सयम नहीं पाया जाता है ।

अब तिर्यचोंके और विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

इसीप्रकार सपूर्ण द्वीप समुद्रयतीं तिर्यचोंमें समयना चाहिये ॥ १५७ ॥

स्वयम्प्रभादारान्मानुषोत्तरात्परतो भोगभूमिसमानत्वाच्च तत्र देशप्रतिन' सन्ति तत एतत्तद्वत् न घटत इति न, वैरसम्बन्धेन देवैर्दानैर्गोतिष्य क्षित्ताना सर्वत्र सत्त्वानिरोधात् ।

सम्यग्दर्शनविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

तिरिक्त्वा असंजदसम्माइट्ठी-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदग-
सम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ॥ १५८ ॥

तिरिक्त्वा संजदासंजद-ट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि अवसेसा
अत्थि ॥ १५९ ॥

तिर्य्यु क्षायिकसम्यग्दृष्टय मयतामयता' किमिति न सन्तीति चेन्न, क्षायिक-
सम्यग्दृष्टीना भोगभूमिन्तरेणोत्पत्तेरभावात् । न च भोगभूमावुत्पन्नानामणुजतोपादान
सम्भवति तत्र तद्विरोधात् । सुगममन्यत् ।

शङ्का—स्वयम्भूरमण द्वीपवतां स्वयम्प्रभ परितेके इम ओर ओर मानुषोत्तर पर्वतके
उस ओर असख्यात द्वीपामं भोगभूमिके समान रचना होनेसे वहापर देशप्रती नहा पाये जाते
है, इसलिये यह सून घटित नहा होता है ?

समाधान—नहा क्यौंकि, घरने सत्र वसे देवा अवया दानवोंके द्वारा कर्मभूमिसे
उठानर उले गये कर्मभूमिज तिर्य्योचोना सत्र जगह मद्राव होनेम कोई विरोध नहीं आता है,
इसलिये वहापर तिर्य्योचोंके पाचा गुणस्वान यन जाने ह ।

अथ नियचाम सम्यग्दर्शने विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सून कहते ह—

तिर्य्यव असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानम क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदस्सम्यग्दृष्टि और उपशम
सम्यग्दृष्टि होते ह ॥ १' ८ ॥

अत्र तिर्य्योचोंके पाचव गुणस्वानमं विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सून कहते ह—

तिर्य्यव सयतासयत गुणस्वानमं क्षायिस्सम्यग्दृष्टि नहीं होने ह । शेषके दो सम्य
दर्शनोंसे युक्त होते ह ॥ ५० ॥

शङ्का—तिर्य्योचों क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव सयतामयन क्या नहीं होते ह ?

समाधान—नहीं, क्यौंकि, तिर्य्योचोंम यदि क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते ह तो
वे भोगभूमिमें ही उत्पन्न होते ह, दूसरी जगह नहीं । परन्तु भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके
अणुजतकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्यौंकि, वहापर अणुजतके होनेमें आगमसे विरोध
आता ह । शेष कथन सुगम है ।

अथ तिर्य्यव विशेषार्थमें प्रतिपादन करनेके लिये सून कहते ह—

एवं पंचिदिय-तिरिक्खा पंचिदिय तिरिक्ख पज्जत्ता ॥१६०॥

एतदपि सुगोव्यम् ।

पंचिदिय-तिरिक्ख-जोणिणीसु असंजदसम्माइट्ठी-सजदासंजद-
झणे खड्डयसम्माइट्ठी णत्थि, अवसेसा अत्थि ॥ १६१ ॥

तत्र क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामुत्पत्तेरभावात्तत्र दर्शनमोहनीयस्य क्षपणाभावाच्च ।

मनुष्यादेशप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी
असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा संजदा त्ति ॥ १६२ ॥

सुगममेतत् ।

एवमट्ठाइज्ज-दीव-समुदेषु ॥ १६३ ॥

वैगसम्बन्धेन क्षिप्तानां सयतानां सयतासयतानां च सर्वद्वीपसमुद्रेषु सभगो
भगत्विति चेन्न, मानुषोत्तरात्परतो देवस्य प्रयोगतोऽपि मनुष्याणां गमनाभावात् ।

इसीप्रकार पचेन्द्रिय तिर्यच और पचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यच भी होते है ॥ १६० ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुगोव्य है ।

अत्र योनिमती तिर्यचोंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

योनिमती पचेन्द्रिय तिर्यचोंके असयतसम्यग्दृष्टि और सयतासयत गुणस्थानमें
क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते है । शेषके दो सम्यग्दर्शनासे युक्त होते है ॥ १६१ ॥

योनिमती पचेन्द्रिय तिर्यचोंमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव मरकर उत्पन्न नहीं होते है
और जो बड़ा उत्पन्न होते है उनके दर्शनमोहनीयका क्षय नहीं होता है, अतः बड़ा क्षायिक
सम्यग्दर्शन नहीं पाया जाता है ।

अब मनुष्योंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, सयता-
सयत और सयत होते है ॥ १६२ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है—

उन्हींमें और विशेष कहनेके लिये सूत्र कहते हैं—

इसीप्रकार ढाई द्वीप और दो समुद्रोंमें जानना चाहिये ॥ १६३ ॥

शुका—धरके सबन्धसे डाले गये सयत और सयतासयत आदि मनुष्योंका संपूर्ण
द्वीप और समुद्रोंमें सट्टाय रहा आवे, ऐसा मान लेनेमें क्या हानि है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ देवोंकी प्रेरणासे भी
मनुष्योंका गमन नही हो सकता है । ऐसा न्याय भी है कि जो सयत असमर्थ होता है वह

न हि स्वतोऽममथाऽन्यत समर्था भरत्यतिप्रसङ्गात् । अथ स्यादर्धतृतीयशब्देन किमु द्वीपो विशिष्यते उत समुद्र उत द्वीपपीति ? नान्त्योपान्त्यनिरूप्यो मानुषोत्तरात्परतोऽपि मनुष्याणामस्तित्वप्रसङ्गात् । अन्तु चेन्न, द्वीपत्रये मनुष्याणा सत्त्वप्रसङ्गात् । न तदपि सूत्रनिरोधात् । नादिनिरूप्योऽपि समुद्राणा भग्यानियमाभावात् मर्मममुद्रेषु तत्तत्त्व प्रसङ्गादिति ।

अत्र प्रतिनिधीयते । नान्त्योपान्त्यनिरूप्योक्तदोषा. ममादौकन्ते, तयोरनभ्युपगमात् । न प्रथमनिरूप्योक्तदोषोऽपि द्वीपेऽर्धतृतीयसंज्ञेषु मनुष्याणामस्तित्वनियमे सति शेषद्वीपेषु मनुष्याभावासिद्धिर्नमानुषोत्तरत्वं प्रत्यविशेषतः शेषममुद्रेषु तदमात्रमिदं । नाशेषसमुद्राणा मानुषोत्तरत्वमसिद्धमारात्तनद्वीपभागस्याप्यन्यथा मानुषोत्तरत्वानुपपत्ते । तत सामर्थ्याद् द्वयो समुद्रयो सन्तीत्यनुक्तमप्यवगम्यते ।

दूसरोंके सब-घसे भी समर्थ नहीं हो सकता है । यदि ऐसा न माना जाये तो अतिप्रसंग दोष आ जायगा । अत मानुषोत्तरके उस ओर मनुष्य नहीं पाये जाते हैं ।

शुद्धा--अर्धतृतीय शब्द द्वीपका विशेषण है या समुद्रका अथवा दोनोंका ? इनमेंसे अन्तके दो विकल्प तो बराबर नष्ट हैं, क्योंकि, जसा मान लेने पर मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ भी मनुष्योंके अस्तित्वका प्रसंग आ जायगा । यदि यह कहा जाये कि अच्छी बात है, मानुषोत्तरके परे भी मनुष्य पाये जायें सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, इसप्रकार तो तीन द्वीपोंम मनुष्योंके सद्भावका प्रसंग आता है । और वैसा माना नहीं जा सकता, क्योंकि, सूत्रसे विरोध आता है । इसीप्रकार पहला विकल्प भी नष्ट हो सकता है, क्योंकि, इसप्रकार द्वीपोंकी सख्याका नियम होने पर भी समुद्रोंकी सख्याका कोई नियम नहीं बनना है, इसलिये तमस्त समुद्रोंमें मनुष्योंके सद्भावका प्रसंग प्राप्त होता है ?

ममावान--दूसरे ओर तीसरे विकल्पमें दिये गये दोष तो प्राप्त ही नहीं होते हैं, क्योंकि परमागमम जसा माना ही नष्ट गया है । इसप्रकार प्रथम विकल्पमें द्रिया गया दोष भी प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि, द्वीप मनुष्योंके अस्तित्वका नियम हो जानेपर दोषके द्वीपोंमें तिसप्रकार मनुष्योंके अभावकी सिद्धि हो जाती है उसीप्रकार दोष समुद्रोंमें भी मनुष्योंका अभाव सिद्ध हो जाता है, क्योंकि, द्वीपोंको छोड़कर दोष द्वीपोंकी तरह दो समुद्रोंके अतिरिक्त दोष समुद्र भी मानुषोत्तरसे परे हैं, अत दोष द्वीपोंकी तरह दोष समुद्रोंके भी मानुषोत्तरसे परे होनेम कोई विशेषता नहीं है । इसप्रकार दोष द्वीपोंके लिये जो नियम ला रहे वही दोष समुद्रोंके लिये भी हो जाता है । इसलिये दोष समुद्रोंमें मनुष्योंका अभाव है यह बात निश्चित हो जाती है । दोषके संपूर्ण समुद्रोंका मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ होना सिद्ध भी नहीं है, अथवा समीपवर्ती द्वीपभागके भी मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ होना सिद्ध नहीं होगा । इस लिये सामर्थ्यसे दो समुद्रोंम मनुष्य पाये जाते हैं, यह बात बिना कहे ही जानी जाती है ।

मम्यग्दर्शनविशेषप्रतिपादनार्थमाह--

मणुसा असंजदसम्माइट्टि-संजदासंजद-संजद-इण्णे अत्थि
सम्माइट्टी वेदयसम्माइट्टी उवसमसम्माइट्टी ॥ १६४ ॥

सुगमत्त्वान्नात्र वक्तव्यमस्ति ।

एवं मणुस-पज्जत्त-मणुसिणीसु ॥ १६५ ॥

एतदपि सुगमम् ।

देवादेशप्रतिपादनार्थमाह--

देवा अत्थि मिच्छाइट्टी सासणसम्माइट्टी सम्मामिच्छाइट्टी असं-
जदसम्माइट्टि ति ॥ १६६ ॥

एवं जाव उवरिम-उवरिम-गेवेज्ज-विमाण-वासिय-देवा ति
॥ १६७ ॥

देवा असंजदसम्माइट्टि-इण्णे अत्थि खइयसम्माइट्टी वेदय-
सम्माइट्टी उवसमसम्माइट्टि ति ॥ १६८ ॥

अत्र मनुष्योंमें सम्यग्दर्शनके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

मनुष्य असयतसम्यग्दष्टि, सयतासयत और सयत गुणस्थानोंमें क्षायिकसम्यग्दष्टि
चेदस्मसम्यग्दष्टि और उपशमसम्यग्दष्टि होते हे ॥ १६४ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहां पर विशेष कहने योग्य नहीं है ।

अथ विशेष मनुष्योंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

इसीप्रकार पर्याप्त मनुष्य और पर्याप्त मनुष्यनियोंमें भी जानना चाहिये ॥ १६५ ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुगम है ।

अत्र देवोंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

देव मिथ्यादष्टि, सासादनसम्यग्दष्टि, सम्यग्मिथ्यादष्टि और असयतसम्यग्दष्टि
होते हे ॥ १६६ ॥

अत्र उक्त अर्थके देवविशेषोंमें प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

इसीप्रकार उपरिम भ्रमेयकके उपरिम पटल तर्कके देव जानना चाहिये ॥ १६७ ॥

अथ देवोंमें सम्यग्दर्शनके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

देव असयतसम्यग्दष्टि गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दष्टि, वेदकसम्यग्दष्टि और उपशम-

सुगमत्वात्सुप्रतिपत्ते न किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति ।

भवणवासिय वाणवेतर जोइसिय देवा देवीओ च सोधम्मीसाण-
कप्पवासिय देवीओ च असंजदसम्माइट्ठि-द्वारेण राइयसम्माइट्ठी णत्थि
अवसेसा अत्थि अवसेसियाओ अत्थि ॥ १६९ ॥

किमिति श्रायिकमस्यगृह्यमस्त्र न मन्तीति चेन्न, देवेषु दर्शनमोहवपणाभावा
त्प्रापितदर्शनमोहकर्मणामपि प्राणिना भवनवासादिप्रथमदेवेषु सर्वदेवीषु चोत्पत्तेर-
भावाच्च । शेषमस्यस्त्रद्वयस्य तत्र कथं सम्भव इति चेन्न, तत्रोत्पन्ननीयानां पश्चात्तत्प-
र्यायपरिणते सत्त्वात् ।

सोधम्मीसाण प्पहुडि जाव उवरिम उवरिम-गेवज्ज-विमाण
वासिय देवा असंजदसम्माइट्ठि-द्वारेण अत्थि राइयसम्माइट्ठी वेदग-
सम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ॥ १७० ॥

सम्यग्दृष्टि होते है ॥ १८८ ॥

पूर्वाक्त तीनों सूत्रोंका अर्थ सुगम होनेसे इनके विषयमें अधिक् कुछ भी नहीं कहना है ।

अत्र भवनवासी जादि देवोंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

भवनवासी, ध्यानव्यन्तर और ज्योतिषी देव तथा उनकी देखिया और सोधर्म तथा
ईशानकल्पवासी देविया असत्यतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें ध्यायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते है या
नहीं होती है । शेषके दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते है या होती है ॥ १८९ ॥

शङ्का—ध्यायिकसम्यग्दृष्टि जीव उक्त स्थानोंमें क्यों नहीं होते है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, एक तो यद्वापर दर्शनमोहनीयका क्षयण नहीं होता है ।
दूसरे जिन जीवोंने पूर्व पर्यायमें दर्शनमोहनीयका क्षय कर दिया है उनकी भवनवासी आदि
अधम देवोंमें और सर्वा देवियोंमें उत्पत्ति नहीं होती है ।

शङ्का—शेषके दो सम्यग्दर्शनोंका उक्त स्थानोंमें सद्भाव कैसे सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यद्वापर उत्पन्न हुए जीवोंके अनन्तर सम्यग्दर्शनरूप
पर्याय हो जाती है, इसलिये शेषके दो सम्यग्दर्शनोंका यद्वापर सद्भाव पाया जाता है ।

अथ शेष देवोंमें सम्यग्दर्शनके भेद बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सोधर्म और ऐशान कल्पसे लेकर उपरिम प्रेवेयकके उपरिम भागतक रहनेवाले
देव असत्यतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें ध्यायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि
होते हैं ॥ १७० ॥

त्रिभिधेन सम्यक्त्वेन सह तत्रोत्पत्तेर्दर्शनात् । तत्रोत्पद्य द्विनिवसम्यग्दर्शनो-
पादानात्तत्र तेषा सत्त्वं सुघटमिति ।

शेषदेवाना सम्यग्दर्शनभेदप्रतिपादनार्थमाह—

अणुदिस-अणुत्तर--विजय-वइजयंत--जयंतावराजिदसवद्वमिद्धि-
विमाण-वासिय-देवा असंजदसम्माइद्धि-हाणे अत्थि खइयसम्माइद्धी
वेदगसम्माइद्धी उवसमसम्माइद्धी ॥ १७१ ॥

कथं तत्रोपशमसम्यक्त्वस्य सत्त्वमिति चेत्कथं च तत्र तस्यामच्च ? तत्रोत्पत्तेभ्यः
क्षायिकक्षायोपशमिकमस्यग्दर्शनेभ्यस्तदनुत्पत्तेः । नापि मिथ्यादृष्टय उपात्तौपशमिक-
सम्यग्दर्शनाः सन्तस्तत्रोत्पद्यन्ते तेषा तेन सह मरणाभावात् । न, उपशमश्रेण्यारूढानामास्-
त्यावतीर्णानां च तत्रोत्पत्तितस्तत्र तत्सत्त्वानिरोधात् । उपशमश्रेण्यारूढा उपशम
सम्यग्दृष्टयो न त्रियन्ते औपशमिकसम्यग्दर्शनोपलक्षितत्वाच्छेपोपशमिकमस्यग्दृष्टय इवेति

उक्त देवोंमें तीनों ही प्रकारके सम्यग्दर्शनोंके साथ जीर्णोन्नी उत्पत्ति देखी जाती है
अथवा, ब्रह्मापर उत्पन्न होनेके पश्चात् वेदक और औपशमिक इन दो सम्यग्दर्शनोंका ग्रहण
होता है, इसलिये उक्त देवोंमें तीनों सम्यग्दर्शनोंका सद्भाव बन जाता है ।

अब शेष देवोंमें सम्यग्दर्शनके भेद बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

नच अनुदिशोंमें ओर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्गार्थसिद्धि इन पांच
अनुत्तर्गोंमें रहनेवाले देव अस्यतसम्यग्दृष्टि गुणस्यानमे क्षायिकसम्यग्दृष्टि वेदकसम्यग्दृष्टि
और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १७१ ॥

शंका—ब्रह्मापर उपशम सम्यग्दर्शनका सद्भाव कैसे पाया जाता है ?

प्रतिशंका—ब्रह्मापर उसका सद्भाव कैसे नहीं पाया जा सकता है ?

शंका—ब्रह्मापर जो उत्पन्न होते हैं उनके क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन
पाया जाता है, इसलिये उनके उपशम सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । ओर
मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यग्दर्शनको ग्रहण करके ब्रह्मापर उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि,
उपशमसम्यग्दृष्टियोंका उपशमसम्यक्त्वेक साथ मरण नहीं होता है ।

समाधान—नहीं, क्योंकि, उपशम श्रेणीपर ब्रह्मनेवाले और ब्रह्मकर उतरनेवाले
जीवोंकी अनुदिश ओर अनुत्तरोंमें उत्पत्ति होती है, इसलिये ब्रह्मा पर उपशम सम्यक्त्वके
सद्भाव रहनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—उपशम श्रेणीपर आरूढ हुए उपशमसम्यग्दृष्टि जीव नहीं मरते हैं, क्योंकि,
वे उपशम सम्यग्दर्शनसे युक्त होते हैं । जिसप्रकार अन्य औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंका मरण
नहीं होता है ?

ग्रहणाद्विकलेन्द्रियवदिति चेद्धृत्तेन यदि मनोऽनपेक्ष्य ज्ञानोत्पत्तिमात्रमाश्रित्यासङ्गितस्य
निग्न्यनमिति चेन्मनसोऽभावाद्बुद्धयतिशयाभावात्, ततो नानन्तरोक्तदोष इति सुगममेतत् ।

असण्णी एइंदिय प्पहुडि जाव असण्णि-पंचिंदिया ति' ॥१७४॥

एतदपि सुगम सूत्रम् ।

आहारमुपेन जीवप्रतिपादनार्थमाह—

आहाराणुवादेण अत्थि आहारा अणाहारा ॥ १७५ ॥

एतदपि सुगमम् ।

आहारगुणप्रतिपादनार्थमाह—

आहारा एइंदिय प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि ति' ॥ १७६ ॥

अत्र कललेपोपममन' कर्माहारान् परित्यज्य नो कर्माहारो ग्राह्यः, अन्यथाहारकाल-
विरहाभ्या सह विरोधात् ।

जीवोंकी तरह बाह्य पदार्थोंका ग्रहण करते हैं ?

ममाधान—यदि मनकी अपेक्षा न करके ज्ञानकी उत्पत्तिमात्रका आश्रय करके ज्ञानो
त्पत्ति असङ्गीपनेकी कारण होनी तो ऐसा होता । परन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि, कदाचित् मनके
अभावे विकलेन्द्रिय जीवोंकी तरह केवलीके बुद्धिके अतिशयका अभाव भी कहा जावेगा,
इसलिये केवलीके पूर्वोक्त दोष लाटू नहीं होता है । शेष कथन सुगम है ।

अत्र असङ्गी जीवोंके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

असङ्गी जीव एकेन्द्रियसे लेकर असङ्गी पचेन्द्रियपर्यन्त होते हैं ॥ १७७ ॥

यह सूत्र सुगम है ।

अत्र आहारमार्गणके द्वारा जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

आहारमार्गणके अनुवादेसे आहारक और अनाहारक जीव होते हैं ॥ १७८ ॥

यह सूत्र भी सुगम है ।

अत्र आहारमार्गणमें गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

आहारक जीव एकेन्द्रियसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १७९ ॥

यहापर आहार शब्दसे कलहाहार, लेपाहार, ऊप्माहार, मानसिकाहार और कर्माहारको
छोडकर नोकर्माहारका ही ग्रहण करना चाहिये । अन्यथा आहारकाल और विरहके साथ
विरोध आता है ।

१ अमत्तिणु एउमेव मिथ्याण्डिथानम् । स पि १ ८

२ आगानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यादानि सयोगवन्वयतामि । स पि १ ८

अणाहारा चटुसु द्वाणेषु विगहगइ ममावण्णाण केवलीण वा
समुग्धाद-गदाण अजोगिनेवली सिद्धा चेदि ॥ १७७ ॥

एते शरीरप्रायोग्यपुद्गलोपादानरहितस्यादनाहारिण उच्यन्ते ।

इदि मत सुत्त विवरण समत्त ।

अथ अनाहारजाके गुणस्थान वतलानके लिखे मूत्र कहते हैं—

विग्रहगतिके प्राप्त जावोंके मिथ्यात्व, सामादा और अविरतसम्पद्दृष्टि तथा समुदा
तगत केवलियोंके सयोगिकेवली, इन चार गुणस्थानामें रहनेवाले जीव और अयोगिकेवली
तथा सिद्ध अनाहारक होते हैं ॥ १७७ ॥

ये जीव शरीरके योग्य पुद्गलका ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिये अनाहारक होते हैं ।

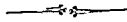
इमप्रकार सत्प्ररूपणा मूत्र विवरण समाप्त हुआ ।

१ अनागम्यसु विग्रहग यावन्तु ताण गणस्थानानि मिथ्याणि ममादनमभ्यन्तिरमयनमभ्यन्दिषि ।
समुद्गादगतं अयागमवला जयागमवला च । स मि १ ८



प्राज्ञा

१ संत-परुवणा-सुत्ताणि



सूत्र सख्या	सूत्र	पृष्ठ	सूत्र सख्या	सूत्र	पृष्ठ
१ णमो अरिहताण णमो सिद्धाण णमो आडरियाण णमो उरज्झा- याण णमो लोण मच्चमादृग इदि ।		८	९ ओपेण अतिय मिच्छाडट्ठी ।		१३१
२ एत्तो इमेमिं चोदसण्ह जीउममा- साण मग्गणट्ठदाण तत्थ इमाणि चोदस चेउ द्वाणाणि णायव्वाणि भरति ।		९१	१० मामगमम्माडट्ठी ।		१६३
३ त जहा ।		१३२	११ सम्मामिच्छाडट्ठी ।		१६६
४ गइ इदिण काण जोगे पेदे रुमाण णाणे सजमे दमणे लेस्मा भविय सम्मत्त सणिण आहारए चेदि ।		१३२	१२ अमजदमम्माडट्ठी ।		१७०
५ एदेमिं चेउ चोदसण्ह जीउममा- साण परूरणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगादाराणि णाय व्वाणि भरति ।		१५३	१३ मजदामजदा ।		१७३
६ त जहा ।		१५५	१४ पमत्तमजदा ।		१७५
७ सतपरुवणा दच्चपमाणाणुगमो सेत्ताणुगमो फेमणाणुगमो कालाणुगमो अतगणुगमो मात्ता णुगमो अप्पावट्ठगणुगमो चेदि ।		१५५	१५ अप्पमत्तमजदा ।		१७८
८ सतपरुवणदाए दुविहो निदेमो ओपेण आदेमेण य ।		१५९	१६ अनुपुअरुणपनिट्ठसुद्धिमज्जेसु अतिय उउममा खया ।		१७१
			१७ अणियट्ठिनादरसापराडयपनिट्ठसु- द्धिमज्जेसु अतिय उउममा खया ।		१८३
			१८ सुद्धमसापराडयपनिट्ठसुद्धिमज्जेसु अतिय उउममा खया ।		१८७
			१९ उउमतकमाययीपरायडुमुत्था ।		१८८
			२० खीणकमाययीपरायडुमुत्था ।		१८९
			२१ मजोगकेउली ।		१९०
			२२ अजोगकेउली ।		१९२
			२३ मिद्धा चेदि ।		२००
			२४ पादेसेण गदियाणुगदेण अतिय णिग्गयगदी तिग्गिसगदी मणुस्स- गदी देउगदी मिट्ठगदी चेदि ।		२०१

सूत्र सत्या

सूत्र

पृष्ठ सूत्र सत्या

सूत्र

पृष्ठ

२५ गेरटया चउट्टाणेषु अत्थि मिच्छा-
इट्ठी सामणमम्माइट्ठी मम्मा-
मिन्नाइट्ठी अमजदमम्माइट्ठि
त्ति ।

२०४

२६ तिरिक्खा पचसु ट्टाणेषु अत्थि
मिन्नाइट्ठी सामणमम्माइट्ठी
मम्मा मिन्नाइट्ठी अमजदमम्मा
इट्ठी मजदामजदा त्ति ।

२०७

२७ मणुम्मा चोदमसु गुणट्टाणसु
अत्थि मिन्नाइट्ठी, सामणमम्मा
इट्ठी, मम्मा मिन्नाइट्ठी, अमजद
मम्माइट्ठी, मजदामजदा, पमत्त-
मजदा, जप्पमत्तमजदा, अपुच्च-
करणपनिट्टसुट्ठिमज्जेसु अत्थि
उत्तममा सत्ता, अणियट्ठिनादर
सापराट्यपनिट्टसुट्ठिमज्जेसु अत्थि
उत्तममा सत्ता, सुद्धममापराट्य-
पनिट्टसुट्ठिमज्जेसु अत्थि उत्त-
ममा सत्ता, उत्तमत्तमायत्तीय-
रायल्लदुमत्त्या, म्मीणकमायत्तीय
रायल्लदुमत्त्या, मज्जोगिकेनलि,
अजोगिकेनलि त्ति ।

२१०

२८ देवा चत्तुसु ट्टाणेषु अत्थि मिच्छा-
इट्ठी सामणमम्माइट्ठी मम्मा-
मिन्नाइट्ठी अमजदमम्माइट्ठि
त्ति ।

२०५

२९ तिरिक्खा सुद्धा एट्ठियप्पट्ठि
जाय अमण्णिपचिदिया त्ति ।

२२७

३० तिरिक्खा मिस्सा माण्णिमिन्ना-
इट्ठिप्पट्ठि जाय मजदामजदा
त्ति ।

२०८

३१ मणुम्मा मिस्सा मिन्नाइट्ठि-
प्पट्ठि जाय मजदामजदा त्ति ।

२३१

३२ तेण पर सुद्धा मणुस्सा ।

२३१

३३ इट्ठियाणुनादेण अत्थि एट्ठिया
मीट्ठिया तीट्ठिया चट्ठुरिट्ठिया
पचिदिया अणिट्ठिया चेदि ।

२३१

३४ एट्ठिया दुग्गिहा, नादरा सुद्धा ।
नादरा दुग्गिहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता ।
सुद्धा दुग्गिहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता ।

२४९

३५ वीट्ठिया दुग्गिहा, पज्जत्ता अप-
ज्जत्ता । तीट्ठिया दुग्गिहा, पज्जत्ता
अपज्जत्ता । चट्ठुरिट्ठिया दुग्गिहा,
पज्जत्ता अपज्जत्ता । पचिदिया
दुग्गिहा, मण्णी अमण्णी । मण्णी
दुग्गिहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता ।
अमण्णी दुग्गिहा, पज्जत्ता अप-
ज्जत्ता चेदि ।

२५८

३६ एट्ठिया मीट्ठिया तीट्ठिया
चट्ठुरिट्ठिया अमण्णिपचिदिया
एक्कम्मि चेर मिच्छाइट्ठिट्ठिणे ।

२६१

३७ पचिदिया अमण्णिपचिदियप्प
ट्ठि जाय अजोगिकेनलि त्ति ।

२६२

३८ तेण परमण्णिदिया इदि ।

२६४

३९ कायाणुनादेण अत्थि पुट्ठिका-
इया जाउकाइया नेउकाइया

सूत्र सख्या	सूत्र	पृष्ठ	सूत्र सख्या	सूत्र	पृष्ठ
	वाउकाइया वणप्फइकाइया तम- काइया अकाइया चेदि ।	२६४		काइया एकम्मि चेय मिच्छा- इट्ठिट्ठाणे ।	२७४
४०	पुढविकाइया दुमिहा, नादरा सुहुमा । वादरा दुमिहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुमिहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । आउकाइया दुमिहा, वादरा सुहुमा । नादरा दुमिहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुमिहा, पज्जत्ता अप- ज्जत्ता । तेउकाइया दुमिहा, वादरा सुहुमा । नादरा दुमिहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुमिहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । वाउकाइया दुमिहा, नादरा सुहुमा । वादरा दुमिहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुमिहा, पज्जत्ता अप- ज्जत्ता चेदि ।	२६७	४४	तसकाइया वीडियप्पहुडि जाव अजोगिकेनलि ति ।	२७५
४१	वणप्फइकाइया दुमिहा, पत्तेय- सरीरा सावारणसरीरा । पत्तेय- सरीरा दुमिहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । सावारणसरीरा दुमिहा, नादरा सुहुमा । नादरा दुमिहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुमिहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि ।	२६८	४५	नादराकाइया नादरेइदियप्पहुडि जाव अजोगिकेनलि ति ।	२७६
४२	तसकाइया दुमिहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता ।	२७२	४६	तेण परमकाइया चेदि ।	२७७
४३	पुढविकाइया आउकाइया तेउ- काइया वाउकाइया वणप्फइ-		४७	जोगाणुनादेण अत्थि मणजोगी वाचिजोगी कायजोगी चेदि ।	२७८
			४८	अजोगी चेदि ।	२८०
			४९	मणजोगो चउव्विहो, मच्चमण- जोगो मोममणजोगो सच्चमोस- मणजोगो अमच्चमोममणजोगो चेदि ।	२८०
			५०	मणजोगो मच्चमणजोगो अमच्च- मोममणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि- प्पहुडि जाव मजोगिकेनलि ति ।	२८२
			५१	मोममणजोगो मच्चमोसमणजोगो मण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सणीकमायणीयगयउदुमत्था त्ति ।	२८५
			५२	वाचिजोगो चउव्विहो, सच्चवाचि जोगो मोसवाचिजोगो सच्चमोस- वाचिजोगो अमच्चमोसवाचिजोगो चेदि ।	२८६
			५३	वाचिजोगो असच्चमोसवाचि- जोगो वीडियप्पहुडि जाव मजोगिकेनलि ति ।	२८७

सूत्र सख्या	सूत्र	पृष्ठ	सूत्र सख्या	सूत्र	पृष्ठ
५४	सन्चरचिजोगो सण्णिमिच्छाडट्टि- प्पट्टि जाय सजोगिक्केल ति ।	२८८	६३	आहारकायजोगो आहारमिम्म- कायजोगो एक्कम्हि चेत्त पमत्त सजत्तट्ठाणे ।	३०५
५५	मोत्तसचिचोगो मन्चमोत्तसचि जोगो सण्णिमिच्छाडट्टिप्पट्टि जाय सीणकमायसीयरायउदु मत्था ति ।	२८९	६४	कम्मदयकायजोगो एड्ढिय प्पट्टि जाय सजोगिक्केल ति ।	३०७
५६	कायचोगो सत्तविहा, ओरालिय कायचोगो ओरालियमिस्मकाय जोगो वेउत्तियकायजोगो वेउ त्तियमिस्मकायचोगो आहार कायचोगो आहारमिस्मकायजोगो कम्मदयकायजोगो चेत्ति ।	२९०	६५	उच्चिजोगो कायजोगो बीड्ढिय- प्पट्टि जाय अमण्णिपचिदिया ति ।	३०९
५७	ओरालियकायजोगो ओरालिय मिस्मकायचोगो तिरिस्समणु स्माण ।	२९५	६७	कायजोगो एड्ढियाण ।	३०९
५८	वेउत्तियकायजोगो उउत्तिय मिस्मकायजोगो देरणइयाण ।	२९६	६८	मणजोगो उच्चिजोगो पज्जत्ताण अत्थि, अपज्जत्ताण णत्थि ।	३१०
५९	आहारकायजोगो आहारमिस्स कायजोगो सत्तदाणमिड्डिपत्ताण ।	२९७	६९	कायजोगो पज्जत्ताण पि अत्थि, अपज्जत्ताण पि अत्थि ।	३१०
६०	कम्मदयकायजोगो निग्गहगट- ममाउण्णाण केवल्लिण वा समु ग्घात्तगदाण ।	२९८	७०	उपज्जन्तीओ, उ अपज्जन्तीओ ।	३११
६१	कायजोगो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्मकायचोगो एड्ढ दियप्पट्टि जाय सजोगिक्केल ति ।	३०५	७१	सण्णिमिच्छाडट्टिप्पट्टि जाय अमजदसम्माडट्टि ति ।	३१५
६२	वेउत्तियकायजोगो वेउत्तिय मिस्मकायजोगो सण्णिमिच्छा		७२	पच्च पज्जन्तीओ, पच्च अपज्ज न्तीओ ।	३१३
			७३	मेइदियप्पट्टि जाय असण्णि पचिदिया ति ।	३१३
			७४	चत्ताणि पज्जन्तीओ, चत्ताणि अपज्जन्तीओ ।	३१४

सूत्र सख्या	सूत्र	पृष्ठ	सूत्र सख्या	सूत्र	पृष्ठ
७५	एहंदियाणं ।	३१४	८६	एन पचिदियतिरिक्खा पंचि- दियतिरिक्खपज्जत्ता ।	३२७
७६	ओरालियक्कायजोगो पज्जत्ताण, ओरालियमिम्मक्कायजोगो अप- ज्जत्ताण ।	३१५	८७	पंचिदियतिरिक्खजोणिणीसु मि- च्छाट्टि सामणसम्माइट्ठिहाणे- मिया पज्जत्तियाओ, सिया अपज्जत्तियाओ ।	३२८
७७	वेडच्चियक्कायजोगो पज्जत्ताण, वेडच्चियमिस्सक्कायजोगो अप- ज्जत्ताण ।	३१७	८८	मम्मामिच्छाडट्ठि अमजदसम्मा- इट्ठि-सजदामजदट्ठिहाणे नियमा पज्जत्तियाओ ।	३२८
७८	आहारक्कायजोगो पज्जत्ताण, आहारमिस्सक्कायजोगो अपज्ज- त्ताण ।	३१७	८९	मणुस्सा मिच्छाडट्ठि-सासणस- म्माइट्ठि-अमजदसम्माइट्ठिहाणे मिया पज्जत्ता मिया अपज्जत्ता ।	३२९
७९	णेरडया मिच्छाडट्ठि-असंजद सम्माइट्ठिहाणे मिया पज्जत्ता मिया अपज्जत्ता ।	३१९	९०	सम्मामिच्छाडट्ठि-सजदसजद- मंजदट्ठिहाणे नियमा पज्जत्ता ।	३२९
८०	मामणसम्माइट्ठि-सम्मामिच्छा- इट्ठिहाणे नियमा पज्जत्ता ।	३२०	९१	एन मणुस्सपज्जत्ता ।	३३१
८१	एन पढमाए पुढरीए णेरडया ।	३२२	९२	मणुमिणीसु मिच्छाडट्ठि-सासण- सम्माइट्ठिहाणे सिया पज्जत्ति- याओ मिया अपज्जत्तियाओ ।	३३२
८२	मिट्टियादि जान सत्तमाए पुढ- रीए णेरडया मिच्छाडट्ठिहाणे मिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता ।	३२३	९३	सम्मामिच्छाडट्ठि-अमजदसम्मा- इट्ठि-मजदामजदट्ठिहाणे नियमा पज्जत्तियाओ ।	३३२
८३	सासणसम्माइट्ठि-सम्मामिच्छा- ट्टि-असजदसम्माइट्ठिहाणे नि- यमा पज्जत्ता ।	३२३	९४	देवा मिच्छाडट्ठि मामणसम्माइट्ठि- अमजदसम्माइट्ठिहाणे सिया पज्जत्ता मिया अपज्जत्ता ।	३३४
८४	तिरिक्खा मिच्छाडट्ठि-सासण- सम्माइट्ठि-असजदसम्माइट्ठि- ट्ठिहाणे मिया पज्जत्ता, मिया अपज्जत्ता ।	३२५	९५	सम्मामिच्छाडट्ठिहाणे नियमा पज्जत्ता ।	३३५
८५	सम्मामिच्छाडट्ठि-सजदामजद- ट्ठिहाणे नियमा पज्जत्ता ।	३२६	९६	भरणगगिय-गणयतर जोडमिय- देवा देवीओ सोधम्मीसाण रूप-	

सूत्र सप्त्या	सूत्र	पृष्ठ	सूत्र सप्त्या	सूत्र	पृष्ठ
वासिय देवीओ च मिन्डाडि- सासणमम्माडिद्विहाणे मिया पञ्जा मिया अपज्जत्ता, मिया पज्जत्तियाओ मिया अपज्जत्ति- याओ। ३३५			१०४ तेण परमग्गदेदा चेदि । ३४४ १०५ णेस्सया चदुसु द्वाणेषु सुद्धा णमुमयेदा । ३४५ १०६ तिरिक्षया सुद्धा णवुमगेदेदा एइदियप्पहुडि जाव चउरि- दिया ति । ३४५ १०७ तिरिक्षया तिप्पेदा असण्णि- पचिंदियप्पहुडि जान सज्जदा सज्जदा ति । ३४६ १०८ मणुस्सा तिप्पेदा मिन्डाडिद्वि- प्पहुडि जान अणियद्वि ति । ३४६ १०९ तेण परमग्गदेदा चेदि । ३४७ ११० देया चदुसु द्वाणेषु दुप्पेदा, इत्थियेदा पुरिसप्पेदा । ३४७ १११ कमायाणुत्तादेण अत्थि कोध- कमाई माणकमाई मायकमाई लोभकमाई अरुमाई चेदि । ३४८ ११२ कोधकमाई माणकमाई माय- कमाई एइदियप्पहुडि जान अणियद्वि ति । ३५१ ११३ लोभकमाई एइदियप्पहुडि जान सुद्धमसापरइयसुद्विसज्जदा ति । ३५२ ११४ अरुमाई चदुसु द्वाणेषु अत्थि उत्तमतकमायवीयरायल्लदुमत्था सत्तीकमायवीयरायल्लदुमत्था सज्जोगिकेउली असज्जोगिकेउली ति । ३५२		
९७ सम्मामिन्डाडिद्वि-अमज्जम- म्माडिद्विहाण णियमा पज्जत्ता णियमा पज्जत्तियाओ । ३३६					
९८ सोधम्मीमाणप्पहुडि जान उ- रिमउरिमगेरज्ज ति विमाण वामिय देवेसु मिच्छाडिद्वि साम णमम्माडिद्वि असज्जसम्माडिद्वि- द्विहाणे मिया पज्जत्ता मिया अपज्जत्ता । ३३७					
९९ सम्मामिच्छाडिद्विहाणे णियमा पज्जत्ता । ३३९					
१०० अणुदिस अणुचार विजय-वइ- यत चपवाअराजित म-अट्ठमि- द्वि विमाणयामिय-देया अस- ज्जमम्माडिद्विद्विहाण सिया- पज्जत्ता, मिया अपज्जत्ता । ३३९					
१०१ वेत्ताणुत्तादेण अत्थि इत्थियेदा पुरिमवेदा णमुमयेदा अग्गद- वेदा चेति । ३४०					
१०२ इत्थियेदा पुरिसप्पेदा असण्णि मिन्डाडिद्विप्पहुडि जान अणियद्वि ति । ३४२					
१०३ णवुमयेदा एइदियप्पहुडि जान अणियद्वि ति । ३४३					

सूत्र सख्या	सूत्र	पृष्ठ	सूत्र सख्या	सूत्र	पृष्ठ
११५	णाणाणुनादेण अत्थि मदि अण्णाणी सुदअण्णाणी त्रिभग- णाणी आभिणिजोहियणाणी सुदणाणी ओहिणाणी मणपज्ज- णणाणी केवलणाणी चेदि ।	३५३	१२२	केवलणाणी तिसु द्वाणेषु सजोगकेवली अजोगकेवली सिद्धा चेदि ।	३६७
११६	मदिअण्णाणी सुदअण्णाणी एडदियप्पहुडि जाव सासण- सम्माइड्ढि ति ।	३६१	१२३	सजमाणुनादेण अत्थि सजदा सामाडयच्छेदोपट्ठावणसुद्धि- सजदा परिहारसुद्धिसंजदा सुहुममापराइयसुद्धिसजदा ज- हाक्खादविहारसुद्धिमजदा स- जदासजदा असजदा चेदि ।	३६८
११७	त्रिभगणाण मणिमिच्छाड्ढीण वा सामणमम्माड्ढीण ।	३६२	१२४	संजदा पमत्तसजदप्पहुडि जाव अजोगकेवलि ति ।	३७४
११८	पज्जत्ताण जत्थिय, अपज्ज- त्ताण णत्थिय ।	३६२	१२५	सामाडयच्छेदोपट्ठावणसुद्धितं- जदा पमत्तसजदप्पहुडि जाव अणियट्ठि ति ।	३७४
११९	सम्मामिच्छाड्ढि द्वाणे ति णिमि वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि । आभिणिजोहिय- णाणं मदिअण्णाणेण मिस्सिय, सुदणाण सुदअण्णाणेण मि- स्सिय, ओहिणाण त्रिभगणा- णेण मिस्सिय, तिणिण वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि वा ।	३६३	१२६	परिहारसुद्धिसंजदा दोसु द्वाणेषु पमत्तसंजदद्वाणे अप्पमत्तसजद- द्वाणे ।	३७५
१२०	आभिणिजोहियणाण सुदणाण ओहिणाण असजदमम्माइड्ढि प्पहुडि जाव खीणकसाय- वीदरागल्लदुमत्था ति ।	३६४	१२७	सुहुममापराइयसुद्धिमजदा ए वम्हि चेव सुहुमसापराडय- सुद्धिमजद-द्वाणे ।	३७६
१२१	मणपज्जणणाणी पमत्तमजद- प्पहुडि जाव खीणकसायवीद- रागल्लदुमत्था ति ।	३६६	१२८	जहाक्खादविहारसुद्धिमजदा च- दुसु द्वाणेषु उरमत्तकसाय- वीयरायल्लदुमत्था खीणकसा- यवीयरायल्लदुमत्था सजोगि- केवली अजोगिकेवलि ति ।	३७७
			१२९	मजदासजदा एवम्हि चेय मत्तदामजद-द्वाणे ।	३७८

सूत्र सत्या	सूत्र	प्रश्न	सूत्र सत्या	सूत्र	प्रश्न
१३० असजदा एडियप्पहटि जाप असजदमम्माइट्टि ति ।	२७८	१३९ सुक्केस्सिया मणिमिन्डा- इट्टिप्पहटि जाप मजोगि- केवलि ति ।	३९१		
१३१ दमणाणुपादेण अत्थि चम्सु- दसणी अचम्सुदसणी ओवि दसणी केवलदसणी चेदि ।	३७८	१४० तेण पम्मलेस्मिया ।	३९२		
१३२ चम्सुदसणी चउगिदियप्पहटि जाप सीणकसायरीयरायउदु मत्था ति ।	३८३	१४१ भवियाणुपादेण अत्थि भव- मिद्विया अमममिद्विया ।	३९३		
१३३ अचम्सुदमणी णट्ठियप्पहटि जाप सीणकसायरीयरायउदु मत्था ति ।	३८३	१४२ भवमिद्विया णट्ठियप्पहटि जाप अचोगिक्केवलि ति ।	३९४		
१३४ ओविदमणी अमजदमम्मा इट्टिप्पहटि जाप सीणकसा यरीयरायउदुमत्था ति ।	३८४	१४३ अमममिद्विया णट्ठियप्पहटि जाप मणि मिन्डाइट्टि ति ।	३९४		
१३५ केवलदमणी तिसु द्वाणेसु मजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ।	३८५	१४४ सम्मचाणुपादेण अत्थि सम्मा इट्टी राट्ठयमम्माइट्टी वेदग सम्माइट्टी उरसममम्माइट्टी सामणमम्माइट्टी सम्मामि च्छाइट्टी मिन्डाइट्टी चेदि ।	३९५		
१३६ लेस्माणुपादेण अत्थि किण्ड- लेस्मिया नीललेस्मिया काउ लेस्मिया तेउलेस्मिया पम्म लेस्सिया सुक्केस्मिया अले स्सिया चेदि ।	३८६	१४५ मम्माइट्टी राट्ठयसम्माइट्टी अमचदमम्माइट्टिप्पहटि जा प अजोगिकेवलि ति ।	३९६		
१३७ किण्डलेस्मिया नीललेस्मिया काउलेस्मिया एडियप्पहटि जाप असजदसम्माइट्टि ति ।	३९०	१४६ वेदगमम्माइट्टी अमचदम- म्माइट्टिप्पहटि जाप अपम त्तसत्ता ति ।	३९७		
१३८ तेउलेस्सिया पम्मलेस्मिया मणिमिन्डाइट्टिप्पहटि जाप अप्पमत्तमज्जा ति ।	३९१	१४७ उरसममम्माइट्टी असजदस म्माइट्टिप्पहटि जाप उरसत कसायरीयरायउदुमत्था ति ।	३९८		
		१४८ सामणमम्माइट्टी एककम्मि चेप सामणमम्माइट्टि-द्वाणे ।	३९८		
		१४९ सम्मामिन्डाइट्टी एककम्मि चेप सम्मामिन्डाइट्टि द्वाणे ।	३९९		

सूत्र सत्या	सूत्र	पृष्ठ	सूत्र सत्या	सूत्र	पृष्ठ
१५० मिच्छाड्ढी एइंदियप्पट्ठि जाव			१६० एअं पंचिदियतिग्गिस्सा पचि-		
सण्णिमिच्छाड्ढि ति ।	३९९		दियतिग्गिस्सपज्जत्ता ।	४०३	
१५१ णेरइया अत्थि मिच्छाड्ढी सा-			१६१ पचिंदियतिग्गिस्सज्जोणिणीसु अ-		
सणसम्माड्ढी मम्मामिच्छाड्ढी			मज्जदमम्माड्ढि मज्जदासज्जदहाणे		
असज्जदसम्माड्ढि ति ।	३९९		सुइयसम्माड्ढी णत्थि, अ-		
१५२ एअ जाव सत्तसु पुट्ठणीसु	३९९		मेमा अत्थि ।	४०३	
१५३ णेरइया असज्जदमम्माड्ढि-			१६२ मणुस्सा अत्थि मिच्छाड्ढी		
ट्ठहाणे अत्थि सुइयमम्माड्ढी			सासणसम्माड्ढी मम्मामिच्छा		
पेदगसम्माड्ढी उअमममम्मा-			ड्ढी अमज्जदमम्माड्ढी सज्जदा-		
ड्ढी चेदि ।	४००		सज्जदा सज्जदा ति ।	४०३	
१५४ एअं पट्ठमाए पुट्ठणीए णेरइया ।	४००		१६३ एअमट्ठाड्ढिअदीअममुहेसु ।	४०३	
१५५ त्रिदियादि जाव सत्तमाए पुट्ठ-			१६४ मणुस्सा असज्जदमम्माड्ढि-सज्ज-		
णीए णेरइया अमज्जदसम्माड्ढि-			दासज्जदहाणे अत्थि सुइय-		
हाणे सुइयसम्माड्ढी णत्थि, -			सम्माड्ढी पेदयमम्माड्ढी उअ-		
अअमेमा अत्थि ।	४०१		सममम्माड्ढी ।	४०५	
१५६ तिग्गिस्सा अत्थि मिच्छाड्ढी			१६५ एअ मणुस्स-पज्जत्तमणुमिणीसु ।	४०५	
सामणमम्माड्ढी मम्मामिच्छा-			१६६ देवा अत्थि मिच्छाड्ढी सामण-		
ड्ढी अमज्जदमम्माड्ढी सज्जदा-			सम्माड्ढी मम्मामिच्छाड्ढी		
सज्जदा ति ।	४०१		अमज्जदमम्माड्ढि ति ।	४०५	
१५७ एअ जाव मच्चदीअममुहेसु ।	४०१		१६७ एअ जाव उअरिमउअरिम-		
१५८ तिग्गिस्सा अमज्जदमम्माड्ढि-			गेपेज्जविमाणत्तामियदेवा ति ।	४०५	
हाणे अत्थि सुइयमम्माड्ढी			१६८ देवा अमज्जदसम्माड्ढिहाणे		
पेदगसम्माड्ढी उअममम-			अत्थि सुइयसम्माड्ढी पेदय-		
म्माड्ढी ।	४०२		सम्माड्ढी उअसममम्माड्ढि ति ।	४०५	
१५९ तिग्गिस्सा संज्जदासंज्जदहाणे			१६९ भअणत्तासियराणपेअरजोइमिय-		
सुइयमम्माड्ढी णत्थि, अ-			देवा देवीओ च, सोधम्मी		
मेमा अत्थि ।	४०२		माणरूपत्तासियदेवीओ च		
			असज्जदसम्माड्ढिहाणे सुइय-	४०६	

सूत्र सत्या	सूत्र	पृष्ठ सूत्र सत्या	सूत्र	पृष्ठ
	सम्माद्वी णत्थि, अग्रमेमा अत्थि, अवसेसियाओ अत्थि । ५०६	१७३ सण्णी मिच्छाद्विप्पहुडि जाय ग्गीणरमायणीयगयल्लुमत्था त्ति । २०८		
१७० सोधम्मीसाणप्पहुडि जाय उर- रिमउवरिम-गेउच्चनिमाणया- सियदेया असन्नदसम्मासी द्वाणे अत्थि रग्गयमम्माद्वी वेदग सम्माद्वी उरसममम्माद्वी । ४०६		१७४ अमण्णी णद्वियप्पहुडि जाय असण्णिपचिदिया त्ति । ४००		
१७१ अणुदिसअणुत्तरिजयवज्जय- तजयतारानिदसच्चद्विद्वि- निमाणयामियदेया अमजद सम्माद्विद्वाणे अत्थि रग्गयस- म्माद्वी वेदगसम्माद्वी उर- समसम्माद्वी । ४०७		१७५ आहारा णद्वियप्पहुडि जाय सजोगिकरलि त्ति । ४०९		
१७२ सण्णियाणुपादेण अत्थि सण्णी असण्णी । ४०८		१७७ अणाहारा चदुसु द्वाणेषु निग्ग- हगसमायण्णाण केरलीण वा समुग्घादगदाण अजोगिकरली सिद्धा चेदि । ४१०		



२ अवतरण-गाथा-सूची

क्रम सख्या गाथा पृष्ठ अन्यत्र कहा क्रम सख्या गाथा पृष्ठ अन्यत्र कहा

अ

- १०७ अट्टविहकम्मविजुदा २०० गो जी ६८
 ७६ अट्टामी अहियारेसु ११२
 २७ अणवज्जा कयकज्जा ४८
 ५१ अण्णाणतिमिरहरण ५९
 १०० अणियोगोय णियोगो १५४ आ नि १०५
 १९० अणुलोम वेदतो ३७३ गो जी ४७४
 १८३ अत्थादो अत्यतर ३५९ गो जी ३१५
 १४८ अत्थि अणता जीवा २७५ गो जी १९७
 मूलात्वा १२०३
 १०२ अत्थित्त पुण सत १५८
 ४६ अदिसयमादसमुत्थ ५८ प्रवच १ १३
 १७८ अप्पपरोभयवाधण ३५१ गो जी २८९
 ८६ अप्पप्पनुत्तिसच्चिद् १३९
 १८० अभिमुहणियमिय ३५९ गो जी ३०६
 १५ अचगयणिवारणट्ट ३१
 १८४ अजहीयदित्ति ओही ३५९ गो जी ३७०
 ४२ अष्टसहस्रमहीपति ५८ ति प १, ४७
 ३६ अष्टादशसत्त्वाना ५७ " १, ४२
 १०५ असहायणाणदत्तण १९२ गो जी ६३
 ८ अहमिंदा जह देवा १३७ गो जी १६४

आ

- ७ आक्षेपणीं तत्त्वधि १०६
 १९८ आदा णाणपमाण ३८६ प्रवच १, २३
 २० आदिमिद् भद्दवयण ४० ति प १, २९
 समान
 १९ आदीवसाणमज्जे ४०
 २० आदो मध्येऽवसाने ४१ आ प

- १८० आभीयमासुरम्भा ३५८ गो जी ३०४
 १६४ आहरदि अणेण मुणी २९४ गो जी २३९
 ९८ आहरदि सरीराण १५२ गो जी ६६५
 १६५ आहारयमुत्तत्थ २९३ गो जी २४०

इ

- ५५ इम्मिसे वसत्पिणीए ६२ ति प १ ६८
 (समान)
 १५१ इगाल जाल अच्छी २७३ मूलात्वा २११
 आ चा नि
 ११८

उ

- ३ उच्चारियमत्थपद १० जयध अ ३०
 ८ उप्पज्जति वियति य १३ स त १, ११
 ६० उप्पण्णमिद् अणते ६३ ति प १, ७४
 (शब्दभेद)
 १०१ उजसते खीणे वा ३७३ गो जी ४७१

ऊ

- ५३ ऊयिनिरिरैन्द्राशया ६२ जयध अ ९

ए

- १४२ एरियस्स फुत्तण २५८ गो जी १६७
 ११९ एरुमिद् कालसमए १८६ गो, जी ५६
 ७२ एज्जो चेव महप्पो १०० पञ्चा ७७
 ११७ एदमिद् गुणट्ठाणे १८३ गो जी ५५

क्रम संख्या गाथा पृष्ठ अथवा कहा क्रम संख्या गाथा पृष्ठ अथवा कहा

१४७ एयणिगोदसरीरे १७० गो जी १०६

मूलाचा

१२०४

११० " ३०४ "

१०९ एयद्वियम्मि जे ३८९ गो जी १८०

स त १, ३३

६ एस करेमि य पणम ७३ मूलाचा १००

(अर्थसमता)

ओ

१६१ ओरालियमुत्तथ २०१ गो जी १३१

१० ओसा य हिमो धूम २८३ मूलाचा ११०

आ चा नि

१०८

क

७० कध चरे कध चिठे ९९ मूलाचा

१०१० दशवे

८, ७

११६ कम्मोय च कम्मभय २९१ गो जी २४१

१७३ कारिसनणिट्टिघाम ३४० गो जी २७

१०३ कालो हिदि अवधरण

२०९ किण्हादिहेस्सरहिदा ३९० गो जी ५४६

१७७ किमिरायचक्रतणु २१० गो जी २८७

१८ किं कस्म वेण कथ ३४ मूलाचा ७००

१३६ कुम्भिकिमिसिपि २४१

१३७ कुपुपिपीलिकम २४३

१२४ केवलणानदिघायर १९१ गो जी ६३

ख

१० खाने दसनमोहे ६४ जयध अ ८

२१३ " ३९५ "

ग

८३ गइक्कम्मविणिज्जत्ता १३

३८ गणरायमञ्जतल्लर १७ ति प १, ४३

६६ गयगघल्लजल्ल ७३

६१ गोत्तेण गोदमो ६

घ

१० चक्करुण ज पयाम ३८० गो जी ४४४

१६९ चत्तारि यि छेत्ताइ २२६ गो जी ६३

गो क ३३४

२०७ चागी भदो चोक्खो ३९० गो जी ११६

७१ चारणधसो नह पच ११०

३० चोइसपु ममहोयदि ०

२०० चडो ण मुयदि घेर ३८८ गो जी १०९

१८ चित्थियमचित्थिय घ ३६० गो जी ४३८

छ

७३ छग्गावक्कमजुत्तो १०० पञ्चा ७१

३ छइव्वणवपपत्थे १०० ति प १, ३४

(शब्दभेद)

९६ छप्पचणवग्गिहाण ११२ गो जी १११

२१२ " ३९ " "

१६७ छम्मासाउवसेसे ३०३ मूलाचा

२१० (शब्द

भेद) वसु

आ ५३०

१३३ छसु हेट्ठिमासु पुढ २०९

१७० छदेदि सय दोसे ३४१ गो जी २७३

१८८ छेत्तण य परियाय ३७२ गो जी ४७१

ज

१४६ जत्थेक्कु मरइ २७० गो जी १९३

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहा	क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहा
१४	जत्थ उहु जाणिजा	३०	अनु द्वा १, ६ आचारा नि ८	११५	गट्ठासेसपमाओ	१७९	गो जी ४६
७७	जद चरे जद चिट्ठे	१९	मूलाचा १०१३ दशवै ४, ८	६८	णत्थि णयेहि विहण	९१	आ नि ६६१
१३४	जणालिया मसूरी	२३६	मूलाचा १०९१	४	णयदित्ति णयो	११	
३४	जसस तिप धम्मवद	५४	दशवै ९, १३	२०४	ण य पत्तिवइ परसो	३८९	गो जी ५१३
१४४	जह कचणमग्गिगय	२६६	गो जी २०३	११७	ण य सच्चमोसजुत्तो	२८०	गो जी २१९
८७	जह भारवहो पुरिसो	१३९	गो जी २००	१२८	ण रमत्ति जदो णिच्च	२००	गो जी १४७
१३२	जाइजरा मरणभया	२०४	गो जी ५००	८०	णवमो य इस्खयाण	११०	
२०६	जाणइ कज्जमकज्ज	३८९	गो जी ५१५	१३०	ण वि इद्वियकरण	२३८	गो जी १७३
९१	जाणइ तिकालसहिण	१४४	गो जी २९९	९	णाम ठरणा द्विप	१५	स त १, ६
१२०	जाणदि पस्सदि	२३९		२३	णिइद्धमोहतरणो	४०	
६७	जावदिया वयणवहा	८०	गो क ८९४ स त १, ४७	२००	णिहापचणरहुलो	३८९	गो जी ५११
१०५	"	१६२	"	१०३	णिस्सेसखीणमोहो	१९०	गो जी ६२
८३	जाहि व जासु व	१३२	गो जी १४१	२६	णिहयविधिहट्टकम्मा	४८	
५०	जियमोहिधणजलणो	५९		१७०	णेविथी णेव पुम	३४२	गो जी २७५
८१	जीवो कत्ता य वत्ता	११८	गो जी जी, प्र टी, ३३६	१११	णो इदिपसु निरदो	१७३	गो जी २९
१९४	जीवा चोदसमेया	३७३	गो जी ८७८	त			
१६८	जेसिं आउसमाइ	३०४	मूलाचा २१०६				
१०५	जेसिं ण सति जोगा	२८०	गो जी २४३	४९	तत्तो चेव सुहाइ	५९	
१०३	जेहि दु लक्खिज्जते	१६१	गो जी ८		तदियो य णियइ	११०	
१५९	जेो णेव सच्चमोसो	२८६	गो जी २२१	६०	तम्हा अहिगय सुत्तेण	९१	स त ३, ६४-६५
११२	जेो तसयहाउनिरओ	१७०	गो जी ३१	११८	तारिसपणिणामट्टिय	१८३	गो जी ५४
९३	ज सामण गहण	१४९	गो जी ४८० द्रव्यस ४३	४०	तित्थयरगणहरत्त	५८	
११	ज्ञान प्रमाणमित्याहु	१७	लघीय ६, २	५	तित्थयरवयणसगह	१०	स त १, ३
ण				२०	तिरयणतिसूल	४०	
				१२०	तिरियति कुडिल	२०२	गो जी १४८
२०८	ण उ कुणइ पम्भ	३९०	गो जी ५१७	६४	तिविहा य आणुपु नी	७२	
				१०७	त मिच्छत्त जहमस	१६३	
				द			
				२४	दल्लियमयणप्पयावा	४५	
				६	दद्वट्टियणयपरई	१०	स त १, ४
				१५८	दसविह सत्त्वे वयणे	२८६	गो जी २२०

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहा	क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अन्यत्र कहा
१०९	द्विगुणमिव धामिस्स	७०	गो जी २२	३०	पञ्चशतनरपतीना	५७	ति प १, ४० (प्राकृतरूप)
५८	दाणे लाभे भोगे	६४	वसु आ ५२७	१०	प्रमाणनयनिक्षेप	१६	ति प १, ८० वि भा २७६४ (प्राकृतरूप) न च पृ ९६
१३१	दिव्याति जदो णिच्च	२०३	गो जी १५१				
८१	हिंसहस्यराजनाथो	१७	ति प १ ४६ (प्राकृतरूप)				
३०	देसकुलजाइसुद्धो	४९	वसु आ ३८८ (प्रथमचरण)				
२१५	दसनमोहुदयादो	३९६	गो जी ६४९	२९७	बहुविहबहुप्पयारा	३८२	गो जी ४८६
२१६	दसनमोहुवसमदो	"	गो जी ६५०	७७	वारसविह पुराण	११२	
७३	दसनवदसामादय	१०२	गो जी ४७७ वसु आ ४ वा अ ६९	१४१	बाहिरपाणेहि जद्धा	२५९	गो जी १०९
१९३	" "	३७३	" "				
				२११	भविष्या सिद्धि जेसि	३९४	गो जी ५५७
				४७	भावियसिद्धताण	५९	
				११६	भिण्णसमयाट्ठिपहि दु	१८३	गो जी ५२
६३	धदगारपडिबद्धो	६८					
५४	धणुराकारदिठ्ठो	६२	जयध अ ९				
७८	पढमो अरहताण	११२		१३८	मक्कळयभमरमहु	२३५	
१९६	परमाणु आदियाइ	३८९	गो जी ४८०	१३०	मण्णति जदो णिच्च	२०३	गो जी १४९
२९	पयणजलहिजलो	४९		८८	मणसा वचसा काप	१४०	स्था स पृ १०१
१७	पाप मलमिति प्रोत्त	३४	ति प १, १७ (प्राकृतरूप)	२०५	मरण पत्तेइ रणे	३८९	गो जी ५१४,
१४९	पुढवी य सक्करा	२७२	मूलाचा २०६ आचा नि ७३		मद्दावीरेण्यो कदि	६१	
१७१	पुरुगुणभोगे सेदे	३४१	गो जी २७३	२८	माणुससठणा वि हु	४८	
१६०	पुरुमद्दमुदारराल	२९१	गो जी २३०	१०६	मिच्छस वेयतो	१६२	गो जी १७
१२१	पुब्बापुव्वफह्य	१८८		१५३	मूलगगोपरवीया	२७३	गो जी १८६ मूलाचा २१३
३०	पुतनाङ्गण्टनायक	१७					
१९२	पचत्तिचउव्विहेहि	३७३	गो जी ४७६	७	मूलाणिमेण पज्जव	१३	स त १, ५
१८९	पचसमिदो तिगुत्तो	३७७	गो जी ४७७	४८	मेदव्व णिप्पकप	५९	
५२	पचसेलपुरे रम्मे	६१	जयध अ ९	१	मगलणिमिच्छेइ	७	पञ्चा ज से टी
				२०१	मदो बुद्धिहिणी	३८८	गो जी ५१०
				१६	मद्दरादोऽयमुद्दि	३३	ति प १, १६ (प्राकृतरूप)

क्रम सत्या गाथा पृष्ठ अन्यत्र कहा क्रम सरया गाथा पृष्ठ अन्यत्र कहा

२०३ रूसदि णिंददि अण्णे ३८९ गो जी ५१२

ल

९४ लिप्पदि अण्णीकीर १५० गो जी ४८९

प

११३ घत्तावत्तपमाय १७८ गो जी ३३

२१४ वयणेहि वि हेऊहि ३९५ गो जी ६३७

९२ वयसमिइरुसायाण १४९ गो जी ४६३

१५२ वाडमामो उरुक्कलि १७३ मूलाचा २१२

आचा नि

१६६ (अर्थ

समता)

५६ चासस्स पढममासे ६३ ति प १, ६९

(शब्दभेद)

११४ त्रिकहा तहा कसाया १७८ गो जी ३४

९९ विगहगइमायणा १५३ गो जी ६६६

२१ विघ्ना प्रणयगति ४१ ति प १, ३०

(प्राकृत रूप)

१८१ त्रिवीर्यमोहिणाण २५९ गो जी ३००

१६२ विविहगुणइद्धिजुत्त २९१ गो जी १३२

१७२ विसजतकुटपजर ३५८ गो जी ३०३

१० तिसरेयणरत्तकत्तय २३ गो क ५७

१५४ विहातिहचउहि २७३ गो जी १९८

१६३ वेडविग्यमुत्तथ २९२ गो जी २३४

८२ वेडस्सुदीरणाय १४१

१७६ वेडुगमूलोरधमय १५० गो जी २८६

श

२ शब्दात्पदप्रसिद्धि १० प्र शाकटा

सिद्ध हैम

प

४३ पट्स्वणभरतनाय ५८ ति प १, ४०

(प्राकृत रूप)

म

१२२ सकयाजलं हल वा १८९ गो जी ६१

४४ सकलभुवनैकनाय ५८ ति प १, ४०

(प्राकृत रूप)

८२ सत्ता जत्तु य माणी ११९ गो जी, जी

म, टी ३६६

१५६ सन्भावो सच्चमणो २८१ गो जी २१९

१०८ सम्मत्तरयणपञ्चय १६६ गो जी २०

११० सम्माइड्डी जीनो १७३ गो जी २७

१३९ सस्सेदिमसम्मु २४६ आचा मू ४९

(सूत्ररूप)

५७ सावणवहुलपाटिवदे ६३ ति प १, ७०

१४० साहारणमाहारो २७० गो जी १९२

९७ सिज्जाकिरियुव १५२ गो जी ६६१

९० सिज्जत्तणस्स जोग्गा १५० गो जी ५५८

१३ सिद्धयपुण्णवुभो २७ पञ्चा टी

७७ सिलपुढविभेदवूली ३५० गो जी २८४

३३ सीहगयवसहमिय ५१

१४३ सुत्तादो त सम्म २६२ गो जी २९

९० सुद्धदुक्खसुवहु १४२ गो जी २८०

१०१ मूर्ई मुदा पटिहो १५४

६२ सेलघणभग्गपटअहि ६८ वृ क सू ३३३

आ नि १९९

(शब्दभेद)

१७० सेलट्टिकुट्टेत्त ३५० गो जी २८०

१२६ सेलेसि सपत्तो १९९ गो जी ६१

३१ सगहणिग्गहकुसलो ४९ मूलाचा १५८

(शब्दभेद)

१८७ सगहियसयलसजम ३७० गो जी ४७०

१८६ सपुण्ण तु समग्ग ३६० गो जी ४६०

ह

३७ हयहत्थिरहाणहिवा ५७ ति प १ ४३.

(शब्दभेद)

१०० हौति अणियट्ठिणो ते १८६ गो जी ५७.

क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अर्थ	क्रम संख्या	गाथा	पृष्ठ	अर्थ
१००	दक्षिणुदमिधयामिस्स	७० गो जी २२		४०	पञ्चशननरपतीना	१७ ति प १	(प्राकृत)
५८	दाणे लभे भोगे	६४ वसु था ५२७		१०	प्रमाणनयनिक्षेपे	१६ ति प १	वि भा २ - (प्राकृत) न च ५
१३१	दिव्याति जदो णिच्च	२०३ गो जी १५१					
४१	हिसद्वस्त्रराजनायो	५७ ति प १, ४६	(प्राकृतरूप)				
३०	देसतुलजादमुद्धो	४९ वसु था ३८८	(प्रथमचरण)				
२१५	दसनमोहुदयादो	३०६ गो जी ६४०		२९७	बहुनिद्ववहुत्पयारा	३८२ गो जी	
२१६	दसनमोहुवसमदो	॥ गो जी ६०		७७	वारसनिह पुराण	११२	
७४	दसननदसामादय	१०२ गो जी ४७७	वसु था ४ वा अ ६९	१४१	बाहिरपाणेहि जहा	२५१ गो जी	
१९३	" "	३७३ " "					
	ध			२११	भविष्या सिद्धि जेसि ३९४	गो जी १	
६३	धदगारवपट्टिजो	६८		४७	भावियसिद्धताण	५९	
५४	धणुपकारदिहो	६२ जयध अ ९		११६	भिण्णसमयद्विपदि हु	१८३ गो जी	
	प						
७८	पठमो अरुहताण	११२					
१९६	परमाणु आदियाइ	३८२ गो जी ४८		१३८	मक्कउयममरमहु	२३५	
२९	पययणजलहिजलो	४२		१३०	मण्णति जदो णिच्च	२०३ गो जी १	
१७	पाप मलमिति प्रोक्त	३४ ति प १, १७	(प्राकृतरूप)	८८	मणसा वचसा काए	१४० स्था ४	१०१
१४९	पुदवी य सक्करा	२७२ मूलाचा २०१	आचा नि ७३	२०५	मरण पयेइ रणे	३८९ गो जी	
१७१	पुरुगुणभोगे मेदे	३४१ गो जी २७३			महावीरेणतयो कहि	६१	
१६०	पुरुमहसुदाकराल	२९१ गो जी २३०		२८	माणुससडाणा नि हु	४८	
१२१	पुचापु नफदय	१८८		१०६	मिच्छत वेयतो	१६२ गो जी	
३९	पृतनाद्दण्डनायक	१७		१५३	मूलगापोरवीया	२७३ गो जी	मूलाचा
१०२	पचतिचउत्तिहेहि	३७३ गो जी ४७६			७ मूलणिमेण पज्जव	१३ स त १,	
१८०	पचसमिदो तिगुत्तो	३७७ गो जी ४७२		४८	मेरुव णिप्पकप	५९	
५२	पचसेलपुरे रम्मे	६१ जयध अ ९		१	मगलणिमित्तेऊ	७ पञ्चा ज	टी
				२०१	मदो बुद्धिविहीणो	३८८ गो जी १	
				१६	मङ्गशाब्दोऽयमुद्दिष्ट	३३ ति प १,	(प्राकृतरूप)

क्रम संख्या गाथा पृष्ठ अन्यत्र कहा क्रम संख्या गाथा पृष्ठ अन्यत्र कहा

२०३ रुसदि गिंददि अण्णे ३८९ गो जी ५१२

ल

९५ लिप्पदि अण्णीकीर १५० गो जी ४८९

र

११३ वत्तावत्तपमाप १७८ गो जी ३३

२१४ वयणेहि नि हेऊहि ३२५ गो जी ६४७

९२ वयममिहकसायाण १४१ गो जी ४६४

१५१ वाउभामो उक्कलि १७३ मलाचा २१२

आचा नि

१६६ (अर्थ

समता)

५६ वासस्म पढममामे ६३ ति प १, ६९

(शब्दभेद)

११४ निम्हा तद्वा कसाया १७८ गो जी- ६४

९९ निग्गहगइमावण्णा १५३ गो जी ६६६

२१ निम्मा प्रणइयन्ति ४१ ति प १, ३०

(प्राकृत रूप)

१८० निवरीयमेहिणाण २५९ गो जी ३००

६६२ विनिहगुणइद्धिजुत्त २९१ गो जी १३२

१७९ निसजतहूउपजर ३५८ गो जी ३०३

१० निसयेयणरत्तस्सव २३ गो क ५७

१४ विहतिहचउहि २७४ गो जी १९८

१६३ वेउत्तियमुत्तव २९२ गो जी २३४

८१ वेदस्सुदीरणाय १४१

१७६ वेलुन्मूलोरवभय २५० गो जी २८६

श

२ शब्दात्पदप्रसिद्धि १० प्र शाकटा

सिद्ध हैम

प

४३ पद्वक्षणभरतनाथ ५८ ति प १, ४०

(प्राकृत रूप)

स

१२२ सकयाजलं हल वा १८९ गो जी ६१

४४ सकलभुवनकनाथ ५८ ति प १, ४०

(प्राकृत रूप)

८२ सत्ता जतू य माणी ११९ गो जी, जी

प्र, टी ३६६

१५६ सभामो सच्चमणो २८१ गो जी २१९

१०८ सम्मत्तरयणपव्वय १६६ गो जी २०

११० सम्माइहो जीणो १७३ गो जी २७

१३२ सस्सेदिममम्मु २४६ आचा म ४९

(स्वरूप)

५७ सावणमहुलपटिउदे ६३ ति प १, ७०

१४० सादारणमाहारो २७० गो जी १९२

९७ सिक्कपाकिरियुव १५२ गो जी ६६१

९५ सिद्धत्तणस्स जोग्गा १५० गो जी १५८

१३ सिद्धयपुण्णजुभो २७ पञ्चा टी

१७४ सिलपुढविभेदधूली ३०० गो जी २८३

३३ सीहगयवसहमिय ५१

१४३ सुत्तादो त सम्म २६२ गो जी २९

९० सुहदुस्ससुवहु १४२ गो जी २८०

१०१ सुई मुहा पटिहो १४

६२ सेलणभगगघटअहि ६८ वृ क सू ३३३

आ ति १, १९

(शब्दभेद)

१७ सेलटिस्सुत्तेत्त ३५० गो जी १५०

१२६ सेलेसि सपत्तो १९९ गो जी ३

३१ सगहणिग्गहदुसलो ४९ मूला १८

(शब्द)

१८७ सगहियसयलसजम ३७० गो जी ५५०

१८२ सपुण्ण तु समग्ग ३६० गो जी ४६०

ह

३७ हयहत्थियरहाणद्विचा ११ ४३

(शब्द)

१०० होंति अणियट्ठिणो ते ५८ ति प १, ४०

३ ऐतिहासिक नाम सूची

अ	पृष्ठ	क	पृष्ठ	ख	पृष्ठ
अपराजित	६२	कपिल	१०८	वरसेन(भट्टारक)	६, ६७, ६८, ७०
अभय (कुमार)	१०४	काणेप्रिद्धि	१०७	धर्मसेन	६६
अयस्थूण	१०८	मातिसेय	१०३	सुयसेन	६६
अद्वयलायन	१०७	किष्किनिल	१०३	धृतिपेण	६८
अष्टपुत्र	१०३	कुथुमि	१०८		
		मोत्तल	१०७	न	
आ		कौशिन	१०७	नक्षत्राचार्य	६६
आनन्द	१०३	कसाचाय	६६	नन्दन	१०४
		क्षत्रिय	६६	नन्दिमित्र	६८
इ		ग		नमि	१०३
इन्द्रभूति	६४, ६६	गार्ग्य	१०८	नागाचार्य	६६
उ		गोपर्जन	६६	नारायण	१०८
उलूक	१०८	गोतम, देव, स्वामी	६७, ६८, ६९, ७०, ७२	प	
ऊ		गणदेव	६६	पाराशर	१०८
ऊ		च		पालम्ह	१०३
ऊ		चिलतपुत्र	१०३	पांडुस्वामी	६६
ऐ		ज		पुष्पदत्त	७, ८, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५
ऐतिहासिक	१०८	जतुकर्ण	१०८	पैप्पलाद	१०८
ऐन्द्रदत्त	१०८	जम्बूस्वामी	६६, ६७	प्रोष्ठिल	६६
औ		जयपाल	६६	न	
औपमन्थव	१०८	जयाचार्य	६६	बादरायण	१०८
		जिनपालिन	६७, ७३	उद्विल	६६
क		जोमिनि	१०८	भ	
कण्व	१०८	ध		भद्रबाहु	६६
		धन्य (कुमार)	१०८	भूतवन्धि	७, ७१, ७२, ७३

म	पृष्ठ	श्रीमश श्रीमहर्षिणी	पृष्ठ	श	पृष्ठ
मतङ्ग	१०३		१०७	शाकल्य	१०८
मरीचि	१०७	ल	१०८	शालिभद्र	१०४
महावीर	६१, ६३	लोहार्थ	६५, ६६	शिवमाता	७३
माडर	१०८	न		स	
माष्यदिन	१०८				
मादपिक	१०७	वर्धमान	६४, ५०, १०३	सत्यदत्त	१०८
मुण्ड	१०७	वलीक	१०३	सात्यमुषि	१०८
मोद	१०८	प्रत्कल	१०८	सिद्धार्थदेव	६६
भोद्रलापन	१०८	घशिष्ट	१०८	सुदर्शन	१०३
		वसु	१०८	सुनक्षत्र	१०३
य		बाहलि	१०८	सुभद्र	६६
यतिवृषभ	३ ०	वाल्मीकि	१०८	स्वेष्टरुत्	१०८
यमर्त्तिक	१०३	घारिपेण	१०३	सोमिल	१०३
यशोबाहु	६६	निजयाचार्य	६६		
यशोभद्र	६६	निशाचाचार्य	६६	ह	
		निष्णु	६६		
र		व्याघ्रभृति	१०८	हरिश्मथु	१०७
रामपुर	१०३	व्यास	१०८	हारित	१०७

४. भौगोलिक नाम सूची

अ		ग		द	
कलेद्वर	७५	गङ्गा	२०	दक्षिणापथ	६७
अध्र, आध्र विषय	६७, ७७	गिरिनगर	६७	दक्षिणात्य	७८
न		गौड	७७	द्रमिलदेश	७१, ७७
रूपिगिरि	६०				
		च		प	
औ		चन्द्रगुफा	६७	पञ्चशैलपुर	६१
गौदीच्य	७८	डिन्न (गिरि)	६०	पाडगिरि	६२

	पृष्ठ		पृष्ठ		पृष्ठ
म		वालभ	७८	स	
महिमा	७६	चिपुलगिरि	६१, ६२	सौराष्ट्र	६७
मा.रु.	७८	वेण्यातट	६७	ह	
व					
पनवास विषय	७९	वेभार	६०	हिमवान्	९२

५ ग्रन्थ नामोल्लेख

क	तत्त्वार्थसूत्र	२३०, २१०	स
कपाय प्राञ्जल	२१७, २२१	व	मत्कर्मप्राञ्जल
कालावृष	१४२	वर्गणासूत्र	२१७, २२९
त	वेदनाक्षेत्रविधान	०००	सन्मतिस्तूत्र
तत्त्वार्थभाष्य	१३	०११	११

६ वंश नामोल्लेख

इ		आरण	११२	र	
अष्टिन्	११०	ज		राजवश	११०
इक्ष्वाकु	११०	जिनवश	११०	न	
क		न		वादि	११२
फादयप	११२	नाथवश	११०	वासुदेय	११०
पुरु	११०	प		विद्याधर	११२
म		प्रजाधमण	११०	ह	
				हरि	७३, ११२

७. प्रतियोंके पाठ-भेद.

- १ अ-अमरावतीकी प्रति; आ-आराकी; क-कारजाकी, स-सहारनपूरकी ।
 २ „ चिन्होंसे तात्पर्य यहां उपरके शब्दोंसे नहीं, किन्तु उसी पक्तिके बाई ओरके शब्दोंमे समझना चाहिये ।
 ३. इन प्रतियोंके पाठभेदोंकी दिशा उतलानेके लिये यहां केवल योंसे पाठभेद दिये जाते हैं । यथार्थतः ऐसे पाठभेद हैं बहुत ही अधिक ।

पृष्ठ	पक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
१	१	ॐ नम सिद्धेभ्य ॐ गणधरपरमे ष्टिने नम । ॐ द्वादशाङ्गाय नम । निर्विघ्न मस्तु	” अथ श्री धवल प्रारम्भ ।	”	ॐ नम सि द्धभ्य ।	
८	२	केवल	”	केवल	केवल	केवल
१	२	णमह	”	”	णमह	णमह
६	१	अगागिजा	अङ्गकिजा	”	”	-अगगिजा
”	”	मल मूल	मल मूल	मल मूल	मल मूल	मल मूल
७	६	वम्ब्याण्ड	”	”	वम्ब्याण्ड	वम्ब्याण्ड
८	७	परुवणय	”	”	परुवण	परुवय ? ण,
”	६	तालफल व	”	”	तालफल व	तालफल व
९	२	सुत्त व	”	”	सुत्त व	सुत्त व
१०	२	सयलच्छवच्छाण	”	”	सयलत्थवत्थू	”
”	१	सच्छाण	”	”	ण सद्धान	”
१३	१	-वायरणे	”	”	”	-वायरणी
१३	१	-णिमोण	णिमाण	णिमोण	”	णिमोण
१३	२	सद्दादीया	सद्दादिया	सद्दादीया	”	सद्दादीया
”	”	साहुपसाहु	”	”	”	साहुपसाहा
१५	७	लम्बण सम्मणो	”	”	”	-लम्बण सम्मणो
१६	७	णियतव्याचय	”	”	”	णियत वाचय

पृष्ठ	पंक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
९	१	वज्रतथ	"	"	"	वज्रतथ
९	१	जीवो वा जीवो जीवो वा जीवो वा अजीवो वा वा अजीवो वा जीवो च अजी अजीवो वा वो च अजीवो च जीवो च अजी अजीवा च जीवा वो च, अजीवो च जीवा च अजी च जीवा च अ वो च जीवा चेद् जीवा च जीवा च अजीवो च जीवा चेद्	"	"	"	जीवो वा, जीवा वा, अजीवो वा, अजीवा वा, जीवो य अजीवो य, जीवा य अजीवो य, जीवो य अजी वा य, जीवा य अजीवा य
२०	४	मुभाव	"	"	सम्भाव	सम्भाव
२१	२	तस्मत्थ	"	"	तस्सद्	तस्सत्थ
२०	१	अधोष्टारत्न्यादि	"	"	अधोष्टारत्न्यादि	"
३०	४	जाणिज्जो	"	"	"	जाणिज्जो
३१	५	विपर्ययो	"	"	"	विपर्यस्यतो
३२	३	अस्मी ध्यामोहेन	"	"	सोऽध्यामोहेन	"
३४	३	गच्छति कर्त्ता सिद्धि	गच्छति कर्त्ता कार्यसिद्धि	"	"	"
३५	६	मारम्भ स्तम्भ	"	"	"	सारे स्तम्भ
३७	५	नमो जिनानाम्	"	"	नमो जिणाणम्	'णमो जिणाण'
४०	४	कयकाउया	"	"	"	कयकोउय
४१	६	जो मुत्तस्सादीपि मुत्तकत्तारेण कयदेयदानमो कारो ते णिवद्ध रेण । दानमोकारो विद्ध	"	"	"	जो मुत्तस्सादीप मुत्तकत्तारेण णि वद्ध देवदान मोकारो त णि वद्धमगल । जो मुत्तस्सादीप मुत्तकत्तारेण कयदेवदा णमोकारो

पृ३	पंक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
४८	५	घञ्जमित्थ	घञ्जमित्थ	घञ्जसित्थ	घञ्जसित्थ	घञ्जसित्थ
		स्सग्गय	स्सग्गय	व्भग्गय	स्सग्गय	व्भग्गय
४९	४	सगभग्ग		भग्गसग	सगभग्ग	सग भग
५०	५	कार्यत्वाद्देद	"	"	"	कार्यत्वाद्देद
		सन्नेय				सत्स्वेय
५३	३	रत्तेरुदेशस्य	रत्तेरुदेशस्य	रत्तक		रत्तेरुदेशस्य
		देशान्वा-	देशत्ता	देशत्वा		देघत्वा
५४	१	सज्जात	स जात	सज्जात	सजान	सज्जात-
"	२	गुणिभूताद्वैते	"	गुणिभूताद्वैते	"	गुणीभूताद्वैते
"	३	शब्दाधिक्य-	"	"	"	श्रद्धाधिन्य
"	४	स्थापनार्थ	स्थापनार्थ	स्थापनार्थ	स्थापनार्थ	स्थापनार्थ
५९	६	कम्म सुप्पज्जइय	कम्म फुट	कम्म फुट		कम्म फुट सिद्ध-
		फुट सिद्धमुद पि	सिद्धमुद पि	मिद्धमुद		मुद पि पचय-
		घयणादो ।	पयणदो	पि घयणदो		णादो ।
६०	३	दिछमोदा	"	"	-दिछनो	"
६१	४	मइयाइ ण हाति	"	"	मइयाइ हाति	"
"	६	दिव्यज्जाणी	"	"	दिव्यज्जुणी	"
"	८	गोत्तम गोत्तेण	गोत्तम गोदेण	गोत्तम गोदेण		गोदम गोत्तेण
६९	६	जादेत्ति	"	"		जादेत्ति
६९	१	धिदिसेणो		"	धिदिसेणो	"
६७	८	यधयोच्छेदो	"	"		यधयोच्छेदो
७३	९	-यच्छे	"	"		-यच्छो
८०	३	यत्थेदं	जत्थेदं	यत्थेदं		यत्थेदं
८३	३	समनस्य	"	"	"	समस्तस्य
"	६	नैरुगमो नय	"	"	नैरुगमो नेगम	"
८९	१	मतिष्ठति	सतिष्ठने	"	"	तिष्ठति
		तिष्ठति	तिष्ठति	"		सतिष्ठते
८९	५	नत्वायेत्ते	"	"		कत्वायेत्ते
"	"	भिन्नपदाना		"	भिन्नपदार्थाना	भिन्नपदाना-
९०	६	नानाए	"	"	नानार्थ	"
९१	३	अत्थोत्थ	"	"	अत्थो वज	"
९२	४	सत्थेयानन्ता	सत्थेयानन्ता	सत्थेयानन्ता-		सत्थेयानन्ता-
		त्मक-	यानन्तात्मक-	त्मक-		नन्तात्मक-

पृष्ठ	पक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
९३	४	सिद्ध	"	"	सद्ध	सद्ध
"	"	त्रिसयायो	"	"		त्रिसयायो
९४	४	मुद्रेण	मणेण	मुणेण	मणेण	"
"	६	पुव्वत्त	पुव्वत्त	पुव्वत्त	पुव्वत्त	"
९९	२	विहाय	वियाह	त्रियाह	त्रियाह	"
१०३	२	गधहस्तिवत्त्वा र्थभाष्ये	तत्त्वार्थभाष्ये	"	"	"
१०५	२	सुद्धिमकरेति	"	"		सुद्धि फग्ती
"	३	धावत्ती	"	"		धावत्ती
"	७	उत्त च भाष्ये	"	"	उत्त च	"
१०८	३	मन्यानिक्	"	"	मन्यानिक्	"
११०	४	पञ्चददह	"	"	पञ्चददह	"
११८	२	यल्लोक	"	"		यल्लोके
"	१४	सरीर	"	"		सरीरी
११९	६	वेसोदि	"	"	वेसोदि	"
१२०	१	सरीरो	"	"		सरीरी
१२३	२	धारणा	"	"	धारणा	"
१२७	१०	भावो	भावाद्दे भावो	भावो		भावो
१२८	२	दोणिण पक्काणि	"	"	दोणिण	"
१३०	११	पुत्त	उत्त	पुव्वुत्त	उत्त	पुव्वुत्त
१३३	६	रीक्कत्त्वा	"	"		रीक्क तत्त्वा
१४१	१	रुद्धिय्यप	"	"	रुद्धिय्यशा	"
"	४	मेयो	"	"	मेओ	वेओ
१४७	५	तदा भावाण	"	"	भावाण	भावाण
१५१	३	मुक्कता	"	"		ममुक्कता
१५३	७		इमाय्यो		इमाणि अट्ठ	"
१५८	१	परुक्कणा ण	"	"	परुक्कणा	"
१६५	१	ततोऽसत्थेषु	ततो सत्थेष	सत्थेष	ततोऽसन्	"
१६८	२	सतोऽपि	"	"	सतापि	"
"	५	दिवत्	"	"		दियात
१७१	१०	अट्ठि	"	"		लट्ठि
१७४	५	सद्धभावो	"	"	सद्धभुयो	"
१७७	२	पुत्त	"	"	ए तद्	"

पृष्ठ	पंक्ति	अ	आ	क	म	मुद्रित
१७९	४	न्यानानुत्पत्ते	"	"	न्यानोत्पत्ते	"
"	५	क्षयोपशमोप-	क्षयोपशमज-	"		क्षयोपशमोप-
		शमज-				शमज-
१८१	३	करणानाम-	"	"		करणानाम-
"	५	देशी	"	"	देश-	"
१८३	९	राइय-	राये	राइय	"	"
१८४	६	तासु	"	"	तान्	तेषु
१९६	६	स्यात्पौ	"	"	स्यापौ-	"
१९८	६	क्षेयसभानि	"	"	क्षेयसभानि	"
१९९	१	माधिष्ट	"	"		मेधिष्ट-
२०१	८	स्यापत्य	"	"		स्यापत्यानि
२०२	५	तत्तु अचनि	"	"	तदञ्चन्ति	"
		तदञ्चति				
२०	४	दृष्टिषु	दृष्ट्यादिषु	"		दृष्टिषु
"	९	तद्वत्य	तद्वत्य	तद्वत्य	तद्वता	"
२१०	१०	मनुत्तमुत्तमुत्त	"	"		मधुत्तमुत्त
२२१	४	तदो	तदो ण	तदो तदो		तदो
"	६	आइरियकटि-	आइरियकिड-	आइरियरइय		आइरियरदि-
		याण	रियन्माण	कटियाण		याण
२२३	६	अप्पणो	तदो अप्पणो	अप्पणो		"
"	७	गमियमिद	"	"	गमिय	"
२२८	३	सयतान्ता-	"	"		सयतासयतान्ता
२३०	२	त्वादेशा-	"	"	त्वोदेशा-	त्वादेशा
"	५	वासचनन	"	"	वासजना-	"
२३३	२	मान्य	माय-	मान्य	"	मान्य-
२६६	७	मिद्वेण	"	"	"	मिद्वेण
२६७	११	शक्त्याधिर्भाति	शक्त्युपवृद्धि-	शक्त्याधिर्भा	"	"
		वृत्तय	तद्वृत्त	वित्तवृत्तय		
२७१	७	सप्रतिपात	"	"	"	सप्रतिपात
२७२	६	स्यादप्रयत्नो	"	"	स्यात् प्रयत्नो	"
२८१	४	समनस्के	"	"	समनस्केषु	"
२८२	५	सहस्ररूप	"	"	तत्स्यरूप-	"
"	"	मुत्तरम्बुजमाद	"	"	मुत्तरम्बुजमाद	"

पृष्ठ	पाकि	अ	आ	क	स	मुद्रित
"	७	सजोगिक्केपलि	अजोगिक्केपलि	"	सजोगिक्केपलि	"
२८९	७	नना नर्जत्पस्य	तथा नर्जत्पस्य तथान्तर्ज			
			तथाप्यनर्जत्पस्य		"	"
			पस्य			
३९२	२	मिस्समायजोगो	"	"		मिस्सजोगो
२९३	५	पूत शरीर	"	"	पूर्व शरीर	"
२९८	३	तत्तथ्य छिहेतु	"	"		तत्तथ्य छिहेतु
३०२	३	सर्वथाति	"	"		सर्वथाति
"	१०	चतेपु	"	"	चो	"
३०५	३	धारणाभावात्	धारणात्	धारणाभावाच्च	"	"
३०६	१	अपथा न	"	"		अपथा
३१६	२	घलेनोच्छन्न	"	"	घलेनोत्पन्न	"
३१९	२	प्रवृत्त्यसूत्र	"	"	प्रवृत्तसूत्र	"
"	३	वृत्तो भवेत्	"	"	वृत्तो भवेत्	"
३२०	५	तत्र तु न	"	"	तत्र तत्र	"
"	७	सन्त्येताभ्या	"	"	सन्त ताभ्या	"
३२१	७	प्राप्तो या	"	"	प्राप्तयो	"
३२४	७	नियमान	नियमान	नियमान	नियमान	"
३२५	८	सजदासजद्	सजदासजद्	"		
		द्वारे	सजद्द्वारे			
३२६	१०	महत्त्वो सु य ण	"	"		महत्त्वदा ण
		गद्वो दो वा				गद्वो दो वा
३२८	६	नन्यनारभन्स्य	"	"		न नारभन्स्य
३३७	७	उचरिम	उचरिम	"		उचरिम उचरिम
३३८	३	उपशा तास्त	"	"		उपशा तास्त
"	७	तत्तु न	तत्र तुन	"		तत्र तत्र
३४२	१	पुम्ह	"	"	पुम्ह	"
"	२	समाणा	"	"		समाणा
३५७	२	शब्दस्य	"	"		शब्दस्य च
"	४	नि रूतानु	"	"		नि रूतानु
३५८	८	आभेयमास्तु	"	"		आभीयमास्तु
३६३	११	नामिभ्रण	"	"		न मिभ्रण
३६५	१	तद्वानि	"	"		तद्वानि

पृष्ठ	पंक्ति	अ	आ	क	स	मुद्रित
३६	१	सयमोद्देश-	"	"		सयमोद्देश-
५६६	१०	सयमसयन	सयमसयनस्य सय सयन	जगन्स्य		सयमासयमा
३६७	१	नामभविष्यत्	"	"		सयमत-
३६९	७	शेष सामेद	शेष सामेद	"	शेष रूपमिद	नामगमिष्यन्
३७०	१	शुद्धिसयन	"	"		शुद्धिसयम
"	७	मृते	विशिष्टमृते	मृते		"
३७१	१०	वादे	वादे	वादेन		"
३७३	४	सजमो	सजमो	"	सजदो	"
३७	१	निमग्नतात्ताना	निमग्नान्ताना	निमग्नतात्मना		"
३७७	३	निरन्तरायेन	निरन्तराना	निरन्तरायेन		निरन्तरायेन
		भवि	भवि			भवि
३७८	४	गुणस्य गुणस्थान	गुणस्य गुण	गुणस्थान		गुणस्य गुणस्थान
		प्रमाणनिरु-	स्था निरु	प्रमाणनिरु-		प्रमाणनिरु-
३८०	६	नियम	"	"		नियमिन
"	९	न दर्शनस्य	"	न दर्शनविषय	दर्शनस्य	"
		विषय-		विषय		
३८१	१	रूपद्वय	द्वय-	द्वय		द्वय
३८८	८	ज्ञानदर्शन	"	"		ज्ञानादर्शन
३८८	८	णाणत्वि	"	"		णाणी य
३८९	१	द्वय	द्वय	द्वय		निरु-
३९०	८	पेक्षया ते	"	"		पेक्षया तद्
३९३	७	गच्छतो	"	"		गच्छता
३९४	१	निष्फलज्ञो	"	"		निष्फलका
		भवति				भवति
३९१	६	त्याज्य	"	"		न्याय्य
४००	७	तिरिक्त्य	"	"		तिरिक्त्वा
४०३	८	सजदासजदा	सजदासजदा	"		"
		सजदा				
४०३	९		मन्यत्	मेतत्		मेतत्
४०४	१	यमन्यत समर्थ	"	"	"	यमन्यत समर्थ
४०	२	सजद	सजद	"	"	"
४०१	७	पञ्जत्ता	"	"	"	पञ्जत्त

प्रतियोमे छूटे हुए पाठ

सूचना—य पाठ कण्व निर्देशमात्रके लिये दिये जाते हैं । इस प्रकारके छूटे हुए पाठ गतियामें बहुत अधिक हैं ।

पृष्ठ	पंक्ति	प्रति	कहामे	कहा तत्र
२१	८	१	चइद् । जीघियासाए	पदिद् सरीर ।
३०	७	अ	ममलकरणिय	ममलकसा ।
७		२	।ना मिद्धम् प्रत्तेभ्यो	२ प्रत्ता
५८	३	१	रल्लैस्देशस्य	रत्त्ववर्मभयस्त्रूणि
८	७	१	प्रतिसमयमसम्प्राप्त	सततमभ्यर्चनम् ।
६६	१०	१	तदो सुमदो	मेगदेस धारया
८१	४	अ	स्य गहुपु	पमाण छत्रिह
९२	९	आ	परमाणु जाणदि	जसग्गेज्जादि
९४	१	अ	उद्गस्सेण	अणुस्सोही जाणदि
१०१	१	१	पदम्म पयाडि	एवदि खेत्ते
१००	१	१	उत्तरपयाडि	पयाडिद्विधेयधो
१०८	७	क	इष्टत्वान्	विरोज
१०७	८	१	सर्वेज सर्वदा	जह्मनिपये
१०१	१	अ	वाच्यवाचन	तस्यास्तिवाति चेत्
१०३	१	१	तदो अतोमुत्त	पुरिसमेद गयेदि
१०८	४	आ	मणुसगइपा	अहवा
१००	७	क	जीवाना मान्दय	गुणहारेण
१०३	४	अ	तस्सेज	सत्तेजगुणा
१०३		आ	सदायान्धय	केवलिनो वचन
१००	७	आ	पदेसा अणन	क्षयगमणा
१०१	८	आ	विरोध इति सर्वाभि	
३१०	९	क	अपज्जत्ताण वि अरिय	
३०१	८	आ	जम्पाय	
३६१	३	क	मिध्यात्वोदयस्य मत्तान्	

विशेष टिप्पण

सूचना—प्रथम सर्वासे पृष्ठ आर दसगसे पक्किा तापर्य हे ।

पृ ५ 'आरह-अगगिज्जा' म ' गिज्जा' पाठ भी प्रतियोंम मिलना ह । इस गाथामे कुठ
५१ मिलती जुलती एक गाथा वसुनन्दिआयकाचारमें निम्न प्रकारसे पाई जाती ह—

आरह-अगगी जा दसण तिलया चरित्त उर्य हया ।

चोदस पुव्वाहरणा ठपेयन्ना य सुयदेवी ॥ ३९१ ॥

३० १० 'देहिं तो ऊय' इनका पाठ आराकी प्रतिमें नहा ह, ओर इस पाठके न होनेसे अर्थका
सामबन्ध भी ठीक पडता ह, किन्तु पाठ निश्चय करते समय आराकी प्रति हमारे
नामने न होनेसे हम उसे छोड़ नहा सके आर किसी प्रकार अर्थ संगति पिठलाई
गई । पर जान पडता है कि अ आर ऊ प्रतियोंम यह आगेकी गाथा १ १० के
'(निणिं-) देहिं तो ऊय' पाठसे लिपिकारोंके दृष्टि-त्रोपसे आगया ह । ऐसे लिपि-त्रोप
इन सभी प्रतियोंम अनेक ह । (देखिये प्रतियोंके पाठ भेद)

६७ ७ 'महिमाए मिलियाण' मे यह स्पष्ट नहीं होता कि महिमा एक नगरीका नाम था
जहां वह मुनि-सम्मेलन हुआ । इन्द्रनन्दिरुन श्रुतावतारम भी महिमाका उल्लेख आमक
ह । यथा, देशेन्द्रदेशनामनि रेणास्नदीपुरे महामहिमासमुदितमुनीन् प्राति प्रसुचारिणा
प्रापयेत्तम् ॥ इस पद्यम 'देशेन्द्रदेश' 'देशान्प्रदेश' का अशुद्ध रूप ज्ञात होता
ह । 'महामहिमा समुदितमुनीन्' का 'महो-मवानिमित्त सम्मिलित मुनि' भी हो
सकता ह । प्रस्तुत ग्रंथके पृ २९ पर 'जिनमहिम-सम्बद्धकालोऽपि मङ्गल यथा नन्दी
आदिघसादि' में 'महिम' का अर्थ उत्पन्न होता है । वसुनन्दिआयकाचारमें भी
'महिम' शब्द नन्दीध्वर उत्पन्नके अर्थमें आया ह यथा—

विनिह करेड महिमं नदीसर-चेइव गिहेसु ॥ ४०७ ॥

इसके अनुसार 'महिमाए मिलियाण' का अर्थ 'नन्दीध्वर उत्पन्नके लिये
सम्मिलित' भी हो सकता ह । किन्तु प जुगलकिशोरजी मुरतारने अपनी श्रुतावतार
कथा (जे सि भा ३, ४) में महिमाकी नगरीका नाम अनुमान किया है ओर उसे
मत्तारा जिलेके महिमानगदसे अभिन्न होनेका संकेत किया ह । इसी अनुमान
अनुवादमें उसे नगरीका द्योतक स्वीकार कर लिया गया ह । किन्तु हे यह प्रश्न अभी
भी विचारणीय ।

५१ ११ जिणपालिय दट्ठण पुप्फयताइरियो उणणासत्तिसय गदो । यहा 'दट्ठण' का अर्थ
अनुवादमें 'देखकर' (दट्ठा) किया गया ह । किन्तु इसका अर्थ 'देखनेके लिये'
(दट्ठुम्) भी हो सकता ह । (देखो भूमिका पृ ९, पुण्यदन्त ओर जिनपालित)

७१ 'अप्पाउओ चि जगय जिणपालिदेण' इत्यादिने अपने श्रुतानुसारमे यद् प्रसंग हम प्रसार दिया है मिश्रायात्पायुष्पात्पमनीन्मात्पात्प्रतीत्य तत् ' जिसका अर्थ यह होता है कि भूतचलितने मनुष्याको अत्पायु समझकर सिद्धांतको पुस्तकारुद्ध करनेका निश्चय किया। प जुगलकिशोरजीने इसका अर्थ इसप्रकार किया है 'भूतचलिते यह मालूम किया कि जिनपालित अत्पायु है' (ज सि भा ३, ४)। किन्तु जिनपालितके अत्पायु होनेसे सिद्धांतके लोप होनेकी आशङ्का कोई कारण नहीं था, किन्तु पुष्पदन्त और भूतचलितमें किसी एकके अत्पायु होनेसे सिद्धांत-लोपकी आशङ्का हो सकती थी। इसी उपपत्तिसे ध्यात रचकर अनुवादमें अत्पायुका समान पुष्पदन्तसे जोड़ दिया गया है। 'जगत् जिनपालितात् येन स तेन भूतचलिना' ऐसा समास ध्यानमें रखा गया है।

७२ जगदिदृष्टः। यह पाठ प्रतियाका है। टिप्पणीमें इसका ज्ञानपर 'ज दिदृष्ट' पाठकी कल्पना सूचित की गयी है। पुनर्नन्दित्रायकाचारजी गाथा ३ म 'इदंभूदणा सेणियस्म जह दिदृष्ट' ऐसा चरण दृष्टिगोचर हुआ। आ अनुमा होता है कि यहाँ भी सभ्यत शुद्ध पाठ 'जह दिदृष्ट' रहा होगा जिसका संस्कृत रूप 'यथा दिष्टम्' होता है।

७३ 'अतर्हिमुषयो' आदि। इसका अनुवाद निम्न प्रकार करता ठीक होगा—
समाधान—'हाँ, क्याकि, अतर्मुष चेतय अर्थात् स्वरूपसंवेदनमें दर्शन और गर्हिमुष प्रकाशको ज्ञान माना है'। इत्यादि।

७४ ७ उत्पायानुच्छेदः सार्धं अनुवादम इम प्रकार समझना चाहिये—

पुच्छेद दो प्रकारका होता है—उत्पादानुच्छेद और अनुत्पादानुच्छेद। उनमें उत्पादा नुच्छेदसे द्रव्याधिक नयका ग्रहण किया गया है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस समयमें जिस प्रवृत्ति की सत्त्वादि युजित्ति होती है उसी समय उसका अभाव कहा जाता है। अनुत्पादानुच्छेद पर्यायाधिकरूप है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस समयमें जिस प्रवृत्ति की सत्त्वादि युजित्ति होती है उसके अगले समयमें उसका अभाव कहा जाता है।

२८ ६ यहाँ प्रतियाम दर्शनी परिभाषा न होनेसे धान्य अधरासा रह जाता है, अतएव उतने जहकी पृति पृ ३८३ पंक्ति १ के अनुसार कर दी है, और उतने धान्याश को कोष्ठके भीतर रखा दिया है। प्रस्तुत प्रथम यही एक ऐसा स्थल सामने आया जहाँ हम अन्यत्रसे पाठकी पृति किये बिना निर्याद कर सकें।

२८ ७ गाथा न २०१ में 'भेज्जो' का अर्थ गोमप्रदत्तारकी जीवप्रयोजिनी टीका में 'परेणाव गोध्याभिप्राय। त ग दोटरमलजीके हिन्दी अनुवादमें 'जिसके अभिप्रायको ओर कोई न जाने' किया गया है। किन्तु 'भेज्ज' का अर्थ देशी नाममालाके अनुसार भीरु होता है। यथा 'मयापुं भेज्ज भेज्ज भेज्जलया'। (टीका) 'भेज्जो भेज्जो तथा भेज्जल ये प्रयोऽपि वमी भीरुवाय' (दे ना मा १, १०३)। यह अर्थ प्रस्तुत प्रसंग दूसरारकी अपेक्षा अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ। अतएव इसीके अनुसार अनुवादमें 'भीरु' अर्थ ही किया गया है।

भूमिका पृ १० प ४ म गाथा से पूर्व 'तह पायारगे वि उक्त' इतना पाठ छूट गया है।

